हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

सैद्धान्तिक विवेचन
लालित्य तत्त्व, साहित्य का मर्म, साहित्य का साथी,
नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा
प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

7

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

"आज मेरा हृदय कहता, क्यों न लिख दो एक कविता; आग बरसा दो न क्यों तुम, ताकि होवे भस्म यह मर्दानगी जिसने कि है अन्धेर छाया!"

—बोलो, काव्य के मर्मज्ञ

"अकेले में आत्माराम या प्राणाराम होना भी एक प्रकार का स्वार्थ ही है।"

— अनामदास का पोथा

'लालित्य तत्त्व' की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ

प्रातः स्मरणीय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समग्र साहित्य को एक सूत्र मे अनुस्यूत करके हिन्दी-पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। स्वर्गीय आचार्यजी के मन में अनेक परिकल्पनाएँ तथा योजनाएँ थी जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए वे निरन्तर क्रियाशील थे। परन्तु नियति-निर्णय से उन्हें अधूरी ही छोड़कर वे चले गये हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली की प्रकाशन-योजना उसी सम्पूर्णता की शृंखला की पहली कड़ी है।

आचार्यत्व की गरिमा से दीप्त आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व और उनकी अपार सर्जनात्मक क्षमता किसी भी पाठक को चमत्कृत और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। मनीषियों की दृष्टि में वे चिन्तन और भावना दोनो ही स्तरों पर महत्त्व-बिन्दु पर भासमान हैं। उनकी रचना-दृष्टि समय के आरपार देखने में समर्थ थी। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर अपनी समस्त जडता खो बैठा और सतत् प्रवाहित जीवनधारा साहित्य मे हिल्लोलित हो उठी, जो तीनों कालों को जोड़ देती है।

आचार्य द्विवेदी की बहुमुखी जीवन-साधना ने हिन्दी वाङ्मय के एक पूरे और विशाल युग को प्रभावित किया है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी और बांग्ला साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। साथ ही, अंग्रेजी साहित्य का भी व्यापक धरातल पर उन्होने परिशीलन किया था और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ग्रीक साहित्य का भी रसास्वादन किया था। अगाध पाण्डित्य मे सहजता का मणिकांचन योग उन्हें सामान्य मानव की भूमिका में प्रतिष्ठित कर देने की क्षमता प्रदान कर देता था और वे अनायास ही जनहृदय से स्पन्दित और आन्दोलित हो उठते थे। उनका विद्वान् सरलता से सजग हो उठता था। वे प्रत्येक मन मे विराजमान हो जाने की अपूर्व मेधा के धनी हो जाते थे।

आचार्यजी की इन्ही अद्वितीय प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनायी गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को साथ रखकर विभिन्न खण्डो का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये ग्यारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड : उपन्यास-1
2. दूसरा खण्ड : उपन्यास-2
3. तीसरा खण्ड : हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. चौथा खण्ड : प्रमुख सन्त कवि
5. पाँचवाँ खण्ड : मध्यकालीन साधना
6. छठवाँ खण्ड : मध्यकालीन साहित्य
7. सातवाँ खण्ड : लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म
8. आठवाँ खण्ड : कालिदास और रवीन्द्र
9. नवाँ खण्ड : निबन्ध-1
10. दसवाँ खण्ड : निबन्ध-2
11. ग्यारहवाँ खण्ड : विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेकों समस्याएँ आयी हैं। निबन्धों का विभाजन भी निबन्ध-संग्रह तथा तिथि-क्रम के आधार पर न करके विषय के अनुसार ही किया गया है। निबन्ध के अन्त में मूल निबन्ध-संग्रह का नाम दे दिया गया है। ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके, इस बात को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया है। कबीर, सूर और तुलसी के अतिरिक्त कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आचार्यप्रवर प्रायः अभिभूत रहे हैं, अतः दोनों महाकवियों से सम्बद्ध सामग्री एक ही खण्ड में दे दी गयी है। अन्तिम खण्ड में विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री संकलित है। आचार्य द्विवेदी ने प्रारम्भ में काव्य रचनाएँ भी की थीं और अनेक अनुवाद भी। उन्हें यहाँ समाहित कर दिया गया है।

इस विशाल योजना की परिपूर्णता में अनेक लोगों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है जिसके बिना निश्चय ही यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। उन सबके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करते हैं। पं. राजाराम शास्त्री ने अप्रकाशित ज्योतिःशास्त्र एवं साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के विषय में परामर्श दिया; और श्री महेशनारायण 'भारतीभक्त' ने मुद्रणप्रति तैयार करके हमारे दायित्व को आसान बनाया। हम इन दोनों को साधुवाद अर्पित करते हैं। श्रीमती शीला सन्धू और राजकमल प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और रुचि से इस योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम बृहद् हिन्दी विश्व परिवार को समर्पित करते हैं। इससे ज्ञानधारा एवं रससृष्टि में थोड़ा भी विकास सम्भव हुआ तो हम अपने को कृतकार्य मानेंगे।

जगदीशनारायण द्विवेदी
मुकुन्द द्विवेदी

लालित्य तत्त्व 17-93
प्रस्तावना 19
कलाकार की सिसृक्षा और सर्जन-सीमा 39
सिसृक्षा का स्वरूप 54
वाक् तत्त्व और विनायक धर्म 77
लालित्य-सर्जना और विविक्तवर्णा भाषा 81

साहित्य का मर्म 95-160
साहित्य-विचार में प्राचीन ग्रन्थों का महत्त्व 97
साहित्य का मर्म 119
मानव-सत्य 140

साहित्य का साथी 161-309
साहित्य 163
साहित्यकार 168
जातीय (राष्ट्रीय) साहि 179
नया दृष्टिकोण 183
साहित्य का व्याकरण 187
कविता 199
उपन्यास और कहानी 223
नाटक 246
साहित्यिक समालोचना और निबन्ध 264
रस क्या है ? 277
साहित्य का नया रास्ता 285
कथा-आख्यायिका और उपन्यास [एक व्याख्या] 291

नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा 311-361

प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद 363-527
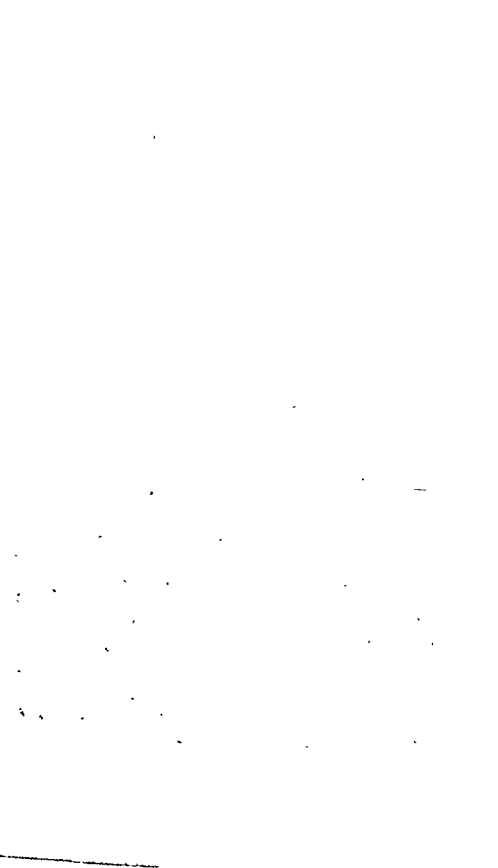
उत्तम लेखक समाज की जटिलताओं की तह में जाकर उसे समझता है और वहीं से अपनी विशेष दृष्टि पाता है ! यदि कोई लेखक केवल परम्परागत रूढ़ियों को— सत् और असत् की निर्धारित सीमाओं को— बिना विचारे ही उपन्यास या कहानी लिखने बैठता है तो वह बड़ी कृति नहीं दे सकता। उसे हमेशा जटिलताओं को चीरकर भीतर देखने का व्रत लेना पड़ता है। ऐसा करने के बाद यदि वह रूढ़ियों को ही सत्य समझे तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु सच्चाई उसकी अपनी आँखों देखी होनी चाहिए। इसके बिना वह बड़ी कृति नहीं पैदा कर सकता।···

मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि दुनिया के दुःख और अवसाद से आँख मूंद ली जाय। आँख मूंदनेवाला बड़ा लेखक नहीं हो सकता। परन्तु लेखक से यह आशा करना बिल्कुल असंगत नहीं है कि वह दुःख, अवसाद और कष्टों के भीतर से उस मनुष्य की सृष्टि करे जो पशुओं से विशेष है, जो परिस्थितियों से जूझकर ही अपना रास्ता साफ करता आया है, जो सत्य और कर्त्तव्य-निष्ठा के लिए किसी की स्तुति या निन्दा की बिल्कुल परवा नहीं करता। इन्हीं बातों से उपन्यास बड़ा होता है, काव्य महान् होता है, कहानी सफल कही जाती है।

—साहित्य का साथी

ग्रन्थावली-7, पृ. 232/237

सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक नियमों के विधि-निषेधों का अम्बार लग जाता है। भाषा इन विधि-निषेधों को दीर्घस्थायी और बाद में निरुद्देश्य बनाकर भी जिलाये रहती है। यही द्वन्द्व शुरू होता है। मानव द्वारा इच्छित समाज-व्यवस्था और प्रकृति द्वारा प्रदत्त सहज धर्म का संघर्ष शुरू होता है। उस समय अभिव्यक्ति भी इच्छित प्रयत्नों का माध्यम खोजती है। आत्माभिव्यक्ति का यह इच्छित प्रयत्न ही कलाओं के रूप में प्रकट होता है। इच्छित होने के कारण ही वह अभ्यास और नैपुण्य की अपेक्षा रखती है। कविता में, चित्र में, मूर्ति में वह बहुविचित्र आकार ग्रहण करती है। परन्तु इतना ही सब-कुछ नहीं है। और भी बातें है।

—लालित्य तत्त्व
ग्रन्थावली-7, पृ. 65

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

7

प्रस्तावना

पश्चिमी देशों में सौन्दर्य-तत्त्व पर काफी चर्चा हुई है। भारतवर्ष में इस प्रकार के किसी अलग शास्त्र की कल्पना नही की गयी परन्तु काव्य, शिल्प, चित्र, मूर्त्ति, संगीत, नाटक आदि की आलोचना के प्रसंग में और विविध आगमों में 'चरम सुन्दर तत्त्व' की महिमा बताने के बहाने इसकी चर्चा होती अवश्य रही है। संसार के मनीषियों ने दो प्रकार से इस तत्त्व की मीमांसा की है। मोटे तौर पर एक को दार्शनिक-पद्धति कह सकते है और दूसरे को वैज्ञानिक-पद्धति। दार्शनिक दृष्टि से तत्त्व-मीमांसा करनेवाले आचार्यों में भारतीय तत्त्वद्रष्टा और उन्हीं के समान अन्य देशों के तत्त्वद्रष्टा आ जाते है। दर्शन का अर्थ है देखना। सबका देखना सही देखना नहीं होता। आँखें ठीक न हों, दिमाग दुरुस्त न हो, मन चंचल हो तो देखनेवाला ठीक-ठीक नहीं देख पाता। तत्त्वज्ञान के द्रष्टा के लिए भी सम्यक्दृष्टि आवश्यक होती है। जिसका मस्तिष्क विकृत हो, चित्त ममता और अहंकार से ग्रस्त हो, वह सम्यक्-दृष्टिवाला नही हो सकता। इसलिए सही देखनेवाला वह है जिसका अन्तर और बाहर निर्मल हो, जो राग और द्वेष से मुक्त हो, जो भय और भ्रान्ति का शिकार न हो, जिसका मन योग से शुद्ध हो। ऐसा मनुष्य जो देखता है वह ठीक देखता है। भारतीय परम्परा मे पुराण-ऋषियों को ऐसा ही माना गया है। वे सच्चे द्रष्टा थे। बाद मे जिन लोगों को तत्त्वद्रष्टा समझा गया, उनके वचन भी पुराण-ऋषियों की वाणी के अनुकूल होने पर ही ग्राह्य माने जाते हैं। संसार के अन्यान्य देशो में भी बहुत-कुछ ऐसा ही माना जाता रहा है। यह पद्धति बहुत-कुछ आदर्श की पद्धति है। सब समय इस कसौटी पर खरे उतरनेवाले तत्त्वद्रष्टा कितने मिलते हैं ? जिन ऋषियो और आचार्यों का बहुत मान है, उनमें भी मतभेद मिल ही जाते हैं। फिर भी संसार की विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं में इस प्रकार के 'द्रष्टा' माने जाते रहे है। वे अपने आन्तरिक शुद्ध दृष्टि से तत्त्व का साक्षात्कार करते है, या करने का दावा करते हैं और विभिन्न दार्शनिक वादों और निष्कर्षों का प्रवर्त्तन करते हैं। यही दृष्टि व्यापक अर्थों में दार्शनिक पद्धति है। दूसरी पद्धति

वैज्ञानिक कही जाती है। ज्ञात तथ्यों के आधार पर अज्ञात तथ्यों का पता लगाना और इस प्रकार से नवज्ञात तथ्यों से इतर अज्ञात तथ्यों की खोज निकालना इसका मार्ग है। दार्शनिक पद्धति तो द्रष्टृ-सापेक्ष होती है, पर वैज्ञानिक पद्धति द्रष्टृ-निरपेक्ष।

जहाँ तक स्थूल वस्तुओं का सम्बन्ध है, वैज्ञानिक पद्धति बहुत सफल और समीचीन सिद्ध हुई है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में विज्ञान को जड विज्ञान या मैटीरियल साइंस कहने की जो प्रथा चल पड़ी, उसके मूल में विद्वानों की यह उपलब्धि थी कि पदार्थ-विज्ञान या रसायन-शास्त्र के नियम केवल जड़ तत्त्वों की खोज के लिए ही उपयोगी हो सकते हैं। जीव-तत्त्व या मनस्तत्त्व के नियम भिन्न हैं। परन्तु यह प्रतिक्रिया बहुत स्थायी नहीं हुई। क्रमशः जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान भी वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में उलझते गये, क्योंकि यह अनुभव किया जाने लगा कि ज्ञात वस्तुओं में किसी को एकान्त सूक्ष्म और एकान्त जड़ नहीं कहा जा सकता। स्थूल और सूक्ष्म भी सापेक्ष शब्द है। एक वस्तु किसी एक की अपेक्षा सूक्ष्म भी हो सकती है और दूसरी किसी एक की अपेक्षा स्थूल भी। इसी प्रकार विशुद्ध जड और विशुद्ध चेतन भी केवल मानस-धारणा मात्र हैं। इस प्रकार प्रयोगशाला का दायरा निरन्तर बढ़ता गया, उसकी गिरफ्त में आनेवाले पदार्थों की संख्या और श्रेणी भी बढ़ती गयी। कठिनाई केवल उन क्षेत्रों में दिखी जिनमें वस्तु के सामग्रयभाव का विवेचन होता है। 'सुन्दर' एक समग्र भाव की अनुभूति है। क्या वह द्रष्टृ-सापेक्ष है? कुछ हद तक वह द्रष्टृ-सापेक्ष है, इसमें कोई शक नहीं, परन्तु सब समय उसे ऐसा नहीं कहा जा सकता। कालिदास ने जब कहा था 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं, नाकृतीनाम्' (कौन-सी वस्तु है जो मधुर आकृतियों का मण्डन नहीं बन जाती), तो उन्होंने क्या यह नहीं कहना चाहा था कि सुन्दर सब अवस्थाओं में सुन्दर ही होता है? वस्तुतः कालिदास ने दोनों बातें लक्ष्य की थी। (1) सुन्दर सबके लिए सुन्दर होता है, पर (2) उनके लिए अधिक सुन्दर होता है जिनसे उसका लगाव होता है। उर्वशी अपनी उन सखियों के लिए, जिनका उसके साथ आर्द्र सौहृद भाव था, अधिक आकर्षक थी; पर संयोग से एक क्षण के लिए भी जिसने उसे देख लिया हो ऐसे सफल-नयनद्रष्टा के लिए भी कम आकर्षक नहीं थी :

> यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः
> पथिस्थिता सुन्दरि यस्य नेत्रयोः।
> त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्
> सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः।

ऐसे सामग्र्य-भाव को प्रयोगशाला का विषय कैसे बनाया जा सकता है? इसी प्रकार का एक भाव 'प्रेम' है। राधा ने कभी कहा था कि प्रेम ऐसी वस्तु है जिसका विवेचन-विश्लेषण करो तो मूल वस्तु ही गायब हो जाती है और न करो तो उसका स्वरूप किसी को समझाना ही दुष्कर है—"प्रेमा हि कोऽपि पर एव

विवेचने सत्यन्तर्दधात्यलमसावविवेचनेऽपि।" सो प्रेम और सौन्दर्य-जैसे पदार्थ प्रयोगशाला के विषय कैसे बन सकते हैं? फिर भी आधुनिक विद्वान् इन वस्तुओं की जानकारी के लिए भी वैज्ञानिक पद्धति का व्यवहार करते ही हैं। यह सारा चराचर जगत् ही इस प्रकार के सामग्र्य-भाव के अध्ययन की प्रयोगशाला है। यह जो जीवन का बहुविचित्र प्रासाद है उसमें उन्नति की विभिन्न सीढ़ियों पर खड़े मनुष्य है, इतर प्राणी हैं, उनके अध्ययन से सौन्दर्य-बोध की क्रमशः विकसित होनेवाली प्रक्रिया को समझा जा सकता है, प्रेम के आदिम और मध्यवर्ती रूपो का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, और इस प्रकार ज्ञात से अज्ञात की जानकारी प्राप्त करने का रास्ता खोजा जा सकता है। आधुनिक विवेचक इन भावनाओं के मूल रूप और विकास-क्रम के लिए अपने को एकदम असहाय नही पाता।

इसमें कोई सन्देह नही कि आधुनिक युग मे संसार के विभिन्न भागों मे बसनेवाले लोगों की जितनी जानकारी प्राप्त हुई है, उतनी पहले कभी नहीं थी। नयी जानकारियों ने मानव-चित्त की धारणाओं को समझने के लिए अनेक नये उपादान जुटाये हैं। विचारशील व्यक्तियों को इन्होंने नये सिरे से सोचने के लिए विवश किया है। ऐसा तो कोई समय नही रहा होगा जब मनुष्य मे सौन्दर्य-बोध न रहा हो और उसे उसने अपनी वाणी या कल्पना-सर्जना के द्वारा मूर्त्त रूप देने का प्रयास न किया हो। परन्तु सब प्रयासों के साक्ष्य उपलब्ध नही होते। कुछ उपलब्ध भी होते है, तो सब समय उनका अर्थ समझना आसान नही होता। परिस्थिति-विशेष का माध्यम चाहे वह वाणी हो, चित्र हो, मूर्त्ति हो—परिस्थिति के परिवर्त्तन के साथ अस्पष्ट और दुरूह हो जाता है, काल के व्यवधान के कारण प्रतीकों के अर्थ अपने मूलरूप मे उपलब्ध नहीं होते। प्रतीक पूरी इच्छा-शक्ति को कभी अभिव्यक्त नही कर पाते। कालान्तर का मनुष्य कुछ अपनी ओर से जोड़-घटाकर उसे समझने का प्रयत्न करता है। इन बातों का परिणाम यह होता है कि व्यवधान के बढते जाने से मूल प्रयास के अर्थ में भी परिवर्त्तन होता जाता है। निश्चित रूप से कहना कठिन है कि वैदिक ऋचाओं का जो अर्थ हम आज समझते है वही मूल अभिप्रेत अर्थ है या नही। परन्तु फिर भी आधुनिक काल का विचारक दावा करता है कि वह मध्यकाल के विचारक की अपेक्षा अधिक अवितथ और सही अर्थ समझता है। यह दावा सगत है या नही, इस पर तो हम अभी कुछ नहीं कहेंगे, पर यह जानना उपयोगी होगा कि किन कारणों से आधुनिक विचारक इतना साहसी हो सका है। इन कारणों की जानकारी उपयोगी भी है और प्रस्तुत प्रसग के लिए आवश्यक भी। सक्षेप में उनका उल्लेख करना आवश्यक है। आधुनिक काल में जड़विज्ञान और शिल्पतन्त्र के विकास ने यातायात के लिए सुविधाएँ उत्पन्न की है। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही दूर-दूर के द्वीपो और देशों में यूरोपियन लोग पहुँचने लगे। उनमें बहुत ऐसे थे जो विभिन्न देशों और द्वीपों में रहनेवाले लोगों की रीति-नीति, आचार-विचारों को समझने और लिपिबद्ध करने का प्रयत्न करते थे। इनमें अधिकाश तो कुतूहलवश ही लिखते थे,

दृष्टि में महत्त्वपूर्ण परिमार्जन हुआ। लोक-वार्ता ने अभिजात साहित्य को यथार्थ परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि दी और मानव-विज्ञान ने समस्त मानव-जाति को एक और अविभाज्य मानने की दृष्टि परिष्कृत की। जो वातें मौजी-मायिओं की उमंग थी, उसमें वैज्ञानिक बुद्धि का प्रवेश आश्चर्यजनक है। यात्रा-विवरणों का मुख्य आधार लेकर लिखे गये ग्रन्थों में सर जेम्स जी. फ्रेज़र की आजीवन साधना के फलस्वरूप लिखी गयी पुस्तक 'गोल्डेन बो' बहुत ही महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक है। इसी के समान महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जो बहुत-कुछ इसी की सहायता से लिखा गया था, एडवर्ड वेस्टरमार्क का 'दि हिस्ट्री ग्राफ ह्यू मन मैरेज' है। दोनों ग्रन्थों ने विचारक्षेत्र में बहुत अधिक क्रान्ति की है, परन्तु फ्रेज़र की पुस्तक अधिक साहित्यिक है और वेस्टरमार्क की अधिक वैज्ञानिक। वेस्टरमार्क के आलोचकों ने आक्षेप किया था कि उनके निष्कर्ष सुनी-सुनायी वातों पर आधारित हैं, अतः उन्हें वैज्ञानिक निष्कर्ष का साधन नहीं माना जा सकता। फ्रेज़र का ऐसा आक्षेप नहीं किया गया, क्योंकि उनकी पुस्तक को लोगों ने साहित्यिक शैलीकार की रचना के रूप में अधिक ग्रहण किया था। साहित्यिक प्रयत्न में कुछ कल्पना, कुछ विचारोत्तेजक निष्कर्ष, कुछ उदात्तीकरण का प्रयास आवश्यक समझा जाता है। पर वैज्ञानिक विवेचन में लोग इस बात पर अधिक ध्यान देते हैं कि निष्कर्ष के आधारभूत तथ्य ठीक-ठीक और अवितथ हैं या नहीं। वेस्टरमार्क की आलोचना का अर्थ था इस क्षेत्र में वैज्ञानिक बुद्धि का प्रवेश। उन्होंने अपने आलोचकों की चुनौती स्वीकार की और छः वर्ष तक मोरक्को में रहकर वहाँ के निवासियों की भाषा सीखी और उनकी रीति-नीति और विश्वासों का सूक्ष्म निरीक्षण किया और अन्त में 'रिचुअल एण्ड बिलीफ इन मोरक्को' नाम की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी। अपनी पुरानी पुस्तक में भी उन्होंने बहुत-से संशोधन किये। लेकिन उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक, जो उनकी अब तक अभिज्ञता की निचोड़ थी—नैतिक आदर्शों की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में थी ('दि ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ मोरल आइडियल्स')। इस पुस्तक में मानवीय कर्त्तव्याकर्त्तव्य के इतने बहु-विचित्र रूप उपस्थित किये गये कि परम्परा-क्रम से गृहीत और बहुमानित आदर्शों की जड़ हिलती दिखायी दी। विवाह-संस्था के इतने बहु-विचित्र रूपों के मूल में जादू-टोना का महत्त्व ही अधिक पाया गया। संसार की विविध आदिम जातियों की प्रथाओं की जानकारी ने अप्रत्यक्ष रूप से जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, धर्म-विज्ञान आदि पर नये विचार दिये। मानव-विज्ञान ने मनुष्य के भौतिक धरातल से सम्बद्ध किन्तु अन्ततोगत मानसिक रूप में प्रकट हुई मनोवृत्तियों का रहस्य समझने में भी सहायता पहुँचायी। सबसे बड़ी बात यह हुई कि मानव-चित्त की [illegible]

संवेगों का .

की जानका .

मूल रूप स

में पर्यवसित होते हैं, किस प्रकार मनुष्य नये-नये सौन्दर्य-निर्माण के माध्यमों का सहारा लेता है, किस प्रकार उसकी अनुभूतियाँ सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर रूपों की अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होती हैं—इन बातों की प्रक्रिया स्पष्ट हुई। एक प्रश्न स्वभावतः उदित होता है। क्या विभिन्न जातियों में अनेक विचित्र रूपों में पाये जानेवाले विश्वास और आचार-विचार उनके विशिष्ट शारीरिक गठन के कारण हैं? नृतत्त्व-विज्ञान ने मानव-शरीर के विभिन्न अवयवों—कपाल, नासिका, जबड़े आदि—की उच्चावचता का हिसाब करके विभिन्न श्रेणी की जातियों की कल्पना की, परन्तु मानव-विज्ञान ने इन ऊपरी विभेदों को बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं माना। मनुष्य का मन सर्वत्र एक है—एक ही प्रकार सोचनेवाला, एक ही प्रकार उद्बुद्ध या अवबुद्ध होनेवाला, सब प्रकार से एक। वेस्टरमार्क ने मनुष्य के अनेक बाह्य आचरणों के परस्पर-विरोधी तथ्यों का संकलन करके यही नतीजा निकाला कि "Man, after all is a single species!" अर्थात् सब होते हुए भी मनुष्य एक ही जीव-श्रेणी का प्राणी है। ऊपरी भेद नगण्य हैं। मानस-विश्लेषण-शास्त्र ने इस बात का अविसंवादित प्रमाण खोलकर सामने रख दिया है। पहले के मनीषियों ने भी मानव-चित्त की एकता का सन्धान बौद्धिक ऊहापोह से पा लिया था, पर मनोविज्ञान के नवीनतम शोधों ने उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय बना दिया। मनुष्य का चित्त एक-रूप है, उसकी अवगतियाँ और उदात्तीकरण की वृत्तियाँ समान मार्ग से चलती हैं, उनकी अवनमिल और उन्नमिल अवस्थाएँ निश्चित परिस्थितियों में समान रूप से क्रियाशील होती हैं। जीवतात्त्विक संवेग समान भाव से सर्वत्र मानस सूक्ष्म-बोधों को उकसाते हैं—मानव-चित्त एक है।

यह बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। व्यक्तिगत स्तर पर वैविध्य होने पर भी मानव-चित्त एक है। यह हो सकता है कि किसी व्यक्ति-विशेष की दृष्टि अवनमिल या अपनमिल हो और वह पीली वस्तु को लाल देखे, पर एक समष्टि मानव-चित्त है जो सर्वत्र और सर्वदा पीली वस्तु को पीली ही देखता है। हो सकता है कि किसी अन्य जन्तु के समष्टि जान्तव चित्त में वह काली या नीली प्रतिभात होती हो, पर मानवीय दृष्टि मे—समग्रमानव के विराट् चित्त की दृष्टि में—वह पीली ही है। यही वह सामान्य बोध है जिसे अंग्रेजी में 'नॉर्म' कहा जाता है। और जिसके तौल पर हमने संस्कृत के पुराने मिलते-जुलते अर्थवाले 'नर्म' शब्द की कल्पना कर ली है। नर्म[1] शब्द का प्रयोग यहाँ औसत

1. 'नर्म' शब्द संस्कृत के 'नृनये' धातु से उणादि मनिन् (4.146) प्रत्यय से सिद्ध किया जाता है। इस व्युत्पत्ति से इसका अर्थ सामान्य 'नय' या 'नीति' हो सकता है। अमरकोश (1/7/32) के अनुसार इसका अर्थ परिहास है। परन्तु काव्य में यह सहज हास्य के रूप में व्यवहृत होता है। 'नर्मदा' में 'नर्म' शब्द कल्याण का वाचक है। परन्तु यहाँ 'नर्म' शब्द सहज-सामान्य बोध के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः यह अंग्रेजी के 'norm' शब्द के साथ ध्वनि-साम्य के कारण ही तत्परक मान लिया गया है।

सामान्य बोध के रूप में ही किया गया है। इस नर्म या सामान्य बोध से इधर-उधर हटने पर व्यक्ति की दृष्टि अपनर्मिल (एबनार्मल) हो जाती है। कालिदास की बात को इस कोण से देखने पर वह बहुत सटीक जँचेगी। जिसके चित्त में ममत्व का लगाव अधिक है उसके लिए किसी वस्तु का आकर्षण अधिक हो सकता है, परन्तु एक साधारण 'नर्म' भी है। अर्थात् सामान्य रूप से सामग्र्य-भाव का बोध भी है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए आकर्षक होगा। सौन्दर्य-तत्त्व के अनुसन्धाता के लिए इस सामान्य मानवीय दृष्टि की—इस सर्वसाधारण सहज नर्मतत्त्व की—जानकारी आवश्यक है। इसी के आधार पर हम सौन्दर्यबोध के मूल रहस्यों को खोज सकते हैं। इसी विशाल और सामान्य मानवीय दृष्टि को व्यक्ति-दृष्टि से अधिक महत्त्व देने के कारण कालिदास ने बार-बार कहा था—"सर्वास्ववस्थासु अनवद्यता रूपस्य" (माल. 2) और "सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति" (वही), तथा भारवि ने कहा था "न रम्यमाहार्यमुतेक्षते गुणम्" (किरात. 4 : 23) इत्यादि। कहने का मतलब यह है कि सौन्दर्य का एक मानवीय स्तर है। कहीं-कहीं व्यक्ति-विशेष का स्तर इससे आपात-विरुद्ध हो जाता है। यह भारतीय कवियों की उपलब्धि है और कदाचित् संसार के अन्य महान् कवियों की भी ऐसी ही उपलब्धि है।

इस बात को और भी ग्रहणीय बनाने के लिए एक समष्टि-मानव-चित्त की कल्पना की गयी है। सांख्यवादी जिस महत्त्व को स्वीकार करते हैं वह बहुत-कुछ इसी प्रकार का है। पदार्थगुणों के 'नर्म' इसी समष्टि-मानस मे विद्यमान रहते हैं। सौन्दर्य जिन गुणों का सामान्य भाव है वे समान भाववाले 'नर्म' ही सौन्दर्य-बोध, धर्म और नैतिक आचार-संहिता के प्राण हैं। इनकी ठीक-ठीक उपलब्धि न हो तो इन विषयों के मानवीय मान का पता नहीं लग सकेगा और व्यक्तिगत प्रयासों की ऊँचाई या निचाई का थाह ही पाया जा सकेगा। अस्तु।

उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक यूरोपियन तत्त्व-चिन्तकों का विश्वास था कि मानव-सभ्यता के प्रथम युग में भय-वश नाना अदृष्ट शक्तियों के विविध रूपों की कल्पना की गयी थी। वे मानते थे कि आदिमानव को सुरक्षा के अभाव के कारण भय था जिससे उसने भूतों, दैत्यों और पिशाचों की कल्पना की थी। ये ही कल्पनाएँ अन्ततोगत्वा भय और रक्षा, दोनों के अधिदेवता सर्वशक्तिमान् ईश्वर की कल्पना में परिणत हुईं। आज भी बहुत-से लोग इस प्रकार भयमूलक धर्मभाव की बात सोचते हैं। फ्रेजर ने प्रथम बार इस बात का प्रतिवाद किया। उनके विरोध का आधार थी अधुनोपलब्ध आदिमतम जातियों के गान, शिल्प, विश्वास आदि की नयी जानकारी। आरम्भ मे उनकी बात बहुत धक्कामार साबित हुई। विभिन्न क्षेत्रों से इसका प्रतिवाद किया गया। आज जिन जातियों को आदिमतम अवस्था में समझा जाता है, उनमें बिना किसी अपवाद के भय-जन्य धर्मभावना का अभाव पाया जाता है। जैसे-जैसे आदिम जातियों और ज्ञात प्राचीन सभ्यताओं की जानकारी बढ़ती गयी, वैसे-वैसे फ्रेजर का यह मत मान्य

होता गया कि आदि-मानव की कल्पना और रूपसृष्टि के मूल में भय की भावना नहीं थी।

भयमूलक रूपों की कल्पना और रचना मध्यवर्ती स्थिति की उपज है। प्रागैतिहासिक युग में चित्रित दीवारों और गुफाओं आदि के अध्ययन से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि आदि-मानव की रूपसृष्टि के दो कारण थे—1. प्रथम यह कि आदि-मानव का यह विश्वास था कि जिस चीज का चित्र बनाया जाता है, वह बढ़ा करती है। अगर एक हरिण का चित्र बनाया गया तो वन में अनेक हरिणों की वृद्धि होगी। एक बादल का चित्र उरेहा गया तो आकाश में अनेक बादल मँडरायेंगे! 2. दूसरा यह कि आदिमानव चित्र को वास्तविक वस्तु का प्रतिनिधि मानता था और समझता था कि किसी वस्तु के चित्र का अधिकार में रहने का फल होता है, उस वास्तविक वस्तु का अधिकार में रहना। गाय का चित्र जिसके पास होगा उसके पास गाय भी रहेगी। संक्षेप में कह सकते हैं कि आदिमानव की रूपरचना मांगल्यमूलक थी, भयमूलक नहीं। जब फ्रेजर ने पहले-पहल इन निष्कर्षों को प्रकाशित किया तो यूरोप में एक तहलका मच गया। दीर्घकाल में ललित तर्कलब्ध निष्कर्षों की जड़ हिलने लगी। उन दिनों इस प्रकार की मांगल्यमूलक रूपरचना को तान्त्रिक सृष्टि या मैजिकल क्रिएशन कहा जाता था। फ्रेजर के निष्कर्षों से विचार-जगत् में जो क्षोभ पैदा हुआ, वह देर तक लोगों को आलोड़ित करता रहा। पर जब सन् 1903 ई. में एस. रैनेक (S. Rannack) ने लगभग बारह सौ प्रागैतिहासिक चित्रों को प्रकाशित किया तो फ्रेजर के निष्कर्षों की ही पुष्टि हुई और विरोध का वेग शिथिल हो गया। तान्त्रिक सृष्टि या मैजिकल क्रिएशन मांगल्यमूलक थी। उसके आधारभूत मानसिक हेतु भय और असुरक्षा-कातरता नहीं, उल्लास और आनन्द ही थे। मनुष्य की प्रथम रूपसृष्टि आनन्द-हेतुक सिद्ध हुई। भयमूलक रूपसृष्टि इसके बाद हुई थी। मनुष्य में जब तर्क-बुद्धि का विकास हुआ होगा तो उसने सोचा होगा कि केवल चित्र बनाने मात्र से अभिलषित वस्तु नहीं मिल जाती, कहीं कुछ और बाधक कारण हैं। ये ही विचार भयजनक रूप-कल्पना के मूल में रहे होंगे। उन बाधक तत्वों के प्रसादन के लिए उनकी रूप-कल्पना और सर्जना हुई होगी। आगे चलकर भयमूलक रूपरचना का सिद्धान्त अमान्य हो गया। उपनिषद् के ऋषियों ने जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि को आनन्दजन्य माना है, उसी प्रकार आधुनिक मानव-विज्ञानी प्रारम्भिक काल के आदि-मानव की रूप-कल्पना को भी आनन्दजन्य मानता है। सारी सृष्टि को देखकर उल्लास-मुखर ऋषि ने कहा था—"आनन्दाद्धयेव खलु भूतानि जायन्ते" (आनन्द से ही भूतमात्र उत्पन्न होते हैं), और आज का मानव-विज्ञानी उसी स्वर में आदि-मानव की रूप-रचना को आनन्दोत्थ मानने लगा है।

चित्रकला की चर्चा यहाँ प्रसंग-प्राप्त उदाहरण के रूप में की गयी है, मानवीय भावाभिव्यक्ति के प्रथम उन्मेष के रूप में नहीं। जिन लोगों ने आदिम जातियों की नीति-रीति का निपुण अध्ययन किया है, उन्होंने देखा है कि कदाचित् भावावेग

की अभिव्यक्ति का प्रथम मानवीय प्रयत्न नृत्य के माध्यम से हुआ। संगीत और भाषा के साथ नृत्य मानवीय अभिव्यक्ति-प्रयत्नों में सर्व-पुरातन है। विद्वानों ने आश्चर्य के साथ लक्षित किया है कि जहाँ अन्यान्य कलाएँ क्रमशः विकसित होती गयी है या विकसित होती जा रही है, वहाँ नृत्य अपनी आदिम अवस्था में ही चरम उत्कर्ष पर पहुँचा पाया जाता है। डॉ. कर्ट शैल्स (Dr. Curt Shachs) की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'वर्ल्ड हिस्ट्री आफ डांस' इस विषय की प्रामाणिक कृति मानी जाती है। वे कहते हैं—"यह बात कुछ विचित्र-सी लगेगी कि प्रस्तर-युग के बाद नृत्यकला ने बहुत ही कम नया ग्रहण किया है। रचनात्मक नृत्य का इतिहास प्रागैतिहासिक काल में शुरू होता है।" (पृ. 62)। कालिदास ने नृत्य को देवताओं का चाक्षुप यज्ञ कहा था। उनके कथन का आधुनिक भाषा में यही अर्थ हो सकता है कि नृत्य प्रागैतिहासिक काल से चरम उत्कर्ष की अवस्था में है। सुसाली के. लैंगर ने 'फीलिंग एण्ड फार्म' नामक पुस्तक (पृ. 190) में कहा है कि "नृत्य वन्य जीवन का सर्वाधिक गम्भीर बौद्धिक व्यापार है, देश और काल से परे किसी अज्ञात लोक के सम्मुखीन होने का प्रयास है, एक ऐसी मानस-धारणा है जो व्यक्तिजनातीत है और जीवन और मृत्यु से व्यवहित होकर भी शेष प्रकृति से परिवेष्टित और पोषित है। इस दृष्टि से देखा जाये तो नृत्य का प्रागैतिहासिक मूल बिल्कुल आश्चर्य की बात नहीं है। यह धार्मिक चिन्तन की वह प्रक्रिया है जो संसार में अतिमानव शक्तियों की धारणा उत्पन्न करती है। वस्तुतः नृत्य उन्हीं धारणाओं को सम्मूर्त्तित करने का प्रयास है। ये शक्तियाँ नृत्य द्वारा उत्पन्न नहीं की जातीं या उत्पन्न होती हुई अनुभूत नहीं होतीं बल्कि नृत्य-क्रिया द्वारा उद्बोधित, समाहृत, प्रतिस्पर्द्धित या प्ररोचित हुआ करती है। आदि-मानव की अतिमानवीय कल्पना के सामने ये यथार्थ है, प्रतीक नहीं।" सभी आदिम जातियों में मण्डलावर्त्त नृत्य पाया जाता है। डॉ. कर्ट शैल्स ने तो इन मण्डलावर्त्त नृत्यों को मानव-पूर्व मानना चाहा था जो परवर्त्ती शोधकों द्वारा स्वीकार योग्य नहीं माना जा सका। इस मण्डलावर्त्त नृत्य के केन्द्र में कोई-न-कोई अतिमानवीय शक्ति (जैसे कोई देवता, पितरों की वेदी, कोई टोटम, कोई दैवी शक्ति-सम्पन्न पुरोहित ओझा, अग्नि आदि) विद्यमान होती है। यह अविसंवादित तथ्य है कि इस प्रकार के नृत्य का मूल प्रेरक मनोभाव उल्लास है। विविध प्रकार की चारियों से वलयित, ताल द्वारा नियन्त्रित, धारावाहिक मण्डलावर्त्त नृत्य जीवन के किसी अज्ञात रहस्यमय केन्द्र से उल्लसित होता है।

इन मण्डलावर्त्त नृत्यों के दो भेदों का उल्लेख डॉ. शैल्स ने किया है। एक अमूर्त्तपरक और दूसरा मूर्त्त। उनका अनुमान है कि आरम्भ में अदृश्य शक्तियों को केन्द्र करके उल्लास-व्यंजक नृत्य चले होंगे, बाद में वाक् के साथ-साथ जब मिथक तत्त्व का आविर्भाव हुआ होगा तो इन अदृश्य शक्तियों की रूप-कल्पना की गयी होगी। मिथक तत्त्व के सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे, पर यहाँ अपना मत कह देना आवश्यक समझते हैं कि वाक् (भाषा) और मिथक तत्त्व परस्पर के

पूरक है। डॉ. शैम्स के उपर्युक्त अनुमान का कोई ठोस आधार नहीं जान पड़ता, परन्तु इतना मान लेने में कोई आपत्ति नही जान पड़ती कि आदि-मानव की मूर्त कल्पना पहले मानसी रही होगी, बाद में उसने उसे नृत्य और संगीत में और, और भी बाद मे, मिथक और वाक् में उसे सम्मूर्तित करने का प्रयास किया होगा। भारतीय शैव और शाक्त दर्शनों मे इसी को क्रमशः इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति का विलास कहा गया है। यद्यपि इन दोनो कल्पनाओं में थोड़ा तात्त्विक अन्तर है, पर मूल बात एक ही है। मूर्त या परिदृष्ट रूप देने के लिए नृत्य मे, आगे चलकर मुखवास और विविध प्रकार के वस्त्राभरण का उपकल्पन हुआ होगा जिससे नृत्य मे नाटकीयता का समावेश हुआ होगा। आदिम जातियों के अध्ययन मे विद्वान् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है। विवाह, शस्यागम, वर्षा, वसन्त आदि के अवसरों पर मनुष्य की अन्तर्निहित चेतन-सत्ता ने अपना उल्लास प्रकट करने के लिए इन माध्यमों का सहारा लिया होगा।

परन्तु नृत्य वस्तुत है क्या? फाक थीस नामक जर्मन विद्वान् ने बताया है कि नृत्य वस्तुतः जड़ के गुरुत्वाकर्षण पर चैतन्य की विजयेच्छा का प्रयास है, क्योंकि इसकी मुख्य प्रवृत्ति भार की अवगति (गुरुत्व का आकर्षण) को अभिभूत करने की है। नर्तक से हम लाघव, क्षिप्रता, फुर्ती आदि की आशा करते हैं। और अन्तिम विश्लेषण के बाद ये बाते जड़ता के आकर्षण पर विजय पाने के प्रयास का ही नामान्तर सिद्ध होती है। जड़ता का भार नीचे की ओर ले जाना चाहता है, उल्लसित चैतन्य उसके इस खिचाव का प्रतिरोध करता है। सब मिलाकर यह भौतिक भार की अवगति पर विजय पाने का प्रयास ही है और कला के क्षेत्र में कोई नयी बात नही है। स्थापत्य में पत्थर पर विजय पाने का प्रयास है, चित्रकला में सपाट धरातल पर और कविता मे अर्थ-सीमा में बँधे शब्दों पर। फाक थीस के कथन का बड़ा महत्त्व है कि वस्तुतः हर कला-प्रयास में शिल्पी जड़ सामग्री के सहज धर्म पर विजय पाने का प्रयत्न करता है। मनुष्य के कला-प्रयत्नों का अर्थ ही है जड़ता से संघर्ष। जितनी मात्रा में शिल्पी इस संघर्ष मे विजयी होता है, उतनी ही मात्रा में वह शिल्पी-रूप में सफल होता है। जितनी दूर तक उसके अन्तरतर का विशुद्ध चैतन्य जडाकर्षण और भौतिक बन्धन को छिन्न करके लक्ष्यीभूत द्रष्टा या श्रोता की अन्तर्निहित उच्छल प्राणधारा को मुखर कर देता है और जीवन्त रूप मे चैतन्य को अनुभवगम्य बनाता है, उतनी ही दूर तक उसका शिल्प चरितार्थ होता है। हम किसी मूर्ति या चित्र को देखकर या कविता को सुनकर फड़क उठते है, तो वस्तुतः हम जड के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होने का अनुभव करते हैं। आदि-मानव के पास जब अन्य साधनों का अभाव था तो उसने अपनी पेशियों और अंग-उपाग की फड़कन के सहारे ही चैतन्य का विजयोल्लास प्रकट किया। इसी का नाम नृत्य है। कुछ आश्चर्य की बात नहीं कि आदिम अवस्था मे ही वह इस प्रयास में सफल हुआ। सभ्यता के अग्रसर होने के साथ-साथ अन्य साधनों का विकास हुआ, जो अधिकतर स्वयं जड़ उपादान है। इन साधनो के विकास के साथ-साथ

क्रमशः मध्यवर्ती जड़ उपादान बढ़ते गये और चैतन्य के विजय के प्रयास क्रमशः जटिल होते गये। कई बार साधनो के उपयोग में चातुर्य-प्रदर्शन ही प्रधान हो उठा और चैतन्य के उल्लास की मुखर अभिव्यक्ति बाधाग्रस्त हुई। कौशलो ने कला के मूल रूप को आच्छन्न कर लिया। केवल पैर के अँगूठे पर समूचे शरीर के भार को रखकर उचकने (पादांगुष्ठ नृत्य या टो-डास) के प्रयत्न में गुरुत्वाकर्षण पर विजय पाने का प्रयास है तो अवश्य, पर वह 'गुहाहितं गह्वरेष्ठ' चित्तत्व के उल्लास से उतना चालित नही होता जितना कौशल-प्रदर्शन की वासना से। फाकथीस ने इस श्रेणी के पादागुष्ठ नृत्य को मूल आदर्श का कुण्ठित रूप (फोज़ेन आइडियल) कहा है। निस्सन्देह वह ऐसा ही है।

परन्तु आदि-मानव का प्रथम उल्लास-नर्त्तन क्या सचमुच कला के क्षेत्र मे आता है? मूर्त्तियों, चित्रो, काव्यों और शब्दों के माध्यम से मनुष्य कुछ अर्थों की व्यंजना करता है। व्यापक अर्थों में ये सभी एक प्रकार की 'भाषा' हैं। सभी किसी नक्ष्यीभूत श्रोता या द्रष्टा के चित्त में कुछ अर्थ प्रेषण करते है। प्रेषण-सामर्थ्य के कारण ही इन्हें व्यापक अर्थ में भाषा कहा गया है। परन्तु नृत्य कौन-सा अर्थ प्रेषित करता है?

आजकल कलाओं को रचनात्मक कला कहते है। मध्यकाल मे भी माना जाता था कि कवि या कलाकार कुछ नयी 'रचना' करता है। किसी ने कहा था कि विधाता से कवि बड़ा होता है, क्योंकि विधाता की सृष्टि में छः ही रस होते है जबकि कवि-सृष्टि मे नौ रस होते है—षटरस विधि की सृष्टि में 'नवरस कविता माँहि' अर्थात् कवि विधाता की सृष्टि से भिन्न कोई दूसरी ही सृष्टि करता है। यही बात अन्य कलाकारों के बारे में भी कही जा सकती है। इसका अर्थ है कि कवि या शिल्पी वास्तव जगत् की वस्तुओं को देखकर पहले अपने चित्त में एक मानसी मूर्त्ति बनाता है और फिर उसे एक नया रूप देता है। मानसी मूर्त्ति कवि या शिल्पी की इच्छा-शक्ति का विलास है और रूप-रचना उसकी क्रिया-शक्ति का। मानसी मूर्त्ति को ही भाव कहा जाता है। कवि या शिल्पी भावगृहीत रूप को शब्दों, तूलिका या छेनी आदि के द्वारा जड़ आधारों पर उतारता है। यही उसकी नयी सृष्टि है। इसी अर्थ मे उसकी कला 'रचनात्मक' होती है। अगर यही बात है तो आदिम मानव का नृत्य किस भावगृहीत अर्थ को नया रूप देने का प्रयास है? वह कौन-सा भावार्थ है जिसे नर्त्तक अपनी कला के द्वारा अनुभूत कराना चाहता है? यह प्रश्न उतना सीधा नही है जितना अन्य कलाओं के सम्बन्ध में हुआ करता है। अन्यान्य कलाओं की तुलना में नृत्य में मानव-पूर्व तत्त्व अधिक है। उल्लास-काल मे नाचने की प्रवृत्ति पशु-पक्षियों में भी पायी जाती है। ऐसा समझा जाता है कि मानवीय विकास की पूर्व-अवस्था में ही उल्लास-नर्त्तन—और सो भी मण्डलावर्त्त नृत्य के रूप में—आविर्भूत हो गया होगा। एक मानव-विज्ञानी ने तो यहाँ तक कहा है कि मनुष्य के मण्डलावर्त्त नृत्य का पूर्वरूप वनमानुसों के उसी प्रकार के नृत्य में मिल जाता है। यद्यपि यह बात बहुत पक्के प्रमाणों पर आधारित

नहीं है। परन्तु यह सत्य है कि अन्य मनुष्येतर जीवों में उल्लासजन्य मण्डलावर्त नृत्य पाया जाता है। इस अर्थ में नृत्य अन्य मानवीय प्रयास-सिद्ध कलाओं से भिन्न श्रेणी का है।

कहते है, शिव ने त्रिपुर-निधन के बाद उल्लास-नर्तन किया था। उसका अनुकरण उनके शिष्य तण्डु मुनि ने किया था। यही उल्लास-नर्तन ताण्डव का मूल है। इसमे रस और भाव नहीं थे। शिव इस ताण्डव से उन्मत्त हो उठे थे। वे भूल ही गये कि त्रिपुर के वध का उद्देश्य संसार की रक्षा था। उल्लास के अतिरेक में उनके उत्ताल नर्त्तन से नभोमण्डल विक्षुब्ध हो गया था, दिशाएँ चटचटा उठी थी। धरित्री धसकने लगी थी, पर शिव नाचते ही गये— निरुद्देश्य, निर्बाध। उन्हें सयत करना आवश्यक समझकर पार्वती ने लास्य नृत्य किया। इस नृत्य का प्रयोजन था, अर्थ था। अर्थात् इसमे रस और भाव दोनों थे। ताण्डव रस-भावविवर्जित था, लास्य रस-भावसमन्वित। दोनों का यह अन्तर ध्यान देने योग्य है। पहला आदिम है—रस-भावविवर्जित, दूसरा मनुष्य की सर्जनेच्छा द्वारा चालित—रस-भावसमन्वित। भरतनाट्य-शास्त्र में मुनियों ने भरत से प्रश्न किया था कि नृत्य या ताण्डव जिसमें रस भी नहीं, भाव भी नहीं, नाटक में क्यों जोड़ा गया। भरत-मुनि का सीधा उत्तर था—मागल्य के लिए। यद्यपि नृत्त या ताण्डव में रस और भाव नहीं होते फिर भी उसका एक अर्थ है, भरत मुनि कम-से-कम ऐसा ही मानते हैं। यह अर्थ है, मागल्य। आधुनिक मानव-विज्ञानियों की भाषा में यह बात मैजिकल क्रिएशन के आसपास पहुँचेगी। इससे मंगल होता है। यह सम्पूर्ण मानव-जीवन का ही सर्जन है। ताल द्वारा नियन्त्रित होकर भी बार-बार एक निश्चित लय मे परावर्त्तित नृत्य वस्तुतः जन्म और मृत्यु से व्यवहित और फिर भी अविच्छिन्न भाव से निरन्तर गतिशील जीवन की ही व्यंजना है। शैक्स ने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी भेद करके आदिम नृत्यों को समझाया है। अन्तर्मुखी केवल आन्तरिक चैतन्य वृत्ति का उल्लासजन्य नृत्य है जबकि बहिर्मुखी सोद्देश्य और सार्थक। वस्तुतः ताण्डव और लास्य अधिक सुन्दर भेद है। लास्य में मानवीय प्रयत्न अधिक होता है, इसलिए उसे ही अन्यान्य कलाओं के साथ एक श्रेणी में रखा जा सकता है। ताण्डव केवल परवर्त्ती-काल के कला-विकास को स्पष्ट करनेवाला आरम्भिक मूल प्रयास है। निस्सन्देह वह चैतन्य की आत्माभिव्यक्ति है। जीवतत्त्व के सामने बड़ी समस्या है जड़ाकर्षण का प्रतिरोध। जड़ाकर्षण पर विजय पाने का प्रयास अपने मूल रूप में ताण्डव में उपलब्ध होता है। अपने उद्दाम अभिव्यंजन और जड़ाकर्षण के प्रतिरोध-सामर्थ्य के कारण ही वह लोकमान्य हुआ है। चैतन्य के पुंजीभूत रूप शिव के द्वारा वह प्रवर्तित माना गया है। दूसरी ओर लास्य अधिक परवर्त्ती और मनुष्य की अपनी सर्जना-वृत्ति द्वारा अधिक सँवारा हुआ ललित प्रयत्न है। वह अधिक मानवीय है, क्योंकि वह मानव-चित्त के निश्चित उद्देश्यों—अर्थों—को अभिव्यक्ति देता है। उसके ताल, लय, छन्द, झंकार सब मिलकर मानवीय मनोभावों—रस-भाव—को दर्शक के चित्त में अनुभूत कराते है। इसीलिए ताण्डव जहाँ मानव-पूर्व

तत्त्वों का स्वतःस्फूर्त्त विकास है, वहाँ लास्य मानवीय प्रयासों का ललित रूप। इसलिए वह नर्तक के चित्त में अधिक स्पष्ट मानसी मूर्त्ति—भाव—की सर्जना करता है। बन्धनों पर विजय पाने का प्रयास उसमे भी है, परन्तु ये बन्धन विराट् प्रकृति का अपना जड़ाकर्पण ही नही है बल्कि मनुष्य के जीवन द्वारा प्रतिफलित आकर्पण अर्थात् मानस-संस्कारों पर भी विजय पाने का प्रयास है। ताण्डव का लक्ष्यीभूत मानस-संस्कार अस्पप्ट है, अव्यक्त है, जबकि लास्य का स्पष्ट और व्यक्त। कहते हैं, लास्य का प्रवर्त्तन पार्वती ने किया था। पार्वती अर्थात्, अव्यक्त ब्रह्म की सिसृक्षा, रूप देने का सामर्थ्य देनेवाली शक्ति तन्मात्र।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, मनुष्य के सर्जनात्मक कला-प्रयासो के पीछे कोई मानसी मूर्त्ति होती है। ताण्डव आदि-मानव या पूर्व-मानव के उल्लास-नर्त्तन का परिष्कृत रूप है। प्रश्न होता है कि वह कौन-सी मानसी मूर्त्ति थी जिसने आदि-मानव को उल्लास-चचल बनाया था और जो मण्डलावर्त्त नृत्य के रूप मे अभिव्यक्त हुई थी। यह बताना उतना ही कठिन है जितना यह बताना कि किस प्रकार आदि-मानव ने अपने मानसिक भावों को शब्द या भापा द्वारा अभिव्यक्ति दी थी। दोनो ही आदि-मानव के भाव-सम्मूर्त्तन के प्रयास लगते है। पर कैसे यह सम्भव हुआ होगा, यह कठिन प्रश्न है। वस्तुतः मनुष्य के अति-आदिम प्रयत्नो में इच्छा और क्रिया एकमेक होकर गुँथी हुई थी। आज भापा ने मनुष्य के समूचे अस्तित्व को बुरी तरह छाप लिया है। हमारे लिए यह कल्पना भी कठिन जान पड़ती है कि शब्द के बिना भावसर्जना या भावधारणा (जिसे अंग्रेजी मे कन्सेप्ट या नोशियो कहते है) कैसे सम्भव है। पर यह सत्य है कि मनुष्य की अपनी विशेपता भापा है। मनुष्य-पूर्व जीवों मे वह नही के बराबर है। किसी समय मनुष्य ने भापा का आविष्कार किया होगा। ताण्डव मे पद और पदार्थ, इच्छा और क्रिया एक-दूसरे से 'कहियत भिन्न न भिन्न' होकर मिले हुए है। कब और कैसे वे उस अवस्था में आ गये जो पद अलग, पदार्थ अलग, इच्छा अलग और क्रिया अलग हो गयी, यह बता सकना बहुत कठिन है। इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है।

अर्न्स्ट कैसिरर (Earnst Cassirer) ने एक उचित प्रश्न उठाया है। उनका कहना है कि भाव-धारणा (concept, notio conceptus) किसी वस्तु के सार-भूत तत्त्वों (एसेंशियल प्रापर्टी) की धारणा का नाम है। तत्त्व या प्रापर्टी क्या चीज है? कोई भाव की धारणा निश्चित तत्त्वों से बनती है। अगर किसी पदार्थ मे ऐसे गुण या लक्षण है जो उसे दूसरे पदार्थों से व्यावृत्त करते है या समानधर्मा सिद्ध करते है तो इस वैपम्य या साम्य के आधार पर उसे श्रेणी-विशेष के अन्तर्गत रखा जा सकता है। परन्तु श्रेणी-भेद के लिए भापा से पूर्वावस्था मे क्या आधार थे? हम भापा के माध्यम से ही तो वस्तुओं का वर्गीकरण करते है अर्थात् एक को दूसरे से व्यावृत्त करते है। यदि भापा-अर्जन के पूर्व ही यह करना पड़ा हो तो मनुष्य ने यह कार्य कैसे किया होगा? वह कौन-सी बात थी जिसने व्यावृत्त धर्म-वाली भापा को जन्म दिया? आज हम भापा के इतने अधीन हो गये हैं कि इस

प्रकार के प्रश्न का उत्तर सोचना भी कठिन हो गया है। मनुष्य की समूची सर्जनात्मक शक्ति भाषा की देन है। यह भाषा-पूर्व अवस्था के विवेचन से स्पष्टतर सिद्ध होता है।

कल्पना की जा सकती है कि किसी वस्तु को प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा अविच्छिन्न रूप से ग्रहण करना ही आदिम मनुष्य के लिए सम्भव है। यह अविच्छिन्न रूप किसी एक शब्द की रचना नहीं होती। धीरे-धीरे इसके सम्बन्ध संचित हुए होंगे और अन्त में समस्त इन्द्रिय अनुभूतियों के संश्लिष्ट रूप ने उच्चरित वाक् के रूप में अपने को अभिव्यक्त किया होगा। दर्द से व्याकुलित होने पर उसने उच्छ्वास के रूप में और बाद में सुव्यवस्थित होकर संकेतात्मक शब्द में अभिव्यक्ति पायी होगी। धीरे-धीरे भेद का विवेक स्पष्ट होने लगा होगा, और भाषा का विकास क्रमशः जाति से व्यक्ति की ओर हुआ होगा। इसका मतलब यह हुआ कि वाक् का प्रथम स्फोट या प्राकट्य बहुत-कुछ भारतीय भाषावादी की बतायी हुई उस पश्यन्ती वृत्ति के रूप में जिसमें पद और पदार्थ एकमेक होकर रहे होंगे, दूसरा स्फोट मध्यमा वृत्ति के रूप में जिसमें पद और पदार्थ अलग होकर भी 'भाव' (notio) के रूप में प्रकट हुए होंगे और तीसरा बहुत-कुछ वैखरी वृत्ति के रूप में, जहाँ पद और पदार्थ एकदम अलग हो गये होते हैं, हुआ होगा। इन वृत्तियों के बारे में विचार करने का अवसर हमें आगे मिलेगा। यहाँ आधुनिक पण्डितों की बात को समझाने के लिए पुरानी शब्दावली कदाचित् सहायक हो, यह सोचकर ही उसका प्रयोग किया जा रहा है। नहीं तो ये वृत्तियाँ ठीक-ठीक उसी प्रकार की नहीं हैं जैसा आधुनिक पण्डित समझते हैं पर बहुत-कुछ वैसी ही हैं।

वाक्-तत्त्व के साथ-ही-साथ मिथक तत्त्व का आविर्भाव हुआ था। प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर ने बताया था ('फिलासफी आफ माइथोलोजी, इन्ट्रोडक्शन टु दि साइंस आफ रिलिजन' के परिशिष्ट में) कि अपने उच्चतर अर्थ में मिथक तत्त्व वह शक्ति है जो मानवचित्त में हर सम्भव मानसिक क्रिया-कलाप में भाषा द्वारा प्रत्युत्पादित होती है। मैक्समूलर मिथक तत्त्व को अनिवार्य मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि हम भाषा में विचार के ऊपरी रूप को अभिव्यक्त करने की शक्ति मानें तो मिथक तत्त्व उसकी अन्तर्निहित आवश्यकता जान पड़ेगा। भाषा वस्तुतः विचारों के ऊपर काली छाया डालती है जो तब तक दूर नहीं होगी जब तक भाषा विचार के साथ एकमेक नहीं हो जाती, जो कभी होने का नहीं है। निस्सन्देह मिथक-तत्त्व मानव-विचारों के आरम्भिक इतिहास-काल में ही बुरी तरह फूटता है, पर गायब कभी नहीं होता। मैक्समूलर ने मिथक तत्त्व को एक प्रकार की माया या भुलावा-जैसी कुछ वस्तु सिद्ध करना चाहा था। वह भाषा का ही परिणाम है और मनुष्य के लिए आत्मवंचना का मार्ग निकालता है। आज के मानवविज्ञानी इस बात को नहीं मानना चाहते। मिथक कल्पनाओं को आज का मानव-विज्ञानी आत्मवंचना नहीं मानता। वह भी वाक्-तत्त्व की भाँति मनुष्य की सहज सर्जना-शक्ति का ही निदर्शक रूप है। मैक्समूलर भाषाशास्त्र के प्रवर्तक

थे, उनकी बात का मूल्य है। इसीलिए अब भी कुछ लोग उनकी बात को स्वीकार करते हैं, परन्तु जो लोग मनुष्य की सर्जना-शक्ति का अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से करते हैं वे एक मत से इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करते हैं। वाक्-तत्त्व की भाँति मिथक तत्त्व भी मनुष्य की सर्जना-शक्ति की कहानी बताता है और उसके पूरक के रूप में युगपत उत्पन्न होता है। अर्न्स्ट कैसिरर ने कुछ रोषपूर्वक ही कहा है कि वस्तुतः आत्मवंचना भाषा में ही बद्धमूल है, भाषा जो सदा से मानव-चित्त को अपना क्रीडनक बनाये रही है, जो सदा से उस अर्थ-परम्परा के गन्दे खेल में मानव-चित्त को भरमा रही है और अर्थ-परम्परा उसका निजी सत्त्व है। यह धारणा कि मिथक किसी सत्तात्मक सर्जना-शक्ति पर आधारित नहीं है—कि हम वार्णा में उसका रोग-निदान-मूलक (पैथोलोजिकल) प्रभाव पाते हैं—इस धारणा के पुरस्कर्ता आज के नृतत्त्व-विज्ञानियों में भी मिल जाया करते हैं। परन्तु यह बात गलत सिद्ध हो चुकी है। मिथक तत्त्व भी भाषा की भाँति ही मनुष्य की निश्चित सर्जना-शक्ति का विलास है। अगर वह आत्मवंचना है तो वाक्-तत्त्व भी ऐसा ही है। अर्न्स्ट कैसिरर की इस रोषोक्ति में सार है।

सौन्दर्य असल में वस्तु की समग्रता की अनुभूति है। इसके दो मोटे रूप हैं :

1. एक तो वह जो हमें अभिभूत करता है, प्रभावित करता है, चालित करता है, पर इसलिए नहीं कि वह ऐसा करना चाहता है। हम यह ठीक नहीं जानते हैं कि वह किसी अन्य अदृश्य शक्ति की इच्छा से ऐसा करता है या नहीं। कोई अदृश्य शक्ति उसके द्वारा हमें चालित, प्रेरित या अभिभूत करती है या नहीं। यह किसी भी मनुष्य की कल्पना या तर्क का विषय-मात्र हो सकती है। यह सदा सन्दिग्ध ही रहेगा कि कोई ऐसी शक्ति है जो सौन्दर्य को साधन बनाकर हमें चालित या अभिभूत करना चाहती है। परन्तु हम चालित, प्रेरित और अभिभूत होते है, यह बात असन्दिग्ध है। गुलाब का फूल है। वह वर्ण से, रूप से, गन्ध से हमें मोहित करता है। हम बिल्कुल नहीं जानते कि ऐसा वह चाहता है या नहीं। हमें वह लाल दिखता है। परन्तु 'लाल' शब्द हमारी रचना है। हमें यह भी नहीं मालूम कि वह स्वयं अपने को 'लाल' समझता है या नहीं। 'लाल' कहकर हम एक चाक्षुप सत्य का परिचय मात्र देते है। परन्तु भाषा की सीमा है। लाल सैकड़ों चीजें होती है। सबको एक ही लाठी से हाँकना सम्भव भी नहीं है, उचित भी नहीं है। मनुष्य की यह महिमा है कि उसने जैसे-तैसे सीमाओं के बन्धन को अस्वीकार करते हुए अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति दी है 'लाल' शब्द के द्वारा। मनुष्य की यह सीमा है कि वह सैकड़ों प्रकार के लाल की अनुभूति को ठीक-ठीक अभिव्यक्ति नहीं दे पाता। 'लाल' भी एक जाति है। यह एक सीमा है। पर मनुष्य के अद्भुत वैशिष्ट्य को व्यंजित करनेवाली सीमा। मम्मट ने जब 'चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्तिः' का उपसंहार करते हुए कहा था "जात्यादिर्जातिरेव वा" (शब्द चार प्रकार के है : जाति, व्यक्ति, क्रिया और यदृच्छा के वाचक। इन्हें जाति आदि चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। पर सबको केवल 'जातिवाचक'

भी कहा जा सकता है।), तो उनका उद्देश्य सिर्फ पूर्वाचार्यों की संगति बैठाना मात्र नहीं था। वे भाषा की इस सीमा की ओर भी संकेत कर रहे थे। काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए वह जानकारी आवश्यक है।

2. पद-पद पर मानव-चित्त के अपार औत्सुक्य को प्रकट करनेवाली इच्छा-शक्ति भाषा की सीमा से टकराती है। अपनी अनुभूति को जब भाषा द्वारा सीधे नहीं प्रकट कर पाती तो उपमा का सहारा लेती है। कैसा लाल ? जैसी कि अमुक वस्तु होती है वैसा। उससे भी काम नहीं चलता तो उत्प्रेक्षा का सहारा लेती है। यदि अमुक वस्तु अमुक वस्तु से युक्त होती तो जैसा होता वैसा। पर काम क्या चलता है ? मनुष्य छन्द से, स्वराघात से, काकु से, वचन-वक्रता से, हाथ घुमाकर, मुँह बनाकर अर्थात् अभिनय से, इस अपार इच्छा-शक्ति का समाधान करना चाहता है। इच्छा अनन्त है, क्रिया सान्त है। इच्छा नाद है—कण्टिनुअम है, क्रिया बिन्दु है—क्वैण्टम है। इच्छा गति है, क्रिया स्थिति है। गति और स्थिति का यह द्वन्द्व चलता रहता है। इसी से रूप बनता है, छन्द बनता है, संगीत बनता है, नृत्य बनता है। इच्छा काल है, क्रिया देश है। इसी देश-काल के द्वन्द्व से जीवन रूप लेता है प्रवाह के रूप में। इसी से धर्माचरण बनता है, नैतिकता बनती है। इन सबको छापकर सबको अभिभूत करके, सबको अन्तर्ग्रथित करके जो सामग्र्य-भाव है वह सौन्दर्य का दूसरा रूप है। यह भाषा में, छन्द में, मिथक रूप में, नृत्य में, गीत में, मूर्ति में, चित्र में, सदाचार में अपने-आपको प्रकट करता है। एक प्राकृतिक सौन्दर्य है, दूसरा मानवीय इच्छा-शक्ति का विलास है। दूसरा सौन्दर्य प्रथम द्वारा चालित होता है पर है मनुष्य के अन्तरतर की अपार इच्छा-शक्ति को रूप देने का प्रयास। एक केवल अनुभूति देकर विरत हो जाता है। दूसरा अनुभूति से उत्पन्न होकर अनुभूति-परम्परा का निर्माण करता है। भाषा में, मिथक में, धर्म में, काव्य में, मूर्त्ति में, चित्र में बहुधा अभिव्यक्त मानवीय इच्छा-शक्ति का अनुपम विलास ही वह सौन्दर्य है जिसकी मीमांसा का संकल्प लेकर हम चले हैं। प्रथम सौन्दर्य रूप से व्यावृत्त करने के लिए इसे हम 'लालित्य' कहेंगे। लालित्य, अर्थात् प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न किन्तु उसके समानान्तर चलनेवाला मानव-रचित सौन्दर्य।

'लालित्य' शब्द से कई अर्थ व्यंजित होते हैं।

मनुष्य की इच्छा-शक्ति जब सर्जनात्मक रूप ग्रहण करती है तो भारतीय शास्त्रों में उसे विश्वव्यापिनी सर्जनात्मक शक्ति 'ललिता' का व्यष्टिगत रूप कहा जाता है। विश्वब्रह्माण्ड में व्याप्त सर्जना-शक्ति का ही वह पिण्ड में प्रतिनिधित्व करती है। शाक्त आगमों में बताया गया है कि सच्चिदानन्द महाशिव की आदि-सिसृक्षा (सृष्टि करने की इच्छा) ही विश्व में शक्ति-रूप से विद्यमान है। प्रलय-काल में महाशिव निष्क्रिय रहते हैं। उस समय महामाया समस्त जगत्-प्रपंच को आत्मसात् करके विराजती रहती हैं। जब शिव को लीला की लालसा होती है तो यही महाशक्ति-रूपा महामाया जगत् को प्रपंचित करती है। शिव की

लीलासखी होने के कारण ही उन्हें ललिता कहते हैं। लोक-रचना उनकी क्रीड़ा है। चिन्मय शिव उनके सखा हैं, सदानन्द उनका आहार है, सत्पुरुषों का हृदय ही उनका निवास-स्थान है। ललिता-स्तवराज में कहा गया है

क्रीड़ा ते लोकरचना सखा ते चिन्मयः शिव
आहारस्ते सदानन्दो वासस्ते हृदये सताम्।

सत्पुरुषों के हृदय में निवास करनेवाली ललिता ही वह शक्ति है जो मनुष्य को नयी रचनाओं के लिए प्रेरित करती है। इसलिए इस परम्परा-गृहीत अर्थ मानव-रचित-सौन्दर्य को 'लालित्य' कहना उचित ही है। ललिता सहस्रनाम में इस देवी को 'चित्कला', 'आनन्दकलिका', 'प्रेमरूपा', 'प्रियंकरी', 'कलानिधि', 'काव्यकला', 'रमज्ञा', 'रस शेवधि' आदि कहकर पुकारा गया है। जहाँ कहीं मानव-चित्त में सौन्दर्य का आकर्षण है, सौन्दर्य-रचना की प्रवृत्ति है, सौन्दर्या-स्वादन का रस है, वहीं यह देवी क्रियाशील है। इसलिए भी हमारे आलोच्य शास्त्र का नाम 'लालित्य-शास्त्र' ही हो सकता है। फिर मनुष्य की सौन्दर्य रचना के मूल में उसके चित्त के 'ललित' भाव ही हैं। इसीलिए लालित्य को ही उस सौन्दर्य का रूप माना जा सकता है जो मनुष्य के ललित भावों की अभिव्यक्ति करता है।

मनुष्य की इच्छा-शक्ति द्वारा चालित प्रयास से जो सृष्टि होती है, वह और किसी अन्य जीवधारी के वश की नहीं है। वह सब प्रकार से अपूर्व है। सृष्टि में पहले कभी ऐसा नहीं देखा गया। इस बात को बहुत पहले भरतमुनि ने प्रकट किया था। नाट्य-शास्त्र में एक कथा है : ब्रह्मा की आज्ञा से भरतमुनि ने नाट्य-वेद का निर्माण किया और तदनुसार एक नाटक भी लिखा। ब्रह्मा ने उस नाटक का अभिनय करने की आज्ञा देवताओं को दी। परन्तु वे इस काम को नहीं कर सके। इन्द्र ने ब्रह्मा से निवेदन किया कि 'हे पितामह! देवता इस काम को नहीं कर सकते। इसे तो मुनि लोग ही कर सकते हैं।'[1] मुनि मनुष्य हैं, वे अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर दूसरे का अनुकरण कर सकते हैं, परन्तु देवता भारतीय परम्परा के अनुसार भोगयोनि के हैं। उन्हें जैसा बनाया गया है और जैसा काम दिया गया है, वैसा ही कर सकते हैं और किसी अन्य का अनुकरण नहीं कर सकते। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में जब देवता को कुछ करना होता है तो वह मनुष्य का रूप ग्रहण करता है।

1. तच्छ्रुत्वा भगवान् शक्रो ब्रह्मणा यदुदाहृतम्।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम्।
ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तम।
अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्य-कर्मणि।
य इमे वेद गुह्यज्ञा मुनयः संशितव्रताः।
एतेऽस्य ग्रहणे शक्ताः प्रयोगे धारणे तथा॥
['नाट्य-शास्त्र', प्रथम अध्याय, 21-23 (चौ०)]

मनुष्य में इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति दोनों उद्‌बुद्ध होती है। वे चाहें (और वे चाह सकते है) तो देव, दैत्य, राजा, प्रजा, सज्जन, दुर्जन सबका अभिनय कर सकते है। नाट्य-शास्त्र की कथा कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इससे देवता की तुलना मे मनुष्य की विशिष्ट शक्ति का परिचय मिलता है। इसे नाट्य-शास्त्र की अन्य कथाओं से मिलाकर देखने से आधुनिक मानव-विज्ञान के निष्कर्षों की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ नाट्य-शास्त्र में अन्यत्र बताया गया है कि देवता नृत्य कर सकते है। ताण्डव के मूल प्रवर्तक शिव हैं; लास्य की प्रवर्त्तिका पार्वती हैं। परन्तु देवता नाटक का अभिनय नही कर सकते। नृत्य और नाटक का अन्तर स्पष्ट है। नृत्य मे बाह्य उपकरण की आवश्यकता नही होती, नाटक में होती है। नाटक अनुकरण है, पर नृत्य नही। इस बात को ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से देखा जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि नाटक मनुष्य के भावाभिव्यंजक वाक्-तत्त्व के पर्याप्त आयत्तीकरण के बाद की कला है। यह उस समय विकसित हुआ होगा जब पद और पदार्थ का विवेक पूर्ण हो गया होगा। पर नृत्य उसके पूर्व की कला है। कदाचित् वह मानव-पूर्व है। यह उस समय की कला है जब वाक्‌तत्त्व का पूर्ण उन्मेष नही हुआ था अर्थात् जब पद और पदार्थ विविक्त नही थे।

परन्तु नाटक यहाँ उपलक्षण मात्र है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति—नाद और बिन्दु, पद और पदार्थ—के पूर्ण उन्मेष के बाद ही उत्पन्न हुई कलाएँ अर्थात् काव्य, चित्र, मूर्ति आदि की भी यही कहानी है।

भरतमुनि ने नाटक के क्षेत्र में मनुष्य की महिमा को कितने स्पष्ट रूप में हृदयंगम किया था, इस बात का पता इसी से चलता है कि अपने काल मे प्रचलित रूपकों में से पूर्णांग उन्होंने सिर्फ, नाटक और प्रकरण को ही माना है जहाँ नायक मनुष्य होता है। बाकी रूपकों में उन्होने कई सन्धियों और वृत्तियो को अनियोज्य बताया है। क्योंकि जहाँ देव-कोटि का नायक होता है वहाँ धैर्य की कमी रहती है, फलागम के लिए उतावली होती है, हड़बड़ी रहती है। पूर्णांग रूपकों में दो ही पूर्णांग रस, वीर और शृंगार, माने गये हैं। तथापि वीर रस में एक पक्ष के पराभव होने के कारण पूर्ण रसपरिपाक नही हो पाता। उत्तम रस शृंगार ही है जहाँ "लाभः सपद्यपि जये च पराजये च यूनोर्मनस्तदपि वाञ्छति जेतुमेव।" प्रथम रूपक शायद 'त्रिपुरदाह' था। यद्यपि देवताओं की भूमिका मे मनुष्य ही उतरे थे तथापि यथार्थता की खातिर वह पूर्णांग नही हो सका था। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भरत के आशय को ठीक समझकर ही कहा था, "देवा धीरोद्धता एव" (देवता धीरोद्धत नायक ही होते हैं क्योंकि उनमे फलागम के लिए उतावली होती है, धीरोदात्त की भाँति धीर भाव से प्रत्याशा मे वे नही उलझते। धीरोदात्त मनुष्य ही हो सकते हैं)। इस प्रसंग पर हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ इतना ही अभिप्रेत है कि कला-सर्जन में मनुष्य की महिमा का सबल विवेक सबसे पहले भरत को ही था। पहले ही बताया गया है कि समग्र मानव के निपुण अध्ययन का

एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकला है कि मनुष्य का चित्त एक ही जैसा है। नृतत्त्वविज्ञान के पण्डितों ने मनुष्य की उत्पत्ति के बारे में अनेक प्रकार की जल्पना-कल्पना की है। नाक, मुँह, कपाल, जबड़े आदि की नापजोख से कई जाति के मनुष्यों का सन्धान पाया गया है। ऐसा भी कहा जाता है कि मनुष्य की ये विभिन्न जातियाँ भिन्न-भिन्न देशों में, भिन्न-भिन्न काल में प्राङ्मानव जन्तु से विकसित हुई हैं। यद्यपि इस शास्त्र के विशेषज्ञों ने कई प्रकार से मनुष्य-जाति का वर्गीकरण किया है, पर आज तक किसी जाति का मनुष्य ऐसा नहीं मिला जो लाल को लाल रंग और पीले को पीला रंग न समझता हो या आवाज सुनने के बाद कर्कश को कर्कश न कहता हो और कोमल को कोमल न समझता हो। व्यक्तिगत अनुभूति में मात्रा की कमीबेशी हो सकती है, पर बाह्यकरणों की अनुभूति लगभग समान है। बाह्यकरणों की बनावट में भी थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है, पर उनकी आन्तरिक अनुभूति प्राय: एक सी है अर्थात् अन्तःकरण (मन, बुद्धि आदि) और ज्ञानेन्द्रियों की ग्राहिका शक्ति सर्वत्र एक समान है। मनुष्य की यह चित्तगत एकता सचमुच ही आश्चर्यजनक है। इसने इन्द्रियग्राह्य विषयों के सम्बन्ध में मानव को एक समान ग्राहिका शक्ति से सम्पन्न बनाया है। भौगोलिक और अन्य भौतिक वातावरण के कारण सहन-सीमा और सन्तोष-सीमा में अन्तर बहुत है, पर अनुभूति एक ही श्रेणी की है। कहीं मानव का ऐसा विकास नहीं हुआ जो लाल को काला देखता हो या गर्मी को सर्दी अनुभव करता हो या फिर वाग्यन्त्र के स्थान पर किसी अन्य शारीरिक अवयव से भाव-प्रेषण करता हो। अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों की ग्राहिका शक्ति की दृष्टि से मनुष्य एक है। इसीलिए गीत, नृत्य आदि अत्यन्त प्रागैतिहासिक अभिव्यक्तियों से लेकर परवर्ती काल तक के लालित्य-बोध में मनुष्य-मात्र में एक अद्भुत समानता है। जहाँ कहीं व्यक्ति-विशेष में सामान्य बोध से भिन्न प्रकार की अनुभूति देखी जाती है, वहीं उसे अवनर्मिल माना जाता है और चिकित्सा की व्यवस्था सुझायी जाती है। लालित्य-मीमांसा की दृष्टि से यह बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। यह इसके विवेक के विषय में एक मानवीय दृष्टि का सन्धान बताती है। और रूप, वर्ण, गन्ध, आदि के सम्बन्ध में एक सामान्य मानवीय 'मूल्य' नर्म की स्थापना करती है। कभी-कभी व्यक्ति-मानव मानस-विकृति या इन्द्रिय-विकार के कारण इस नर्म से विच्छिन्न हो जाता है। उस समय वह साधारण से कुछ भिन्न या अवनर्मिल बन जाता है। परन्तु यह भी विचित्र है कि इस अपनर्मिली भाव का भी अपना एक कायदा-कानून है। मानव-मनोविज्ञान के चिकित्सा-शास्त्रीय शोधों ने इस बात को अविसंवाद्य रूप में सिद्ध कर दिया है। निश्चित प्रकार के स्नायु-दौर्बल्य से मानव-मात्र में निश्चित प्रकार का अपनर्मिली भाव उत्पन्न होता है और निश्चित उपचारों से मानव-मात्र में निश्चित प्रतिक्रिया होती है। परन्तु लालित्य-विवेचन के प्रयासी के लिए और भी काम की बात यह है कि मनुष्य-मात्र में इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति के कायदे-कानून भी एक ही जैसे हैं। इस शास्त्र का अन्वेषक हैरान होकर सोचता

है : क्या सारी एकता सतही है या इसके पीछे कोई विराट् शक्ति क्रियाशील है ? कौन है जो पर्दे की ओट में बैठा हुआ इस महती एकता को रूप दे रहा है ?

सर्वत्र मनुष्य ने उल्लास-चंचल होकर जड़ता के बन्धनों पर विजय पाने का प्रयास किया है। आरम्भ में उसने नृत्य-चारिका से और स्वर-सन्धान द्वारा इस बन्धन के विरुद्ध विद्रोह किया है और बाद में वाक्, मिथक, और भाव-सम्मूर्तन के द्वारा अपने भीतर किसी बन्धन-द्रोही व्याकुलता को रूप देने का प्रयास किया है। कहीं कुछ ऐसा है जो मनुष्य के आदि-उद्भव के समय से ही अपने को बन्धनमुक्त करने को लिए छटपटा रहा है। मानो रवीन्द्रनाथ शब्दों वह कातर भाव से कहता आ रहा हो—"आमि चचल हे, आमि सुदूरेर पियासी" (अभी, मैं चंचल हूँ, मैं सुदूर का प्यासा हूँ)। कौन-सी बात है यह ? कौन है वह जो नित्य नयी सर्जनाओं से अपने को उल्लसित करने का प्रयत्न करता आ रहा है ? जान पड़ता है यह उसका चैतन्य है, अनाविल व्यापक चित्तत्त्व उसी का अद्भुत और अक्लान्त प्रयत्न है, जो लालित्य-रचना के द्वारा नित्य बन्धनजयी होने की क्रिया से प्रकट हो रहा है। इस प्रयास को समझने के लिए उसकी इच्छा-शक्ति और क्रियाशक्ति का स्वरूप जानना तो आवश्यक है हाँ, यह भी आवश्यक है कि उसके प्रयत्नों में बाधा पहुँचानेवाले भौतिक और अन्य तत्त्वों का स्वरूप भी समझ लिया जाये। ऊपर के इन विचारों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

1. मानव-चित्त एक है। समष्टि-मानस में ही समान बोध के मान रहते है जो 'नर्म' कहे जाते है।
2. मनुष्य ने उल्लास की अवस्था मे प्रथम आत्माभिव्यक्ति की थी, जिसका अन्तर्निहित उद्देश्य जड बाधाओं पर चैतन्य के विजयी होने का प्रयास था।
3. मण्डलावर्त्त नृत्य के रूप मे यह अभिव्यक्ति पूर्व-मानव-काल में ही हो चुकी होगी।
4. वाक्-तत्त्व का प्रथम उन्मेष मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रथम स्पष्ट विस्फोट है, जो शुरू मे पद और पदार्थ के सम्पृक्त रूप में रहा होगा।
5. वाक्-तत्त्व वाह्यवस्तु के नामकरण का नही, अन्तःकरण के उल्लास-चचल आश्चर्य का साधन था जो बाद में उल्लासदायक तत्त्व का वाचक हो गया।
6. वाक्-तत्त्व का स्फोट जहाँ पद और पदार्थ के विवेक का कारण बना, वहाँ उच्चारित शब्द की सीमाबोधकता का ज्ञान लेकर भी आया। इसीलिए पदार्थ-विवेक के साथ-ही-साथ मिथक तत्त्व भी साथ-ही-साथ पूरक के रूप में आविर्भूत हुआ।
7. पद-पदार्थ के विवेक ने अनुभूत तत्त्व की पूर्ण उपलब्धि में बाधा दी। इसीलिए मनुष्य की इच्छाशक्ति ने लालित्य तत्त्व का आश्रय लिया।

8. पद-पदार्थ-विवेक की पूर्ति मिथक से और इन दोनों की पूर्ति लालित्य-तत्त्व से की गयी।
9. बाह्य पदार्थ को भाव-रूप में ग्रहण करना और गृहीत भाव की अभिव्यक्ति करना मनुष्य की ही विशेषता है।
10. भाव-रूप में ग्रहण करना (इच्छा) और गृहीत भाव को पुनः अभिव्यक्त करना (क्रिया) अपने-आपमें अन्त नहीं हैं। ये मनुष्य के अन्तर्निहित विशुद्ध चैतन्य के सहायक हैं।
11. चैतन्य की सीमाहीन अभिव्यक्ति की व्याकुलता लालित्य तत्त्व का मूल उत्स है।
12. व्याकुलता क्यों है, यह प्रश्न उचित और समाधेय है।

कलाकार की सिसृक्षा और सर्जन-सीमा

यह मानकर चलना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य में सौन्दर्य-रचना और सौन्दर्यानुभूति की योग्यता समान रूप से नहीं होती। इस असमानता का कारण क्या है, यह एक दूसरा प्रश्न है। कभी-कभी कला के इतिहास-लेखक कलात्मक अभिव्यक्ति की विकास-परम्परा का विकास दिखाते समय ऐसा मानकर चलते है कि विभिन्न देशों और कालों की जो कलाकृतियाँ संयोग से हमें उपलब्ध हो गयी है, वे वस्तुतः उस देश-विशेष या काल-विशेष की प्रतिनिधि रचनाएँ है और उस देश या काल-विशेष की सर्वोत्तम कृतियाँ है। परन्तु यह बात पूर्णतः सत्य नहीं है। जो कृतियाँ संयोग से मिल गयी है उनके रचयिता उस काल या देश के सर्वोत्तम रचयिता ही थे, यह बात जोर देकर नहीं कही जा सकती। कालयजी होने का एकमात्र कारण सर्वोत्तमता ही नहीं होती। कई कारण ऐसे हो सकते है जिनसे रचना-विशेष सर्वोत्तम न होकर भी समय के प्रहार से बच जा सकती है। परन्तु हर काल और देश की अपनी सीमा होती है, यह बात कुछ निश्चय के साथ कही जा सकती है। उस सीमा का ज्ञान कलाकृति की महिमा के समझने में हमारा सहायक हो सकता है। परन्तु देश और काल की सीमाओं के साथ व्यक्ति की भी सीमा होती है। यह सीमा रचना-कौशल में और रचयिता की ग्राहिका शक्ति में निहित होती है। इसकी जानकारी आवश्यक है। इसे समझने के बाद ही हम कलाकार की रचनात्मक अभिव्यक्ति के महत्त्व को जान सकते है। हर्सकोविट्स ने अनेक निरक्षर मानव-समाजों की कलाप्रवृत्तियों के अध्ययन के बाद पाया था

कि "विस्तृततम अर्थों में योग्यता द्वारा सम्पादित सामान्य जीवन का कोई भी ऐसा अलंकरण, जिसे वर्णनीय रूप प्राप्त है, कला कहा जा सकता है।" वे कहते हैं कि योग्यता ही कला-विदग्धता बन सकती है। यह योग्यता कला-विधि पर पूर्ण अधिकार से प्राप्त होती है जो समाज को सुन्दरतम सौन्दर्यात्मक कृतियाँ देती है। मम्मट आदि भारतीय आचार्यों ने काव्य के मुख्य हेतुओं में शक्ति, निपुणता और अभ्यास, तीनो को गिनाया था। केवल प्रतिभा, सौन्दर्य-रचना के लिए पर्याप्त हेतु नही है। व्यक्तिगत योग्यता और निरन्तर अभ्यास भी उतना ही आवश्यक तत्त्व है। हर्सकोविट्स का कहना है कि जहाँ विदग्धता का प्रश्न नहीं उठता है वहाँ भी यदि कलाकार को अपनी अभिव्यक्ति में प्रभावयुक्त होना है तो उसमें योग्यता अपेक्षित है। रूप (form), कार्य (function) और डिजाइन किसी भी कला-रूप को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक है। संस्कृति और सौन्दर्य-चेतना के विकास और अभिव्यक्ति का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को उन सारी अभिव्यक्तियो को कला के रूप में ग्रहण करना चाहिए, जिन्हें लोग जीवन-सौन्दर्य मे वृद्धि करने का साधन समझते है। इस बात को स्वीकार करते ही हम उस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के सम्मुखीन होते हैं कि कलाकार रूप को क्या वैसा ही ग्रहण कर सकता है जैसा वह अपने आपमें प्रतिभात होता है। कलाकार की रचना-प्रक्रिया में रूढ़ीकरण, यथार्थ, प्रतीकीकरण और वस्तूपस्थापन (representation) का क्या स्थान है? ये कलाकार की सीमाएँ है या सहायक?

पहले रूप को लिया जाये। आपात-दृष्टि से यह जान पड़ेगा कि रूप-सर्जना कलाकार का मुख्य उद्देश्य हैं। अगर कलाकार रूप की सृष्टि नही करता तो वह कुछ भी नही करता। कवि, नाटककार, गीतकार, चित्रकार और मूर्तिकार का मुख्य उद्देश्य है, रूप देना। परन्तु रूप किसे दिया जाना है? जो कुछ देखा है उसे, या जो कुछ समझा है उसे? साधारणतः यह माना जाता है कि जो वस्तु जैसी दिखती है उसे ज्यो-का-त्यों चित्रित कर देना व्यक्ति-निरपेक्ष दृष्टि है, और दृष्ट वस्तु को जैसा समझा है उस समझ को रूप देना व्यक्तिसापेक्ष दृष्टि है। संसार के अनेक मनीषी विद्वानों ने कलात्मक अभिव्यक्ति का विकास दिखाते समय रूप को यथादृष्ट भाव से चित्रित करने के कौशल को ही कलात्मक विकास की कसौटी मान लिया है। इसे यथार्थवाद का विकासक्रम दिखाने का नाम दिया गया है। किसी युग-विशेष या देश-विशेष के चित्रित पशुपक्षियो, पेड़-पौधों और विभिन्न मानवाकृतियों की यथार्थता को ही सर्जनात्मक उत्कर्ष की कसौटी मानना बहुत संगत नही कहा जा सकता। धीरे-धीरे कला-समीक्षक इस बात को अनुभव करने लगे हैं। वस्तुतः किसी वस्तु को यथादृष्ट रूप में व्यक्ति-निरपेक्ष दृष्टि से चित्रित करना केवल बात-की-बात है। मानव-चित्त निरन्तर इन्द्रियों के माध्यम से चित्तगत अनुभूतियों को संचालित करता रहता है। व्यक्ति-निरपेक्ष या अनासक्त चिन्तन एक प्रकार का प्रयत्न मात्र है। कोई वस्तु मात्रा में अधिक या कम वस्तु-निरपेक्ष हो सकती है; कलाकार यदि चाहता है कि वह द्रष्टव्य को

यथा-दृष्ट रूप में चित्रित करे तो वह बहुत-कुछ वैसा कर सकता है। परन्तु कभी भी वह फोटो के समान ज्यों-का-त्यों बिल्कुल नही चित्रित कर सकता। वस्तुतः कैमरे के लेन्स का 'यथादृष्ट' और चक्षु कनीनिका का 'यथादृष्ट' एक तरह का हो ही नही सकता। चक्षु कनीनिका का यथादृष्ट निरन्तर मानस-अनुभूतियों से प्रभावित होता रहता है। उसमें चित्प्रवाह का दबाव बराबर बना रहता है। यहाँ तक कि जब चित्रकार व्यक्ति-निरपेक्ष या हू-ब-हू चित्रण करना चाहता है, तो उसका यह प्रयास भी चित्-प्रवाह के दबाव का ही एक रूप है। इस सम्बन्ध में स्वयं चित्रकारों के अनुभव बहुत ही मनोरंजक और अर्थपूर्ण है। लुडविग रिख्तर नामक जर्मन विद्धचित्री ने अपनी आत्मकथा में एक प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार किया है :

"एक बार वह अपने तीन मित्रों के साथ तिवोली (*Tivoli*) की सुप्रसिद्ध सुन्दरस्थली को आँकने गया था। इन चित्रकारों के हाथ में कठोर नोकवाली पेंसिलें-भर थी। उसी समय कुछ फ्रान्सीसी चित्रकार भी वहाँ आये थे जो सब प्रकार के साज-सामान से लैस थे। जर्मन चित्रकारों ने अचरज-भरी दृष्टि से उनके सामान को देखा था। इन चित्रकारों ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ उस रम्य-स्थली की प्रतिकृति आँकी। उन्होंने एक-एक घास का ब्यौरेवार चित्रण किया। चित्र प्रस्तुत हो जाने के बाद चारों मित्र मिलान करने बैठे। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि चारों चित्र एकदम भिन्न थे। जो चित्रकार उनमें सर्वाधिक उदास प्रकृति का था उसके चित्र में नीले रंग पर अधिक जोर था।" यह संस्मरण ई. एच. गोम्ब्रिख की पुस्तक 'आर्ट एण्ड इल्यूजन' (पृ. 55) से लिया गया है। गोम्ब्रिख ने लिखा है कि इस संस्मरण को पढ़कर उन्हें एमिल जोला की कला-विषयक उस परिभाषा की याद आयी जिसमें जोला ने कलाकृति को "किसी विशिष्ट मानसिक शक्ति द्वारा देखा हुआ प्रकृति का एक कोना" कहा था।

सब लोग इसे जोला की भाँति मानसिक वृत्तियाँ (temperament) नहीं कहेंगे। कुछ लोग इसे कलाकार का निजी व्यक्तित्व कहते हैं। नाम चाहे जो भी दिया जाय, वास्तविकता यह है कि 'ज्यों-का-त्यों' चित्रण भी सबका एकरूप नही होता और हर कलाकार का अपना-अपना रंग उस पर चढ़ा होता है। लेखक की मानसिक वृत्ति या व्यक्तित्व के कारण आलेख्य में कुछ घट-बढ़ होती है। उसका नवीकरण या विशेषीकरण हो जाता है। यह विशेषीकरण जितना ही अधिक होगा, उतना ही चित्र विषयिपरक या सब्जेक्टिव होगा और इसे दबाने का जितना ही अधिक प्रयास होगा, उतना ही वह विषय-परक या ऑब्जेक्टिव होगा। किसी विषय को आत्म-निरपेक्ष चित्रित करना प्रयत्न-साध्य है। कैमरा में वह अपनी चरम सीमा पर होता है, क्योंकि वहाँ आत्मपरक तत्त्वों के दबाने की जरूरत ही नहीं होती—वहाँ आत्मपरक तत्त्व का एकान्त अभाव होता है। पर मनुष्य उसे दबाने का प्रयास करता है, सर्वथा दबा नहीं पाता। रिख्तर की कहानी बताती है कि अत्यधिक सावधान होने पर भी आत्मपरक तत्त्व आ ही जाते हैं। विषयपरक

समय सुप्रसिद्ध जनवृत्तशास्त्री हर्सेकोवित्स ने लिखा है कि "वास्तव में स्पष्टतम फोटो भी कैमरे से दिखायी देनेवाली वस्तु की व्याख्या मात्र हैं। हम तस्वीरें देखने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हमें ध्यान ही नहीं रहता कि उसमें तीन आयामोंवाले जगत् को सिर्फ दो आयामों में दिखाया जाता है या वह रंगों के परिवेश को काली और सफेद रचनाओं में बदल दिया करता है। चूंकि फोटो एक व्याख्या है और उसके देखनेवाले को यदि उसके वास्तविक अर्थ को ग्रहण करना है तो उसे उसके रूप-पक्ष और छाया-पक्ष (फार्म और शेडिंग) का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। एक बार संकेत समझ जाने पर अन्य कलारूपों की तुलना में फोटो को समझना आसान होता है। अन्य कलारूपों की व्याख्या फोटो की तुलना मे अधिक मनमाने ढंग से सम्भव है। इसी अर्थ में फोटो यथार्थवादी चित्र है।" इसी वक्तव्य का एक ध्यान देने योग्य पक्ष यह है कि फोटो-चित्र में दर्शक की सर्जनात्मिका कल्पनावृत्ति काम करती रहती है, जबकि अन्य कला-कृतियों में कलाकार की सर्जनात्मिका कलावृत्ति भी काम करती रहती है। दर्शक की कल्पनावृत्ति कितनी सर्जनात्मक हुआ करती है, इसका एक मनोरंजक प्रयोग बालको को दिखाये हुए फोटो-चित्रों की व्याख्या द्वारा किया गया है। प्रायः देखा गया है कि बालक किसी फोटो-चित्र को देखकर पूरी कहानी गढ लिया करते हैं। हर्सेकोवित्स का कहना है कि "यथार्थवाद की उत्तम परिभाषा यही हो सकती है कि यह कला में यथार्थता प्राप्त करने का प्रयास है।" यह बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि यथार्थवादी या विषय-प्रधान चित्रणवादी अपने-आपको यथासम्भव अलग रखने का प्रयत्न करता है। परन्तु कुछ कलागत रूढ़ियों और प्रतीकों का सहारा उसे भी लेना पड़ता है। जो लोग कलाकृति का ठीक-ठीक आनन्द अनुभव करना चाहते है, उन्हे इन रूढियों और प्रतीकों की जानकारी होनी ही चाहिए। हर्सेकोवित्स ने इस बात को कई उदाहरणों में स्पष्ट किया है। अफ्रीका के योरुबा नृत्य में एक प्रकार का नकली चेहरा या मास्क का प्रयोग किया जाता है। इसके प्ररूप को यूरोप और अमरीका के अनेक विद्वान् कला-समीक्षकों ने गलत समझा है। जिस जाति में यह नृत्य प्रचलित है उसके शिल्पी कुछ रूढियों और प्रतीकों को अनायास ही सहज ढंग से व्यवहार में लाते है, जबकि सभ्य कहे जानेवाले कई कला-समीक्षक उनके बारे में एकदम अनभिज्ञ होते है। इन कला-समीक्षकों ने इन नकली चेहरों की गलत व्याख्या की है। हर्सेकोवित्स कहते हैं कि यह प्ररूप अमरीका और यूरोप के विद्वान् और सहृदय कला-समीक्षकों द्वारा मानव-चेहरे का रूढीकरण कहा गया है, जिसमे कि चेहरे और सिर के अनुपातों को बदलकर पिण्डों की कुशल अभिव्यक्ति दिखायी गयी है। सदा ही यह चर्चा इस नकली चेहरे को लम्ब स्थिति मे रखकर की गयी है, इस दृष्टिक्रम (perspective) मे अवश्य ही इसकी विकृतियाँ उभर आती है जो कि कला की आलोचना के सूक्ष्म विश्लेषण को जन्म देती है। "यह नकली चेहरा जो पड़ी स्थिति मे प्रयोग के लिए बनाया गया है, इसी माने में 'नकली चेहरा' है कि इसे पहनकर व्यक्ति

अपने असली रूप को छिपा लेता है। इसे सिर के सारे ऊपर पहना जाता है और इससे निकले हुए लम्बे रेशों से, जो कि पहननेवाले के सारे शरीर को ढँक लेते है, छिपाने का कार्य सम्पन्न होता है।" हर्सकोवित्स ने इसके दूसरे रूप का भी चित्र दिया है। यह दिखाता है कि योरुवा इसे कैसे देखते है और कलाकार उसे किस भाँति दिखाना चाहता था। यहाँ पर 'विकृति' (distortion) अगले भाग को छोटा करने की एक कुशल विधि है, जो कि कल्पित परम्परागत शैली की अभिव्यक्ति को एक कलात्मक, यथार्थवादी चित्रण बनाती है। इस प्रकार प्रचलित व्याख्या एक सुविचारित भ्रान्त वक्तव्य है।

स्पष्ट है कि द्रष्टा के भीतर सदा कोई कार्यतत्पर सर्जक विद्यमान होता है। वह दृष्ट वस्तु को अपनी जानकारी की सीमाओं से केवल वेष्टित ही नही करता, उसे नया अर्थ भी प्रदान करता है। कलाकार भी मूलत द्रष्टा और सर्जक है। वह वाह्य जगत् को देखता है और दृष्ट वस्तु को अपनी जानकारी या अनुभव की सीमा से वेष्टित करता है तथा अर्थ जोड़ने का प्रयास करता है। यह जानकारी या अनुभव चेतन धर्म है। सब समय कलाकार एक ही प्रकार की मानसिक स्थिति में नही रहता। कुछ बातें तो वह परम्परा से गृहीत रूप मे यन्त्रवत् कर देता है। कुछ मे तात्कालिक मनोभाव के अनुसार नवीन अर्थ देने का प्रयास करता है। रूढियो, अभिप्रायो, प्रतीकों और परिपाटी-विहित साज-सज्जा मे वह बहुत-कुछ यन्त्रवत् काम करता है। इसमें उसका अभ्यास और उसकी निपुणता उसे सफलता प्रदान करती है। जिन कलाकारो में रचना की सहज शक्ति नही होती, वे यही रुक जाते हैं।

एक उदाहरण कविता से लिया जाय। कवि झेलम के वक्रस्रोत को सन्ध्या की लाल आभा से आच्छादित देख रहा है। उसी समय हस-जातीय पक्षियों की एक पंक्ति (वलाका-पक्ति) उड़ती चली आयी। कवि ने पहले तो इसी मनोरम चित्र को देखा। उसने उसे ज्यों-का-त्यों आँकने का प्रयास किया। जो-जो बातें उसे ऐसी लगी कि पाठक को मनोग्राह्य नही होंगी, उनके लिए उसने उपमानों का सहारा लिया और प्रयत्न किया कि सौन्दर्य जैसा उसे दिख रहा है वैसा ही पाठक को अवितथ रूप में हृदयगम हो जाये। यथार्थ चित्रण का प्रयास यही तक समाप्त हो जाता है। इसके बाद उसके चित्र की अनुभूतियाँ उद्वेल हो उठती हैं। वह ऐसा कुछ देखने और सुनने लगता है जो अन्य द्रष्टा के लिए सम्भव नही है। अन्य द्रष्टा भी वहाँ कुछ ऐसा अनुभव कर सकता है जो उसका एकान्त निजी हो, परन्तु ऐसा सम्भव है कि वह अनुभूति को रूप नही दे पाता। कवि अपनी अनुभूति को रूपायित करता है। नये चित्र, नयी ध्वनियाँ, नये राग, नया दर्शन एक-पर-एक इस प्रकार आते-जाते हैं, जैसे कोई चतुर जादूगर एक मूर्ति में से सैकड़ों मूर्त्तियाँ निकालकर रख देता है। कविता कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की है। उसका हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार हो सकता है :

'सन्ध्या की लालिमा में झिलमिलाता हुआ झेलम का यह बाँका स्रोत
अन्धकार मे मलिन हो गया, मानो म्यान में ढँकी हुई

आँकी तलवार हो।
दिन के भाटे की समाप्ति के बाद आया रात का ज्वार
अपने काले जल में बहकर आते हुए नक्षत्र-पुष्पों को लिये हुए,
अँधेरे में गिरि-तट की तलहटी में
कतार-के-कतार देवदारु वृक्ष (खड़े हैं)
ऐसा लगा कि सृष्टि मानो स्वप्न में कुछ कहना चाहती है,
(परन्तु) स्पष्ट कह नहीं पा रही है,
(और) उस अव्यक्त ध्वनि का पुंज घुमड़ रहा है (उसके हृदय में)
अचानक सुनायी पड़ी उसी समय
सन्ध्या के आकाश मे
शब्द की विद्युत-छटा, शून्य के प्रान्तर में
क्षण-भर में फैल गयी दूर से और भी दूर।
हे हंस बलाका,
मत्त हैं तुम्हारी पाँखें झंझा-मद के रस से,
पुंजीभूत आनन्द के अट्टहास से,
विस्मय का जागरण तरंगति करके चल पड़ी हैं आकाश में।
पाँखों की वह ध्वनि
(वह) शब्दमयी अप्सरा है
जो स्तब्धता का तपोभंग करके चली गयी।
सिहर उठी अन्धकारमग्न गिरिश्रेणी
सिहर उठा देवदारु का वन।
जान पड़ा (तुम्हारे) पंखों की यह वाणी
ले आयी
केवल एक क्षण के लिए
पुलकित निश्चल के अन्तरतर में
वेग का आवेग।
पर्वत होना चाहता है निरुद्देश्य मेघ,
वृक्ष श्रेणी चाहती है, पंख पसारकर
मिट्टी का बन्धन तोड़कर
उसी शब्दरेखा को पकड़कर अचानक दिशाहारा होना,
आकाश का किनारा ढूँढना।
इस सन्ध्या का स्वप्न टूट रहा है, वेद[illegible] [illegible]ें जाग उठी है
[illegible] यात्रा के
[illegible]रागी!
बज उठी [illegible] में,
"यह [illegible]

हे हंस बलाका,
आज रात को तुमने मेरे निकट स्तब्धता का ढक्कन खोल दिया है,
सुन रहा हूँ इस नीरवता के तले
शून्य में जल में स्थल मे
इसी प्रकार पंखों के उद्दाम-चंचल शब्द।
तृणदल
मिट्टी के आसमान में पख फड़फड़ा रहे हैं
(और) मिट्टी के अन्धकार के नीचे किसे क्या पता है (कि)
अंकुरों के पख फैला रही है
लाख-लाख बीजों की बलाकाएँ।
आज मैं देख रहा हूँ
यह पर्वतश्रेणी, यह वन,
चल पड़े है उन्मुक्त पंख फैलाये हुए
द्वीप से द्वीपान्तर को, अज्ञात से और भी अज्ञात की ओर
नक्षत्रों के पंख के स्पन्दन से
चमक उठता है अन्धकार आलोक के क्रन्दन से।
सुना मैंने मानव के न जाने कितने सन्देश दल बाँधकर
अलक्षित मार्ग से उड़े चले जा रहे हैं
अस्पष्ट अतीत से अस्फुट सुदूर युगान्तर की ओर,
सुना (मैंने) अपने अन्तर में
असंख्य पक्षियों के साथ
दिन-रात
यह घर-छोड़ पंछी दौड़ रहा है आलोक में, अन्धकार मे
(न जाने) किस पार से किस पार की ओर।
ध्वनित हो उठा है शून्य निखिल (विश्व) के पंखों के इस गान से
"यहाँ नही, और कही, और कही, कहीं और।"

स्पष्ट ही यह देखना एक विशेष प्रकार का देखना है। बहुत संस्कारी चित्त ही बलाका-पंक्ति की उड़ान में समस्त सृष्टि में व्याप्त उद्दाम-चचल जीवनी शक्ति की उड़ान को इस प्रकार प्रत्यक्ष करा सकता है। मानवसंस्कारी चित्त अनेक अनुभूतियों और जानकारियों से गठित होता है। एक वस्तु को देखकर उसके अनेक संस्कार उसी प्रकार झनझना उठते हैं जिस प्रकार शततार वीणा के एक तार को छेड़ने पर सभी उसमें रणितध्वनि उत्पन्न कर देते हैं। यहाँ हम केवल यह दिखाना चाहते हैं कि देखना केवल बाह्य वस्तु की निर्जीव छाप पड़ने की प्रक्रिया नही है। मनुष्य का सर्जक चित्त उसे अनेक रागों, रूपों, छन्दों, वर्णों में प्रतिफलित करके देखता है। कलाकार रचना करने के पहले कुछ जानता है और कुछ देखता है और फिर बाद में उसे मन-ही-मन रची वस्तु को नये सिरे

बाँकी तलवार हो।
दिन के भाटे की समाप्ति के बाद आया रात का ज्वार
अपने काले जल में बहकर आते हुए नक्षत्र-पुष्पों को लिये हुए,
अँधेरे में गिरि-तट की तलहटी में
कतार-के-कतार देवदारु वृक्ष (खड़े हैं)
ऐसा लगा कि सृष्टि मानो स्वप्न में कुछ कहना चाहती है,
(परन्तु) स्पष्ट कह नहीं पा रही है,
(और) उस अव्यक्त ध्वनि का पुंज घुमड़ रहा है (उसके हृदय में)
अचानक सुनायी पड़ी उसी समय
सन्ध्या के आकाश में
शब्द की विद्युत-छटा, शून्य के प्रान्तर में
क्षण-भर में फैल गयी दूर से और भी दूर।
हे हंस बलाका,
मत्त हैं तुम्हारी पाँखें झंझा-मद के रस से,
पुंजीभूत आनन्द के अट्टहास से,
विस्मय का जागरण तरंगित करके चल पड़ी हैं आकाश में।
पाँखों की वह ध्वनि
(वह) शब्दमयी अप्सरा है
जो स्तब्धता का तपोभंग करके चली गयी।
सिहर उठी अन्धकारमग्न गिरिश्रेणी
सिहर उठा देवदारु का वन।
जान पड़ा (तुम्हारे) पंखों की यह वाणी
ले आयी
केवल एक क्षण के लिए
पुलकित निश्चल के अन्तरतर में
वेग का आवेग।
पर्वत होना चाहता है निरुद्देश्य मेघ,
वृक्ष श्रेणी चाहती है, पंख पसारकर
मिट्टी का बन्धन तोड़कर
उसी शब्दरेखा को पकड़कर अचानक दिशाहारा होना,
आकाश का किनारा ढूँढना।
इस सन्ध्या का स्वप्न टूट रहा है, वेदना की तरंगें जाग उठी हैं
सुदूर की यात्रा के लिए
हे पंखों के वैरागी!
बज उठी है (यह) व्याकुल वाणी निखिल (विश्व) के प्राणों में,
"यहाँ नहीं, यहाँ नहीं, और कहीं।"

—वह और क्या हो सकता है ?

—वह अगर ऐसा न हो तो रंगों का हास्यास्पद खिलवाड़ हो जाय।

—हाँ ठीक है। लेकिन उन रूपों के बारे में आपका क्या मत है, जब आसमान में बादल छँटने लगते हैं और हम किन्नर, हिरन, भेड़िए, घोड़े आदि का रूप देखते हैं। वे भी क्या अनुकृति मात्र है ? क्या ईश्वर भी चित्रकार है जो खाली समय में इस प्रकार के चित्र बनाकर अपना मनोविनोद किया करता है ?

दोनों ने स्वीकार किया कि ऐसी बात नहीं है। मेघों में दिखायी देनेवाले ये रूप अपने-आपमें कोई अर्थ नहीं रखते। यह तो हम देखनेवाले हैं जो स्वभावतः अनुकृति में अभिरुचि रखते हैं और फटते मेघों के विभिन्न अवयवों को जोड़-तोड़कर आकृति की कल्पना कर लिया करते हैं।

अपोलोनियस ने फिर कहा—इसका क्या यह अर्थ नहीं है कि अनुकृति भी दो प्रकार की होती है ? इसका एक पक्ष है हाथ से और मन से किसी वस्तु की आकृति बनाना और दूसरा पक्ष है केवल मन से साम्य उत्पन्न कर लेना। द्रष्टा का मन भी अनुकृति का हिस्सेदार है। एकरंगे चित्र और ताम्रोत्कीर्ण मूर्त्ति में भी हमें साम्य (रिजेम्बलेस) दिखायी देता है—हम उसे रूप और अभिव्यक्ति की भाँति देखते हैं। यहाँ तक कि यदि हम इन भारतीयों की आकृति सफेद खड़िया मिट्टी से भी बनायें तो इनकी चपटी नाक, घुँघराले बाल और मजबूत जबड़े हमें उन्हें वैसा ही देखने को प्रेरित करेंगे जैसा कि वे वस्तुतः हैं। इसलिए मुझे कहना चाहिए कि जो लोग चित्र देखते हैं उनमें भी अनुकरणात्मक शक्ति (imitative faculty) होनी चाहिए और कोई भी चित्र-लिखित घोड़े या बैल को तब तक नहीं समझ सकता जब तक वह यह न जाने कि ये जन्तु कैसे होते हैं।

अपोलोनियस ने यहाँ जिस वस्तु को 'इमिटेटिव फैकल्टी' या अनुकरणात्मक प्रवृत्ति कहा है, वह वस्तुतः मानव-चैतन्य की वह विशिष्ट शक्ति है जो द्रष्टा के चित्त में रूप-कल्पना को प्रेरित करती है। इन दिनों मनोविज्ञान में प्रोजेक्शन के जो प्रयोग किये जाते हैं उनसे अपोलोनियस की बतायी हुई इस प्रवृत्ति का रहस्य अधिक स्पष्ट होता है। Rorschach Test में स्याही के धब्बों में रूप-कल्पना के प्रयोग किये जाते हैं। आदिम मनुष्य ने पर्वतों, झरनों, अरण्यों में, चाँदनी और उषा में, वृक्ष, लता और उजाड़ में रूप-कल्पना की थी जो धीरे-धीरे सामाजिक स्वीकृति पाकर पौराणिक गाथाओं में बदल गयी। जहाँ अर्थ नहीं है, या कम-से-कम मनुष्य की तर्कानुगामिनी बुद्धि अर्थ नहीं देख पाती, वहीं अर्थ खोजने की यह रहस्यमयी शक्ति मानवात्मा में विद्यमान है। नक्षत्र-व्यूह में रूप की कल्पना और फिर उनकी निरन्तर विद्यमान एक ही स्थिति की व्याख्या के लिए अतीत व्यापार की कल्पना भारत और यूनान के पौराणिक आख्यानों में भरी पड़ी है। रूप-कल्पना के अर्थानुसन्धान की यह वृत्ति इतनी स्पष्ट है कि बहुत-से चतुर शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों को रूप-निर्माण-कला की शिक्षा के लिए इसे उपयुक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। अलेक्जेंडर कोजेन ने एक विचित्र पुस्तक

से स्थूल इन्द्रियग्राह्य रूप देता है। बहुत-से जीवों में जानने और देखने की शक्ति है, परन्तु इन्द्रियग्राह्य स्थूल रूप में रचने की शक्ति केवल मनुष्य में है। मनुष्य की यह शक्ति उसे अन्य जीवों से अलग कर देती है। इस दृष्टि से मनुष्य की विशेषता उसकी सिसृक्षा अर्थात् सर्जन करने की इच्छा में ही है। यह अन्य जीवों में पायी जानेवाली सामान्य इच्छाओं से भिन्न है। अन्य जीवों में पायी जाने-वाली सामान्य इच्छाएं उनकी प्राथमिक आवश्यकता—आहार आदि—की इच्छा तक सीमित है। मनुष्य की सर्जनेच्छा उस कोटि की नहीं है। फिर मनुष्य में सर्जनेच्छा तो व्यापक रूप में पायी जाती है, पर स्थूलरूप-निर्माणवाली सर्जन-क्रिया कुछ हद तक ही पायी जाती है। वह विरल है। इसलिए सर्जनेच्छा व्यापक होते हुए भी सर्जन की क्रिया-शक्ति विरल होती है। सर्जनेच्छा और सर्जन-क्रिया विशिष्ट प्रकार की इच्छा, और क्रिया-शक्तियाँ हैं। वे विकास की उच्चतर स्थितियों की निर्देशिका हैं।

देखने की क्रिया यद्यपि अन्य जीवों में भी पायी जाती है, पर देखने की भी एक विशेष प्रक्रिया मनुष्य में ही दिखायी देती है। बहुत पहले से विचारकों का ध्यान इस ओर गया है। ग्रीक लोग सारी कला को—यहाँ तक कि काव्य को भी—'अनुकरण' मानते थे। उनके पुराने आचार्यों ने इस बात पर बहुत बल दिया था। परन्तु फिलस्ट्रेटस (Philustratus) द्वारा लिखी ट्याना के अपोलो-नियस की जीवनी (the Life of Appolonius of Tyna) में एक मार्मिक प्रसंग मिलता है जो 'अनुकरण' के एक अन्य रहस्यमय पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। यह अपोलोनियस एक पाइथागोरियन साधु था। संसार-भर में वह विद्या का प्रचार और ज्ञान की करामात दिखाता भ्रमण करता रहा। उसका जीवनी-लेखक बताता है कि वह भारत भी पहुँचा था। उसके साथ उसका विश्वस्त शिष्य और साथी दामिस भी था। दक्षिण भारत में किसी राजा से वह मिलने गया। राजा के द्वारा बुलाये जाने की प्रतीक्षा में जब दोनों राजद्वार के बाहरी प्रकोष्ठ में थे, उस समय उन्हें एक धातुनिर्मित उत्कीर्ण मूर्ति दिखी। वह मूर्ति अलेक्जेंडर के समय की ग्रीक-पद्धति पर बनी थी। दोनों उस मूर्ति को प्रशंसा-भरी दृष्टि से देखते रहे। फिर अपोलोनियस ने अपने साथी दामिस से बिलकुल मुसकराता-सा सहजे में प्रश्न किया। उनकी बातचीत इस प्रकार हुई :

—अच्छा दामिस, बताओ तो सही, चित्रकला नाम की कोई वस्तु है ?

—अवश्य है।

—यह चित्र किन चीजों से बनता है ?

—रंगों के मिश्रण से।

—लोग चित्र क्यों बनाते हैं भला ?

—अनुकरण के लिए। वे कुत्ता, घोड़ा, आदमी, भेड़ या ऐसी ही किसी चीज के समान कुछ बनाने का अनुकरण करते हैं।

—तो फिर चित्र अनुकृति है ?

—वह और क्या हो सकता है ?

—वह अगर ऐसा न हो तो रगों का हास्यास्पद खिलवाड़ हो जाय।

—हाँ ठीक है। लेकिन उन रूपों के बारे मे आपका क्या मत है, जब आसमान में बादल छँटने लगते हैं और हम किन्नर, हिरन, भेड़िए, घोड़े आदि का रूप देखते हैं। वे भी क्या अनुकृति मात्र हैं ? क्या ईश्वर भी चित्रकार है जो खाली समय में इस प्रकार के चित्र बनाकर अपना मनोविनोद किया करता है ?

दोनो ने स्वीकार किया कि ऐसी बात नही है। मेघों में दिखायी देनेवाले ये रूप अपने-आपमे कोई अर्थ नहीं रखते। यह तो हम देखनेवाले हैं जो स्वभावतः अनुकृति में अभिरुचि रखते हैं और फटते मेघों के विभिन्न अवयवों को जोड़-तोड़कर आकृति की कल्पना कर लिया करते हैं।

अपोलोनियस ने फिर कहा—इसका क्या यह अर्थ नहीं है कि अनुकृति भी दो प्रकार की होती है ? इसका एक पक्ष है हाथ से और मन से किसी वस्तु की आकृति बनाना और दूसरा पक्ष है केवल मन से साम्य उत्पन्न कर लेना। द्रष्टा का मन भी अनुकृति का हिस्सेदार है। एकरंगे चित्र और ताम्रोत्कीर्ण मूर्त्ति में भी हमें साम्य (रिज़ेम्बलेंस) दिखायी देता है—हम उसे रूप और अभिव्यक्ति की भाँति देखते है। यहाँ तक कि यदि हम इन भारतीयों की आकृति सफेद खड़िया मिट्टी से भी बनायें तो इनकी चपटी नाक, घुँघराले बाल और मज़बूत जबड़े हमें उन्हे वैसा ही देखने को प्रेरित करेंगे जैसा कि वे वस्तुत है। इसलिए मुझे कहना चाहिए कि जो लोग चित्र देखते हैं उनमें भी अनुकरणात्मक शक्ति (imitative faculty) होनी चाहिए और कोई भी चित्र-लिखित घोड़े या बैल को तब तक नही समझ सकता जब तक वह यह न जाने कि ये जन्तु कैसे होते हैं।

अपोलोनियस ने यहाँ जिस वस्तु को 'इमिटेटिव फैकल्टी' या अनुकरणात्मक प्रवृत्ति कहा है, वह वस्तुतः मानव-चैतन्य की वह विशिष्ट शक्ति है जो द्रष्टा के चित्त में रूप-कल्पना को प्रेरित करती है। इन दिनों मनोविज्ञान में प्रोजेक्शन के जो प्रयोग किये जाते है उनसे अपोलोनियस की बतायी हुई इस प्रवृत्ति का रहस्य अधिक स्पष्ट होता है। Rorschach Test में स्याही के धब्बों में रूप-कल्पना के प्रयोग किये जाते है। आदिम मनुष्य ने पर्वतो, झरनों, अरण्यों में, चाँदनी और उषा में, वृक्ष, लता और उजाड में रूप-कल्पना की थी जो धीरे-धीरे सामाजिक स्वीकृति पाकर पौराणिक गाथाओ में बदल गयी। जहाँ अर्थ नही है, या कम-से-कम मनुष्य की तर्कानुगामिनी बुद्धि अर्थ नही देख पाती, वही अर्थ खोजने की यह रहस्यमयी शक्ति मानवात्मा में विद्यमान है। नक्षत्र-व्यूह में रूप की कल्पना और फिर उनकी निरन्तर विद्यमान एक ही स्थिति की व्याख्या के लिए अतीत व्यापार की कल्पना भारत और यूनान के पौराणिक आख्यानो में भरी पड़ी है। रूप-कल्पना के अर्थानुसन्धान की यह वृत्ति इतनी स्पष्ट है कि बहुत-से चतुर शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों को रूप-निर्माण-कला की शिक्षा के लिए इसे उपयुक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। अलेक्ज़ेंडर कोजेन ने एक विचित्र पुस्तक

लिखी है, जिसमें उन्होंने यदृच्छोत्पन्न धब्बों से चित्र-निर्माण की सलाह दी है। इस पुस्तक का नाम है—A New Method of Assisting the Invention in Drawing Original Composition of Andse (A. I. P.-155-156)। इस प्रकार की सलाह परिपाटी-विहित कला-शिक्षण-पद्धति के प्रति विद्रोह ही कही जायेगी, परन्तु यह प्राचीन काल में भी किसी-न-किसी रूप में प्रचलित रही है। दसवीं शताब्दी के भारतीय आलंकारिक राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में कविशिक्षा के मिलते-जुलते विधान की चर्चा की है। इसके अनुसार शिक्षार्थी कवि केवल छन्द बनाने के अभ्यास के लिए निरर्थक ध्वनियों से श्लोक बनाया करता था और उसका गुरु युक्तियत्न से उन शब्दों में अर्थ जोड़कर उसका उत्साह बढ़ाया करता था।

धब्बों या छँटते बादलों में रूप-कल्पना निरर्थक ध्वनियों में अर्थ जोड़ने के प्रयास से तुलनीय हो सकता है। परन्तु इसका उत्तम रूप पूर्वकालीन पौराणिक आख्यानों और परवर्ती काव्यों में रूपक और उत्प्रेक्षा-विधान में दृष्टिगोचर होगा। चीन के चित्रकार सुंग-ति (ग्यारहवीं शताब्दी) ने च्येन-युंग-शिह की आलोचना करते हुए कहा था कि तुम्हारे चित्रों का तकनीक तो ठीक है मगर इसमें प्राकृतिक प्रभाव नहीं है। उसने इस प्राकृतिक प्रभाव (नेचुरल एफ़ेक्ट) को ले आने के लिए इस प्रकार की सलाह दी—"पुरानी दीवारों के धब्बों को देखो, या फिर दीवार पर रेशमी कपड़े का एक टुकड़ा साट दो और उसके पुराने होने की प्रक्रिया को देखो। जब रेशम का कपड़ा सड़ जायेगा तो उसमें कुछ अंश बच जायेगा, कुछ झीना पड़ जायेगा और कुछ झड़ जायेगा। जो बच जाये उसे पहाड़ बना दो, निम्नतर भाग को पानी बना दो और छेद को दर्रे बनाओ। टूटी जगहों को जलधारा बनाओ। हल्की जगहों को अपने नजदीक का और गहरे रंग की जगहों को दूर का हिस्सा बनाओ। सारी बातों को मन में धारण करो। खूब ध्यान से देखोगे तो फिर धीरे-धीरे आदमी, चिड़िया, पौधे, दरख्त उसमें दिखने लगेंगे। अब अपनी तूली चलाओ।" (A. I. P-158)। कोज़ेन से भी पहले लियोनार्दो दा विंची ने भी इस प्रकार की सलाह दी थी और कोज़ेन को अपनी पुस्तक लिखने में उससे प्रेरणा भी मिली थी। कहने का तात्पर्य यह है कि बहुत पहले से मनुष्य की इस सहज सर्जना वृत्ति को पहचाना गया था और उसे उपयोगी बनाने का यत्न भी किया गया था। वस्तुतः अपोलोनियस इस शक्ति को अनुकरणात्मक प्रवृत्ति इसलिए कह गये हैं कि वे यूनानी आचार्यों के 'अनुकरण' शब्द से प्रभावित थे। यह भी कह सकते हैं कि अनुकरण शब्द का प्रयोग हम जिस संकुचित अर्थ में करते है, वह यूनानी आचार्यों के अभिप्रेत अर्थ से भिन्न है। वे इस शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ में करते है, नहीं तो बादलों में घोड़ा या बैल की कल्पना को अनुकरण नहीं कहा जा सकता। यह एक प्रकार का अनुभवन है। यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम उनके अन्तिम निष्कर्ष को पढ़ते है कि "कोई भी चित्रलिखित घोड़े और बैल को तब

तक नही समझ सकता जब तक वह यह न जाने कि ये जन्तु कैसे होते है।" इसका मतलब यह हुआ कि अपोलोनियस के मत से रूप-कल्पना ज्ञानपूर्वा होती है। हम देखते हैं और हम उसमें रूप-रचना करते है, क्योंकि वैसे रूप का हमे पहले से ज्ञान रहता है। यह अनुभवन की प्रक्रिया है। इस अनुभूत वस्तु को पुन: रूपायित करना अनुकरण होगा, जो वस्तुत: हिन्दी में प्रचलित 'अनुकरण' के शब्दार्थ से कुछ अधिक अर्थ रखता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि द्रष्टा के अन्तर्जगत् मे सदा सर्जनात्मिका कल्पना-वृत्ति काम करती रहती है। रूपकार भी स्थूल रूप-रचना के पूर्व द्रष्टा की अवस्था में रहता है। वह देखता है, अपने अनुभवो और जानकारियों से दृष्ट वस्तु को नया रूप देता है और फिर उस मानस-मूर्त्ति को नये सिर से स्थूल इन्द्रियग्राह्य रूप देने का प्रयास करता है। सभी मनुष्य मानस-मूर्त्तियों को ठोस रूप मे उतार नही सकते। जो उतार भी सकते हैं उनकी योग्यता समान नही होती। जो भाव मन मे आया है उसे चित्र मे, मूर्त्ति में, काव्य मे, उसी प्रकार चित्रित करना कठिन काम होता है। जड़-तत्त्व जो साधन के रूप मे व्यवहृत होता है, निरन्तर बाधा या प्रतिरोध उत्पन्न करता रहता है। चित्तत्व की सर्जनात्मिका कल्पना-वृत्ति गतिरूपा है, जिन जड़ साधनों के सहारे उसे स्थूल मूर्त्त रूप में बदलना होता है वे स्थिति-रूप होते हैं, द्वन्द्व शुरू होता है। कई बार शिल्पी सफल होता है, कई बार नही हो पाता। ज्यों-की-त्यों मानस-मूर्त्ति शायद ही रूपायित हो सकती हो। रूप का बाना धारण कर प्राय. वह कुछ-का-कुछ ही जाता है। महादेवी वर्मा ने कवि की ओर से इस लाचारी को प्रकट करते हुए कहा है—"मैं अपने ही बेसुधपन में लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती।"

कलाकार के मानस-जगत् मे जो मानस-मूर्त्ति का रूप होता है, वह जब भौतिक सामग्रियो के सहारे प्रकट होने लगता है तो सब समय ज्यों-का-त्यो नही उतर पाता। मूर्त्तिकार जब अपनी मानस-कल्पना को पत्थर और छेनी की सहायता से इन्द्रिय-ग्राह्य ठोस रूप मे बदलना चाहता है तो कई बाधाएँ जड़-तत्त्व की ओर से उपस्थित होती है। पत्थर ठीक नहीं हो सकता, छेनी काम करने मे असमर्थ सिद्ध हो सकती है, जिस स्थान पर बैठकर वह काम कर रहा है वहाँ की सर्दी-गर्मी कुछ प्रभाव पैदा कर सकती है, मक्खियाँ-मच्छर या मनुष्य भी बाधा उपस्थित कर सकते है। प्राकृतिक शक्तियाँ, जो मानव-शक्ति से अनियन्त्रणीय है (जैसे आँधी, भूचाल, घनघोर मेघवर्षण), अचानक व्याघात पैदा कर सकती है। और अन्य बाधाएँ भी आ सकती है। चेतन चित्त की सर्जनात्मिका वृत्ति न जाने किन-किन बाधाओं से टकरा सकती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में एक अन्य प्रसंग मे अर्जुन को बताया था कि किसी कार्य की नियामक कई बातें होती है: अधिष्ठान, करनेवाले की योग्यता, विभिन्न सामग्री और साधन, इर्द-गिर्द के

लोगों की विविध चेष्टाएँ और दैव।[1] इसलिए करनेवाला किसी कार्य के लिए पूर्ण उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। कहने का मतलब यह है कि चेतन की मानस-मूर्ति रूप-परिग्रह करते समय अनेक बाधाओं से निपटती है। उसे अनेक प्रतिरोधों का सामना करना पड़ता है। उसके कृतित्व की परीक्षा करते समय इन प्रतिरोधक शक्तियों का भी हिसाब लगा लेना उचित है।

हाल ही में सौन्दर्यशास्त्रियों और गेस्टाल्ट मनोविज्ञानवादियों ने अनेक मूर्तियों और चित्रों की परीक्षा करने के लिए एक्स-किरणों का उपयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोगों का लक्ष्य यह था कि (1) सौन्दर्य-कृतियों—विशेष रूप से चित्र-शिल्प—के ऊपर भिन्न-भिन्न गहराई की किरणें डालकर कलाकार की उस सर्जन-प्रक्रिया (क्रिएटिव प्रोसेस) का अध्ययन किया जाय। (2) सर्जन-प्रक्रिया के अवसर पर उस आधार या माध्यम के व्यक्तित्व, निर्देश, अनुशासन और प्रतिरोध की मात्रा की जाँच की जाय और विभिन्न शिल्प-युगों की विशिष्ट शिल्प-शैलियों का निर्धारण करके किसी कलाकृति के ठीक-ठीक समय का पता लगाया जाय। 'एक्स' किरण आधुनिक विज्ञान की एक विशिष्ट देन है। यह रंगों की विभिन्न परतों के अन्दर प्रवेश करके उनकी उस रूप-रेखा की छान-बीन कर लेती है जो कलाकार के चित्त में आविर्भूत होकर प्रथम बार आधार-फलक पर उतरी थी। अतः भिन्न-भिन्न ('मिली माइक्रोन') तरंग-दैर्घ्य की किरणें जब चित्र की सतह पर पड़ती हैं तो क्रमशः अवचेतन की सक्रियता के भिन्न-भिन्न स्तर, चित्रों के मूल रूपों में चेतन (युग, शैली, कौशल) की दस्तन्दाजी एवं रेखाओं के परिवर्तनों का बोध होता है। इन परिवर्तनों को मापकर प्रयोगकर्ता सर्जनपूर्व की मूल ऊर्जा तथा सर्जन की ऊर्जा के बीच के अन्तर को एक ग्राफ पन्ने पर अंकित करता है।

बहुधा ये ग्राफ सिद्ध करते हैं कि सर्जन के पूर्व तथा दौरान में सहमी हुई अस्त-व्यस्त शक्ति का टेढ़ा-मेढ़ा प्रभाव होता है। बाद की रेखाओं में शनैः-शनैः स्थायित्व की अधिकता और घबराहट (नर्वसनेस्) की कमी आती-जाती है। पुराने आचार्यों ने इस प्रक्रिया को ही चित्त का सत्त्वस्थ होना कहा है। मनुष्य का चित्त जब पूर्ण रूप से अपने पर आप ही विजय नहीं पा लेता तब तक वह राजसिक और तामसिक वृत्तियों में उलझा रहता है, तब तक वह चांचल्य का शिकार होता है। इस अवस्था में वह अच्छी रचना नहीं दे पाता। यह उसकी आन्तरिक बाधा है। धीरे-धीरे वह इस बाधा से मुक्ति पाता है। एक्स-किरणों ने उसकी इस आन्तरिक बाधा को भी पकड़ लिया है। अतः माध्यम के अनुशासन को और उसके प्रतिरोध को अधिकाधिक स्वीकार करते हुए तथा यथासम्भव उस पर भी अनुशासन करते हुए उभयपक्षीय प्रक्रियाओं के बीच ही कलाकार उच्चता, कौशल और श्रेष्ठता को प्राप्त करता है। 'एक्स' किरणें माध्यम अर्थात् आधारफलक की

1. अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ —गीता, 18-34

प्रतिरोध-शक्ति को पहली बार इतना स्पष्ट कर सकी हैं। बोटीचेली के अफ्रोदीत चित्र पर जब भिन्न-भिन्न तरंग-दैर्घ्य की एक्स-किरणें डाली गयी तो देखा गया कि प्रारम्भ में वीनस का वक्षःस्थल और कटि की रेखाएँ भद्दी थीं, टाँग का कोण, प्रमाण-मानव के टाँग के कोण से कुछ अधिक झुका हुआ था। कलाकार ने दूसरी बार प्रयत्न करके उनको सुधारा था। इसी प्रकार माइकेल एंजिलो, लियोनार्दो दा विंची तथा गोसाइल के चित्रों का एक्स-किरण उपचार किया गया। इस प्रक्रिया से कई नकली चित्र भी पहचाने गये हैं और इस तथ्य का उद्घाटन किया गया है कि ये चित्रकार सामने मॉडल रखकर चित्रांकन करते थे या स्वतन्त्र दिवा-स्वप्नमयी कल्पना का प्रयोग करते थे। आयान रौलिन्स ने अपनी पुस्तक 'एस्थेटिक्स एण्ड दि गेस्टाल्ट' में इसका सुन्दर विश्लेषण किया है। भित्ति-चित्रों के अध्ययन में भी इन किरणों का उपयोग किया गया है। कलाकृति के गठन-विषयक विश्लेषण को और आधारफलक या माध्यम के प्रतिरोध को ये किरणें स्पष्ट कर देती हैं। मनुष्य के विचारों पर दूसरे मनुष्य के विचार का जो प्रभाव होता है, वह बहुत सूक्ष्म होता है। उसे कोई भी एक्स-किरण नहीं पकड़ पायेगी। परन्तु पहले जिन प्रयोगों की चर्चा की गयी है, वे इतना स्पष्ट कर देने के लिए पर्याप्त हैं कि स्रष्टा के चित्त में उद्भूत भाव को आधार-फलक के प्रतिरोध का सामना करना ही पड़ता है। स्रष्टा का सकल्प प्रतिरोध का धक्का खाकर कई बार मुड़ने और झुकने को बाध्य होता है और वह अपनी प्रकृति के अनुसार उसका अनुशासन भी करता है। संसार के कुछ महान् मूर्तिकारों ने बताया है कि वे पत्थर को पढ़ते हैं, वह स्वयं अपना अर्थ और रूप बता देता है। इसके बाद उस अर्थ और रूप को स्पष्ट होने में पत्थर का जो अंश बाधक या अनावश्यक होता है उसे निकाल देते हैं और इस प्रकार मूर्ति अपने-आप बन जाती है। इस प्रकार के वक्तव्य में माध्यम का महत्त्व स्थापित किया जाता है। परन्तु इस प्रकार के कथन में भी संस्कारी चित्त की सर्जनात्मिका कल्पनावृत्ति की महिमा ही प्रकारान्तर से स्वीकार की जाती है। दीर्घ काल के मनन-चिन्तन के बाद और अत्यन्त विशिष्ट प्रतिभा के अधिकारी शिल्पी द्वारा ही माध्यम के निजी रूप, छन्द, लय और इंगित को समझा जा सकता है। 'माध्यम को अनुकूल बनाने' की बात इस प्रकार की विशिष्ट प्रतिभा द्वारा सहज साध्य होती है। जिस प्रकार सिद्ध कवि ही विषय के अन्तर्निहित छन्द और लय का सन्धान पा सकता है, उसी प्रकार सिद्ध मूर्ति-शिल्पी ही माध्यम के अन्तर्निहित छन्द और राग को पहचान सकता है।

स्पष्ट है कि मनुष्य के भीतर जो सर्जनशील चित्तत्त्व काम करता रहता है वह तब तक इन्द्रियग्राह्य रूप की रचना में समर्थ नहीं होता जब तक कि बाह्य जड़तत्त्वों की सहायता नहीं लेता। शक्ति या प्रतिभा इसी चित्तत्त्व के गतिमय सर्जनशील रूप का नाम है। किन्तु बाह्य अचित् या जड़ तत्त्वों की सहायता के बिना रूप नहीं बन सकता। यदि कलाकार रूप-निर्माण नहीं करता तो वह कुछ भी नहीं करता। गति और स्थिति के द्वन्द्व से ही रूप बनता है। जो लोग समझते

है कि कला-सृष्टि विशुद्ध आन्तरिक चेतन-धर्म है, वे बात को उलझा देते हैं। रूप-रचना के लिए बाह्य जड़तत्त्वों के साथ निपटना पड़ता है, उनकी अनुकूलता की याचना करनी पड़ती है। उनसे समझौता करना पड़ता है। अभ्यास और निपुणता इसी प्रक्रिया का नाम है। कलाकार जब गतिशील चित्तत्व को स्थिति-शील अचित् तत्त्व पर विजयी दिखाना चाहता है तो जड़तत्त्व को अनुकूल बनाकर ही ऐसा कर सकता है। अनुकूल होकर प्रतिरोधक जड़तत्त्व रूपकार का सहायक और अनुगत मित्र बन जाता है।

सिसृक्षा का स्वरूप

[1]

अपने पिछले लेख में मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि सहज सर्जक चित् तत्त्व को अचित् तत्त्व की अनुकूलता की याचना करनी पड़ती है, प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। यह कार्य वह कैसे करता है और सब समय इसका आनु-कूल्य क्यों नहीं पा सकता, यह प्रश्न विचारणीय है। इसके लिए अवरोधक तत्त्व की प्रकृति की जानकारी आवश्यक है। विविध कलाओं के मूल रूप और उनकी प्रकाशन-भंगिमा का वैचित्र्य इस जानकारी से ही समझ में आ सकता है।

पुराने शास्त्रकारों ने जगत् को नामरूपात्मक कहा है। इसका मतलब यह है कि दृश्यमान चराचर जगत् वस्तुतः दो प्रकार के तत्त्वों से बना है—नाम और रूप; पद और पदार्थ। नाम कान का विषय है, रूप चक्षुरिन्द्रिय का। हम जो कुछ सुनते हैं वह शब्द है, नाम है, पद है; जो कुछ देखते है वह अर्थ है, नामी है, पदार्थ है। आधुनिक प्राणिशास्त्री बताते हैं कि मनुष्य जिस गर्म खूनवाली जन्तु-श्रेणी का जीव है वही बोल सकता है। वाक्सम्पत्ति इस दुनिया में सबको नहीं मिली। दृष्टि-सम्पत्ति इस श्रेणी के जीवों के अतिरिक्त कुछ और को भी प्राप्त है। परन्तु वाक्सम्पत्ति बहुत थोड़े जीवों को ही मिली है। इस वाक्सम्पत्ति का जैसा वैभव मनुष्य को मिला वैसा किसी को नहीं मिला। इन्द्रियार्थ कई हैं—शब्द है, स्पर्श है, रूप है, रस है, घ्राण है। कई इन्द्रियार्थ अन्य जन्तुओं को भी सुलभ है। कई जन्तु मनुष्य से अधिक दृष्टिशक्ति, स्पर्शशक्ति, घ्राणशक्ति और रसशक्ति के अधिकारी हैं, पर शब्दशक्ति में मनुष्य सर्वोत्तम है। इस विषय में उससे अधिक शक्तिसम्पन्न जन्तु को हम नहीं जानते।

पिछले वक्तव्य में 'भाषा' शब्द का प्रयोग मैंने व्यापक अर्थों में किया था।

यहाँ मुँह से बोली जानेवाली वागिन्द्रियाभिव्यक्त भाषा को ही 'भाषा' कहा जा रहा है। फिर मनुष्य के प्रसंग में साधारण रूप में सांसारिक प्रयोजनों को व्यक्त करनेवाली गद्यात्मक भाषा को भाषा कहकर व्यक्त किया गया है। अस्तु।

इस श्रेणी के जन्तुओं में वाक्शक्ति का विकास विभिन्न स्तरों पर हुआ है। परन्तु कुछ मानस-भावों को व्यक्त करने के लिए निश्चित प्रकार की बोलियों का अस्तित्व पाया जाता है। चिड़ियाघरों के विशेषज्ञों ने ग्रामोफोन की सहायता से विभिन्न भावों को प्रकट करने में समर्थ पशुपक्षियों की भाषा का सन्धान पाया है। साधारणत. भय, उल्लास, संगमेच्छा आदि मनोभावों को व्यक्त करने के लिए ये जन्तु विभिन्न प्रकार की ध्वनियों का व्यवहार करते हैं। मनुष्य को पूर्व रूप से इस वर्तमान रूप में आने के बीच हज़ारों वर्षों का समय लगा होगा। उस अवधि में मनुष्य मिलती-जुलती अविभाज्य वर्ण-वैशिष्ट्यवाली भाषा बोलता होगा। वर्ण या अक्षर रूप में इस वाणी का विभाजन बाद में हुआ है। उस समय की मामूली भावनाओं की अभिव्यक्ति में अक्षर एक-दूसरे से इस प्रकार अविभाज्य रूप में गुँथे रहते होंगे जिस प्रकार जल-प्रवाह में जल-बिन्दु गुँथे रहते हैं। संगीतात्मकता या स्वरों के आरोह और अवरोह से वे एकीकृत या प्रवाहरूप भाषा होगी। संगीत में उसी पुरानी पद्धति का विकसित और क्रमबद्धीकृत रूप उपलब्ध होता है। आदिम जातियों की भाषा में अब भी सगीतात्मकता अधिक मिलती है। नये भाषा-वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म ध्वनिग्राही यन्त्रों की सहायता से सभ्य जातियों की भाषा की अधिक विशिष्टीकृत ध्वनियों में भी ध्वनिग्राम का सन्धान पाया है। कहने का मतलब यह है कि आदिम मानव की भाषा अविभाज्य वर्ण-वैशिष्ट्यवती और लयात्मक थी। सगीत आदिमानव का प्रथम आविष्कार नहीं है, प्रथम प्रयत्न-साध्य त्याज्य वस्तु है। वर्ण-वैशिष्ट्यवती भाषा और पदार्थों के नामकरण के प्रयत्न ने धीरे-धीरे संगीतात्मक भाषा से मुक्ति पायी है।

इसका मतलब यह हुआ कि सभ्यता की ओर अग्रसर होते समय मनुष्य सगीत को छोड़कर संगीत-विरहित भाषा प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हुआ था।

क्यों उसने संगीत से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया?

सभ्यता का अर्थ है बाह्य तथ्यात्मक जगत् से अधिकाधिक परिचय। मनुष्य ने नयी परिस्थितियों पर विजय पाने के लिए नये-नये पदार्थों का परिचय पाया। सघबद्ध रूप में वह कदाचित् पहले भी रहता था। प्राणिशास्त्री ऐसा ही कहते हैं। परन्तु बौद्धिक विकास के साथ उसको सघबद्धता के नियमों, रूढ़ियों और आचारों की व्यवस्था करनी पड़ी। उसे केवल कण्ठोष्ठ उच्चरित भाषा का ही नहीं, इशारों और अभिनयों की भाषा का भी सहारा लेना पड़ा। और जो बात कभी नहीं हुई थी वह भी हुई। बाह्य तथ्यात्मक जगत् के साथ सघर्ष के लिए उसे उसी से प्राप्त वस्तुओं का सहारा लेना पड़ा। भाषा के तुरन्त बाद ही उसे हाथ से बाह्यजगत् की वस्तुओं का अपने हित के लिए निर्माण करना पड़ा। सभ्यता आगे बढ़ी। पारस्परिक सहयोग और बाह्यजगत् से सघर्ष—इन दो उद्देश्यों से मनुष्य को

'प्रयोजन' के वश में आना पड़ा। केवल अन्तर की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति से वह आत्मरक्षा नहीं कर सकता था। काम नहीं चला तो कामचलाऊ (या प्रयोजन-परक) माध्यम की जरूरत हुई। संघर्ष की वृद्धि और सहयोग की अत्यधिक आवश्यकता ने उसे 'संगीतात्मकता' को छोड़कर गद्यात्मकता की ओर अग्रसर होने के लिए वाध्य किया। यह प्रयोजन (=अर्थ) की मार महँगी पड़ी। सभ्यता की ओर अग्रसर होने को वह अपनी अन्तर्निहित आवश्यकताओं से ही वाध्य था। जिजीविषा की दुर्वार शक्ति ने उसे उधर ठेल दिया, पर संगीत के लिए वह व्याकुल था। इसी व्याकुलता ने कलाओं को जन्म दिया। कविता आयी, अभिनय आया, चित्र आया। सर्वत्र अर्थ या प्रयोजन की मार से वचने का प्रयास। वीसवीं शताब्दी के कवि (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) भी इस अर्थभारग्रस्ता भाषा के दम घुटने से उतना ही व्याकुल हैं। रवीन्द्रनाथ की एक कविता की कुछ पंक्तियों का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार होगा :

"हाय, भाषा मनुज की है बँधी केवल अर्थ के दृढ़बन्ध मे,
चक्कर लगाती है सदैव मनुष्य को ही घेरकर। अविराम बोझिल
मानवीय प्रयोजनों से रुद्ध हो आया गिरा का प्राण है।"

यह प्रयोजनवती गद्यात्मक भाषा क्या है?

विभिन्न अर्थों में संकेतित कुछ शब्द या अक्षर-समवाय है, जो केवल एक व्यक्ति के नहीं वल्कि समूचे समाज मे समान रूप से गृहीत होते है। वाह्यजगत् में जो पदार्थ हैं उनके लिए ये प्रतीक-रूप में व्यवहृत होते है। व्यक्ति-विशेष के मुख से उच्चरित ये प्रतीकात्मक शब्द श्रोता के चित्त में वाह्यजगत् मे स्थित पदार्थों का प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) करते हैं। ये शब्द वहुधा आन्तरिक भावों का प्रक्षेपण भी करते हैं। ये प्रतीकात्मक शब्द आपस मे व्याकरण और वाक्य-विन्यास की सुगठित व्यवस्था द्वारा संघटित होकर भाषा का रूप ग्रहण करते हैं। इस दृष्टि से ये शब्द मनुष्य द्वारा क्रमोद्भावित और समाज द्वारा सर्वात्मना स्वीकृत स्वतन्त्र व्यवस्था (व्याकरण, वाक्य-विन्यास) के अधीन हैं। दूसरी ओर इनके द्वारा अभिव्यक्त अर्थ वाह्य (या आन्तर) जगत् की प्रकृति-प्रदत्त स्वतन्त्र व्यवस्था के अधीन है। शब्द-प्रतीकों द्वारा प्रक्षेपित अर्थ (पदार्थ) दोनों स्वतन्त्र व्यवस्थाओं के वीच सामंजस्य स्थापित करके ही सार्थक वनते हैं। भाषा दोनों व्यवस्थाओं के वीच जब तक सामंजस्य नहीं स्थापित करती, तब तक चरितार्थ नहीं होती। 'अग्निना सिञ्चति' (=आग से सींचता है) व्याकरण और वाक्य-रचना की व्यव[illegible] दृष्टि से पूर्णतः ठीक है, पर वाह्य जगत् के 'आग' [illegible] ेर 'सींचना' [illegible] सामंजस्य न होने से निरर्थक है। मजेदार [illegible] भाषा की [illegible] होते हुए भी कभी-कभी भाषा [illegible] मिल [illegible] जाते हैं कि वह अत्यधिक सार्थ [illegible] में प्रयोजनातीत की व्यंजना भी [illegible] का उदाहरण होगा— [illegible]

ही कालिदास ने ऐसी बात कही है :

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः
तपः क्षमं साधयितु य इच्छति।
ध्रुव स नीलोत्पलपत्र-धारया
शमीं तरुं छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।

[शकुन्तला के इस सहज मनोहर शरीर को जो ऋषि तप के योग्य बनाना चाहता है, वह निश्चय ही नील कमल की पंखुड़ियो की धार से शमी वृक्ष को काटना चाहता है !]

यहाँ 'शमी वृक्ष', 'नीलोत्पलपत्र धारा' और 'काटना' के प्रक्षेपित अर्थो का समवाय बाह्य जगत् मे असम्भव व्यापार है। कवि यही कहना चाहता है कि वह ऋषि असम्भव की कामना कर रहा है। प्रक्षेपित अर्थो के द्वारा इस असम्भव और अनुचित कार्य का जो भाव-चित्र बनता है, वह अर्थ की प्रतीति को गाढ बनाता है। बिना भाव-चित्र को प्रत्यक्ष कराये कवि यह बात नही कह सकता था। भाषा उसे कहने मे असमर्थ है। एक 'उफ्', या 'अह्' कहकर मनुष्य जितना कह जाता है उतना भी भाषा नही कह पाती। उफ्' या 'अह्' यद्यपि भाषा मे लिख-बोल लेने की व्यवस्था कर ली गयी है, पर वह वास्तव मे अविभाज्य वर्ण-वैशिष्ट्यवाली आदिम भाषा के ही भग्नावशेष है। भाषा सब कहाँ कह पाती है ? आज भी हम भावावेश की अवस्था काकु और स्वराघात के तारतम्य के अनुसार कह जाते है। हाथ घुमाकर, मुँह बनाकर, आँखो की विशिष्ट भगियो के द्वारा हम अनकही कहने की कोशिश करते है। मनुष्य उस भूली हुई कहानी को अनजान में स्मरण करता रहता है। छन्द, सुर, लय द्वारा हम भाषा में उसी अकह को कहने की शक्ति भरते हैं। कविता मनुष्य की अन्तःस्थित सहजात भावधारा और बाह्य जगत् की वास्तविकता के व्याकुल संघर्ष की उपज है। कविता समस्त कलाओं की जननी है। कविता आदिम है। पदार्थ से पद का महत्त्व उसमें कम नही है, कुछ अधिक ही है। इसीलिए वह अनुवादित नही हो पाती। पदार्थ का व्याकरणसम्मत व्यवस्थापन उसे दरिद्र ही बनाता है।

सामान्य प्रयोजनों को पूर्ण करनेवाली गद्यात्मक भाषा दो व्यवस्थाओं से चालित होती है—एक तो तथ्यात्मक जगत् की बाह्य सत्ता की व्यवस्था से और दूसरी अपनी ही व्याकरणात्मक और वाक्य-विन्यास-मूलक व्यवस्था से। कविता को इन दोनों व्यवस्थाओं को स्वीकार करना पड़ता है, पर साथ ही उसकी अपनी स्वतन्त्र एक तीसरी व्यवस्था है। छन्द, लय, यति, तुक आदि की भी एक व्यवस्था है, जो कविता की अपनी व्यवस्था है, यह शब्दों की सजावट पर आधारित है। इनके प्रयोग से कविता बाह्य जगत् और व्याकरण की व्यवस्थाओं से एक अन्य प्रकार की व्यवस्था के अधीन हो जाती है। यद्यपि कविता अर्थ से विच्छिन्न होकर नही रह सकती, और सच तो यह है कि शब्द और अर्थ के सहित-सहित बने रहने के कारण ही किसी समय इसे 'साहित्य' कहा गया था, पर शब्द उसके मुख्य

[illegible] है। प्राचीन जातियों में शब्द को अर्थ से अभिन्न माना जाता है। तान्त्रिक [illegible] की प्राचीन प्रक्रियाओं में देवदत्त शब्द को मूलविद्ध करने से देवदत्त पदार्थ को भी मूलविद्ध करने का विश्वास पाया जाता है। आदिमानव शब्द को अर्थ का ही अभिन्न रूप मानता था। वहाँ शब्द में एक विशिष्ट शक्ति मानी जाती थी, जो अर्थ तक सीधे पहुँचती थी। शब्द वहाँ प्रतीक नहीं, बहुत-कुछ अर्थ का समशील होता था। कविता शब्द की इस रहस्यमयी शक्ति में आज भी विश्वास करती है। इसीलिए कविता का अनुवाद कठिन होता है। केवल संकेतित अर्थ का प्रक्षेप-मात्र करके कविता विरत नहीं हो जाती। लय, ताल, सुर और झंकार के मिलित योग से वह प्रक्षिप्त अर्थ से अतिरिक्त ध्वनित कर जाती है। प्रक्षिप्त संकेतित अर्थ कई बार वहाँ निःशेष या 'अत्यन्त तिरस्कृत' होता है। आदिमानव के शब्दार्थ समशीलता के निकट पहुँचाने में कविता सर्वाधिक समर्थ कला है। शब्द की इस महिमा को ठीक-ठीक पहचानने के कारण ही पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्द को ही काव्य माना था। उनके मत से, शब्द, अवश्य ही 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' होना चाहिए अर्थात् बाह्य जगत् की व्यवस्था से उसे एकदम असम्पृक्त नहीं रहना चाहिए। निस्सन्देह कविता में शब्द मुख्य है, उसमें पदार्थ से अभिन्न बनने की रहस्यमयी शक्ति है। यह आदिम प्रवृत्ति कविता की एक मुख्य विशेषता है, किन्तु अर्थविरहित काव्य संगीत-मात्र है।

चित्र या मूर्ति में शब्द प्रतीकों का व्यवहार नहीं होता। वहाँ समाज-चित्त में [illegible] अर्थ को जिस प्रकार प्रतीक रूप में व्यवहृत शब्द व्यक्ति-चित्त में प्रक्षिप्त करते हैं उस प्रकार की प्रक्रिया नहीं होती। वहाँ अर्थ की [illegible] साक्षात् होती है। [illegible] घोड़ा व्यक्ति-मानस में अनुभूत घोड़े की [illegible] ना है। [illegible] प्रतीक वह भी है, पर शब्द के समान सं[illegible] है। [illegible] और समाज-चित्त का स्वीकृत प्रतीक है, [illegible] है। [illegible] चित्रलिखित [illegible] त्रिपत्त वस्तु, रूप- [illegible] बाह्य पदार्थ [illegible] से साक्षात् [illegible] चित्र उप [illegible] के पदार्थों [illegible] उपस्थ [illegible] है। इस [illegible] जाता [illegible] से [illegible] होते [illegible] है। [illegible]

प्रस्थ और स्थौल्य। वाह्य जगत् की सत्ता चार आयामों मे है—लम्वाई, चौड़ाई, मोटाई और काल। इस प्रकार न तो कविता मे और न चित्र-मूर्ति में ही पूरी तौर से वाह्य सत्ता आ सकती है। इस दृष्टि से वाह्य जगत् को यथार्थतः मनुष्योद्भावित शिल्प में व्यक्त करना केवल वात-की-वात है। यथार्थता केवल आपेक्षिक तत्त्व है। फिर भी मनुष्य वाह्य सत्ता को कलाओ मे अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। कैसे वह इसमें सफल होता है?

इस कौशल को अन्यथाकरण कह सकते है। अग्रेजी मे इसे 'डिस्टार्शन' कहते है। मनुष्य जो कुछ भी रचता है उसके लिए वह वाह्य जगत् की वास्तविकता से ही मसाला सग्रह करता है। पर उसे ज्यो-का-त्यों वह ले ही नही सकता। उसे चार आयामों के जगत् को तीन, दो या एक मे वदलना पड़ता है। वह कुछ-न-कुछ छोड़ने को वाध्य है। वह तथ्यात्मक वाह्य सत्ता को वदलता है, अन्यथा वनाता है। इसलिए उसके इस प्रयत्न को अन्यथाकरण कहते है। अन्यथाकरण, अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना। फिर भी वह वस्तु को यथार्थ रूप मे चित्रित करने का प्रयास करता है। रेखा से, रंग से वह कमियों को पूरा करता है। इस कौशल पर ही कलाकार का वैशिष्ट्य है। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में एक स्थान पर एक वात बड़े आकर्षक ढग से कही है। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र वनाया था। उस चित्र को देखकर राजा ने कहा था कि चित्र में जो कुछ साधु नही होता, अर्थात् जैसा है वैसा नही वन पाता, उसे 'अन्यथा' कर दिया जाता है। फिर उस (शकुन्तला) का लावण्य रेखाओ से कुछ जुड ही गया है, वढ ही गया है·

"यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्य रेखया किञ्चिदन्वितम्॥"

यहाँ इस श्लोक को उद्धृत करने का उद्देश्य सिर्फ यही नही है कि 'अन्यथाकरण' शब्द के प्रयोग का औचित्य सिद्ध किया जाय, बल्कि यह भी है कि इस वात को विशेष रूप से दृष्टिगोचर किया जाये कि कालिदास ऐसा मानते थे कि यद्यपि अन्यथाकरण के द्वारा वाह्य-जगत् ज्यो-का-त्यों नही आ जाता तथापि उत्तम कोटि का चित्रकार उसमें कुछ और जोड देता है—किञ्चित् अन्वितम्। ऊपर-ऊपर से यह वात ऐसी अटपटी मालूम होती है कि वहुत-से पण्डित इस श्लोक का अर्थ ही वदलने पर उतारू हो गये है! उनका कहना है कि इसका अर्थ है कि फिर भी इसमें उसका लावण्य कुछ-कुछ उभर ही गया है!

हर पण्डित से लोहा लेते फिरने की स्पर्द्धा तो मुझमें नही है, पर मुझे लगता है कि कालिदास का तात्पर्य वही है जो पहले कहा गया है। इसका प्रमाण उन्ही के ग्रन्थों से दिया जा सकता है, पर वात वढाने से कोई लाभ नही है। मैं जिस वात को स्पष्ट करने जा रहा हूँ, उसी से इसका समर्थन हो जायेगा।

प्रश्न यह है कि मनुष्य क्यो इस प्रकार का प्रयत्न करता है। यह सहज सर्जना शक्ति उसमे क्यों विकसित होती गयी?

प्रस्थ और स्थौल्य। बाह्य जगत् की सत्ता चार आयामो मे है—लम्बाई, चौडाई, मोटाई और काल। इस प्रकार न तो कविता मे और न चित्र-मूर्त्ति में ही पूरी तौर मे बाह्य सत्ता आ सकती है। इस दृष्टि से बाह्य जगत् को यथार्थतः मनुष्योद्भावित शिल्प में व्यक्त करना केवल बात-की-बात है। यथार्थता केवल आपेक्षिक तत्त्व है। फिर भी मनुष्य बाह्य सत्ता को कलाओं में अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। कैसे वह इसमे सफल होता है ?

इस कौशल को अन्यथाकरण कह सकते है। अंग्रेजी मे इसे 'डिस्टार्शन' कहते हैं। मनुष्य जो कुछ भी रचता है उसके लिए वह बाह्य जगत् की वास्तविकता से ही मसाला संग्रह करता है। पर उसे ज्यों-का-त्यो वह ले ही नही सकता। उसे चार आयामों के जगत् को तीन, दो या एक मे बदलना पड़ता है। वह कुछ-न-कुछ छोड़ने को बाध्य है। वह तथ्यात्मक बाह्य सत्ता को बदलता है, अन्यथा बनाता है। इसलिए उसके इस प्रयत्न को अन्यथाकरण कहते है। अन्यथाकरण, अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना। फिर भी वह वस्तु को यथार्थ रूप मे चित्रित करने का प्रयास करता हैं। रेखा से, रंग से वह कमियो को पूरा करता है। इस कौशल पर ही कलाकार का वैशिष्ट्य है। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे एक स्थान पर एक बात बड़े आकर्षक ढंग से कही है। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र बनाया था। उस चित्र को देखकर राजा ने कहा था कि चित्र में जो कुछ साधु नही होता, अर्थात् जैसा है वैसा नही बन पाता, उसे 'अन्यथा' कर दिया जाता है। फिर उस (शकुन्तला) का लावण्य रेखाओ से कुछ जुड ही गया है, बढ ही गया है·

"यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्य रेखया किञ्चिदन्वितम् ॥"

यहाँ इस श्लोक को उद्धृत करने का उद्देश्य सिर्फ यही नही है कि 'अन्यथाकरण' शब्द के प्रयोग का औचित्य सिद्ध किया जाय, बल्कि यह भी है कि इस बात को विशेष रूप से दृष्टिगोचर किया जाये कि कालिदास ऐसा मानते थे कि यद्यपि अन्यथाकरण के द्वारा बाह्य-जगत् ज्यो-का-त्यो नही आ जाता तथापि उत्तम कोटि का चित्रकार उसमें कुछ और जोड़ देता है—किञ्चित् अन्वितम्। ऊपर-ऊपर से यह बात ऐसी अटपटी मालूम होती है कि बहुत-से पण्डित इस श्लोक का अर्थ ही बदलने पर उतारू हो गये है ! उनका कहना है कि इसका अर्थ है कि फिर भी इसमें उसका लावण्य कुछ-कुछ उभर ही गया है !

हर पण्डित से लोहा लेते फिरने की स्पर्द्धा तो मुझमे नही है, पर मुझे लगता है कि कालिदास का तात्पर्य वही है जो पहले कहा गया है। इसका प्रमाण उन्ही के ग्रन्थों से दिया जा सकता है, पर बात बढाने से कोई लाभ नही है। मैं जिस बात को स्पष्ट करने जा रहा हूँ, उसी से इसका समर्थन हो जायेगा।

प्रश्न यह है कि मनुष्य क्यो इस प्रकार का प्रयत्न करता है। यह सहज सर्जना शक्ति उसमें क्यो विकसित होती गयी ?

की सच्चाई व्यक्ति-दृष्ट नही, बल्कि समाज-दृष्ट सच्चाई है। परिदृश्यमान बाह्य जगत् स्थूल होता है, उसकी सच्चाई का मापदण्ड बनाना आसान होता है। समाज-दृष्ट बाह्य जगत् के कारण-कार्यो का विश्लेषण करके नये-नये तथ्यो की जानकारी प्राप्त करके नये सिरे से नयी वस्तुओ का निर्माण मनुष्य करता ही रहता है। इस विश्लेषण और अन्यथाकरण की गठनात्मक नवव्यवस्थापन की प्रक्रिया, विज्ञान का कार्यक्षेत्र है। इस प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति या व्यक्ति-समूह निरन्तर परिवर्तन करते रहते है। परन्तु अन्तर्जगत् इतना स्थूल नही है। कलाकार भी विज्ञानी की भाँति ही नित्य परिवर्तन करता रहता है, किन्तु इन सूक्ष्म अनुभूतियों के विश्लेषण और अन्यथाकरण की प्रक्रिया कुछ और तरह की होती है। यही कलाकार का कार्य-क्षेत्र है। अन्तर्जगत् की अनुभूतियो की सच्चाई भी समाज-चित्त की ही सच्चाई है। एक प्रकार के रूप से यदि एक आदमी अत्यधिक प्रीतभाव अनुभव करता है पर बाकी लोग वैसा भाव अनुभव नही करते, तो प्रीतभाव अनुभव करनेवाला ही अबनर्मिल माना जाता है, वैसा न अनुभव करना ही अन्तर्जगत् की सच्चाई मानी जाती है। भाषा अबनार्मल भाव के लिए नही बनती, वह समाज-चित्त की अनुयायिनी होती है। जबकि बाह्य जगत् के विषय-परक होने से व्यक्ति-दृष्टि कम बाधक सिद्ध होती है, अन्तर्जगत् के विषयि-परक होने के कारण वह अधिक व्यक्तिपरक होती है और अधिक बाधा उत्पन्न करती है। मैं यह तो मान लेने को तैयार हो सकता हूँ कि जो चीज मुझे पीली दिखायी दे रही है वह वास्तव में सफेद है और मुझे अपनी आँखों की दवा करानी चाहिए, पर यह मानने मे बड़ी कठिनाई है कि सेंहुड़ का काँटा जो मुझे अच्छा नही लगता, वह वास्तव में अच्छा ही लगने योग्य है! अन्तर्जगत् की अनुभूतियो के लिए जो भाषा बनी है, उससे व्यक्ति-चित्त पूरा-पूरा कभी सन्तुष्ट नही होता और अधिकाश व्यक्तियो मे अन्तर्द्वन्द्व बना रहता है। समाज-चित्त को परिवर्तित करना इस क्षेत्र मे कठिन कार्य है। कलाकार को यही करना पड़ता है। बाह्य तथ्यात्मक् जगत् सदा अन्तर्जगत् के व्यक्ति-चित्त को वैसा ही नही दिखता, जैसा समाज-चित्त उसे देखा करता है। अन्यथाकरण की निर्माणोन्मुखी प्रक्रिया बाह्य जगत् के समाज-स्वीकृत रूपों से संगृहीत जड़खण्डों को भावना के सीमेंट से जोड़कर सही अर्थों में उपलब्ध कराती है। द्रष्टा सिर्फ यह नही समझता कि वह जान रहा है, बल्कि यह अनुभव करता है कि वह देख रहा है, पा रहा है। ज्ञात वस्तु दृष्ट होती है; दृष्ट, उपलब्ध। स्पष्ट ही कलाकार अन्यथाकृत बाह्य जगत् के अनुभवों से उतना ही नही देता जितना बाह्य जगत् में मिलता है, बल्कि उसमे कुछ और जोड़ता है —रेखया किञ्चदन्वितम्। यही उसकी रचनात्मक शक्ति का वैशिष्ट्य है।

'समाज-चित्त' शब्द ऊपर से जितना सरल दिखता है, उतना सरल है नहीं। सभ्यता के अग्रसर होते-होते समाज की जटिलताएँ भी बढती गयी हैं। श्रेणियों का विभाजन हुआ है, सुविधा-भोग की क्षमता और उपलब्धि में तारतम्य आया है। उसी अनुपात में भाषा-विभेद उत्पन्न हुआ है; ज्ञानार्जन में भेद आया है;

पोषणतत्वों की उपलब्धि में अन्तर आया है; शरीर, मन और बुद्धि के स्तर पर मनुष्य बहुधा-विभक्त हो गया है। मानस-स्तर पर अनुभूतियों में भी अन्तर आया है और प्रकाशन-भंगिमा और क्षमता में भी। एक श्रेणी के सभी पक्षी एक निश्चित वातावरण मे एक ही तरह के घोंसले बनाते हैं, पर मनुष्य के लिए यही बात नहीं कही जा सकती; इसीलिए प्रतिभा, अभ्यास और नैपुण्य के क्षेत्र में बहु-विचित्र फलो की उपलब्धि होती है। श्रव्य कलाओं के क्षेत्र में वह संगीत मे बढ़ता हुआ काव्य, महाकाव्य और उपन्यास के रूप मे विचित्ररूपा सम्पद् प्राप्त करता है। बहिःप्रकाश्य दृश्य-कलाओ मे चित्र, मूर्ति, वास्तु-शिल्पों में और अन्तर्बहि प्रकाश्य दृश्य-कलाओ मे अभिनय, नृत्य, नाटक, फिल्म मे रूपायित होता है। एक-दूसरे से अन्तर्ग्रथित होकर इन शिल्पो की अभिव्यजना-पद्धति मे बहुत अन्तर आ जाता है। जितनी ही सामाजिक व्यवस्था जटिल-से-जटिलतर होती जाती है, उतना ही प्रकाशन-भंगिमा मे बाह्य जगत् की व्यवस्था का मिश्रण अधिकाधिक मुखर होता जाता है। कविता की तुलना मे महाकाव्य मे और महाकाव्य की तुलना में उपन्यास में; नृत्य की अपेक्षा नाटक मे और नाटक की अपेक्षा फिल्म मे; चित्र की अपेक्षा मूर्ति मे और मूर्ति की अपेक्षा वास्तु में बाह्य जगत् की व्यवस्था अधिक सबल और मुखर हो जाया करती है। इसका अर्थ यह है कि कविता, चित्र और अभिनय अधिक आदिम मानव-सिसृक्षा के रूप है। संगीत और नृत्य तो जैसा कि पहले ही बताया गया है, मानवपूर्व सहजात धर्म है। मनुष्य के श्वास-प्रश्वास और नाड़ी के रक्तस्पन्दन में जो छन्द है, लय है, ताल है, गति है, उसी मे उनका निवास है। परवर्ती काल के संगीत और नृत्य वाक्तत्त्व और अर्थतत्त्व के यत्नसाधित मिश्रण हैं। यतितत्त्व ही उन्हें कला का रूप देता है।

स्थूल प्रयोजनवती गद्यात्मिका भाषा शब्द-प्रतीको द्वारा बाह्य और आन्तरिक योग स्थापित करती है। उसमें दो व्यवस्थाओं का अनुशासन रहता है। एक तो शब्दों की व्याकरण-सम्मत और वाक्यविन्यास-मर्यादित व्यवस्था और दूसरी शब्दों द्वारा प्रक्षेपित किये जानेवाले पदार्थों की वास्तविक बाह्यजगत्गत व्यवस्था। परन्तु वह एक तीसरा और अनुशासन चाहती है। शब्दों की केवल व्याकरण-सम्मत और वाक्यविन्यास-मर्यादित व्यवस्था ही उसके लिए पर्याप्त नहीं है। उसे शब्दो की निजी व्यवस्था, उनकी अर्थ से अभिन्न बनने की अतिप्राकृत शक्ति की और लय, छन्द आदि की मिलित जटिल व्यवस्था के अनुशासन मे भी रहना पड़ता है। यही कारण है कि कविता को गद्य कर देने से या भाषा मे अर्थानुसारी अनुवाद कर देने से उसका पूरा रस नहीं रह जाता। वह खो जाता है।

अन्य ललित कलाओं की तुलना में कविता मे बाह्यजगत् के अन्यथाकरण की सीमा अधिक है। वह चार आयामों के जगत् को केवल एक आयाम मे बदलने का प्रयत्न करती है। यह आयाम काल है। कविता मानव-चित्त के निगूढ़ अन्तस्तल के आवेगों को शब्दों मे ढालने का प्रयत्न करती है। 'आवेग' इसलिए आवेग होते है कि उनमें गति होती है, वेग का प्राबल्य होता है। गति काल में ही सम्भव है,

पर कविता को केवल काल मे नही रहना पड़ता है। आवेगों को वह स्थिर रूप प्रदान करती हैं। शब्दो के जादू के बल पर कविता किसी काल में व्यक्त किये गये आवेग को किसी काल में उपस्थित कर सकती है। इसीलिए कविता काल मे व्याप्त होने पर भी देश के साथ असम्पृक्त नही रहती। देश तीन आयामो मे व्यक्त होता है। परन्तु कविता इन तीन आयामो से स्वतन्त्र रहती है। यह विचित्र बात है पर सत्य है। देश 'नियत' होता है। पुराने शास्त्रकारो ने ब्रह्म की उस शक्ति को, जो जीव मे अपने को सर्वव्यापक न समझकर नियत देशवासी समझने की भ्रान्ति उत्पन्न करती है, 'नियति' कहा है। यह माया का एक कचुक है। कविता इस नियति के नियमों से बँधी नहीं होती, इसीलिए पुराने शास्त्रकारो ने इसे 'नियतिकृतनियमरहिता' कहा है। कविता काल मे प्रवाहित होती है और देश में स्थिति प्राप्त करती है। यह बात उसे अन्य कलाओ से अलग कर देती है। गति द्वारा स्थिति उत्पन्न करना कठिन कार्य है।

एक दूसरी कला और है जो कविता से भी अधिक सूक्ष्म है। मूलतः वह मनुष्य-पूर्व है। उसका नाम संगीत है। उसमे भाषा के व्याकरण और वाक्य-विन्यास का बन्धन नही होता। परन्तु उसी प्रकार की एक अन्य व्यवस्था का अनुशासन उसे मानना पड़ता है। वह व्यवस्था है रूप और गठन की—फार्म और स्ट्रक्चर की। भाषा जिस प्रकार व्याकरण और वाक्य-विन्यास के तर्क-संगत नियमो से बँधी होती है, उसी प्रकार जिस प्रकार संगीत भी अपने रूप और गठन की व्यवस्था से तर्कसंगत रूप में अनुशासित होता है। परवर्त्ती संगीत में भाषा का योग है, पर भाषा वहाँ अविच्छेद्य वर्ण-वैशिष्ट्य स्वरूप की ओर लौटती है। पहले ही बताया गया है कि आदिमानव के लिए अहंतापरक और इदतापरक शब्द और शब्दार्थ बहुत-कुछ एकमेक थे—'कहियत भिन्न न भिन्न' होकर विद्यमान थे। संगीत में लय और तान वर्ण-वैशिष्ट्य को मिटाते हैं। अर्थबन्ध से विरहित कविता संगीत की कोटि मे चली जाती है। अर्थबन्ध से अनुशासित संगीत, कविता की ओर अग्रसर होता है। बाह्यजगत् में दिन-रात ऋतु-परिवर्त्तन और तारामण्डल का नियत आवर्त्तन आदि की अनुक्रमता जब मानव के अहंतापरक चित्त में प्रतिफलित होती है तो वह 'अंक' को जन्म देती है, जब उसकी व्यवस्था बाह्यजगत् की अनुक्रमता के साथ मिलती है, तो गणितशास्त्र का कारबार शुरू होता है। इदता-प्रधान बाह्य-जगत् में परिदृश्यमान अनुक्रमता जब अहता-प्रधान अन्तर्जगत् के श्वास-प्रश्वास, नाड़ी स्पन्दन से प्रतिभासित अनुक्रमता से मेल खाती है तो 'ताल' का उद्भव होता है और संगीत का कारबार शुरू होता है। संगीत बहिर्जगत् की अनुक्रमता का अन्तर्मुखी प्रतिफलन है, गणित अन्तर्जगत् के अनुक्रम-बोध का बहिर्मुखी प्रतिफलन है। चेतना के एक छोर पर संगीत है, दूसरे पर गणित।

गणित और संगीत दोनो मे ही परिदृश्यमान जगत् का अन्यथाकरण होता है। अन्तर यह है कि संगीत बहिर्जगत् की अनुक्रमता की व्यवस्था को अन्तर्मुख

करता है, जबकि गणित अन्तर्गृहीत अनुक्रमता (periodicity) को बहिर्मुख करता है।

शब्द पदार्थों के प्रक्षेपण में प्रतीक का काम करते है, इसलिए रूढ होते हैं। शास्त्रकारों ने तीन प्रकार के शब्द बताये हैं—यौगिक, योगरूढ़ और रूढ़। परन्तु कुछ ध्वनि-अनुकरण से बने शब्दों को छोड़ दिया जाय तो भाषा के सभी शब्द सामान्य अर्थ में 'रूढ़' है। जिन्हे हम यौगिक शब्द कहते है वे भी रूढ़ धातुओं, रूढ़ प्रत्ययों और रूढ़ प्रातिपदिकों के योग से ही बनते हैं। वह वस्तुतः रूढ ही होते है। उनके व्यवहार का कोई तर्कसंगत कारण नही बताया जा सकता। इसलिए उनके द्वारा जिन अर्थो का आहरण होता है, वे प्रक्षेपित होते हैं। चित्र-कला मे रूढ प्रतीकों का व्यवहार नही होता। चित्रलिखित घोड़े को घोड़ा कहना भी वस्तुतः एक प्रकार के प्रतीको का ही व्यवहार है। पर वे रूढ़ नही होते। उनके अर्थाहरण की क्षमता सादृश्य में है। चित्र-लिखित घोड़ा इसीलिए घोड़ा कहा जाता है कि उसमें तथ्यात्मक जगत् के घोड़े से सादृश्य होता है। रेखाएँ सादृश्य को व्यक्त करती है, पर बाह्यजगत् का पदार्थ रेखाओं के माध्यम से 'कुछ और' प्रकट होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि गधे को कोई भला आदमी अपने ड्राइंग-रूम मे घुसने देना पसन्द नहीं करेगा, पर रेखाकित गधे को शौक से ड्राइंग-रूम में सजाने मे नही हिचकेगा। यह बात ही इसका सबूत है कि चित्र-लिखित 'गधा' कुछ और है। रंगों को भरकर चित्र में उभार ले आने का प्रयत्न किया जाता है। रंग आकृति के विशिष्ट धर्मों को उन्मीलित करते है, चित्र में वैशिष्ट्य-वैचित्र्य का संचार करते है। कालिदास ने भी कहा है—'उन्मीलित तूलिकमेव चित्र'। इसीलिए रंग भरना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। परन्तु चित्र और कविता, दोनों मे यही गुण होता है कि वह द्रष्टा और श्रोता के 'अहं' को उस जगह ले जाते है जहाँ चित्रकार या कवि खड़ा होकर बाह्यजगत् को देखता है। यह तादात्म्यीकरण कलामात्र का विशिष्ट धर्म है।

चित्र चक्षुर्ग्राह्य कला है। वह स्थिर होता है। चक्षुर्ग्राह्य या दृश्य कला का एक गतिशील रूप नृत्य और ताण्डव आदि मे पाया जाता है। चित्र का परवर्ती विकास भी गतिशीलता मे होता है। चलचित्र या फिल्म गतिशील दृश्य कला है। स्थिर चित्र को चल बनाने के लिए वस्तुतः अचल चित्रों की परम्परा को इस प्रकार कालव्यापी बनाया जाता है कि उसमे गति की प्रतीति हो। काल एक प्रतीति-मात्र है। वह केवल द्रष्टा के चित्त की प्रतीयमानासक्ति का सबूत है।

अब हम मूल प्रश्न पर आ सकते हैं।

साधारणतः कलाकार के लिए कहा जाता है कि वह आत्माभिव्यक्ति या अर्थात् अपने-आपको अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। आत्माभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है। सृष्टि में सर्वत्र आत्माभिव्यक्ति का यह प्रयास दिखायी देता है। एक तो जीव का सहज धर्म है। लता, वृक्ष, पशु, पक्षी मे निरन्तर विकसित होकर युवावस्था तक आना और फिर क्षीण होते हुए मृत्यु की ओर बढ़ना सहज जीव-धर्म

है। लता का पुष्पित होकर रूप-वर्ण-गन्ध-रस द्वारा दूसरों को आकृष्ट करने का प्रयत्न सहज आत्माभिव्यक्ति का प्रयत्न है। मयूर का उन्मत्त नर्त्तन और पुंस्कोकिल का कूजन सहज, अथच सोद्देश्य, आत्माभिव्यक्ति है। मनुष्य का शिशु-अवस्था से युवावस्था मे परिणत होना सहज जीवधर्म है। कहते हैं, युवावस्था मे जो शरीर की उच्चावचता का विकास होता है—जिसे कालिदास ने 'वपुर्विभिन्न नवयौवनेव' कहकर उल्लेख किया है—वह सोद्देश्य है, सहज तो है ही। इस अवस्था मे आँख, स्वर-यन्त्र, त्वक् आदि इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप मन में भी विस्फार वृत्ति का उदय होता है। यह सृष्टिक्रम को अग्रसर करने के लिए पारस्परिक आकर्षण के साधन के रूप मे प्रकृति का स्वयंदत्त प्रसाद है। इसमे प्रयत्न नही करना पड़ता। यह अनचाहे भी आ जाता है। प्रकृति ने रूप-रस-वर्ण-गन्ध आदि के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का साधन स्वयं जुटा दिया है। मौग्ध्य भाव के वर्णन के प्रसग मे कवियो ने दिल खोलकर इस अनायास-लभ्य सम्पद् का वर्णन किया है। पर इस सहज धर्म का उद्देश्य सब समय पूरा नही होता। सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक नियमो के विधि-निषेधों का अम्बार लग जाता है। भाषा इन विधि-निषेधों को दीर्घस्थायी और बाद में निरुद्देश्य बनाकर भी जिलाये रहती है। यहीं द्वन्द्व शुरू होता है। मानव द्वारा इच्छित समाज-व्यवस्था और प्रकृति द्वारा प्रदत्त सहज धर्म का सघर्ष शुरू होता है। उस समय अभिव्यक्ति भी इच्छित प्रयत्नों का माध्यम खोजती है। आत्माभिव्यक्ति का यह इच्छित प्रयत्न ही कलाओ के रूप मे प्रकट होता है। इच्छित होने के कारण ही वह अभ्यास और नैपुण्य की अपेक्षा रखती है। कविता मे, चित्र, मे मूर्ति मे वह बहुविचित्र आकार ग्रहण करता है। परन्तु इतना ही सब-कुछ नही है। और भी बाते हैं। उनकी जानकारी भी आवश्यक है।

आदिमानव अपने इर्दगिर्द के वातावरण को जीवन्त रूप में देखता था। उसके लिए पेड़, पशु, पक्षी, नदी, पर्वत सब-कुछ जीवित व्यक्तियों-से दिखायी देते थे। वह अपने ही समान उनको दुखी या सुखी समझता था। यह व्यापक धारणा सभी आदिम जातियों मे अब भी प्राप्त है। पदार्थ विवेक के साथ जब जड़-चेतन विवेक कुछ प्रबल हुआ, तो भी उसने उनमे एक प्रकार की आत्मा की कल्पना कर ली थी। ये प्रच्छन्न आत्माएँ मनुष्य से अधिक शक्तिशाली थी, क्योंकि ये प्रच्छन्न रहकर बड़े-बड़े काम कर सकती थी। वे आँधी के रूप में पेड़ों को उखाड़ सकती थी, बाढ़ के रूप में गाँव-के-गाँव उजाड़ सकती थी—महामारी के रूप में जनपदों का विध्वंस कर सकती थी—वे अतिमानव बनती गयीं। उनकी शक्ति पद-पदार्थों मे बँधी हुई बाह्यजगत् की व्यवस्था के ढाँचे में नहीं अँट पाती थी। फिर तो मनुष्य की भाषा मे मिथक तत्त्व का आविर्भाव हुआ। उसने कार्य-कारण की अतिप्राकृत व्याख्या ने रूप में पौराणिक गाथाओं की रचना की। भाषा मे इस मिथक योजना ने बाह्यजगत् की व्यवस्था मे भिन्न एक कल्पलोक का निर्माण किया। इससे इस अतिप्राकृत तत्त्व को कभी अत्यधिक

मान दिया गया था। आज सभ्यता की अग्रगति के साथ-साथ मनुष्य ने पद-पदार्थ विवेक के क्षेत्र मे बहुत उन्नति की है, परन्तु साथ-ही-साथ वह बन्धनों मे भी बँधता गया है। बाह्यजगत् की तर्कसंगत जानकारी ने उसे अतिप्राकृत तत्त्व को छोड़ने को मजबूर किया है, तथापि उसका चित्त उस अतिप्राकृत तत्त्व को भूल नही पाया है। रूपकों और मानवीकरण के प्रयासों द्वारा वह उसी आदिम मनोभाव को प्रकट करता रहता है। वह अनुभव करता है कि उसके बिना यह प्रयोजनवती गद्यात्मक भाषा—भाषा, जो बाह्यजगत् की तर्कसंगत व्यवस्था से बुरी तरह बँध गयी है—वह सब-कुछ व्यक्त नही कर पाती जिसे वह कहना चाहता है। वह घूम-फिरकर मिथक तत्त्व का आश्रय लेता है। छन्द से, आवेगोच्छन्न भंगिमा से, रंग सामंजस्य से, छाया और आलोक की वक्रिमता से, राग से, वह उस अनुभूति को व्यक्त करना चाहता है जो भाषा की उस व्यवस्था मे अँट नही पायी है जो तर्कसंगत बाह्यजगत् से बुरी तरह बँधी हुई है।

इस अभिव्यक्ति का रहस्य ही मनुष्य की मनुष्यता है। वह जो कुछ अनुभव करता है, उसे समाज-सम्पद् बनाने के लिए व्याकुल है। अनादिकाल से चली आती हुई सहजात अभिव्यक्ति के अतिरिक्त यह अभिव्यक्ति मनुष्य की निजी विशेषता है। कोई नही जानता कि यह दुर्वार शक्ति उसके भीतर क्यों विकसित हुई। अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को विश्वजनीन बनाने की वह व्याकुलता उसमे क्यों आ गयी! परन्तु इतना निश्चित है कि यह उसका अन्तर्निगूढ धर्म है। जो शक्ति उसमें थी, उसी का प्रकाशन हुआ है। वृहत्तर अर्थों में इसे भी 'सहजात' वह सकते हैं, पर मनुष्य का यह 'सहजात' धर्म उसकी अपनी विशेषता है। और जीवों में यह नहीं पायी जाती। जो व्यक्तिगत है, उसे विश्वजनीन बनाने के प्रयास मनुष्य के आविर्भाव के साथ-साथ विकसित होते गये है। जो था, वही आज भी सम्भव हुआ है। मानना पड़ेगा कि मनुष्य मे जो जनि-तत्त्व है, जिस बात ने मनुष्य के 'जेनो-टाइप' को विद्यमान रूप दिया है, उसी मे यह अन्तर्निगूढ धर्म था, जिसने व्यक्तिगत अनुभूतियों के सामाजिकीकरण की प्रवृत्ति उसमे पैदा की है। गद्यात्मक भाषा का विकास भी उसी सहजात धर्म का रूप है। पर आगे चलकर मनुष्य अपने इसी सहज प्रयत्न का वशवर्ती हो गया। वह सीमा में बँधता गया है। उसे असन्तोष है। यह असन्तोष—'नाल्पे सुखमस्ति'—ही उसे उन अभिव्यक्तियों के लिए उत्साहित करता है जो सीमा के परे है, जो भाषा की चहारदीवारी में बन्द रहने से छटपटा उठती हैं। सामाजिकीकरण द्वारा उसे उस असन्तोष से राहत मिलती है। इस बात का निषेधात्मक नाम 'विरेचन' है, वैध नाम 'आनन्द' है। गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है; काव्य, चित्र, अभिनय और मूर्ति, प्रयोजनातीत 'आनन्द' की। समस्या-समाधान गद्य का काम है, जीवन की चरितार्थता काव्य का अभिप्रेत है। काव्य में, शिल्प मे, नृत्य मे, गीत मे, धर्म में, भक्ति मे मनुष्य को उस अपार भूमा का रस मिलता है जो उसे प्रयोजन की सीमा से ऊपर उठाता है। तभी मानो वह उपनिषद् के ऋषि के शब्दों मे वह

उठता है—भूमैव सुख, नाल्पे सुखमस्ति।

यह तो निश्चित है कि स्थूल जगत् को छोड़कर मनुष्य जी नही सकता और न अपने देशकाल की सीमाओं से अस्पृष्ट रहकर कोई शिल्प-सृष्टि ही कर सकता है। काव्य भी स्थूल जगत् से विच्छिन्न होकर नही रह सकता। काव्य ही क्यों, कोई भी शिल्प स्थूल जगत् से अर्थ आहरण किये बिना रह नही सकता। पुराने पण्डितों ने जब कहा था कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य बनते है तो उनका यही अभिप्राय था। अर्थ वस्तुतः शब्दों द्वारा सूचित बाह्य जागतिक सत्ता के साथ निरन्तर सम्बन्ध जोड़ते रहते है। एक व्यक्ति के चित्त में स्थित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। भावावेग द्वारा कम्पित और आन्दोलित शब्दार्थ अपने सीमित अर्थों से अधिक को प्रकाशित करता है। शब्द के अभिधेय अर्थ से कही अधिक को प्रकाशित करनेवाली शक्ति को प्राचीनों ने कई नामों से स्पष्ट करने की कोशिश की है। सबसे अधिक प्रचलित और मान्य शब्द 'व्यंजना' है। अनुरणन के साथ उसकी तुलना करके उसी भावावेगजन्य कम्पन की ओर इशारा किया है। छन्द उस आवेग का वाहन है। छन्दोहीन भाषा में कल्पना और सम्मूर्त्तन तो हो जाता है, पर आवेग का कम्पन नही होता। प्राचीन कथाओं की गद्य समझी जानेवाली भाषा मे भी एक प्रकार का छन्द होता है—एक प्रकार की वक्र कम्पनशील नृत्य-भंगिमा। वह भाषा ही छन्दोमयी है। सीधी-सी बात है कि एक था राजा। उसे कहने के लिए कवि कहेगा—'घनदर्प कन्दर्प सौन्दर्यसोदर्य-हृदयानवद्यरूपाभूपोबभूव'। इसमें छन्द है, झंकार है, लोच है, वक्रता है जो अर्थ में आवेग भरने का प्रयत्न करते है। उपन्यास मे ये आवेग कम होते हैं, क्योंकि उसकी भाषा में गद्यात्मकता होती है। परन्तु जहाँ कही भी उसमें आवेग का कम्पन आता है, वही प्रच्छन्न रूप में छन्द भी विद्यमान रहता है। अनुप्रास भावावेग में नृत्य का छन्द जोड़ता है। जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहरायी जाती है तो श्रोता आवेग की वक्रिमता से सहज ही प्रभावित होता है। यदि काव्य में से अर्थ-प्रकाशक शब्द हटा दिये जायें तो जो ध्वनिप्रवाह बच जायेगा, वह संगीत बन जायेगा। वस्तुतः बाह्यजगत् से सम्बन्ध अर्थ से रहित ध्वनि-प्रवाह संगीत ही होता है। संगीत में बाह्य जगत् की उस सत्ता से जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग होता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गणित में उस आन्तर सत्ता से जो आवेग-कम्पित स्वर मे प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग होता है। चेतना के एक प्रान्त पर संगीत है, दूसरे पर गणित। संगीत मे जिसे स्वर कहते है वह एक प्रकार का वेग ही है। बाह्य अर्थों से मुक्त होने पर वह नियत आवेग के रूप में प्रकट होता है, परन्तु काव्य जिस प्रकार शब्द-प्रकाश्य अर्थ के द्वारा बाह्य विषय-सत्ता में बँधा रहता है उस प्रकार संगीत नहीं बँधा रहता। वह राग, स्वर आदि के माध्यम से अपने-आप ही स्पन्दित होता रहता है। तान या लय उसमें उसी प्रकार अनुभूति-सत्ता भरता है जिस प्रकार छन्द काव्य मे। काव्य और संगीत द्वारा स्पन्दित मानवचित्त के आवेगों में थोड़ा अन्तर होता है। काव्य में आवेग द्वारा जो स्पन्दन

उत्पन्न होता है वह बाह्य सत्ता से सम्बन्ध होने के कारण 'नियत' होता है। हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति से चालित होते रहते है। काव्य, पाठक के सुख-दुख मे आवेग उत्पन्न करते है। मनुष्य दूसरों के सुख-दुःख से प्रभावित होता है। उनके साथ उसकी 'सम-वेदना' होती है और अन्ततोगत्वा उस सुख-दुःख को आत्मसात करके अनुभव करने लगता है। इस प्रकार काव्य मनुष्य-मनुष्य के बीच विद्यमान 'एकत्व' का प्रतिष्ठापक होता है। काव्य प्रमाणित कर देता है कि व्यक्ति-मानव के ऊपरी विभेदो के नीचे एक अभेद है, 'एकता' है।

कहते है, विभिन्न आवेगो से भिन्न-भिन्न जाति के आवेग और कम्पन उत्पन्न होते है। संगीत से भी उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न होते हैं जैसे काव्य से। फिर भी संगीत से उत्पन्न कम्पनो का योग बाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में वैसी गाढ 'नियत' अनुभूति नही हो पाती जितनी काव्य-जनित आवेगो के कम्पनो से होती है। टोडी के आलाप से जो एक प्रकार की उदास और विरह-व्याकुल वेदना उमड आती है वह विश्वजनीन तो होती है, पर अविच्छिन्न या एव्स्ट्रैक्ट होने के कारण अनुभूति में वैसी सान्द्रता नही ला पाती जो काव्य के करुण रस से उत्पन्न होती है; क्योंकि संगीत की अनुभूति अहैतुक होती है। मनुष्य का चित्त सर्वत्र कार्य-कारण की शृखला खोजता रहता है; अनुभूति और वेदना के क्षेत्र मे भी। काव्यजन्य अनुभूति की सान्द्रता इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य आवेग-चालित-अवस्था मे भी कार्य-कारण शृंखला के प्रति सचेत बना ही रहता है। जहाँ वह उसे नहीं पाता वहाँ देर तक जमना नही चाहता। जिस काव्य मे केवल शब्दालकार ही झकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम हो जाता है, वह बहुत-कुछ उसी प्रकार की असान्द्र अनुभूति पैदा करता है जैसी संगीत करता है। पर उसमें संगीत की अबाध गति भी नहीं होती और अर्थजगत् से सम्पूर्ण विच्छेद भी नही होता, क्योकि उसके शब्द बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह मे बाधा उत्पन्न करते है। अर्थभार-हीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ अनुभूति ही पैदा करते है, और न संगीत का प्रवाह ही। वे केवल दोनो के घटिया प्रभाव उत्पन्न करके विरत हो जाते हैं। परन्तु जहाँ शब्दालंकार मे अर्थ का भार बना रहता है वहाँ वे काव्यगत प्रभाव में संगीत की सहज गति भर देते है। परन्तु अर्थालंकार शब्द के प्राणप्रद और विशेषाधानहेतुक, दोनों ही धर्मो में गाढ अनुभूति का रस ले आते है। उनकी सहायता से वक्तव्य के व्यक्तित्व को, गुणो को और क्रियाओ को गाढ़ भाव से अनुभव करते हैं। पदार्थ के विशेषाधानहेतुक धर्म - चाहे वे सिद्ध हों या साध्य—सादृश्यमूलक अलंकारो से इस प्रकार सम्मूर्त्तित होते है कि पाठक के चित्त मे अनुभूति सहज हो जाती है। वस्तुत जब अलंकार आवेगसहचर होकर आते है तो काव्य में अत्यधिक ऊर्जस्वल तेज भर देते हैं, पर जब आवेगहीन होकर आते है तो चामत्कारिक उक्ति-भर रह जाते है। वे उस अवस्था मे बिजली की कौंध के समान एक क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके अन्तर्धान हो जाते हैं।

शब्दों और रंगों की पारस्परिक समशीलता को इन दिनों विज्ञान ने प्रत्यक्ष करा दिया है। विभिन्न प्रकार के आवेग-कम्पन विभिन्न ढगो की तरगे उत्पन्न करते है। वस्तुतः कवि जिस प्रकार का आवेग शब्दो के माध्यम से श्रोता के चित्त मे उत्पन्न करता है, उसी प्रकार का आवेग चित्रकार रगो के माध्यम से पैदा कर लेता है। अन्तर सिर्फ यह है कि कवि कान के माध्यम से ऐसा करता है और चित्रकार आँख के माध्यम से। एक श्रोत्रग्राह्य बनाकर ऐसा करता है, दूसरा चक्षुग्राह्य बनाकर। परन्तु इस अन्तर का एक और पहलू भी है। चित्र सादृश्य द्वारा रसबोध कराने के कारण बाह्य प्रकृति के अधिक निकट होता है, परन्तु शब्द जिस प्रकार बाह्यजगत् का अर्थ श्रोता के चित्त मे प्रक्षिप्त करता है उस प्रकार के अर्थ रेखा और रग नही करते। रेखा और रंग चित्रकार के अन्तर्जगत् के अर्थो का प्रक्षेपण करते है। बाह्यजगत् तो सादृश्य द्वारा गृहीत होता है। रेखा और रग अन्तर्जगत् की भावनाओ का प्रक्षेपण करते है। जिस चित्र की रेखा और रंग केवल बाह्यजगत् के सादृश्यमात्र की व्यजना करते है वे घटिया किस्म के चित्र होते है। वे अभिधेयमात्र का इगित करके विरत हो जाते है। रंगो और रेखाओ का व्यवस्थापन चित्रकार के अन्तर्जगत् की कहानी होती है। जैसे-जैसे सभ्यता आगे बढती गयी है वैसे-वैसे यथार्थानुकरण की प्रवृत्ति घटती गयी है। कविता के शब्दो की भाँति चित्रो की आकृति भी तान्त्रिक प्रक्रिया के रूप मे प्रकट हुई थी। परन्तु क्रमशः रगो और रेखाओं मे एक प्रकार का छन्द प्रधान होता गया है, जो चित्रकार के अन्तर्जगत् के भावतरगो से ताल मिलाकर चलता रहा है।

मानवात्मा के भावावेग को इस प्रकार सर्वसाधारण तक पहुँचा देने की जो व्याकुलता है, उसे ही 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' कहा जाता है। यह व्याकुलता ही सिसृक्षा का रहस्य है। अपने-आपको 'महाएक' के साथ एकमेक करने की व्याकुलता ही निरन्तर कला-प्रयत्नो को उकसाती रहती है।

[2]

ऊपर हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि साधारण गद्यात्मक भाषा मे हमें दो प्रकार के अनुशासनों को मानकर चलना पडता है—(1) बाह्यजगत् के तथ्यों का, और (2) भाषा के व्याकरण और वाक्य-विन्यास-सम्बन्धी नियमो का। काव्य में एक तीसरा अनुशासन भी है। वह है छन्द का, लय का, सगीत का। जो कोई यह दावा करता है कि वह इस तीसरे अनुशासन की उपेक्षा करके भी काव्य लिख सकता है, वह गलत दावा करता है। या तो उसका ऐसा प्रयत्न काव्य कहलाने का अधिकारी नही है या यदि है तो वह छन्द का अनुशासन मानकर चलता है। जो लोग आयेदिन उच्च कण्ठ से यह घोषणा करते रहते हैं कि आज की कविता छन्द के बन्धन से मुक्त हो गयी है, वे वस्तुतः यह कहना चाहते है कि उनकी कविता पुराने छन्दःशास्त्रियों द्वारा निर्धारित रूढियों से मुक्त हो गयी है। पुराने छन्दःशास्त्रियों ने जो नियम बनाये है वे शाश्वत नहीं हैं। न तो वे सभी

भाषाओं पर लागू होते है, न सभी समय में। भाषा मनुष्य के साथ-ही-साथ विकसित होती जा रही है। उसमें नये उपादान आते रहते हैं और बहुत-से पुराने उपादान झडते रहते है। कालान्तर में वह नयी भाषा के रूप में प्रकट होती है, उसके बोलने और पढने के ढंग में परिवर्त्तन होते रहते है और उसकी स्वर-मैत्री और काकु-विधि मे भी अन्तर आता रहता है। नवोदित भाषा में छन्द खोजने के नये प्रयास करने पड़ते है। प्रतिभाशाली कवि ही ऐसा कर सकते हैं। नये छन्दो के समझने में साधारण मनुष्य को—विशेषकर जब वह पुरानी पद्धति से परिचित हो—कठिनाई होती है, परन्तु धीरे-धीरे उसमें नये छन्द के परिशसन का अभ्यास होता है। वह घबराकर इसे 'विद्रोह' भी कहता है। परन्तु नवोदित भाषा की स्वर-मैत्री का सन्धान गुण है, निषेधात्मक धर्म नहीं। क्यों यह गुण है, क्यों यह मनुष्यमात्र को प्रभावित करने मे समर्थ होता है, यह संगत प्रश्न है।

एक प्रश्न और है। हमने यह भी देखा है कि मनुष्य की बुद्धि ने कलाओं के विशुद्ध रूप मे बहुत मिश्रण किया है। कविता (और साधारण गद्यात्मक भाषा भी) कानो का विषय है। वह कालवर्त्तिनी है और श्रव्य है। चित्रकला देशवर्तिनी और दृश्य है। एक गतिशील है, दूसरी स्थितिशील। परन्तु मनुष्य की बुद्धि ने भाषा को भी (और साथ-साथ कविता को भी) दृश्य और स्थितिशील बनाने का प्रयत्न किया है। लिखकर विविध अक्षर-प्रतीकों के द्वारा भाषा को नयनेन्द्रिय का विषय बनाया गया है। यह कठिन कार्य है। उच्चारित वर्णो को लिपिबद्ध करने का प्रयास बहुत सफल नहीं हुआ है। उच्चारित भाषा में प्रकट किये जानेवाले बलाघात और आवेग-कम्पन लिपिबद्ध भाषा से गायब हो जाते हैं। कविता में तो और भी विकट समस्या है, क्योकि कविता की भाषा का प्राण ही आवेग है। बहुत पुराने जमाने से नाना चिह्नो के द्वारा उस बलाघात और आवेग-कम्पन को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है। वैदिक मन्त्रो में उदात्त और अनुदात्त आदि के चिह्नों का समावेश इसी प्रयत्न का परिणाम है। आधुनिक भाषा में विराम के, आवेग के, प्रश्न के, स्पष्टीकरण के विभिन्न चिह्नो का व्यवहार करके वक्ता के वक्तव्य को ठीक-ठीक अंकित करने का प्रयत्न किया जाता है, पर प्रयत्न आंशिक रूप मे ही सफल हो पाया है। कविता में इस प्रकार के प्रयत्न अधिक असफल सिद्ध हुए है। पर कवि रुका नहीं, सहृदय पाठक भी अपने प्रयत्नों से विरत नही हुआ है।

यह प्रश्न संगत है कि क्यों इस प्रकार के प्रयत्न पूर्णतः सफल नहीं हुए। इसका प्रमुख कारण यह है कि व्यक्ति-मानव के चित्त में उठनेवाले आवेगों की अनन्त श्रेणियां हैं, समष्टि-मानव-चित्त के साधारणीकृत प्रतीक-चिह्न बहुत थोड़े है। उनकी संख्या बढती जा रही है, पर सबकुछ इनमें समा नही पाता। कभी-कभी धन, ऋण या गुणन के चिह्नों के द्वारा आवेग का दैर्घ्य सूचित करने का प्रयास भी किया जाता है। पर ये भी अन्ततोगत्वा साधारणीकृत चिह्न ही सिद्ध होते है। व्यष्टिचित्त का विशेषीकृत आवेग समष्टिचित्त के लिए ग्रहणीय बनाना

कठिन कार्य है। न जाने कब से मनुष्य व्यष्टिचित्त के विशेषीभूत अनुभवों के साधारणीकरण का प्रयत्न करता आ रहा है। इससे भाषा में सूक्ष्म भावव्यंजक शब्दों की वृद्धि होती जा रही है, परन्तु अन्तिम विश्लेषण से जाना जाता है कि समष्टिचित्त की स्वीकृति प्राप्त होने के बाद विशिष्ट भावों के भी जातिवाचक शब्द ही बन पाते हैं। 'ईर्ष्या', 'असूया' आदि शब्द अनेक प्रकार के विशिष्ट भावों के साधारणीकृत प्रतीकमात्र सिद्ध हुए है। कवि जब इन शब्दों के द्वारा अपने चित्त की कोई विशिष्ट अनुभूति बताने का प्रयास करता है तो पाठक एक सामान्य भाव ही ग्रहण कर पाता है, जो कवि-चित्त की विशिष्ट अनुभूति के थोड़ा दायें-बायें या ऊपर-नीचे तक पहुँच पाता है। बहुत कम पाठक उसके सही-सही मटीक भाव को पकड़ने में समर्थ होते है। जो लोग समझते है—अर्थात् कवि के हृदय के साथ जिनका हृदय एकाकार हो सकने में समर्थ होता है—उन्हे लोक में 'सहृदय कहा जाता है। कुछ 'सहृदय' ऐसे भी होते है जो कवि के प्रयुक्त शब्दो को 'ठीक-ठीक' समझाने का प्रयत्न करते है। सब समय 'सहृदय' होने का दावा करनेवालो के मत मिलते नही, अर्थात् जो बात अस्पष्ट थी वह अस्पष्ट ही रह जाती है! नये सहृदय इन पुराने सहृदयों की बातों की व्याख्या का प्रयत्न करने लगते है। यदि कवि सचमुच उत्तम श्रेणी का होता है तो यह परम्परा दीर्घकाल तक चलती रहती है।

ये प्रयत्न क्या निरर्थक पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र है, या इनकी गहराई मे कोई ऐसी व्याकुलता है जिसे रोका नही जा सकता—'दुर्निवार' है? कवि अपनी विशिष्ट अनुभूति के साधारणीकरण का प्रयत्न क्यों करता है, सहृदय पाठक उसकी विशिष्ट अनुभूतियों को और भी अधिक 'हृदयगम' कराने का प्रयास क्यो करता है और उसकी असफलता को जानते हुए भी परवर्त्ती सहृदय पुनःप्रयास (या और भी ठीक से कहा जाय तो 'पुनः पुनः प्रयास') क्यो करते हैं? क्या यह उचित न होता कि कवि अपने विशिष्ट अनुभवो को अपने तक ही सीमित रखता और यदि वह गलती से प्रकट करने का प्रयास भी करता तो उसकी बातों पर ध्यान नही दिया जाता और दुनिया को अपने रास्ते चलने को छोड़ दिया जाता? कठिनाई यह है कि दुनिया छूटना नही चाहती और कवि और सहृदय उसे छोड़ना नही चाहते। कवि भी व्याकुल और लाचार है, सहृदय भी व्याकुल और लाचार है और दुनिया भी व्याकुल और लाचार है। इतनी व्याकुलता का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में ही सिसृक्षा के उस रचनात्मक स्वरूप का रहस्य उद्घाटित होगा जिसे 'छन्द' कहा जा सकता है।

कही-न-कही मानवचित्त की गहराई में कुछ ऐसा है जो अपने विशेष अनुभवों को सर्व-सुलभ बनाने और दूसरे लोगों के अनुभव को ग्रहण करने के लिए व्याकुल है। बहुत प्राचीन काल से मनुष्य इस बात को नाना रूप मे कहता आ रहा है। एक प्रचलित मत यह है कि मनुष्य अपने व्यष्टि-रूप मे अलग जरूर है, पर वस्तुत वह समष्टि-मानव का एक अग है, इस समष्टि-रूप (जिसे कभी-कभी

'कॉमन ह्यूमैनिटी' भी कहा जाता है) की सही-सही जानकारी प्राप्त करने के लिए व्याकुल है। भारतवर्ष के प्राचीन आचार्य और भी आगे बढ़कर कह गये हैं कि वस्तुतः 'एक' से अनेक उत्पन्न हुए हैं और अनेकता या नानात्व के भीतर अब भी पुनः 'एक' होने की व्याकुलता है। नानात्व की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति गलत ज्ञान या अविद्या का परिणाम है और 'एक' हो जाने की प्रवृत्ति सही ज्ञान या विद्या से पैदा होती है। जब सही ज्ञान का आनन्द अनुभव होता है तो मनुष्य उसे शब्दों के, रंगों के और रूपों के माध्यम से प्रकट करता है। जितना ही वह गहरा गोता लगाता है, उतना ही बहुमूल्य रत्न उसके हाथ लगता है! गलत जानकारी की अवस्था मे वह कृपण की भाँति इन रत्नों को छिपाके रखता है। सही जानकारी होने पर वह दोनों हाथों लुटाने में आनन्द पाता है। कहा गया है कि अन्तिम बहुमूल्य रत्न वह जब प्राप्त करता है तो वस्तुतः चराचर जगत् में अपने को ही पा जाता है और उस आनन्द को लुटाने मे वह अपने-आपको ही लुटा देता है। अपने-आपको लुटाने का आनन्द ही चरम आनन्द है। जब तक भेदबुद्धि बनी रहती है तब तक अपने-आपका अधिकांश हिस्सा रोक लिया जाता है, जब समाप्त हो जाती है तो कुछ भी छिपाने की आवश्यकता नही रह जाती। अपने को निःशेष भाव से दे देने के रास्ते मे अनेक बाधाएँ हैं। उन बाधाओं पर विजयी होने की सफलता के अनुपात में ही मनुष्य की चरितार्थता का हिसाब किया जा सकता है। बड़ा वह है जो दे सकता है, सबसे बड़ा वह है जो अपने-आपको निःशेष भाव से लुटा देता है। अपभ्रंश के कवि ने सामान्य लोकनीति की बात कहते समय कहा था :

> साहु विलोउ तडप्फडइ बड्डु तणहो तणेण।
> बडप्पणु पुणु पाइयइ हत्थेंहि मोक्कलिदेण।

[सब लोग बड़प्पन पाने के लिए तड़फड़ाते है, पर बड़प्पन हाथ के खुले रखने से, अर्थात् लुटाते रहने से, प्राप्त होता है!]

यही बात सौन्दर्यान्वेषियों के लिए ज़रा बदलकर कही जा सकती है। लोक में बड़प्पन पाने का मार्ग है अपनी सम्पत्ति को उचित भाव से लुटाना, लेकिन सुकुमार भाव-जगत् में अपने-आपको लुटाने से ही वह प्राप्त होता है। लेकिन यह भी 'साधारण' सत्य है। इसके भी अनेक भेद हैं। काव्य और अन्य शिल्पों के माध्यम से अपने-आपको देना एक विशेष प्रकार का देना है। समाज-सेवक भी अपने को देता है, भक्त भी देता है, तत्त्वज्ञानी भी देता है। इसीलिए आत्मदान एक सामान्य धर्म है, जातिवाचक संज्ञा है। हमें यहाँ कला के माध्यम से किये गये आत्मदान को समझना है।

साधारण मनुष्य की भाँति कवि और कलाकार भी जानता है और अपनी जानी हुई बात को दूसरों तक पहुँचाता है। परन्तु जानकारी के कई स्तर हैं। कुछ जानकारियाँ केवल जड़-जगत् के विषय में सूचना-मात्र होती हैं। उनके द्वारा भी मनुष्य को परिवर्तित किया जाता है। हर नयी जानकारी से परिप्रेक्ष्य में कुछ-न-

कुछ अन्तर आता है और हर परिवर्तित परिप्रेक्ष्य मे मनुष्य के कुछ-न-कुछ भिन्न रूप में दिखने की सम्भावना होती है। कुछ जानकारियाँ प्राणो के व्याकुल आवेग के बारे में होती हैं, वे सुननेवाले के प्राण-स्तर को परिवर्तित करने मे समर्थ होती हैं। बहुत-से कवियों में प्राणतत्त्व को हिल्लोलित करने की शक्ति होती है। वे प्राणतत्त्व की पुकार को प्राणतत्त्व तक पहुँचाते है। उनसे श्रोता की नसों मे झनझनाहट पैदा होती है। फिर, और भी सूक्ष्म जानकारी वह होती है जो मानसिक स्तर पर अनुभूत होती है और श्रोता को मानस-स्तर पर ही आन्दोलित करती है। और भी गहराई में बौद्धिक स्तर की अनुभूति और उसी को प्रभावित करने-वाली जानकारियाँ है। परन्तु उससे भी सूक्ष्म वे जानकारियाँ है जो आध्यात्मिक कही जाती है। वे श्रोता को भी उसी स्तर पर अभिभूत करती है।

इस प्रकार समूची जानकारी मोटे तौर पर पाँच स्तरो में विभाजित की जा सकती है। ये हैं—जडतत्त्व, प्राणतत्त्व, मनस्तत्त्व, बुद्धितत्त्व और अध्यात्मतत्त्व के स्तर। सभी स्तरो पर यह जानकारी दो प्रकार की होगी। घटिया किस्म की या अविद्याजन्य और बढिया किस्म की अर्थात् विद्याजन्य। घटिया किस्म की जानकारी या भ्रामक जानकारी की विशेषता यह होती है कि वह ज्ञाता के चित्त में अपने को समस्त जगत्-प्रवाह से अलग समझने की बुद्धि जाग्रत करती है। इस अलगाव की प्रवृत्ति को ही शास्त्रीय ग्रन्थों मे 'अहंकार' कहा गया है। सही जान-कारी या सच्ची विद्या अहकार या अलगावबुद्धि को समाप्त करती है, और ज्ञाता को जगत्-प्रवाह के साथ एकमेक होने की वृत्ति जगाती है। जितनी ही अधिक यह वृत्ति जागती है, उतनी ही अधिक जानकारी चरितार्थ होती है और उसी मात्रा में उसका सम्प्रेषण उत्तम कोटि का होता है। परन्तु सभी जानकारियों का सम्प्रेषण कला की कोटि में नही आता, क्योंकि सभी जानकारियो का देना 'आत्म-दान' नही होता। अधिकांश ज्ञान सूचनामात्र बनकर सम्प्रेषित होते है। 'रचना'-रूप में बदले बिना वे कला की कोटि में नहीं आते। सूचना, रचना बनकर जब सम्प्रेषित होती हैं तो ग्रहीता को आन्दोलित और चालित करती है। सूचना केवल ज्ञान की गतिहीन छाप-मात्र है। छन्द के सहारे वह गतिशील होती है—'स्वच्छन्द'-चारिणी बनती है। सगीत में, काव्य में, चित्र मे, मूर्त्ति मे छन्द का योग होने से गति आती है, प्राण आता है, प्रेषण-वेग आता है। 'छन्द' शब्द का प्रयोग यहाँ बहुत व्यापक अर्थों मे किया जा रहा है। उसमे राग, लय, वेग, आवेग सभी का समावेश हुआ है। यह 'छन्द' विश्वव्यापी 'इच्छा'-शक्ति के साथ ताल मिलाकर चलनेवाला, गति-मात्र या वेग-मात्र (विशुद्ध गति) है। छन्द अर्थात् मनोयोग इच्छा। शास्त्रीय ग्रन्थों में कुछ थोड़े-से छन्दों के नाम गिनाये जाते है, वे केवल इंगित-मात्र है। सब-कुछ वे नही हैं, अधिकाश भी नहीं।

ऊपर बहुत-सी बातें एक ही साँस मे कह दी गयी हैं और अस्पष्ट-सी लगती हैं। उनको अलग विस्तार से समझाने का प्रयत्न नही किया गया है। यहाँ स्थान-संकोच है, इसलिए थोड़े में इस प्रकार स्मरण किया जा सकता है। चेतन प्राणी

"पश्चिम के कितने ही मनीषियों ने व्यक्ति-चित्त की इच्छा को ही सौन्दर्य का मुख्य हेतु माना है। कहते हैं कि स्पिनोज़ा-जैसे मनीषी ने भी कहा था कि हम किसी वस्तु को अच्छी इसीलिए नहीं कहते कि यह अपने-आपमें सचमुच अच्छी है, बल्कि इसलिए कहते हैं कि हम उसे चाहते हैं। इसी प्रकार किसी वस्तु को हम इसलिए सुन्दर नहीं कहते कि वह अपने-आपमें सुन्दर है बल्कि इसलिए कि हम उसे चाहते हैं, वह हमारी इच्छा-शक्ति की गति के अनुकूल हुआ करती है। इस युग के अन्यतम मनीषी नीत्शे कह गये हैं कि सुन्दर और असुन्दर की धारणा प्राणतत्त्व की माँग के अनुसार होती है, बॉयोलाजिकल है। हम चीनी इसलिए नहीं खाते कि वह मीठी होती है बल्कि वह इसलिए मीठी लगती है कि वह हमारे प्राणतत्त्व की माँग पूरी करती है, उसमें शक्ति देने का गुण है जो हमारी जिजीविषा के लिए आवश्यक है। असुन्दर वह है जो हमारी जिजीविषा के प्रतिकूल होती है। हमें प्रसन्न और मोहित वह वस्तु करती है जो हमारी प्राणशक्ति की पोषक है, दुर्दम जिजीविषा के अनुकूल है। इस प्रकार के विचारों से समस्या उलझती गयी है, यद्यपि इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इससे व्यक्तिगत इच्छा की महिमा व्यक्त होती है। इस प्रकार की वैयक्तिक इच्छा का कोई अन्त नहीं है। इससे एक प्रकार की अनवस्था की बात उठती है। 'सुन्दर' का कोई निश्चित रूप स्थिर नहीं हो पाता। हर आदमी को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु को सुन्दर और किसी को असुन्दर कहने की छूट मिल जाती है। इस दोष से बचने के लिए दीर्घकालीन आदत, एक ही परिस्थिति में बसनेवाली मानव-मण्डली के सामान्य अनुभव आदि बातों की कल्पना करनी पड़ती है। कालिदास के विचार इससे मिलते-जुलते होने पर भी इससे भिन्न हैं। वे व्यक्ति-इच्छा को समष्टि-व्यापिनी इच्छा का विशिष्ट रूप मानते हैं। समष्टि-इच्छा विश्वव्यापिनी मंगलेच्छा के अनुकूल होने पर ही व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। व्यक्तिगत इच्छा उसके प्रतिकूल जाकर कुत्सित हो जाती है। समष्टि-इच्छा चेतन धर्म है। जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है, वही सुन्दर है। समष्टि-चेतना सर्जनात्मक है—वह सिसृक्षा है। व्यक्तिगत इच्छा उससे अनुकूल रहकर ही चरितार्थ होती है। जिस इच्छा में अज्ञान है, मोह है, परोत्सादनवृत्ति है वह पाप इच्छा है, वह चित्त में तमोगुण को उद्रिक्त करती है, जड़त्व से अभिभूत होती है, सौन्दर्य उसमें नहीं होता। रूप कभी पापवृत्ति को उकसावा नहीं देता, जो देता है वह रूप नहीं है : 'यदुच्यते पार्वति पाप-वृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।' [हे पार्वति ! यह जो कहा जाता है कि रूप (सौन्दर्य) पापवृत्ति के लिए नहीं होता, यह वचन आज सही सिद्ध हुआ है।] जो रूप पापवृत्ति को उकसाता है वह जड़त्व की उपज है। वह तामसिक है, उसमें सत्वोद्रेक की शक्ति नहीं होती, इसीलिए वह 'सुन्दर' नहीं कहा जा सकता, व्यक्तिगत इच्छा की पूर्त्ति का साधन बनने पर भी।

"कभी-कभी प्रकृति के सौन्दर्य-निर्माण और मनुष्य के सौन्दर्य-निर्माण में जो विरोध दिखाने का प्रयत्न किया जाता है, वह दोनों को परस्पर-निरपेक्ष मानने

का परिणाम है। प्रख्यात मनीषी एरिक न्यूटन ने इस विरोध को इस प्रकार प्रकट किया है—कलाकार की वृत्ति यह होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) मेरी इच्छा को सन्तुष्ट कर सकता है' और प्रकृति की वृत्ति यह होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) ठीक-ठीक उपयोगी हो सकता है' (दि मीनिंग ऑफ़ ब्यूटी, पृ. 86)। कालिदास से पूछा जाता तो वे कदाचित् कलाकार की वृत्ति को इस प्रकार बताते कि 'एकमात्र यही आकार विश्वात्मा की मूल सर्जनेच्छा के अनुकूल है, दूसरा नहीं।"

सही बात क्या है, यह शपथपूर्वक नहीं कहा जा सकता, पर इतना असन्दिग्ध जान पड़ता है कि मनुष्य में अपनी विशिष्ट अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाने की लालसा दुर्निवार है। व्यक्ति-मानव एक-दूसरे से अलग दिखायी देता है, पर यह दुर्निवार इच्छा उसे निरन्तर दूसरे व्यक्ति-मानवों से एकमेक हो पाने के लिए व्याकुल करती रहती है। वह अपनी विशिष्ट अनुभूतियों का साधारणीकरण करने को व्याकुल है। जो अदृश्य शक्ति व्यष्टि-मानव की पृथक्-पृथक् अनुभूतियों को साधारणीकरण या सामाजिकीकरण की ओर उन्मुख करती है, उसी का नाम प्राचीनों ने 'छन्द' दिया था। एक समष्टिगत इच्छाशक्ति है जो समस्त भेदों को ढँककर आच्छादित किये है। छादन करने के कारण ही उसे 'छन्द' कहते हैं—'छादनात् छन्दांसि।' समष्टिगत छन्द सृष्टि के भिन्न-भिन्न दिखनेवाले पदार्थों को छादन करके एक व्यापक सिसृक्षा के सूत्र में पिरोता है। भाषा में अक्षर अलग-अलग बिखरे हैं—असंश्लिष्ट हैं। उनको आच्छादन करके जो उन्हें धारा-रूप में 'एक' की गति देता है वह भी छन्द है। जब व्यष्टि का छन्द समष्टिगत छन्द से ताल मिलाकर चलता है तो 'सुन्दर' की सृष्टि होती है, जब उससे विरुद्ध दिशा में जाता है तो 'कुत्सित' का जन्म होता है। बड़भागी मनुष्य को ही उस मूल छन्दोधारा की पहचान होती है। जिस समय वह पहचान जाता है उस समय ज़र्रे-ज़र्रे में उसे देख सकता है, हर चीज को वह छन्दोधारा के अनुकूल सजाकर सुन्दर बना सकता है। शब्द में, रेखा में, रंग में, वर्ण में, गन्ध में उस छन्द के परिचय के बल पर ही वह मैत्री और सामजस्य का भाव ढूँढ लेता है। लेकिन छन्द की पहचान केवल आत्मदान की सामर्थ्य देती है, वह स्वयं आत्मदान नहीं है। अगले लेख में उस पर विचार किया जायेगा।

वाक् तत्व और विनायक धर्म

कालिदास ने वाक् और अर्थ को पार्वती और परमेश्वर (शिव) के समान संयुक्त बताया है, परन्तु वाक् तत्त्व और अर्थ तत्व का अर्थ अधिक व्यापक है। कालिदास सफल कलाकृति के लिए प्रयत्न और संस्कार को आवश्यक समझते हैं। यही विनायक तत्त्व है।

यह सारा संसार नाम और रूप के रूप में प्रतिभासित हो रहा है। नाम शब्द है और रूप अर्थ है। लेकिन यह साधारण बात है, विशेष अवस्था में रूप भी अर्थ देते हैं। चाहे शब्द हों या अर्थ, किसी-न-किसी अवस्था में वे अन्य अर्थ को ध्वनित अवश्य करते हैं। कई बार इंगित से अर्थ प्रकट हो जाता है, शब्द की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ रूप ही वस्तुतः अर्थ देने का हेतु है। संसार में जो कुछ भी अर्थ देने की क्षमता रखता है उसे सम्प्रेषणधर्मी कहा जा सकता है। जिस प्रकार भाषा में शब्द अर्थ-विशेष का सम्प्रेषण करते हैं, उसी प्रकार चित्र और मूर्ति में रूप भी अर्थ-विशेष का सम्प्रेषण करते हैं। इसीलिए कभी-कभी महान् कवि और तत्त्वद्रष्टा भी ऐसी बातें कहते हैं, जिनमें शब्दहीन भाषा या वाणी का संकेत मिलता है। वस्तुतः वाणी या भाषा शब्द का व्यवहार सब समय उच्चरित वर्णों वाली भाषा से अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिस किसी साधन से कोई अर्थ सूचित या ध्वनित होता है उसे ही वाणी, वाक्य, भाषा आदि कह दिया जाता है। शास्त्रकारों ने 'परापश्यन्ति' और 'मध्यमावाक्' शब्दों का प्रयोग किया है, जो जिह्वा, कण्ठ, तालू आदि की सहायता से उच्चरित होनेवाली व्यक्त वाणी 'वैखरी' से भिन्न है। इसलिए 'वाक्' शब्द का शास्त्रीय अर्थ बहुत व्यापक है। जिस प्रकार कवि शब्दों के माध्यम से अपनी बात प्रकट करता है उसी प्रकार चित्रकार, मूर्तिकार, अभिनेता आदि भी भिन्न-भिन्न साधनों के माध्यम से अर्थ ध्वनित करने का प्रयत्न करते हैं। व्यापक अर्थों में यह सभी भाषा या वाणी है। यहाँ भाषा और वाणी शब्द के प्रयोग में सम्प्रेषणधर्मिता ही मुख्य बात मानी जाती है।

मनुष्य जैसे-जैसे आदिम अवस्था से बढ़ता हुआ सभ्यावस्था की ओर अग्रसर होता गया है, वैसे-वैसे उसमें वर्ण-वैशिष्ट्यवाली भाषा निखरती गयी है। जिस प्रकार भाषा में यह वर्णवैशिष्ट्य निखरता है, उसी प्रकार रूप-दर्शन में भी एक प्रकार का वर्ण-वैशिष्ट्य निखरा है। 'वर्ण' शब्द भाषा में जहाँ निश्चित प्रकार की ध्वनि का वाचक है वहीं रूप-पक्ष में विशेष-विशेष प्रकार के रंगों का द्योतक है। मनुष्य ने धीरे-धीरे वर्णों की बारीकी का ज्ञान प्राप्त किया है और जिस प्रकार भाषा की ध्वनियों के संयोजन से शब्दों का निर्माण किया है, उसी प्रकार रंगों के संयोजन से नये-नये रूप का भी निर्माण किया है। इस प्रकार इस नाम-रूपात्मक जगत् में नाम श्रव्य वर्णों के संयोजन का परिणाम है और रूप दृश्य वर्णों के

संयोजन का परिणाम।

भाषा में जिस प्रकार मनुष्य वर्ण-योजना के लिए स्वतन्त्र है, उसी प्रकार रूप-निर्माण में भी वह वर्ण-योजना या रंगों को जोड़ने की क्रिया में स्वतन्त्र है। परन्तु जिस प्रकार स्वेच्छा से वर्णों के संयोजन मात्र से उनमें अर्थ देने की क्षमता नहीं आ जाती, उसी प्रकार रूपनिर्माण में 'यदृच्छा' से किये गये संयोजनों में भी अर्थ देने की क्षमता अपने-आप नहीं आ जाती, अर्थ सामाजिक स्वीकृति चाहता है। कम-से-कम अन्तर्वैयक्तिक स्वीकृति तो अवश्य चाहता है। सच पूछा जाये तो नाम की तुलना में रूप के निर्माण में अधिक व्यापकता होती है। नाम या शब्द-निर्माण के क्षेत्र में मनुष्य के प्रयोग सीमित हैं। सब शब्द सब मनुष्यों के लिए अर्थ-प्रसू नहीं होते। एक भाषा में एक शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत होता है, दूसरी भाषा में वह दूसरे अर्थ में व्यवहृत हो सकता है और ऐसा भी हो सकता है कि एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा में कोई भी अर्थ ही न दे सके। परन्तु, रूप-निर्माण अधिक व्यापक होता है। एक जनसमूह द्वारा गृहीत अर्थ दूसरे जनसमूह द्वारा भी ग्रहणीय हो सकता है।

वर्ण चाहे भाषा में हों या दृश्य जगत् में, निश्चित अर्थ को प्रकट करने के लिए निश्चित प्रकार का प्रयत्न चाहते हैं। ज्ञात ध्वनियों का जैसा-तैसा संयोजन वांछित अर्थ को देने में समर्थ नहीं हो सकता। विभिन्न वर्णों के संयोजन से जो शब्द बनते हैं, उनका संकेतित अर्थ सामाजिक चित्त की स्वीकृति चाहता है। पृथक्-पृथक् वर्णों की जानकारी प्रत्येक व्यक्ति के पास होती है। उनके उच्चारण करने में भी वह स्वतन्त्र है, परन्तु अर्थ-प्रकाश की क्षमता उस वर्ण-संयोजन में आती है, जो सामाजिक स्वीकृति प्राप्त किये होता है या प्राप्त करने की क्षमता रखता है। यदि हम 'कमल का फूल' यह अर्थ प्रकट करना चाहते हैं, तो क, म और ल को यदृच्छा क्रम से नहीं रख सकते। लकम या मकल कहने से हमारा अभीष्ट अर्थ नहीं प्रकट होगा, क्योंकि समाज-चित्त में लकम या मकल का कोई अर्थ स्वीकृत नहीं है। इसीलिए हमें कमल ही कहना पड़ेगा, अर्थात् ज्ञात ध्वनियों का उस प्रकार विनयन करना होगा, जिससे ठीक अर्थ प्रकट हो सके। वर्ण समाम्नाय वाक् तत्त्व है, परन्तु अर्थ समवाय एक प्रकार के ऐसे विनायक धर्म की स्वीकृति चाहता है, जो अभीष्ट अर्थ को प्रकट करा सके। दूसरे शब्दों में अर्थ-प्रकाश केवल वाक् तत्त्व के आश्रित नहीं है, उसमें विनायक धर्म भी होना चाहिए। जहाँ कहीं मनुष्य किसी अर्थ को प्रकट करना चाहता है, वहीं विनायक धर्म द्वारा अनुप्राणित वाक् तत्त्व का आश्रय लेता है। व्यापक अर्थों में वाक् तत्त्व प्रेषणधर्मी साधन है और विनायक तत्त्व प्रेष्य-प्रकाशक धर्म है। विनायक तत्त्व को आश्रय करके वाक् तत्त्व अर्थ प्रकट करने में समर्थ होता है। वर्ण-समूह व्यक्तिगत है, अर्थ-प्रकाश करने का हेतुभूत विनायक धर्म समाज-सापेक्ष। इस प्रकार संसार में जितने भी अर्थ हैं, वे विनायक धर्म को आश्रय करके प्रकट होते हैं। वर्ण वाक् तत्त्व के अवयव हैं और अर्थ विनायक धर्म द्वारा संयोजित वर्णसमूह से प्रकाश्य होता है। जिससे समस्त वर्णों

का ज्ञान हो, किन्तु उन वर्णों को अभीष्ट अर्थ में प्रकाशित करने की दिशा में प्रयत्न न हो, वह न तो भाषा का आश्रय ले सकता है और न चित्र और मूर्ति का। यद्यपि संसार में जो कुछ दिखायी दे रहा है, वह पदार्थ है अर्थात् पदों का अर्थ है, परन्तु पदों का निर्माण विनायक धर्म के आश्रित है। पद वर्णों से ही बनते हैं, लेकिन उनका संयोजक समाज-चित्त में गृहीत या गृहीत होने योग्य अर्थ देने में समर्थ होना चाहिए। यह व्यक्ति का प्रयत्न है। वस्तुतः वर्ण-समूह को विशिष्ट दिशा में मोड़ने का प्रयत्न ही विनायक धर्म है। जब तक यह प्रयत्न नहीं है तब तक भाषा—अर्थ देनेवाली भाषा बन ही नहीं सकती।

लेकिन, सामान्य व्यवहार की भाषा के लिए तो यह बात ठीक है, परन्तु इससे केवल स्थूल प्रयोजन ही सिद्ध होते हैं। अर्थ केवल बाह्य-जगत् में ही नहीं होते, वे अन्तर्जगत् में भी होते हैं। व्याकरण की पुस्तकों में भाववाचक संज्ञा उसे कहते हैं, जिसे किसी स्थूल इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया जाता। परन्तु यह बच्चों को फुसलाने वाली परिभाषा है। भाव वस्तुतः अन्तर्जगत् का सत्य होता है। वह बाह्य आँखों से नहीं देखा जा सकता, कानों से नहीं सुना जा सकता, जिह्वा से नहीं चखा जा सकता, नासिका से नहीं सूँघा जा सकता और त्वचा से नहीं स्पर्श किया जा सकता, वह अनुभव किया जाता है। भाव अन्तर्जगत् के सत्य हैं। माधुर्य या लावण्य केवल अनुभव-गम्य वस्तुएँ हैं। भाषा में केवल बाह्य जगत् की वास्तविकता को प्रकट करने का प्रयास नहीं होता, बल्कि अन्तर्जगत् के अनुभूत अर्थों को भी प्रकट करने का प्रयास होता है। भाषा में उसे भी वर्ण-योजना से ही प्रकट किया जाता है और चित्र में रंगों और रेखाओं के योग से ही उसे व्यक्त किया जाता है। मनुष्य के चित्त में उठानेवाले भावों की कोई इयत्ता नहीं, परन्तु ऐसे भाव जिससे दूसरे के चित्त को चालित, मथित और उद्वेलित किया जा सके, अपेक्षाकृत कम होते हैं। एक व्यक्ति जिस भाव को अनुभूत करता है, उसे ठीक-ठीक भाषा द्वारा व्यक्त करने की प्रक्रिया आसान नहीं होती; क्योंकि भाषा में आते ही वह सामान्य अर्थ को प्रकट करती है, विशिष्ट अर्थ को नहीं। किसी व्यक्ति के चित्त में उठे हुए विशिष्ट भाव को जन-सामान्य के भाव बन जाने की स्थिति में ले आने के प्रयास या प्रक्रिया को 'साधारणीकरण' कहते हैं। अन्तर्जगत् के भावों को जैसे-तैसे सजा देने से या कह देने से यह काम नहीं होता। जिस प्रकार वर्णों के यदृच्छा-संयोजन से अभीष्ट अर्थ नहीं निकलता, इसी प्रकार भावों के यदृच्छा-संयोजन से अभीष्ट रस नहीं उत्पन्न होता। केवल भाषा द्वारा भावों को व्यक्त कर देने मात्र से रस नहीं निष्पन्न होता। रस साधारणीकरण की अपेक्षा रखता है। इसके लिए भावों को भी प्रयत्नपूर्वक सजाना पड़ता है। भाव सूक्ष्म अर्थ ही है, परन्तु उन्हें सहृदय-हृदय-संवेद्य बनाने में सूक्ष्म प्रयत्न की आवश्यकता होती है। छन्द वही सूक्ष्म प्रयत्न है। जिस प्रकार वर्ण से अर्थ प्रकट करने के लिए समष्टि-चित्त की स्वीकृति की ओर उन्मुख करनेवाला वाक् तत्त्व का विनायक धर्म आवश्यक होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म अर्थ-रूप भावों को 'रस-दशा' तक पहुँचाने के लिए छन्द की आवश्यकता

होती है। यहाँ छन्द का अर्थ पिंगल-शास्त्र में गिनाये हुए छन्दों से ही नहीं है, बल्कि शब्दों की ऐसी संघटना से है, जो उसमें ऐसा प्रवाह उत्पन्न कर सके, जो विशिष्ट अनुभूत भाव को रस-रूप में परिणत कर दे। विविक्त वर्णों वाली भाषा में संगीत तत्त्व लुप्त हो गया रहता है। छन्द उसे पुनः प्रतिष्ठित करता है। वह भी रस की ओर ले जानेवाला विनायक धर्म है।

स्पष्ट है कि वाक् तत्त्व के लिए पद-पद पर विनायक धर्म की आवश्यकता है। स्थूल-जगत् में वह अभीष्ट पदार्थ को प्रकाशित करता है और सूक्ष्म भाव-जगत् में रस को। किसी भी कलाकार के लिए इन दोनों तत्त्वों की आवश्यकता होती है। वाक्-तत्त्व व्यापक अर्थों में प्रेषण-धर्मी साधन है और विनायक धर्म अभीष्ट प्रेष्य को प्रकट करनेवाला प्रयत्न। मनुष्य ने प्रकृति को ज्यों-का-त्यों नहीं स्वीकार किया है। उसने उसे अपने प्रयत्नों द्वारा अभीष्ट दिशा में अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न मनुष्य का सहज धर्म है। प्रकृति के साथ संघर्ष करते-करते और प्रकृति की ही कृपा से मनुष्य ने वाक् तत्त्व को पाया है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह प्रकृति से संस्कृति की ओर बढ़ता गया है, त्यों-त्यों उसने विनायक धर्म का अधिकाधिक आश्रय लिया है। सभ्यता प्राप्त करके मनुष्य ने बहुत-सी प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार किया। वह कीड़े-मकोड़ों की तरह प्रकृति पर पूर्णतः आश्रित नहीं। उसने अपने प्रयत्नों से प्रकृति के रहस्य का पता लगाया है। वह नये सिरे से प्राकृतिक शक्तियों के नये-नये संयोजन से नयी-नयी चीजों को पैदा कर सकता है। ठीक उसी प्रकार वह ज्ञात वर्णों से नये-नये शब्दों की योजना कर सकता है। परन्तु यदृच्छा-संयोजित वर्ण जिस प्रकार अभीष्ट अर्थ नहीं देते, उसी प्रकार यदृच्छा संयोजित प्राकृतिक शक्तियाँ भी उसे अभीष्ट दिशा में नहीं ले जातीं। प्राकृतिक शक्तियों को अभीष्ट दिशा में ले जाने के संयोजन को ही 'मंगल' कहते हैं। वह भी अर्थ की तरह सामाजिक होता है। प्राकृतिक शक्तियों का जो संयोजन केवल व्यक्तिगत प्रयोजन के लिए होता है और सामाजिक प्रयोजन के लिए नहीं होता, उसे 'मंगल' नहीं कहा जा सकता। प्राकृतिक शक्तियों का यदृच्छा-संयोजन विकृति है और सामाजिक मंगल की दृष्टि से संयोजन संस्कृति है। सभ्यता ने मनुष्य के लिए दोनों ही मार्ग प्रशस्त कर दिये हैं। वह विकृति की ओर भी जा सकता है और संस्कृति की ओर भी। मनुष्येतर जीवन के लिए प्रकृति केवल प्रकृति है, किन्तु सभ्य जीवन के लिए वह कभी विकृति है और कभी संस्कृति। तुलसीदासजी ने जब कहा था कि;

"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई।"

तो उनके मन में कुछ इसी प्रकार की सामाजिक मंगल की चेतना काम कर रही थी। जहाँ तक कला का क्षेत्र है, वाक् तत्त्व अर्थात् प्रेषणधर्मी साधन अर्थ, रस, छन्द और मंगल की ओर तभी ले जा सकता है जब उसमें सामाजिक मंगल की बुद्धि से परिचालित विनायक धर्म एकमेक होकर गुँथा हुआ हो। इस विनायक धर्म

को पाकर वर्ण अर्थ की ओर, अर्थ रस की ओर और रस मंगल की ओर जाता है। निश्चित रूप से कुछ कहना तो कठिन है, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि जब गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरित मानस' की रचना का संकल्प किया था, तो वे कुछ इसी रास्ते सोच रहे थे। कदाचित् यही कारण है कि उन्होंने 'रामचरितमानस' के आरम्भ में ही लिखा था।

"वर्णानामर्थ सघानां रसाना छंदसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वदे वाणी विनायकौ।।"

यह सही है कि वाणी और विनायक के मूर्त्त आधिदैविक रूप की भावना तुलसीदास के मन में अवश्य थी, परन्तु यह भी सही है कि उन्होने इन मूर्त्त-रूपो के प्रेरक विचारों का भी अवश्य ध्यान रखा था। 'रामचरितमानस' से इस प्रकार के उदाहरण खोजे जा सकते है। परन्तु यहाँ जो बात अभिप्रेत है वह तुलसीदास के श्लोक की नयी व्याख्या नही है, वल्कि ऊपर प्रकट किये गये विचारों का उनकी वाणी से भी समर्थन प्राप्त कर लेना मात्र है।

कला में प्रेषणधर्मी वाक्-तत्त्व और मंगलादेशी विनायक-धर्म निस्सन्देह आवश्यक तत्त्व है। किसी एक की भी उपेक्षा करने से काव्य या कला विराट् और उदात्त बनने में चूक जाती है और ललित मनोहर बनकर केवल क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके समाप्त हो जाती है।

लालित्य-सर्जना और विविक्तवर्णा भाषा

भाषा के साथ मानसिक चिन्तन-प्रक्रिया का घनिष्ठ योग है और भाषा ने लालित्य-सर्जना में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इसलिए मानसिक स्तर की सौन्दर्य-बोध-चर्चा का आरम्भ भाषा की समस्या से होता है।

भाषा कैसे बनी, किस अवस्था में और किन परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए आदिम मनुष्य ने इस शक्तिशाली तत्त्व का आविष्कार किया? यह प्रश्न विचारकों के सामने बार-बार आया है और भिन्न-भिन्न प्रकार से इसके उत्तर खोजे गये हैं। प्रायः उत्तर खोजते समय विचारकों के मन में अपना निश्चित मतवाद होता है और व्याख्या इस प्रकार से की जाती है कि उस निश्चित मतवाद के पुष्टीकरण में सहायक हो। मैं उन अनुमानाश्रित समाधानों की सूची गिनाकर आपका समय नष्ट नहीं करूँगा।

मूल बात यह है कि मनुष्य पशु-सामान्य धरातल से जब आदि-मानव के रूप

मे प्रकट हुआ तो उसमे एक नयी शक्ति प्रकट हुई। इसे मैं विविक्तीकरण की शक्ति कहता हूँ। भाषा इसी विविक्तीकरण-शक्ति से उत्पन्न हुई है।

मानवपूर्व प्राणियों में अनेक प्रकार के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए विशेष-विशेष प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करने की शक्ति मिलती है। भय के कारण चिल्लाहट, आनन्द के कारण गायन और भूख के कारण उत्पन्न रिरियाहट प्राय सभी आवाज करनेवाले प्राणियों मे मिल जाती हैं। परन्तु ये सारी ध्वनियाँ अनेक प्रकार की ध्वनियो का एक मिश्रित अविभक्त प्रवाह मात्र थीं। उनके अक्षर अलग-अलग नही होते बल्कि एक-दूसरे से उसी प्रकार अविरल भाव से मिश्रित होते है जिस प्रकार पानी की एक बूंद धारा मे अविरल भाव से मिश्रित होकर बहती रहती है। आदिम मनुष्य को भी विभिन्न परिस्थितियो में चिल्लाने, गाने, रोने और रिरियाने का प्रयास करना ही पड़ता था। इन्ही अविरल प्रवाहित, संगीतात्मक ध्वनियों को अलग-अलग विभाजित करके विवेक-पूर्वक मनुष्य ने क, ख, ग, जैसे वर्णो को अलग किया है और उनके ही प्रस्तार-विस्तार से या 'परम्युटेशन-कम्बीनेशन' से नये-नये ध्वनि-प्रतीकों या शब्दों का निर्माण किया है। विविक्त वर्णोंवाली भाषा मनुष्य की बहुत बड़ी उपलब्धि थी। शुरू-शुरू मे मानसिक उल्लास या अवसाद के समय निकलनेवाली संगीतात्मक ध्वनियाँ उन वस्तुओ के लिए व्यवहृत हुई होगी जो उल्लास या अवसाद के प्रेरक तत्त्व रहे होगे। इसलिए उस प्रथम अवस्था मे शब्द ही मुख्य था—अर्थ उस पर बाद मे आरोपित किया गया था, या फिर ऐसा कहना चाहिए कि शब्द और अर्थ साथ-साथ थे। कुछ विचारक ऐसा कहना ठीक समझते हैं कि उस अवस्था में शब्द और अर्थ मे कोई अन्तर नही था। शब्द ही अर्थ थे। उस समय सही अर्थों मे संसार की चीजें पदार्थ थीं, अर्थात् किसी-न-किसी पद का अर्थ। भारतीय परम्परा मे यह विश्वास किया जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था के ऋषियों की वाणी अर्थ के पीछे नही चलती थी, बल्कि अर्थ ही उसका अनुसरण करता था :

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।

भरत के नाट्यशास्त्र में इस बात को ध्यान मे रखकर ही भावो के साथ उदित होनेवाले रोमांच, अश्रु-वैवर्ण्य (और अकस्मात् निकली हुई 'ओह', 'उफ्' आदि शब्द भी इसमें गिने जाने चाहिए) आदि को भाव ही कहा है—सात्विक भाव। वे भाव के साथ स्वमेव उत्पन्न 'भाव' हैं, भावों के बाद उत्पन्न होनेवाले अनुभाव नही। कई बार आलोचकों को मगजपच्ची करनी पड़ी है कि समस्त शरीर-विकारों को भरत ने 'अनुभाव' ही क्यों नहीं कहा। अनुभाव परवर्त्ती विकास हैं, वे विविक्तीकरण की शक्ति के बाद उद्भूत हुए हैं। सात्विक भाव अविविक्त-वर्णा सहज भाषा के समशील हैं, अर्थ या प्रयोजन के बन्धन में बद्ध नही हैं। अनुभाव विविक्तवर्णा भाषा के समशील हैं, अर्थबन्धन से परिबद्ध। सात्विक भाव अयत्नज या सहज होते हैं; सहज—साथ-साथ पैदा होनेवाले। अनुभाव यत्न-साध्य हैं—इष्ट अर्थ के द्योतक, प्रयासलब्ध।

यह संगीतात्मक ध्वनियों का वर्णों के रूप में विविक्तीकरण मानसिक चिन्तन द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। मनुष्य-पूर्व प्राणियों में पाये जानेवाले 'इंस्टिंक्ट' नामक सहज-बोध-शक्ति से यह भिन्न है। 'इंस्टिंक्ट' जिजीविषा के तकाजे पर बार-बार बिना सोचे-समझे आ जानेवाली शारीरिक चेष्टाएँ हैं। उनमें यान्त्रिकता होती है—विवेक नहीं। परन्तु संगीतात्मक अर्थात् अविरल भाव से मिश्रित प्रवाहशील ध्वनि-परम्परा की इकाइयों की तलाश विवेक की देन है। उसके साथ नयी रचनात्मक शक्ति स्वयमेव उद्भूत हुई या यों कहिए कि विविक्तीकरण की प्रक्रिया और विविक्त इकाइयों के द्वारा नये-नये शब्दों की योजना साथ-साथ उत्पन्न हुई। इस दृष्टि से अगर देखें तो विविक्तीकरण और रचनात्मक मानव-प्रयास जुड़वाँ भाई है।

एक बार विविक्त वर्णोवाली अक्षर-मात्रिका का निर्धारण हो जाने के बाद बहिर्जगत् के पदार्थों के विविक्तीकरण का भी मानव-प्रयास शुरू हो जाता है। वस्तुतः विविक्त वर्णों के शब्दों का गठन तभी सम्भव होता है, जब बाह्य जगत् के पदार्थों में भी भेद करने की दृष्टि प्रतिष्ठित हो चुकी होती है। इस प्रक्रिया में हजारों वर्ष लगे होंगे। लेकिन मनुष्य की पशु-सामान्य धरातल से मानवीय धरातल तक आने की प्रक्रिया का भी यही इतिहास है। कोई एक निश्चित तिथि नहीं बतायी जा सकती जबकि एकाएक मनुष्य में विविक्तीकरण की शक्ति उद्भूत हुई और विविक्त वर्णोवाली अक्षर-मात्रिका तैयार हो गयी। लेकिन एक बार अक्षर-मात्रिका के अधिगत और आयत्त हो जाने के बाद मनुष्य के सोचने-समझने और सर्जनात्मक कार्यों में प्रवृत्त होने में बड़ी तेजी आ गयी। इस तेजी से आनेवाली प्रवृत्ति का नाम सभ्यता की ओर उन्मुख होना है। यहाँ से आद्य ऋषियों की परम्परा समाप्त होती है और पदार्थों के लिए पद-रचना की प्रक्रिया शुरू होती है। सभ्यता में नयी वस्तु और नये भाव के लिए नये शब्दों की रचना होने लगती है और मनुष्य निरन्तर अर्थ की ओर बढ़ता चला जाता है। अर्थ वस्तुतः बाह्य जगत् में विद्यमान होते हैं। मनुष्य का मस्तिष्क उनका बिम्ब ग्रहण करता है और उन बिम्बों के लिए किसी शब्द की रचना करता है और भाषा निरन्तर अर्था-नुगामिनी होती जाती है। जैसे-जैसे वह अर्थ-प्रधान होती जाती है, वैसे-वैसे उसमें गद्यात्मकता बढ़ती जाती है और छन्द, राग और लय क्रमशः पीछे छूटते जाते हैं।

परन्तु मनुष्य ने जब अविरल-प्रवाही संगीतात्मक ध्वनियों का विविक्तीकरण किया था तो क्या वे सारी चीजें आ सकी थीं? या उस समय की उस भाषा में विद्यमान थीं? नहीं। संगीत छूट गया, राग टूट गया, लय विलीन हो गया। संक्षेप में भाषा छन्दोहीन, वैचित्र्यहीन, स्थूल प्रयोजनों की वाहिका मात्र रह गयी। बाह्य जगत् के अर्थों के पीछे दौड़नेवाली भाषा अन्तर्जगत् के भावों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो गयी। बहुत पहले ही मनुष्य ने इस कमी को भाँप लिया था। जो चीज छूट गयी थी, वह बहुत ही मूल्यवान थी। उसको छोड़ना मनुष्य के लिए बहुत महँगा पड़ा। इसीलिए अविच्छिन्नप्रवाही ध्वनि-परम्परा को

जहाँ एक ओर वर्णों की इकाई में बाँटकर उसने भाषा की नवीन सृष्टि की, वहीं छूटे हुए रागों को भी उसने विविक्त इकाइयों में बाँटकर और इन इकाइयों के प्रसार-विस्तार से नये रागों और नये वृत्त छन्दों की उद्भावना की। जिस प्रकार क, ख, ग, घ आदि वर्ण बोली जानेवाली भाषा की इकाइयाँ हैं, उसी प्रकार सा, रे, ग, म इत्यादि और लघु, गुरु आदि इकाइयाँ संगीत और नृत्त के तत्त्व हैं। इन इकाइयों के आधार पर मनुष्य ने राग-रागिनियों और नृत्तों की उद्भावना की। इस तरह विविक्तीकरण की प्रक्रिया एक तरफ जहाँ गद्यात्मक भाषा को उत्पन्न कर सकी, वहीं दूसरी तरफ छन्द और संगीत का भी आयोजन करने में समर्थ हुई। फिर इन दोनों ही विधाओं में आदान-प्रदान होते रहे। यानी संगीत के लिए विविक्त वर्णोंवाली भाषा का प्रयोग और विविक्त वर्णोंवाली भाषा या छन्द के लिए राग का उपयोग। लेकिन विविक्तीकरण का प्रयास केवल भाषा को दो रूपों में इस प्रकार विभाजित करके समाप्त नहीं हो गया। एक और तत्त्व भी छूट गया था और उसे भी भाषा के माध्यम से समेटने का प्रयत्न किया गया। इस तत्त्व को मैं 'मिथकतत्त्व' कहता हूँ। क्यों कहता हूँ, यह मैं आगे बताऊँगा।

शास्त्रकारों ने बताया है कि भाषा या शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार की होती है—'चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्तिः' अर्थात् शब्द या तो जातिवाचक होते हैं या गुणवाचक होते हैं या क्रियावाचक होते हैं या फिर इनमें से किसी भी बात को ध्यान में रखे बिना यदृच्छा से कोई शब्द बना लिया जाता है। आदिकाल में गुण या जाति पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था; क्योंकि आदिम मनुष्य में इन तीनों के बिम्ब ग्रहण करने की शक्ति प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। लेकिन शब्द चाहे जिस बात को भी ध्यान में रखकर बनाये जायें, बाकी दो बातें छूट ही जाती हैं। यदृच्छा-शब्दों में तो तीनों ही छूट जाते हैं। यही कारण है कि शब्दों से मनुष्य के इन्द्रियगृहीत बिम्बों का एक सामान्य अंश ही प्रकट हो पाता है। बाकी बहुत-सी बातें छूट जाती हैं। इन छूटी हुई बातों को अभिव्यक्त करने के लिए कभी-कभी मनुष्य का मन व्याकुल हो जाता है। कैसे इसको प्रकट किया जाये? भाषा के अधिकाधिक प्रयोग होने से शब्द रूढात्मक हो जाते हैं और प्रायः जिन गुणों के नाम पर उनका नामकरण किया गया होता है वे भी भुला दिये जाते हैं। इस प्रकार गद्यात्मक भाषा मनुष्य की अधिकांश अनुभूतियों को छुड़ाती जाती है और भाव की अभिव्यंजना में असमर्थ होती जाती है।

यह भाव अन्तर्जगत् की अनुभूतियों का नाम है। इन्द्रियग्राह्य बहिर्जगत् के पदार्थ मनुष्य के मस्तिष्क पर अनेक प्रकार के बिम्ब छोड़ जाते हैं, जो स्मृति-रूप में संचित रहते हैं। सामान्य परिस्थितियों के आने पर उनकी स्मृति फिर से ताजा हो जाती है। परन्तु अन्तर्जगत् के भाव बाह्य जगत् के पदार्थों के बिम्ब नहीं होते। उनके बिम्ब को अभिव्यंजक शब्दों द्वारा प्रकट करना कठिन होता है, परन्तु करना पड़ता है। दूसरा उपाय नहीं है। मनुष्य को किसी वस्तु से किसी खास परिस्थिति में 'डाह' होता है। परन्तु यह डाह एक प्रकार का मनोभाव है,

उस वेगवान प्रवाह में ऐसा बह जाता है कि असहाय हो जाता है' (ब्रूस्टर गिज़ेलेन द्वारा सम्पादित 'द क्रिएटिव प्रोसेस', पृ. 222)। यह उसी मूल मिथकीय शक्ति की महिमा का उद्घोष है। चेतन अहं बहिर्जगत् की तर्क-संगत व्यवस्था का कायल है। कलाकार के हृदय में जो मिथकीय सिसृक्षा उदित होती है, वह अवचेतन चित्त की वेगवती शक्ति है। वह समष्टि-चित्त की ऐसी अनुभूति है जो विविक्तवर्णा भाषा के प्रादुर्भाव के पहले की है। उसे आर्किटाइप कहिए, समष्टि-चेतना कहिए, या तान्त्रिकों की भाषा में 'सर्वात्मिका संवित्' कहिए, बात एक ही है। भाषा जब कुछ अधिक अग्रसर हो जाती है तो वह भी मूल मिथक भावनाओं पर अपना दबाव डालती रहती है। इसलिए परवर्ती काल की मिथक-परम्परा पुराण-कथा या माइथोलाजी के रूप में विकसित होती है। एक बात ध्यान देने की है कि शब्द-रचना के आरम्भिक स्तर पर मनुष्यजाति की बिम्ब-ग्राहिका शक्ति एक सामान्य समष्टि-चित्त की कल्पना की ओर प्रवृत्त करती है। आरम्भिक स्तर पर भी मनुष्य का मस्तिष्क हर व्यक्ति में लगभग एक ही प्रकार की प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करता है। एक आदमी जिसे लाल देखता है, उसे पूरी मानवमण्डली लाल ही अनुभव करती है। इसी प्रकार छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा, सुगन्ध-दुर्गन्ध और शीतल-उष्ण आदि की अनुभूतियाँ सामान्य रूप से होती हैं—जो यह सिद्ध करता है कि एक समष्टि-चित्त है जो औसत बिम्बों को सामान्य भाव से ग्रहण करता है। व्यक्तिगत अनुभूतियाँ इस औसत अनुभूति से कुछ मात्रा में भिन्न हो सकती है, लेकिन एकदम विपरीत नहीं होतीं। यदि एकदम विपरीत हों तो व्यक्ति-विशेष के दिमाग या मन की कोई कमजोरी प्रकट होती है। उसे चिकित्स्य समझा जाता है। अगर यह बात शब्द-रचना के विषय में सत्य है तो मिथकतत्त्व के बारे में और भी सत्य है। संसार-भर के मनुष्यों में आरम्भिक मिथक सामान्य रूप से काम करते है, परन्तु विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के आवरण में लिपटकर भिन्न दिखायी देते है। जिन लोगों ने इस विषय का मनन नहीं किया है वे मूल मिथकीय भावनाओं को समझने में समर्थ भी नहीं हुए हैं।

आधुनिक विचारकों ने इसकी कल्पना नृतत्त्व-विज्ञान और मनोविज्ञान की बढ़ती हुई जानकारियों के भीतर से की है। एक अन्य दिशा से आगमशास्त्रियों ने इसका सन्धान पाया था। दिशा दूसरी होने पर भी मूल बात वही है। सुप्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने बताया है कि सर्वात्मिका संवित् देह-भेद से संकुचित हो गयी है। नृत्य-गीत आदि के आयोजनों में वह अनेक व्यक्तियों के चित्त में एक साथ स्फुरित होती है और सर्वतन्मयी भाव को उद्बुद्ध करती है। यह भाव विशुद्ध आनन्द है। वह किसी एक का नहीं होता, इसलिए आनन्दनिर्भरा यह सर्वात्मिका संवित् ईर्ष्या, असूया आदि संकुचित भावों को दबाकर, नृत्य-गीत आदि के द्वारा स्फुरित होकर सच्चिदानन्द से जोड़ देती है। ('तन्त्रालोक', ३८।४)

प्रश्न यहाँ यह नहीं है कि यह सर्वात्मिका संवित् सचमुच ही 'सच्चिदानन्द योगिनी' होती है या नहीं। इस प्रश्न पर विचार करने का अवसर हम फिर

पायेंगे। यहाँ केवल इतना ही द्रष्टव्य है कि अभिनवगुप्तपाद ने नाट्य, नृत्य, गीत आदि को संकुचित अहं की सीमा तोड़कर एक प्रकार की विश्वजनीन चेतना के उद्‌बोधक रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार विविक्तीकरणवाली भाषा के साथ मिथुनीभूत मिथकतत्त्व निरन्तर काम करते रहते है। अर्थप्रधान गद्यात्मक भाषा का प्रचुर प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद भी मनुष्य के अन्तरतर में विद्यमान यह व्याकुल वेदना प्रकट होती रहती है और जो लोग भाषा के रूढ, एकांगी आवरण को भेदकर मानवचित्त की गहराई मे जाने का प्रयास करते है, उनके रचनात्मक प्रयासो में निरन्तर सहायता पहुँचाती रहती है। परवर्त्ती काल के काव्य, नाटक और उपन्यास मिथकतत्त्व की सहायता से ही कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों को पा लेते हैं। जिन लोगों की पहुँच इस क्षेत्र तक नही होती, ऐसे कवि, नाटककार और उपन्यासकार रूढ शब्दावली की लकीर पीटते रहते है।

अब तक मैंने जो कुछ कहा है वह भाषा के साथ उत्पन्न किन्तु बहिर्जगत् की तर्क-संगत व्यवस्था से स्वतन्त्र मिथकतत्त्वों का महत्त्व बताने के उद्देश्य से। भाषा को समृद्ध करने और भाषा द्वारा समृद्ध होने में वे एक-दूसरे के पूरक हैं—मिथः पूरक, अतएव मिथक। लेकिन ध्वनि-प्रवाह के विविक्तीकरण की कहानी इतनी ही नही है। जैसाकि पहले ही कहा गया है—छन्द, लय और राग भी छूट गये है।

विविक्त वर्णोंवाली भाषा के शब्द एक प्रकार के प्रतीक होते है। अर्थ उनका बाह्य जगत् में होता है, अन्तर्जगत् में भी हो सकता है। पर शब्द इन दोनों प्रकार के अर्थों की सूचना-भर देता है, स्वय उनसे असम्पृक्त रहता है। इसलिए इसे आधुनिक विचारक शब्दप्रतीकात्मिका भाषा कहना पसन्द करते हैं।

आधुनिक काल के महान् भाषा-दार्शनिक अर्न्स्ट कैसिरर ने शब्द-प्रतीकात्मिका भाषा और मिथकतत्त्व पर नये विचार दिये हैं। दर्शनशास्त्रीय सिद्धान्तों में वे बहुत-कुछ काण्ट के ही अनुयायी थे और काण्ट की ही भाँति मानते थे कि मानव-चित्त केवल बाह्य-यथार्थ का बिम्ब ग्रहण करनेवाला निष्क्रिय दर्पण मात्र नही है बल्कि क्रियात्मक या सर्जनात्मक शक्ति से सम्पन्न है; वह बिम्ब रूप में गृहीत यथार्थ को प्रभावित करता है और नया रूप भी देता है। परन्तु प्रतीकात्मिका भाषा के उद्‌भव और विकास में वे काण्ट के समकालीन तत्त्ववेत्ता जे. जी. हर्डर के प्रशंसक थे। उन्हें वे 'इतिहास का कोपर्निकस' कह गये है। प्रसिद्ध लालित्य-शास्त्री क्रोचे भी हर्डर से सीधे प्रभावित थे, परन्तु उन्होंने भाषा-विषयक उनके विचारों की कोई खास चर्चा नही की। कहना चाहिए कि और बातों में हर्डर से प्रभावित होकर भी उन्होंने उनके प्रतीकात्मक भाषा-विषयक विचारों की उपेक्षा की थी। हर्डर मानते थे कि भाषा की उत्पत्ति मिथकीय प्रक्रिया के भीतर से हुई है। कविता में मिथकीय तत्त्व ही हमें प्रभावित करते है, क्योंकि हर्डर मानते थे कि मिथकतत्त्व की गतिशील विशिष्टता कविता में आज भी सुरक्षित है। यद्यपि कैसिरर के मन में हर्डर के प्रति बहुत मान था और वे उन्हें अपना मार्ग-

दर्शक भी मानते थे, फिर भी कैसिरर ने इस बात का जोरदार विरोध किया है कि भाषा मिथकीय प्रक्रिया से उद्भूत हुई है। वे भाषा और मिथकतत्त्व को एक ही मूल से निकली हुई दो अलग-अलग शाखाएँ मानते हैं। प्रतीकात्मक रूपायन के संवेग या इम्पल्स से ही दोनों का उद्भव हुआ है। इन संवेगों को वे साधारण ऐन्द्रिय अनुभूतियों का तीव्र और सान्द्रीभूत रूप मानते थे। कैसिरर ने इस सिद्धान्त के समर्थन के लिए बहुत विचारपूर्ण युक्तियाँ दी हैं। वे आधुनिक ज्ञान के आलोक में ग्राह्य लगते हैं। अनेक तथ्यों और युक्तियों के बल पर उन्होंने जो कुछ कहा है वह प्राचीन भारतीय विचारधारा के प्रतिकूल नहीं है। उनका कहना है कि आदिम मनुष्य के लिए भाषा के प्रतीक यथार्थ के सूचक नहीं थे, बल्कि यथार्थ ही थे। वे मानते हैं कि मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है जो प्रतीकों का निर्माण करता है। वस्तुतः मनुष्य एकमात्र प्रतीक-निर्माता जन्तु है। कैसिरर का यह तर्क बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। कई मनीषियों ने उस पुराने सूत्रवाक्य को, जिसमें कहा जाता था कि 'मनुष्य सोचने-समझनेवाला जन्तु' या 'रेशनल एनिमल' है, बदल दिया है और अब ऐसा कहना ठीक समझा जाने लगा है कि 'मनुष्य प्रतीक-निर्माता' जन्तु है। इस परिवर्तन के मूल में बहुत क्रान्तिकारी भावना है। हम जिसे तर्कसम्मत विचार कहते रहे हैं, वह वस्तुतः भाषा-प्रतीकों का तर्क-संगत रूप ही है, वास्तविकता का तर्कसंगत रूप कठिनाई से सिद्ध किया जा सकता है। तर्कसंगत समझी जानेवाली व्यवस्था वास्तविकता का केवल बाहरी रूप है। उसका अन्तर्वर्ती रूप काव्य में, निजन्धरी कथाओं और परियों की अतर्क-संगत लगनेवाली बातों में मिलता है।

परन्तु मनुष्य के प्रतीक-निर्माता कहने का दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि मनुष्य का चित्त विवेकदक्ष है। वह एक प्रकार की ध्वनि को दूसरे प्रकार की ध्वनि से, एक प्रकार के गीतस्वर को दूसरे प्रकार के गीतस्वर से और एक प्रकार की भावना को दूसरे प्रकार की भावना से विवेकपूर्वक अलग कर सकता है, उसे प्रतीकात्मक भाषा में अभिव्यक्त कर सकता है, उनको जोड़-घटाकर नये-नये शब्द-प्रतीकों की उद्भावना कर सकता है। यह विविक्तीकरण और यथेष्ट सर्जनात्मक उद्भावना ही मनुष्य की वास्तविक विशेषता है। न तो उसे 'रैशनल' कहना चाहिए, न 'सिम्बल-मेकर' (प्रतीक-निर्माता), बल्कि उसे 'विवेकी स्रष्टा' ही कहा जाना चाहिए।

मनुष्य को जो भाषा मिली है उसमें विवेक का हाथ है, विविक्तीकरण की शक्ति की महिमा है। भाषा शब्द-प्रतीकों से बनी है। जैसे-जैसे मनुष्य इस महिमामयी शक्ति के विकास में अग्रसर होता गया, वैसे-वैसे वह बाह्य पदार्थों की अभिव्यक्ति की ओर भागता गया। उसने अन्तरतर के भावों को भी नाम दिया, उन्हें विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा गृहीत बिम्बों में अनुवाद करके। फिर वे भी रूढ़ होते गये। शास्त्रों की तर्कसम्मत भाषा का मोह बढ़ता गया, अन्तर्जगत् की भावानुभूति भी प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त करने की आसक्ति की ओर बढ़ती गयी।

बाह्य यथार्थ के इन्द्रियग्राह्य बिम्बों द्वारा भावाभिव्यक्ति का प्रयास भाषा को दृढ बनाता गया और बाह्य यथार्थ की तर्कसम्मत व्यवस्था के अतिरिक्त एक अपनी अन्तर्निहित व्यवस्था व्याकरण से बँधती गयी। अन्तर्जगत् को ठीक-ठीक अभिव्यक्ति देनेवाला मिथकतत्त्व छूट गया। एकदम छूट गया, यह भी नहीं कह सकते। भाषा के माध्यम से व्यक्त होने के कारण उसे बाह्य यथार्थ की तर्कसंगत व्यवस्था की तुलना में कम सम्मान मिलने लगा। मूल मिथकतत्त्व को प्रतीकात्मक भाषा ने और भी नया रूप दिया। हर नये रूप में उसकी मूल रचयित्री शक्ति क्षीण होती गयी। गद्यात्मक भाषा केवल दो ही अनुशासनों को मानती है: बाह्य यथार्थ की तर्कसम्मत व्यवस्था और अपनी अन्तर्निहित व्याकरण-व्यवस्था। सभ्यता के साथ-साथ मनुष्य भूलने लगा कि अन्तर्जगत् की एक और व्यवस्था है जो बाह्य यथार्थ द्वारा गृहीत बिम्बों के प्रतीकों के अनुशासन से कुछ भिन्न श्रेणी का अनुशासन चाहती है। कुछ नये विचारक तो यह भी मानने को तैयार नहीं कि वह किसी प्रकार के अनुशासन को मानती है। पर मैं उसे एकदम अनुशासित नहीं मानता। वह अनुशासन आन्तरिक अनुभूति का होता है। जहाँ भी रूप है, वहाँ कोई-न-कोई अनुशासन भी अवश्य है। बिना अनुशासन के रूप नहीं बन सकता।

परन्तु उपेक्षित होकर भी वह जीवित है। दिन-भर बाह्य यथार्थ की समजस और तर्कसम्मत व्यवस्था के चमत्कारों में व्यस्त रहने के बाद भी मनुष्य रात को सोते समय उससे अभिभूत हो जाता है। वह स्वप्न में प्रकट है और मनुष्य को अपने-आपकी अतर्कसम्मत व्यवस्था से कभी-कभी बुरी तरह अभिभूत कर देती है। बाह्य-यथार्थ की प्रतीकात्मिका भाषा उसे प्रकट करने का प्रयास करके असफल हो जाती है। यह प्रच्छन्न मिथकतत्त्व उसे छोड़ नहीं पाता, वह उससे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा पाता। मनुष्य अगर अन्तर्जगत् की इस प्रभावकारी शक्ति की उपेक्षा करता है तो मानना पड़ेगा कि उसका संवेदन एकदम भोथा हो गया है, उसका विवेक बहुत एकांगी है, उसकी रचनात्मक शक्ति बात-की-बात है।

परन्तु ऐसा हुआ नहीं। मनुष्य ने मिथकतत्त्व को भुलाया नहीं है। कविता उसका प्रमाण है, निजन्धरी कथाएँ इसकी गवाही देती हैं, चित्र और मूर्त्ति-शिल्प उसके साक्षी हैं।

ऐसा न समझें कि मैं स्वप्न और कविता में अन्तर नहीं करता। बहुत-से लोग सचमुच ही अन्तर नहीं करते। उन्हें कविता को 'ड्रीम वर्क' कहने में रस मिलता है। कविता और स्वप्न में अन्तर है, निजन्धरी कथा और दिवा-स्वप्न में भी अन्तर है, स्वप्नगृहीत बिम्बों और चित्र या मूर्त्ति-शिल्प में प्रयुक्त प्रतीकों में भी अन्तर है। मैं सारी समस्या को इतने हल्के ढंग से कह देने में कोई तुक नहीं देखता। भाषा की कुहुकिनी शक्ति को भुला देना अनुचित समझता हूँ और मानव-विवेक की अपार सम्भावनाओं की उपेक्षा करने को गलत समझता हूँ। कविता निस्सन्देह उस उपेक्षित मिथक-परम्परा की देन है, अवश्य ही भाषा की कुहुकिनी शक्ति से अभिभूत देन। और भी बातें हैं। स्वप्न मानव-चित्त की प्रयत्न-

पूर्वक निर्मित वस्तु नहीं है। अधिक-से-अधिक वह मनुष्य-चित्त की प्रयत्न-निरपेक्ष सर्जनात्मक शक्ति की सूचना देता है। कविता प्रयत्नसाध्य सिसृक्षा का परिणाम या फल है। वह मिथक तत्त्वों का सहारा लेती है, पर स्वयं मिथक नहीं है। वह भाषा को छोड़कर नहीं जा सकती। भाषा का आधार ही वह नहीं ग्रहण करती, उससे प्रभावित होती है और उसे अपने ढंग से प्रभावित भी करती है। स्वप्न के विषय में मैं अन्यत्र अपना मत प्रकट कर चुका हूँ। यहाँ केवल इतना ही स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि कविता सिर्फ 'ड्रीम वर्क' नहीं है। प्रतीकात्मिका भाषा आगे चलकर उन वस्त्रों की भाँति हो जाती है जो वास्तविकता को छिपा भी सकते हैं, उसे नयी शोभा से समृद्ध भी कर सकते हैं और व्यक्तित्व देने में समर्थ भी हो सकते हैं। फिर भी वे स्वयं वास्तविकता नहीं हैं। भाषा ने वास्तविकता को ढँका भी, उजागर भी किया है और व्यक्तित्व-सम्पन्न भी बनाया है। मनुष्य के किसी भी प्रयत्न के अध्ययन में भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान भुलाया नहीं जा सकता; न तो उसकी आच्छादिका शक्ति को और न उद्‌बोधिनी शक्ति को।

भाषा का सहारा पाने के बाद काव्यार्थ बहिर्जगत् से एकदम असम्पृक्त नहीं रहता, यद्यपि वह हू-ब-हू वही नहीं होता। उसे मनुष्य कवि के रूप में, शिल्पी के रूप में, नवीन वेश में गढ़ता है। कवि द्वारा निर्मित यही नयी मूर्ति नये सिरे से सहृदय पाठक या द्रष्टा के चित्त की वासनाओं के मिश्रण से नया रूप ग्रहण करती है। इस प्रकार, तथ्य की प्राकृतिक या निसर्गसिद्ध सत्ता का जो हिल्लोल कवि-चित्त में उत्पन्न करती है, वह दूसरी बार नवीन रूप ग्रहण करके पाठक के चित्त को हिल्लोलित करती है। उपमा, रूपक आदि अलंकार कवि के अन्तरतर से ही उत्थित होते हैं। ये भी वासना की ही देन हैं। कुछ भारतीय अलंकार-शास्त्रियों ने अलंकारों को कटक, कुण्डल आदि के समान बाहर से आरोपित बताया है, किन्तु अलंकार वस्तुतः बहिर्निर्देश्य नहीं हैं, कवि के अन्तरतर से ही उत्थित होते है। बहिर्निर्देश्य बनकर अलंकार मूल मिथक-अनुभूति को आच्छादित करते हैं, उसके प्रभाव को क्षीण करते हैं।

भाषा भावमूर्त्ति को व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ नहीं होती। इसी सामर्थ्य के अन्तराल को कवि उपमा, रूपक आदि अलंकारों से भरता है। हर समय ये भी काम नहीं करते। कवि 'मानो, ऐसा, मानो वैसा' कहकर चित्रों पर चित्र बनाता जाता है। जो सामने उपस्थित है, प्रस्तुत है, उसे उन स्मृति-चित्रों से, जो प्रस्तुत नहीं है, भरता रहता है। इस अप्रस्तुत योजना को वह मिथकतत्त्व से पूरित करता है, 'जो नहीं है', उसके परे 'जो है', उसे बताने का प्रयत्न करता है। भाषा की यह चित्र-निर्माण-शक्ति वस्तुतः मिथक-कल्पनाओं से बनती है। लेकिन, उपमा और रूपक क्षण-चित्रों के सहारे उन सारी बातों को कहने में असमर्थ होते हैं। भाषा का चित्र-धर्म अलंकारों में व्यक्त होता है—अर्थालंकारों में। परन्तु उसमें गति ले आने का कार्य छन्द-तत्त्व करता है। पद-गुम्फन से, अनुप्रास से वह चित्र को गतिमय बनाता है। ये दोनों तत्त्व अर्थ में गरिमा भरते हैं, गति देते हैं, उपभोग्यता

और अर्थ में यथार्थता लाते है। इन्ही के द्वारा साधारण प्रत्यय 'यथार्थ' बनता है। अर्थ-तत्त्व, मिथक और छन्दतत्त्व का पूर्ण सामंजस्य ही यह यथार्थ है।

ऊपर-ऊपर से भाषा शब्दमयी है। शब्दों के अर्थ—पदार्थ—तो बहिर्जगत् मे होते है या अन्तर्जगत् में भावरूप में विद्यमान होते है। परन्तु मानव-चित्त की सर्जनात्मिका मिथक-निर्मात्री शक्ति अर्थ को भी नये सिरे से 'भाषा' का रूप देती है; *जिस प्रकार शब्द अर्थों के संकेतदाता है, उसी प्रकार अर्थ भी नये अर्थों के संकेत दे रहे हैं,* ऐसा सोचने को प्रवृत्त करती है। काव्य मे, चित्र मे, मूर्ति मे पदार्थ भी शब्दों की भाँति नये अर्थों का संकेत देने लगते है।

शास्त्रकार और योगी कहते हैं कि यह समूचा चराचर जगत् अर्थ है, पदार्थ है। उसके मूल में शब्द है। ठीक है। पर, अर्थ क्या केवल अर्थ है, वह अपने-आपमें क्या भाषा नहीं है? यह जो प्रात.काल सूर्य की रश्मियाँ सोना बरसा देती है, चन्द्रकिरणें शाम को रजतधारा में धरित्री को स्नान करा देती है, ये क्या केवल अर्थ है? ये क्या कुछ कह नही जाती? किसके लिए यह आयोजन है? इतना रंग, इतना राग, इतना छन्द, इतनी व्याकुलता जो जगत् में प्रतिक्षण उद्भासित हो रही है, वह क्या विविक्तवर्णा भाषा द्वारा आदृत अर्थमात्र है? बीज जब अंकुर-रूप में फटता है, तब क्या चराचर में व्याप्त उल्लास की वेदना के साथ ताल नहीं मिलता रहता? रात को आसमान में जो इतनी लालटेनें निकल पड़ती है, वे क्या निरर्थक हैं? किसी को खोजने की व्याकुल वेदना क्या उसमे नही सुनायी पड़ती? कवि जो भाषा सुना करता है, वह क्या केवल पागलपन का विकल्पमात्र है? जो लोग अपने को विशिष्ट विज्ञान के अधिकारी घोषित करते है, वे क्या सबका ठीक-ठीक मतलब समझा सकते है? कौन बतायेगा कि रम्य वस्तुओं के वीक्षण से, मधुर शब्दों के श्रवण से चित्त में पर्युत्सकी भाव क्यों आ जाता है? *मनुष्य का हृदय साक्षी है कि ये पदार्थ भी भाषा है, इनका भी कुछ अर्थ है।* जगत् जो इतना रागमय है, छन्दोमय है, वर्णमय है, वह क्या व्यर्थ है? व्यर्थ, अर्थात् अर्थशून्य, निरर्थक! नही! इस दृश्यमान चराचर का भी अर्थ है, इस भासमान तरंग-साम्य का भी मतलब है। भाषा व्यापक रूप ग्रहण करती रहती है। शास्त्रकार या योगी नही बताता कि अन्तरतर से जो छन्द के प्रति, राग के प्रति, रंग के प्रति इतना व्याकुल कम्पन उठा करता है, वह परमशक्ति की किस विलासलीला की अभिव्यक्ति है। गहराई में कहीं कुछ छूट गया है, हठयोग और नादयोग उसे नही बता पाते। कही-न-कही अनुराग-योग का भी व्याकुल कम्पन और आत्मनिवेदन मानव-हृदय के अन्तरतर में विकसित हो रहा है। उस छूटे हुए तत्त्व का सन्धान शिल्पी करता है। वह अनुभवगम्य है। उसकी प्रतीति ही यथार्थ है और अनुभूति ही सत्य है। भाषा का यह व्यापक रूप मनुष्य के अन्तरतर मे निहित सर्जनात्मक मिथक तत्त्व की देन है। हर क्षेत्र में, यहाँ तक कि निर्वैयक्तिक वस्तुपरक *विज्ञानशास्त्रों में भी यह सर्जनात्मक मिथकतत्त्व मनुष्य की कल्पना-*वृत्ति को उकसाता रहता है। वह प्रच्छन्न भाव से सदा सक्रिय रहता है।

विस्तार द्वारा मनुष्य ने राग के सहायक और पोषक वाद्ययन्त्रों का आविष्कार किया। चार प्रकार की ध्वनियों के विविक्तीकरण से इन बाजों का आविष्कार हुआ। प्राचीन शास्त्रों में इनके आतोद्य, सुषिर आदि भेद गिनाये गये है।

परन्तु आगे चलकर वृत्त और राग विशुद्ध रूप मे नही रह सके। वे एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे। वृत्तबद्ध काव्य भी गाये जाने लगे। इस प्रकार के मिश्रण से अनेक प्रकार के शब्दाश्रित लालित्य-प्रयास उत्पन्न हुए है। इस जटिल प्रक्रिया को थोड़े में समझाना कठिन है। केवल इतना कह देना काफी है कि ये सभी ध्वनिमूलक अधिगतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित-परिमार्जित और समृद्ध करती हुई अनेक शास्त्रों और विचारों को रूप देने मे समर्थ हुई है।

विविक्तीकरण की शक्ति के मूल में मनुष्य की रचनात्मक मानस-शक्ति है। कई पश्चिमी विचारकों ने इसे सम्मूर्त्तन शक्ति (पावर आफ इमेजिनेशन) कहा है। वस्तुतः यह एक प्रकार की इच्छा-शक्ति है जिसे भारतीय मनीषी 'सिसृक्षा' कहते हैं। यह मानव-मस्तिष्क में क्रमशः विकसित हुई है। जब तक जन्तुओ मे रीढ का विकास नही हुआ था तब तक उनके पास मानव-मस्तिष्क जैसे जटिल क्रियाशील मस्तिष्क को सम्हालने की शक्ति नही थी। कई कीटों और मक्खियों में मस्तिष्क विकसित तो हुआ, पर रीढ के अभाव में अधिक विकसित नहीं हो पाया। सर्वाधिक विकसित मस्तिष्क का प्राणी, ज्ञात सृष्टि में मनुष्य ही है। यदि कोई और जन्तु हो जिसका मस्तिष्क मनुष्य से अधिक विकसित हो तो उसका हमें ज्ञान नहीं है। विकसित मस्तिष्क मे ही सिसृक्षा या सर्जनेच्छा नामक इच्छा-शक्ति का सर्वोत्तम विकास होता है। यही विविक्तीकरण की शक्ति सिसृक्षा का आरम्भिक रूप है। इसने पदार्थ-जगत् में और शब्द-जगत् में नयी-नयी उद्‌भावनाओं की विपुल सम्भावना उत्पन्न कर दी है। यह अपने-आपमें अन्त नहीं है। इसका भी कोई लक्ष्य है।

['आलोचना' द्वारा आयोजित षष्टिपूर्ति समारोह मे 1 अक्तूबर, 1967 को दिये गये भाषण का परिवर्धित रूप]

पहले ही कहा गया है कि विविक्तवर्णोवाली भाषा के अधिगत होने के पूर्व मनुष्य की भाषा संगीतात्मक थी। उसकी ध्वनियाँ एक-दूसरे से इस प्रकार मिली हुई थी कि उसमें एक अविरल प्रवाह-सा रहा करता था। मानव-पूर्व प्राणियों में ऐसी भाषा अब भी मिलती है। यह उल्लास, अवसाद, भय, हर्ष आदि आन्तरिक भावो की सहज अभिव्यक्ति थी। उसका अर्थ अन्तर्जगत् के भाव थे; उद्देश्य था व्यक्तिगत सीमा का अतिक्रमण करके, समानशीलों के उन्हीं भावो को जाग्रत करके एक प्रकार के एकत्व की अभिव्यंजना। वह भीतरी स्नायु-मण्डल और पेशियों की सहज गति से प्रेरित होती थी। नृत्य भी ऐसी ही अभिव्यक्ति था। नृत्य की चर्चा आज हम नही करेंगे। परन्तु इतना कहने की आवश्यकता है कि नृत्य भी मानसिक भावों की सहज अभिव्यक्ति था और रक्त, स्नायुमण्डल और पेशियों की सहज प्रतिक्रिया से ही स्फूर्त्त होता था। नृत्य चक्षुर्गोचर सहज कला था और गान भी वैसा ही श्रुतिग्राह्य सहज कला था। दोनों ही सहज छन्द के आश्रित थे। दोनों मे आदिमानव और मानव-पूर्व जन्तुओं का आन्तरिक छन्द अभिव्यक्ति पाता था। बहिर्जगत् के दिन-रात, सर्दी-गर्मी और ऋतु-परिवर्तन आदि का सहज नियन्त्रण दोनों में ही था। भाषा की अधिगति के साथ-साथ दोनों में विविक्तीकरण द्वारा नवीन विधाओं का विकास होता गया और लालित्य-सर्जन के नये प्रयासों का आरम्भ हुआ।

छन्द सामान्य शब्द है। विविक्तवर्णा भाषा का प्रयोग इसे जटिल रूप देते लगा। जिस प्रकार विविक्तवर्णोवाली भाषा से मिथकतत्व क्रमशः छूटता गया, उसी प्रकार छन्द भी छूटता गया। छन्द गति है, अर्थ स्थिति है। अर्थ से असम्पृक्त छन्द ही राग है और अर्थ से असम्पृक्त छन्द वृत्त है। कविता को वृत्त का आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि अर्थ को छोड़कर वह नही रह सकती। विशुद्ध संगीत बिना अर्थ से सम्पर्क बनाये रह सकता है। वृत्त अर्थ-सम्पर्क को एकदम नहीं छोड़ सकता। वृत्त उस स्थिति में आविर्भूत हुआ जब मनुष्य केवल वर्णो का ही नही, बल्कि उनके उच्चारण की मात्राओ का भी विवेक कर चुका होता है। छन्द, संगीत में विभिन्न ध्वनियों के आरोह-अवरोहजन्य अर्थसम्पृक्त स्वरमात्र के विविक्तीकरण द्वारा वृत्त का रूप ग्रहण करता है। अर्थप्रधान विविक्तवर्णात्मिका भाषा का सहारा लेकर छन्द, वृत्त बनता है और अर्थनिरपेक्षा अविविक्तवर्णात्मिका भाषा का आश्रय ग्रहण करके राग बनता है। इस प्रकार छन्द दो रूपों में प्रकट हुआ, राग के रूप मे और वृत्त के रूप मे। राग के रूप में वह संगीत है और वृत्त के रूप में काव्य। राग के रूप में वह बहिर्जगत् के अर्थ मे असम्पृक्त होता है और वृत्त के रूप में वह बहिर्जगत् के अर्थ से सम्पर्क बनाये रहता है। राग आदिम है, वृत्त बाद की परिणति। वृत्त भाषा के योग से छन्द को नियत सीमा में बाँधता है, उसे किसी एक अर्थ-बिन्दु का चक्कर दिलवाता है। इसीलिए वह वृत्त है। राग का केन्द्र सीमा नही है, बहुत-कुछ परवलय की भाँति।

बहिर्जगत् के अनेक पदार्थों की ध्वनियों के विविक्तीकरण और प्रस्तार-

विस्तार द्वारा मनुष्य ने राग के सहायक और पोषक वाद्ययन्त्रों का आविष्कार किया। चार प्रकार की ध्वनियों के विविक्तीकरण से इन बाजों का आविष्कार हुआ। प्राचीन शास्त्रों में इनके आतोद्य, सुषिर आदि भेद गिनाये गये है।

परन्तु आगे चलकर वृत्त और राग विशुद्ध रूप में नही रह सके। वे एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे। *वृत्तबद्ध काव्य भी गाये जाने लगे।* इस प्रकार के मिश्रण से अनेक प्रकार के शब्दाश्रित लालित्य-प्रयास उत्पन्न हुए है। इस जटिल प्रक्रिया को थोड़े में समझाना कठिन है। केवल इतना कह देना काफी है कि ये सभी ध्वनिमूलक अधिगतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित-परिमार्जित और समृद्ध करती हुई अनेक शास्त्रों और विचारों को रूप देने मे समर्थ हुई है।

विविक्तीकरण की शक्ति के मूल में मनुष्य की रचनात्मक मानस-शक्ति है। कई पश्चिमी विचारकों ने इसे सम्मूर्त्तन शक्ति (पावर आफ इमेजिनेशन) कहा है। वस्तुतः यह एक प्रकार की इच्छा-शक्ति है जिसे भारतीय मनीषी 'सिसृक्षा' कहते हैं। यह मानव-मस्तिष्क मे क्रमशः विकसित हुई है। जब तक जन्तुओं मे रीढ का विकास नही हुआ था तब तक उनके पास मानव-मस्तिष्क जैसे जटिल क्रियाशील मस्तिष्क को सम्हालने की शक्ति नही थी। कई कीटों और मक्खियों में मस्तिष्क विकसित तो हुआ, पर रीढ़ के अभाव में अधिक विकसित नही हो पाया। सर्वाधिक विकसित मस्तिष्क का प्राणी, ज्ञात सृष्टि में मनुष्य ही है। यदि कोई और जन्तु हो जिसका मस्तिष्क मनुष्य से अधिक विकसित हो तो उसका हमे ज्ञान नही है। विकसित मस्तिष्क मे ही सिसृक्षा या सर्जनेच्छा नामक इच्छा-शक्ति का सर्वोत्तम विकास होता है। यही विविक्तीकरण की शक्ति सिसृक्षा का आरम्भिक रूप है। इसने पदार्थ-जगत् में और शब्द-जगत् में नयी-नयी उद्भावनाओं की विपुल सम्भावना उत्पन्न कर दी है। यह अपने-आपमें अन्त नही है। इसका भी कोई लक्ष्य है।

['आलोचना' द्वारा आयोजित षष्ट्यिपूर्ति समारोह मे 1 अक्तूबर, 1967 को दिये गये भाषण का परिवर्धित रूप]

साहित्य का मर्म

साहित्य-विचार में प्राचीन ग्रन्थों का महत्त्व

मित्रो, साहित्य के मर्मार्थ पर बहुत विचार हुआ है। मुझे अपने विनीत वक्तव्य को आपके सम्मुख उपस्थित करते समय इस बात का लेशमात्र भी भ्रम नहीं है कि आपको कोई नयी बात सुना सकूँगा, या कम-से-कम पुरानी बात को नयी सी बनाकर आपका मनोरंजन कर सकूँगा। मेरा वक्तव्य साहित्य को समझने के प्रयत्न करते समय उठी हुई कठिनाइयों और शंकाओं की कहानी है। इस विद्वत्सभा में उन्हें उपस्थित करते समय मेरे मन मे कोई दुविधा नहीं है। अपना मत प्रकट करने में भी मैं संकोच न करने का संकल्प लेकर ही खड़ा हुआ हूँ। मेरे मन में यदि कोई भ्रान्ति होगी तो उसके दूर करने का इससे उत्तम सुयोग दूसरा कहाँ मिलेगा? फिर मेरी कठिनाइयाँ केवल मेरी नहीं हैं, सम्पूर्ण विद्यार्थी-समाज की है। बहुत दिनों से अध्यापक का कार्य करता हूँ, नाना मुनियों के नाना मतों को पढ़ाने और समझाने का व्रत ले रखा है, सौ प्रकार के मत-मतान्तरों की चर्चा करता रहता हूँ। सब रुचते भी नहीं और सब पचते भी नहीं। एक ही लेखक के बारे में इतनी परस्पर-विरुद्ध रायें सुनने को मिलती हैं कि कभी-कभी यह आशंका होती है कि साहित्य का मूल्यांकन करना कोई शास्त्रीय विषय है भी या नहीं। कभी-कभी ऐसे आचार्यों और सहृदयों से मतभेद हो जाता है जिनके ज्ञान और अनुभव के विषय मे हृदय में अपार श्रद्धा रहती है, फिर ऐसे मित्रों से भी मतभेद हो जाता है, जिनकी बहुज्ञता से पूरी तरह परिचित रहता हूँ। ऐसे समय मन में बड़ी दुविधा का भाव पैदा होता है। क्या मेरी भ्रान्त धारणा ही इसका कारण है या परपक्ष की कोई कमी इसका हेतु है? बिहारी की नायिका की भाँति चित्त दोलायित हो उठता है:

> मैं ही बौरी बिरहबस, कै बौरो सब गाँव?
> कहा जानि ए कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाँव?

मेरा अनुमान है कि इस प्रकार की दुविधा सभी सहृदयों के मन में उठती होगी। कुछ इसी प्रकार के मनोभाव से भिन्न होकर ऐसे समालोचक भाई सा ने

कहा था कि आलोचक वस्तुतः अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और शिक्षित चित्त के साहसिक अभियान की ही कहानी सुनाता है। उसे जब किसी कवि या नाटककार के बारे में कुछ कहना पड़े तो इस प्रकार नहीं शुरू करना चाहिए कि 'सज्जनो, मैं अमुक साहित्यिक के विषय में अपने विचार सुनाने जा रहा हूँ।' बल्कि इस प्रकार शुरू करना चाहिए कि 'सज्जनो, अमुक कवि या साहित्यकार के ग्रन्थों को पढ़ने से मेरे चित्त में जो प्रतिक्रिया हुई है, उस अपनी मानसिक प्रतिक्रिया के विषय में आपको अपने विचार सुनाने जा रहा हूँ।' साहित्य का अध्यापक इस वाक्य की अन्तर्निहित वेदना को समझ सकता है। उसे एक ही कवि पर इतनी भिन्न-भिन्न रायें सुनानी पड़ती हैं और सब परस्पर भिन्न मतों का औचित्य विभिन्न दृष्टिकोणों से स्थापित करना पड़ता है कि यदि वह संवेदनशील हुआ—जिसकी सौभाग्यवश, बहुत कम अध्यापकों से आशा की जा सकती है—तो व्यथित हुए बिना रह नहीं सकता। क्या यह जो आलोचना के नित्य नये मान निर्धारित होते आ रहे हैं, उनका एक ही भविष्य है—धकिया दिया जाना? ये समालोचक कहे जानेवाले बुद्धिजीवियों के उठाये हुए महल क्या ताश के मकानों से अधिक मूल्य नहीं रखते? और यह साहित्यिक आलोचना का इतिहास 'नवनवोन्मेषशाली' शिक्षित चित्तों के साहसिक मनोविकारों के ढूहों से क्या भर नहीं गया है? कहा जाता है कि समालोचना की दुनिया निराली होती है, उसकी तुलना अन्य विज्ञानों से नहीं की जा सकती। अन्य वैज्ञानिक ठोस और इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं का निरीक्षण-परीक्षण किया करते हैं, जबकि समालोचक अनिन्द्रियग्राह्य—मैं 'अतीन्द्रिय' नहीं कहता—अलौकिक रस-वस्तु की जाँच करता है, वह अपने मनोभावों को छोड़कर इसकी विवेचना नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि पढ़ते ही जो काव्यादि उसे अभिभूत कर डालें—'पद-झंकारमात्रेण' उसका मन हरण कर लें—उन्हें ही वह श्रेष्ठ घोषित कर दे और यह भी हो सकता है कि काव्यपाठ करके उसे दीन-दुनिया के बारे में सोच-समझकर यह स्थिर करना चाहिए कि किस काव्य को उसे श्रेष्ठ घोषित करना चाहिए, और जब एक बार 'उचित' की मीमांसा हो जाय तो उसे बौद्धिक विवेचना के रूप में सहृदय समाज के सामने उपस्थित कर देना चाहिए। समालोचकों ने दोनों प्रकार के मत दिये हैं। परन्तु मैं सोचता हूँ कि सब लोग अपने-अपने मन का बाँट लेकर बाजार में खड़े हो जायँ तो क्या सामाजिक सम्बन्ध कायम रह सकता है? काव्य और काव्य की आलोचना जंगल में गाये हुए बुलबुल के गान नहीं हैं। उनका एक सामाजिक मूल्य है। साहित्यालोचना को इस प्रकार के भावावेगी आलोचकों से बचाने का प्रयत्न होना चाहिए। इस प्रकार के प्रयत्न करनेवालों में अग्रणी समालोचक श्री आई. ए. रिचार्ड्स ने अपनी 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' नामक पुस्तक में खेदपूर्वक कहा है कि काव्य समझने के लिए सर्वमान्य लक्षणशास्त्र बनाने का प्रयत्न उतनी भी गम्भीरता के साथ नहीं किया गया जितनी गम्भीरता के साथ पोल-जम्पिंग के नियम बनाये गये हैं।

विचार-शृंखला के भीतर से स्थिर किया गया था और इस देश के विचारकों का उसमें कोई स्थान नहीं था। इस प्रकार हमारी विचार-परम्परा का स्रोत पहले तो अज्ञान के कारण सूख गया और बाद में उपेक्षा के कारण भुला दिया गया। भारतीय सहृदय एकदम विचित्र परिस्थिति में पड़ गया। संस्कृत की पढ़ाई अब भी पुराने ढंग से चल रही थी, परन्तु उसकी स्तब्ध मनोवृत्ति और भी स्तब्ध हो गयी। किसी ने नवीनतम समस्याओं के बारे में पुराने पण्डित की राय पूछी भी नहीं, पूछने की जरूरत भी नहीं समझी और पुराना पण्डित सब ओर से उपेक्षित होकर अपनी पोथियों की संकुचित सीमा में अधिकाधिक सिमटता गया। नयी शिक्षा की शानदार सवारी एकदम विदेशी सज्जा में सजकर निकली। उसकी चमक-दमक ने वृद्ध देश की आँखों में चकाचौंध पैदा कर दी।

देश के विचारशील लोगों को वह अवस्था कष्टदायक लगी। नाना भाव से अपने देश को समझने-समझाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। विशेषज्ञों का एक दल—जिनमें विदेशी पण्डितों का महत्त्वपूर्ण स्थान था—अपने देश की विद्या का अध्ययन करके लुप्त होती हुई सामग्री का उद्धार करने में लग गया। बहुत-कुछ बचाया जा सका, बहुत-कुछ उबारा जा सका, परन्तु इन विषयों का उस प्रकार उपयोग नहीं किया जा सका जिस प्रकार जीवन-रस देनेवाले साहित्य का होना चाहिए। प्रधान प्रेरणास्रोत विदेशी विचारक बने रहे और इस देश के शिक्षितों ने अपने पुराने साहित्य के प्रति एक ऐसा मनोभाव पैदा कर लिया जिसे अंग्रेजी में 'म्यूजियम इन्टरेस्ट' कहते हैं। यह एक दृष्टि से बहुत बुरा हुआ। इनको यदि सम्पूर्ण समाज की वृहत्तर पटभूमिका पर रखकर और प्रधान प्रेरणास्रोत मानकर अपना आलोचना-मान निर्धारित किया गया होता तो कुछ और ही फल होता। सामाजिक पटभूमि से विच्छिन्न होकर हमारे प्राचीन ग्रन्थ केवल प्रदर्शिनी की वस्तु रह गये। उनका अधिक-से-अधिक उपयोग केवल इतना ही समझा गया कि उनसे प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन में सहायता मिलती है।

इधर जब से विश्वविद्यालयों ने मातृभाषाओं को भी उच्चतर अध्ययन के योग्य विषय मान लिया है, तब से प्राचीन साहित्य और प्राचीन अलंकार-ग्रन्थों के पठन-पाठन की ओर अधिकाधिक रुचि उत्पन्न हुई है। ऐसा भी प्रयत्न होने लगा है कि पुराने अलंकारशास्त्रों की बतायी विधियों से नयी काव्यसामग्री का मूल्यांकन किया जाय। यद्यपि यह प्रयास भारतीय शास्त्रों के अध्ययन की दृष्टि से अच्छा ही है, परन्तु यह भी भारतीय तरुण विद्यार्थी के मन में एक उलझन ही पैदा करता है। नाना कारणों से नयी कविता में ऐसी अनेक नयी बातें आ गयी हैं जो पुराने आलंकारिकों के सामने नहीं थीं और नये कवियों के सामने ऐसी समस्याएँ अब नहीं हैं जो पुराने कवि के सामने थीं। सहृदय भी अब पुराना दरबारी या विलासी नागरिक नहीं है। मशीनों ने दुनिया में नयी क्रान्ति ला दी है। छापे की मशीन ने साहित्य को जनसाधारण तक सहज ही पहुँचाने के साधन सुलभ कर दिये हैं, कविता अब कान से सुनने की चीज न रहकर आँख से पढ़ने की चीज बन गयी है। काव्यगत

झंकार से पाठक अब भुलावे में नही आता, वह आंख से पढ़ने के बाद कविता मे सार खोजता हैं। वह आवेगकम्पित कम होता है, बुद्धिचलित अधिक। राजशेखर ने जिस 'अभिप्रायवान् पाठधर्म' यानी 'काकु' को इतना बहुमान दिया था, वह अब काव्य की बड़ी शक्ति एकदम नही है। ग्राहक इन्द्रिय के परिवर्तन के साथ ही आस्वाद्य वस्तु में भी परिवर्तन हुआ है। यह ठीक है कि संस्कृत के साहित्य के निपुण पारखी पुराने ढंग के प्रवीण अलंकारशास्त्रियों ने अपने ढंग से शब्द और अर्थ की परस्परस्पर्द्धि-चारता के साहचर्य (=साहित्य) का जैसा विवेचन किया है, वैसा संसार के साहित्य में दुष्प्राप्य ही है। वस्तुतः 'साहित्य' शब्द का प्रथम प्रयोग कुन्तक (कुन्तल) नामक आचार्य ने शब्द और अर्थ के ऐसे विशिष्ट साहचर्य के अर्थ में ही किया था, जिसमें वक्रता के कारण विचित्र गुणों और अलंकारो की शोभा एक-दूसरे से स्पर्धा करती हुई आगे बढ़ रही हो।[1] लेकिन शब्द और अर्थ सामाजिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। जिस प्रकार नोट या सिक्का बाजार के व्यवहार में मूल्य का प्रतीक है, उसी तरह शब्द मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। शब्द और अर्थ के 'साहित्य' को लेकर कारबार करनेवाली विद्या निश्चित रूप से मनुष्य के सामाजिक रूप की व्याख्या करती है। इसलिए साहित्य के अध्ययन के लिए केवल पोथी में लिखे हुए लक्षण ही नही बल्कि वृहत्तर मानव समाज का भी परिचय आवश्यक है। पुराने अलंकार-ग्रन्थों के काव्यविषयक विचार समझने के लिए भी इसकी जानकारी आवश्यक है।

ध्वनि-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के बाद इस देश के आलंकारिक प्रायः अनेक विषयों पर एक हो सके थे और मोटे तौर पर यह मान लिया जा सकता है कि शब्दार्थ-साहित्य की चारता और रस-बोध के सम्बन्ध में उन्होंने एक सामान्य मान (स्टैंडर्ड) उद्भावित कर लिया था।[2] 'रस-गंगाधर' आदि अलंकार-ग्रन्थों और उनकी परवर्त्ती टीकाओं में काव्य की परिभाषा की व्याख्या करने के बाद टीकाकार लोग प्रायः एक ही प्रकार का तर्क उठाते है: "यदि यह परिभाषा स्वीकार कर ली गयी तो बहुत-सी प्राचीन कविताओं को हम कविता नहीं कह सकते।" उत्तर में कहलाया जाता है: "यह तो हम चाहते ही हैं (इष्टापत्ति) कि जो रचनाएँ इस परिभाषा के बाहर पड़ जायँ उन्हे कविता नही कहें।" फिर इसके उत्तर मे कहलाया जाता है: "नहीं, आप ऐसा नही कह सकते; क्योंकि आप जिस बात को मानना चाहते हैं उसके मानने से शिष्ट-सम्प्रदाय का विरोध होगा।"

1. शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। एवमस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे कदाचिदेकस्य-मकाङ्मात्र शून्यतया सत्या काव्य व्यवहारः प्रवर्तत इत्याह—सहिताविति। सहभावेन साहित्येन अवस्थितौ। ननु वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वादेतयोर्न कथंचिदपि साहित्या-विरहः। सत्यमेतत्। किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्? वक्रता विचित्र गुणालकार सम्पदां परस्पर स्पर्धाधिरोह'। ('व्यक्ति विवेक')
2. यत्तु रसादेव काव्यमिति साहित्यदर्पणे निरणीत तन्न। वस्त्वलंकार प्रधानानाम् काव्यापत्तेः। न चेष्टापत्तिः महाकविसंप्रदाय विरोधात्। ('रसगंगाधर')

('शिष्ट-सम्प्रदाय विरोधात्) इत्यादि। यहाँ हम इस तर्क के विस्तार में नहीं जायेंगे। परन्तु इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि पुराना भारतीय सहृदय शिष्ट-परम्परा के विरोध को नहीं बर्दाश्त कर सकता। यही कारण है कि पुराने संस्कृत साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग आलोचनाशास्त्र के बहु-विघोषित मर्यादा से थोड़ा विच्छिन्न हो जाता है। इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि पुराने साहित्य के अध्ययन के लिए हमें अलंकारशास्त्र से बाहर भी आना चाहिए। आखिर शिष्ट-सम्प्रदाय का विकास कुछ सामाजिक परिस्थितियों के भीतर से ही तो होता है।

पुराने पण्डितों ने भी देखा था कि केवल लक्ष्य लक्षण की जानकारी काफी नहीं है। तर्क करने की क्षमता भी होनी चाहिए, अवाप-उद्वाप द्वारा वस्तु के याथार्थ्य तक पहुँचाने का सामर्थ्य भी होना चाहिए। अलंकारशास्त्र की भी अपनी मर्यादा है, उस मर्यादा का रहस्य समझने की क्षमता भी आवश्यक है और काव्यज्ञ शिक्षा का अभ्यास भी होना चाहिए, अर्थात् काव्य की निरन्तर प्रवहमान परम्परा का ज्ञान भी जरूरी है। इन गुणों के बिना यदि काव्य का रसास्वादन किया जा सके तो फिर कौए की कालिमा से राजाओं के महलों की सफेदी भी हो सकती है :

य: स्यात् केवललक्ष्यलक्षणपरो नोतर्कसंपर्कभू-
न्नालंकार विचार सारधिषण: काव्यज्ञशिक्षोज्झित ।
तस्मिश्चे द्रसशालि काव्यमुदयेदेकान्तत: सुन्दरम्
प्रासादो धवलस्तदा क्षितिपते: काकस्य काष्टार्याद्भवेत ॥

चित्र, प्रहेलिका आदि को नये परवर्ती आलंकारिकों ने अलकार तक नहीं माना है; क्योंकि ये रस के परिपन्थी हैं। फिर भी संस्कृत साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग चित्र और प्रहेलिका से भरा है। संस्कृत के सभी काव्य-सुभाषितों के संग्रह में इनको स्थान मिला है। सिद्धों और सन्तों की सन्धाभाषा के पद और उलटबाँसियाँ प्रहेलिका की सीमा तक पहुँची हैं। क्यों ऐसा हुआ ? दण्डी, माघ और भारवि जैसे कवियों ने इस निरर्थक-सी बात के लिए कम सिर नहीं खपाया है। संस्कृत में कितनी ही पोथियाँ समस्यापूर्ण आशुकवित्व, प्रहेलिका और चित्र आदि सिखाने के उद्देश्य से ही लिखी गयी हैं। निश्चय ही समाज में इनका हेतु खोजना पड़ेगा। सामाजिक परिस्थितियों के अध्ययन बिना हम इसका रहस्य नहीं समझ सकते। हमें यह जानना होगा कि उस युग के नागरजन कैसे होते थे, काव्य का सम्मान करनेवाले सहृदय रईस कैसे होते थे, काव्य को क्या समझा जाता था और यश और सम्मान पाने के साधन क्या-क्या थे। जब तक हम यह नहीं जानते कि सन् ईसवी के आरम्भ से लेकर सैकड़ों वर्ष बाद तक कवियों के सम्मान के लिए सरस्वती-भवन, कामदेवायतन में विदग्ध गोष्ठियाँ बैठा करती थीं, उनमें अक्षर-च्युतक, बिन्दुमती, समस्या-पूर्ति आदि में सम्मानित होनेवाले व्यक्ति को राजा लोग पद से सम्मानित ही नहीं करते थे, कभी-कभी उन्हें रथ में बैठाकर स्वयं खींचकर सम्मान भी दिया करते थे, तब तक इतने परिश्रम से इन बेकार-सी बातों के लिए कवियों का प्रयत्न पागलपन-सा लगेगा। उन दिनों नागरिक लोग

विन्दुमती और अक्षरच्युतक से मनोविनोद किया करते थे, राजदरबार मे चामत्कारिक उक्तियों से प्रतिद्वन्द्वी कवि को पछाडने का प्रयत्न करते थे, आशु-कवित्व द्वारा सभा को चकित करके यशस्वी बनते थे। ये बातें हमारे इतिहास की सामग्री हैं। दण्डी ने कहा है कि प्रतिभा न होने पर भी अभ्यास से कवित्व की सिद्धि प्राप्त हो सकती है, इसीलिए कीर्त्ति चाहनेवाले लोगों को परिश्रम के साथ काव्यविद्या का अभ्यास करना चाहिए। यदि वे परिश्रम करें तो कवित्वशक्ति के दुर्बल होने पर भी विदग्ध गोष्ठियों मे विहार तो कर ही सकते हैं :

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमुत्तमम्
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।
तदस्ततन्द्रैरनिश सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभि
कृशे कवित्वेऽपि जना. कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीपु विहर्तुमीशते।

—'काव्यादर्श' 1. 104-105

यह प्रश्न नितान्त अनुचित नही है कि वह काव्य जो राजसभाओं में या गोष्ठी-विहारों में कवि को कीर्त्तिशाली बना देता था, कैसा होता होगा? 'कुमार-सम्भव' जैसे बड़े-बड़े प्रवन्धकाव्यों के पढने योग्य समय तो वहाँ नही रहता होगा, 'मेघदूत' जैसे खण्डकाव्य भी कम ही पढे जा सकते होंगे। वस्तुत: जो काव्य इन स्थानों पर पढे जाते होगे, वे छोटे-छोटे मुक्तक ही होते होगे और उक्ति-चमत्कार का उनमें प्राधान्य रहता होगा। राजशेखर ने उक्तिविशेष को जब काव्य कहा था, तो उनका मतलब कुछ इसी प्रकार के काव्य से था। मैं यह नही कहता कि रसपरक काव्य का उन दिनों कोई महत्त्व ही नही था, मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि राजसभाओं और गोष्ठी-विहारों में जो काव्य कीर्त्तिशाली बना सकते थे वे चामत्कारिक उक्तियोंवाली रचनाएँ ही होती थी। पुरानी अनुश्रुतियों से इस बात का समर्थन होता है। रुद्रट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि (5-24) मात्राच्युतक, विन्दुमती, प्रहेलिका आदि केवल क्रीडामात्र के लिए उपयोगी है,[1] और दण्डी ने 'काव्यादर्श' में (3. 97) क्रीड़ा-गोष्ठियों के विनोद में, साहित्यरसिकों की बैठक में और दूसरों को मोहित करने के लिए ही प्रहेलिकाओं को उपयोगी बताया है।[2] सम्भवत: पुराने अलकारशास्त्रों में रस की उतनी परवा न करके, उक्तिवैचित्र्य और गुण-दोष की ही चर्चा जो अधिक मिलती है, उसका भी यही कारण है। गुण-दोष का ज्ञान वादी को पराजित करने में सहायक होता था। काव्य के लिए केवल प्रतिभा को ही आवश्यक नही माना जाता था, अभ्यास की भी पूरी

1. मात्राविंदुच्युतके प्रहेलिकाकारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत् क्रीडामात्रोपयोगमिदम्॥
—रुद्रट, 5-24

2 क्रीडागोष्ठी विनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहनेचापिसोपयोगा प्रहेलिका॥
—'काव्यादर्श', 3. 97

आवश्यकता अनुभव की जाती थी। यह तो स्वीकार किया गया है कि प्रतिभा नहीं होने से काव्य सिखाया नहीं जा सकता, विशेष कर उस आदमी को तो किसी प्रकार कवि नहीं बनाया जा सकता जो स्वभाव से ही पत्थर के समान जड़ है, जिसे आर्द्रता की लहरें थोड़ा भी अन्तःसिक्त नहीं कर पातीं। फिर ऐसे आदमी को भी काव्य का अभ्यास नहीं कराया जा सकता, जो तर्कशास्त्र या व्याकरण पढ़कर अपनी स्वाभाविक संवेदनशीलता खो चुका है। पहले प्रकार का व्यक्ति 'प्रकृत्या जड़' कहा जाता है और दूसरे प्रकार का 'नष्ट साधन'। क्षेमेन्द्र ने अपने 'कविकण्ठाभरण' में बताया है कि इनको काव्य किसी प्रकार नहीं सिखाया जा सकता।[1] परन्तु यदि थोड़ी भी शक्ति हो तो काव्य सिखाया जाना सम्भव है। प्राचीनों का विश्वास था कि पूर्वजन्म के पुण्य से, या मन्त्रसिद्धि से, या देवता के वरदान से बीच में अचानक कवित्व प्राप्त हो जाता है। कवित्व सिखानेवाले ग्रन्थों का यह दावा तो नहीं है कि वे गधे को गाना सिखा देंगे या अन्धे को देखने की शक्ति दे देंगे, पर थोड़ी-सी शक्ति हो तो उसे सभाओं में सम्मान पाने योग्य बना देना उन्हें सम्भव जान पड़ता है और पुराने सामन्तयुग के मनुष्य के लिए यह कम महत्व की बात नहीं थी। क्योंकि यद्यपि शास्त्र के अनुसार काव्य यश के लिए, व्यवहार-ज्ञान के लिए, अमंगल-निरास के लिए, सहज मुक्ति के लिए या कान्तासम्मित उपदेश के लिए लिखे जाते थे अर्थात् जीवन की लगभग समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काव्य लिखे जाते थे, पर ज्यादा जोर कीर्ति पाने पर ही दिया गया है। कवियों की यह कहकर प्रशंसा की गयी है कि उनके यशःशरीर में जरा-मरण का भय नहीं होता :

> जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः
> नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्!!

मध्ययुग के अनेक प्रयत्नों के मूल में कीर्ति पाकर अमर होने की लालसा काम कर रही है। कीर्ति प्राप्त करने में राजा और उसकी राजसभा मुख्य सहायक साधन थे। सुभाषितों में राजस्तुति को निर्विवाद रूप से काव्य मान लिया गया था। राजदरबार को कीर्ति प्राप्त करने का केन्द्र मान लेने के कारण एक विशेष प्रकार का दरबारी काव्य उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुआ और दुर्जनों और चुगलखोरों की निन्दा और सज्जनों और सहृदयों की प्रशंसा को उसमें विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ। यह परम्परा बहुत दिनों तक किसी-न-किसी रूप में जीती चली आयी। अन्तिम हिन्दू सम्राटों और राजाओं के दरबार के कवि पूरे दरबारी हो गये थे।

1. यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः।
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्यात् शिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः।
—'कविकण्ठाभरण', 1. 23-24

सामन्त-युग का पूरा प्रभाव हमारे अलंकारशास्त्रों पर पड़ा है। राजकीय ठाटबाट का जीवन कवि का भी आदर्श हो गया। राजशेखर ने कवि के जिस शानदार जीवन का चित्र खींचा है वह चौंधिया देनेवाला है। माघ पण्डित की समृद्धि का वर्णन 'प्रबन्ध चिन्तामणि' आदि ग्रन्थों में बड़ी मुखर भाषा में किया गया है, स्वयं राजा भोज को उस समृद्धि के सामने चकित और हतगर्व होना पड़ा था। ऐसा जान पड़ता है कि इस श्रेणी के कवियों के सामने वाल्मीकि और व्यास का आदर्श नहीं था, यद्यपि उनके प्रति भक्ति प्रचुर मात्रा में थी।

आज का कवि भी यह स्वीकार करने में संकोच करेगा कि वह धन के लिए या यश के लिए व्यवहार सिखाने के लिए लिख रहा है और पाठक भी उससे इन बातों की आशा नहीं करता। छापे की मशीन ने इन विषयों के लिए अनेक अन्य शास्त्रों को सुलभ कर दिया है। इस मशीन ने जो पाठक को भावावेश पर से धकेलकर बुद्धिप्रवाह में फेंक दिया है, वह मामूली बात नहीं है। कवि के हाथ से अनेक विभाग छिन गये हैं। कुछ कहानियों ने ले लिया है, कुछ उपन्यासों ने हथिया लिया है, कुछ निबन्धों ने छीन लिया है, और इन साहित्यांगों ने 'कान्तासम्मित उपदेश' देने के महान् मंच पर से कवि को उतार दिया है। पाठक उससे कुछ अधिक चाहता है। क्या चाहता है, यह कहना बड़ा कठिन हो गया है। शायद वह 'जीवन की व्याख्या' चाहता है, शायद वह 'आत्माभिव्यक्ति' चाहता है, शायद वह 'स्पांटेनियस आउटबर्स्ट आफ पर्सनल फीलिंग्स' (वैयक्तिक अनुभूतियों का स्वत समुच्छ्वित उच्छ्वास) चाहता है, या शायद वह 'मानवता के अन्तस्तल में निहित एकता की उपलब्धि' चाहता है—ऐसा ही कुछ आधुनिक आलोचकों ने उस रहस्यमय माँग को समझ रखा है। अब युगचेतना को स्वर देना कवि का कर्त्तव्य माना जाने लगा है, मानव-संस्कृति का निर्माण करना उसका लक्ष्य समझा जाने लगा है। अब उसे दरबार को जीतकर कवियश पाने का अधिकारी नहीं माना जाता।

पुराना कवि इतनी माँगों का शिकार नहीं बना था, इसीलिए उसकी दुनिया काफी बड़ी थी। फिर भी विचित्र विरोधाभास यह है कि वह दुनिया के समस्त पदार्थों को अपने वर्ण्यविषय के अन्तर्गत मानने पर भी चुनता कुछ थोड़े ही विषयों को था। उसे वर्ण्यवस्तु को सरस बनाने की बड़ी चिन्ता थी और उसमें भी वह शृंगार को ही अधिक महत्त्व देता था। इस रस के बाहर यदि वह जाता था तो प्रायः ऐसी बातों में ही उलझता था जिसमें वक्तव्य वस्तु कुछ ऐसी वक्रभंगिमा में प्रकट हो कि सहृदयों की सभा वाह-वाह कर उठे।

उस काल के ग्रन्थों में राजसभाओं का जो वर्णन पाया जाता है, वह यद्यपि एक प्रकार के काव्यविनोदों से परिपूर्ण है; फिर भी उसमें उक्तिवैचित्र्य को या कौशलविशेष को ही विशेष सम्मान प्राप्त होता था। 'कादम्बरी' में कविवर बाणभट्ट ने इस सभा का बड़ा जीवन्त वर्णन किया है। जब राजा सभा में उपस्थित होता था तब तो बड़ी शान्ति रहती थी, पर राजा के न रहने पर लोग अमर्यत हो

108 श्लोकों का पाठ किया तो हरिहर ने कहा कि ये श्लोक पुराने हैं और महाराजा भोज के प्रासाद पर खुदे हैं। ऐसा कहकर उन्होंने सारे श्लोक पढ़कर सुना दिये। सोमेश्वर तो इस अपवाद से पानी-पानी हो गये। उनका मुँह पीला पड़ गया। उनकी भद्द उड़ गयी। कवि के सम्मान को इस प्रकार एक ही धक्के में गिराकर विजयी हरिहर चले आये। लेकिन श्लोक सचमुच ही सोमेश्वर के थे। जब वे फिर वीरधवल के शरणापन्न हुए तब हरिहर कवि ने रहस्य खोली। हरिहर बड़े मेधावी थे। एक बार सुनकर ही श्लोक याद कर लेते थे। राजा वीरधवल से उन्होंने अपनी चतुरता की बात बताकर सोमेश्वर की मानरक्षा की।

ऐसे ही दुर्दान्त हरिहर कवि का पाला एक दूसरे कवि मदन से पड़ा। ये दोनों ही प्रसिद्ध जैनमन्त्री वस्तुपाल के राजकवि थे। दोनों में ऐसी लाग-डाँट थी कि दोनों के साथ पहुँचने पर कलह निश्चित था। इसीलिए मन्त्री ने नियम बना दिया था कि एक के रहते दूसरा सभा में न आने पाये। द्वारपाल को इस विषय में सावधान कर दिया गया था। लेकिन एक दिन द्वारपाल की असावधानी से हरिहर की वर्तमानता में ही मदन पहुँच गये। हरिहर उस समय काव्य सुना रहे थे। मदन ने डाँटकर कहा, "हरिहर परिहर गर्वं कविराजगजांकुशो मदनः" (हरिहर घमण्ड छोड़, मदन कविराजरूपी हाथियों का अंकुश है!) (हरिहर ने तड़ाक से जवाब दिया, "मदन विमुद्रय वदन हरिहर चरितं स्मरातीतम्") (मदन मुँह बन्द करो, हरिहर का चरित मदन की शक्ति के बाहर है!)। मन्त्री ने मामला बढ़ते देखा तो कहा, "देखिए, कवि महानुभावो, झगड़ा छोड़िए, इस नारियल पर कविता लिखिए, जो पहले सौ श्लोक बना देगा, वह विजयी होगा।" मदन ने पटापट पूरे कर दिये, हरिहर तब तक साठ तक ही पहुँचे थे। लेकिन हारनेवाले और होते हैं, हरिहर राजसभा के समझे हुए पक्के अखाड़िये थे। खट से इकसठवाँ श्लोक बनाकर सुना दिया—"अरे गँवई गाँव का मूर्ख जुलाहा, क्यों गँवार औरतों के पहनने लायक सैंकड़ों घटिया किस्म के कपड़े बुनकर अपने-आपको हैरान कर रहा है? भलेमानस, एक भी तो ऐसी साड़ी बुन, जिसे बड़े-बड़े राजाओं की महिषियाँ क्षण-भर के लिए भी अपने हृदयस्थल से हटाना गवारा न कर सकें!"

रे रे ग्राम कुविन्द कन्दलतया वस्त्राण्यमूनि त्वया।
गोणी विभ्रमभाजनानि बहुशोऽ यात्मा किमायास्यते?
अ येकं रुचिरं चिरादभिनव वासस्तदासूत्र्यता
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृता वल्लभाः।

ऐसी विकट प्रतिद्वन्द्विता में ठहरना मामूली कला नहीं थी। चिन्तासक्त मन्त्रियों की गम्भीर मूर्ति, सबकुछ करने के लिए सदा तत्पर दूतों की कठोर मुद्रा, प्रान्तभाग में उपस्थित खुफिया विभाग के धूर्त अफसर, हाथी-घोड़ों का चकरा देनेवाला ठाटबाट, कायस्थों की कुटिल भृकुटियाँ और कूटनीति के दाँवपेच में उस्ताद लोगों का जाल मामूली साहसवाले मनुष्य की तो अँतड़ी ही सुखा देते

उठते थे। 'कादम्बरी' के वर्णन के अनुसार जब राजा सभा में उपस्थित नहीं थे, तब सामन्त में से कुछ लोग पासा खेलने के लिए कोठे खींच रहे थे, कोई पासा फेंक रहे थे, कोई वीणा बजा रहे थे, कुछ लोग चित्रफलकों पर राजा की प्रतिमूर्ति आँक रहे थे, कुछ लोग काव्यालाप में मग्न थे, कुछ हँसी-दिल्लगी में मशगूल थे, कुछ लोग बिन्दुमती नामक विनोद में उलझे हुए थे (अर्थात् बहुत-से बिन्दुओं में आकार, उकार आदि मात्राएँ लगा दी गयी थीं और इस पर से वे पूरे श्लोक का उद्धार करने का प्रयत्न कर रहे थे), कुछ लोग प्रहेलिका नामक काव्यभेद का रस ले रहे थे, कुछ राजा के बनाये श्लोकों की चर्चा कर रहे थे, कुछ जो अधिक ढीठ थे वे दरबार के मनोविनोद के लिए आयी हुई स्त्रियों से रसालाप में लगे हुए थे और कुछ चतुर लोग बन्दीजनों से राजा के पूर्वपुरुषों की यशोगाथा सुन रहे थे। इस वर्णन से जान पड़ता है कि दरबार में काव्य-विनोद की रुचि थी, परन्तु वह काव्य-विनोद बिन्दुमती, प्रहेलिका, चित्र आदि काव्यों की श्रेणी का था। उन दिनों का दरबारी इन बातों में रस ले सकता था और कवि से इस प्रकार के विनोद में सहायक होने की आशा भी रखता था। वस्तुतः राजसभा में सात अंगों की प्रधानता उन दिनों निर्विवाद रूप से स्वीकार कर ली गयी थी। वे सात अंग हैं, (1) विद्वान्, (2) कवि, (3) भाट, (4) गायक, (5) मसखरे, (6) इतिहासज्ञ, और (7) पुराणज्ञ।

विद्वास कवयो भट्टा गायका परिहासकाः
इतिहास-पुराणज्ञा: सभा सप्तांगसंयुता।

ऐसी ही रुचिवाली सभा का सामना कवि को करना पड़ता था। राजा लोग कविसभा का आयोजन भी करते थे और उनमें कवियों की परीक्षा भी हुआ करती थी। वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक और साहसांक आदि राजाओं ने यह परम्परा चलायी थी और परवर्ती राजा लोग इस महत्त्वपूर्ण परम्परा को पोषण देते आये। कवियों की नाना भाव से परीक्षा होती थी। कोई कविता चुरा न ले, इसका भी डर बना रहता था और इसलिए भी यह आवश्यक था कि कवि अपनी रचना समाप्त करने के बाद राजसभा में सुनाकर उस पर अपनी मुहर लगवा दे। राजशेखर ने बताया है कि जब तक काव्य पूरा न हो तब तक दूसरों के सामने उसे नहीं पढ़ना चाहिए। इसमें यह डर रहता है कि सुननेवाला उस काव्य को अपने नाम से चला देगा, फिर कौन गवाही देगा कि किसकी रचना है! इतनी सावधानी बरतने पर भी कभी-कभी कवि को धोखा खाना पड़ता था। 'प्रबन्ध कोश' में हर्ष कवि के वंशधर हरिहर कवि की एक मनोरंजक कथा दी हुई है। वे जब गुजरात के राजा वीरधवल के यहाँ गये थे तो वहाँ स्वयं न उपस्थित होकर अपने एक विद्यार्थी के द्वारा राजा, मन्त्री और राजकवि सोमेश्वर को आशीर्वाद भिजवाया। राजकवि सोमेश्वर को यह बुरा लगा और उन्होंने विद्यार्थी से बात तक नहीं की। सोमेश्वर के इस व्यवहार को हरिहर ने गाँठ बाँध ली। दूसरे दिन राजसभा में जब सोमेश्वर ने राजा के एक प्रासाद पर खुदवाने के लिए लिखे हुए

108 श्लोकों का पाठ किया तो हरिहर ने कहा कि ये श्लोक पुराने हैं और महाराजा भोज के प्रासाद पर खुदे हैं। ऐसा कहकर उन्होंने सारे श्लोक पढ़कर सुना दिये। सोमेश्वर तो इस अपवाद से पानी-पानी हो गये। उनका मुंह पीला पड़ गया। उनकी भद् उड़ गयी। कवि के सम्मान को इस प्रकार एक ही धक्के में गिराकर विजयी हरिहर चले आये। लेकिन श्लोक सचमुच ही सोमेश्वर के थे। जब वे फिर वीरधवल के शरणापन्न हुए तब हरिहर कवि ने रहस्य खोली। हरिहर बड़े मेधावी थे। एक बार सुनकर ही श्लोक याद कर लेते थे। राजा वीरधवल से उन्होंने अपनी चतुरता की बात बताकर सोमेश्वर की मानरक्षा की।

ऐसे ही दुर्दान्त हरिहर कवि का पाला एक दूसरे कवि मदन से पड़ा। ये दोनो ही प्रसिद्ध जैनमन्त्री वस्तुपाल के राजकवि थे। दोनों में ऐसी लाग-डाँट थी कि दोनों के साथ पहुँचने पर कलह निश्चित था। इसीलिए मन्त्री ने नियम बना दिया था कि एक के रहते दूसरा सभा में न आने पायें। द्वारपाल को इस विषय में सावधान कर दिया गया था। लेकिन एक दिन द्वारपाल की असावधानी से हरिहर की वर्तमानता में ही मदन पहुँच गये। हरिहर उस समय काव्य सुना रहे थे। मदन ने डाँटकर कहा, "हरिहर परिहर गर्व कविराजगजांकुशो मदनः" (हरिहर घमण्ड छोड़, मदन कविराजरूपी हाथियों का अंकुश है!) (हरिहर ने तड़ाक से जवाब दिया, "मदन विमुद्रय वदन हरिहर चरितं स्मरातीतम्") (मदन मुंह बन्द करो, हरिहर का चरित मदन की शक्ति के बाहर है!)। मन्त्री ने मामला बढ़ते देखा तो कहा, "देखिए, कवि महानुभावो, झगड़ा छोड़िए, इस नारियल पर कविता लिखिए, जो पहले सौ श्लोक बना देगा, वह विजयी होगा।" मदन ने पटापट पूरे कर दिये, हरिहर तब तक साठ तक ही पहुँचे थे। लेकिन हारनेवाले और होते हैं, हरिहर राजसभा के समझे हुए पक्के अखाड़िये थे। खट से इकसठवाँ श्लोक बनाकर सुना दिया—"अरे गँवई गाँव का मूर्ख जुलाहा, क्यों गंवार औरतों के पहनने लायक सैकड़ों घटिया किस्म के कपड़े बुनकर अपने-आपको हैरान कर रहा है? भलेमानस, एक भी तो ऐसी साड़ी बुन, जिसे बड़े-बड़े राजाओं की महिषियाँ क्षण-भर के लिए भी अपने हृदयस्थल से हटाना गवारा न कर सकें!"

> रे रे ग्राम कुविन्द कन्दलतया वस्त्रण्यभूति त्वया।
> गोणी विभ्रमभाजनाति बहुशोऽ यात्मा किमायास्यते?
> अ येकं रुचिरं चिरादभिनवं वासस्तदासूत्र्यता
> यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृता वल्लभाः।

ऐसी विकट प्रतिद्वन्द्विता में ठहरना मामूली कला नहीं थी। चिन्तासक्त मन्त्रियों की गम्भीर मूर्त्ति, सबकुछ करने के लिए सदा तत्पर दूतों की कठोर मुद्रा, प्रान्तभाग में उपस्थित खुफिया विभाग के धूर्त्त अफसर, हाथी-घोड़ों का चकरा देनेवाला ठाटबाट, कायस्थों की कुटिल भृकुटियाँ और कूटनीति के दाँवपेंच में उस्ताद लोगों का जाल मामूली साहसवाले मनुष्य की तो अँतड़ी ही सुखा देते

थे। एक कवि ने राजा के सामने ही इस राजसभा को हिंस्रजन्तुओं से भरा समुद्र बताकर अपनी मानसिक हैरानी को किंचित् हल्का करने का प्रयत्न किया था :

चिन्तासक्त निमग्न मंत्रि सलिलं दूतोर्मिशंखाकुलम् ।
पर्यन्तस्थित चार नक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम् ।
नानावासक कंक पक्षिरुचिरं कायस्थ सर्पाकुलम्
नीतिक्षुण्ण तटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥

ऐसी राजसभा में कवि को अपनी कविता पढ़कर कीर्ति कमानी होती थी। हम उस युग की कविता की चर्चा करते समय इस वाह्य परिस्थिति की उपेक्षा नहीं कर सकते।

इन बातों को ध्यान में रखने से उस युग के काव्य-प्रयत्नों को आसानी से समझा जा सकता है। काव्य को बहुत पहले से ही कला समझा गया था। श्री ए. वेंकटसुब्बैया ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से संग्रह करके 'कलाज' नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित करायी है। उक्त पुस्तिका में संगृहीत सूचियों को देखने से जान पड़ता है कि कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते हैं, जिसमे थोड़ी-सी चतुराई की आवश्यकता हो। सो व्याकरण, छन्द, न्याय, ज्योतिष आदि भी कला हैं, काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि भी कला हैं, स्त्रियों का शृंगार करना, कपड़ा रँगना, चोली सीना और सेज बिछाना भी कला है, रत्न और मोतियो को पहचानना; घोड़ा, हाथी, पुरुष, स्त्री, छाग, मेष, कुक्कुट आदि का लक्षण जानना भी कला है; और तित्तिर-बटेर लड़ाना, तोते पढ़ाना, जुआ खेलना भी कला है। प्राचीन ग्रन्थों से जान पड़ता है कि कई कलाएँ पुरुषों के योग्य समझी जाती थीं, यद्यपि कभी-कभी गणिकाएँ भी उनमे उतनी ही निपुण हो जाया करती थीं, जितने पुरुष। गणित, दर्शन, युद्ध, घुड़सवारी आदि ऐसी ही कलाएँ हैं। कुछ कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में पंचाल की कलाएँ बतायी गयी हैं, वे ऐसी ही हैं। परन्तु स्वयं वात्स्यायन की अपनी सूची मे जिन चौसठ कलाओं की चर्चा है, उनमें लगभग एक-तिहाई ऐसी हैं, जिन्हें काव्यशास्त्रीय विनोद कह सकते हैं, बाकी में कुछ तरुण दम्पतियों की विलासक्रीड़ा में सहायक है, कुछ मनोविनोद के सहायक हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनों के पूरक भी हैं। यदि पंचाल और यशोधर की बात छोड़ दी जाय तो प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त 64 या 72 कलाओं में काव्यशास्त्रीय विनोदों का स्थान बहुत प्रमुख है। बाद में तो कला का अर्थ केवल कौशल ही मान लिया गया। सुप्रसिद्ध कवि क्षेमेन्द्र ने अपने 'कलाविलास' में गणिकाओं के धनापहरण के कौशलों को, कायस्थों की कुटिलता को, सुनारों की चोरी करने के कौशलों को, गवैयों के हथकण्डों को, गणकों की धूर्तताओं को कला में ही गिना है। इसमें काव्यकला को कोई स्थान ही नहीं दिया गया। इस काल के कविजन अपने को कला-कोविद मानने में गर्व अनुभव करने लगे थे और सब प्रकार के कौशलों को जानना आवश्यक समझने लगे थे। काव्य का एक कौशल हो जाना

काव्य के स्वरूप प्रदान करने में निश्चय ही विशेष महत्व की वात है। राजसभाओं में कवि को अपने वाक्कौशल का प्रदर्शन करना पड़ता था। वहाँ कविता यदि वचन की वक्रभंगिता का या अलंकार-विलास का रूप धारण कर ले तो कुछ आश्चर्य की वात नहीं है।

छन्द वचन-वक्रिमा का प्रधान सहायक है। ऐसा जान पड़ता है कि दीर्घकाल से केवल शब्दों को छन्द में गूँथ देने मात्र से वहुत-सी वातों को 'कविता' नाम दे दिया गया है। सुना है कि जीव-विज्ञान ने बताया है मनुष्यजाति सीधी रेखा की अपेक्षा वर्तुल-वक्रिम रेखा में चलने में ज्यादा सौन्दर्य अनुभव करती है। रेतस् और कलल के संयोग से ही यह वक्र गतिप्रियता आरम्भ हो जाती है और गर्भावस्था में ही पूर्ण परिणति लाभ करती है। मनुष्य की यह वक्रिमा-प्रीति छन्द के अनुसरण के रूप मे प्रकट हुई है। संसार की पुरानी-से-पुरानी भाषा छन्दो में ही सुरक्षित है। आदिम जातियाँ अपने समस्त अनुभव छन्दों मे ही संचित करती आयी है। गद्य मनुष्य की वैज्ञानिक मनोवृत्ति की उपज है और छन्द उसकी सहजात आनन्दिनी मनोवृत्ति की। कविवर रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि "वाक्य जब सीधा खड़ा रहता है तब केवल अर्थ को प्रकट करता है, परन्तु जब वह तिरछी भंगिमा में खडा होकर गतिशील हो उठता है तो साधारण अर्थ के अतिरिक्त और भी अनेक वाते प्रकाश करता है। वह अतिरिक्त वस्तु क्या है यह कहना वड़ा कठिन है; क्योकि वह वचन के अतीत है और इसीलिए अनिर्वचनीय है। हम जो कुछ देखते हैं, सुनते है, जानते है, उसके साथ जब अनिर्वचनीय का योग होता है तो हम उसे 'रस' कहते है, अर्थात् वह वस्तु जिसे हम अनुभव करते हैं पर व्याख्या द्वारा समझा नही सकते।" यहाँ अनिर्वचनीय शब्द से भ्रम होने की आशंका है। अनिर्वचनीय का अर्थ अभावनीय नहीं। रवीन्द्रनाथ ने स्वयं अपने भाव को स्पष्ट करने के लिए बताया है कि अनिर्वचनीय का अर्थ केवल यही है कि इस वस्तु की व्याख्या करके इसे समझाया नही जा सकता; यह नही कि इसे अनुभव नही किया जा सकता। वल्कि वह एकमात्र अनुभव का ही विषय है। छन्द इसमें हमारी सहायता करता है; क्योकि वाणी मे आवेग की गति आ जाने से हम भावावेग को प्रकाशित करने का सुयोग पाते है।

छन्द वस्तुतः एक गति है। यह समझना ठीक नही कि वह मात्राओं और यतियों का बन्धन है। जिस प्रकार नदी अपने दोनों किनारो से बँधकर ही वेगवती होती है, यदि किनारे के बन्धन न हों तो प्रवाह का वेग भी न होगा, उसी प्रकार वाणी भी मात्राओं और यतियों के बँधे किनारों के भीतर से वेगवती हो उठती है। कोई आश्चर्य नहीं कि मनुष्य ने केवल छन्द को ही कविता नाम दे दिया था। छन्द के प्रकट करने से साधारण बात मे भी एक ऐसी गति आती है जो मनुष्य के चित्त की अनुवर्तिनी हो उठती है। न जाने क्यों पुराने पण्डितो ने छन्द शब्द की व्युत्पत्ति छादन से बनायी है। निरुक्तकार ने कहा है छादन करने के कारण ही छन्द 'छन्दस' कहलाते है (7. 12)। 'दैवत ब्राह्मण' (3. 19) के भाष्य में सायण ने

भी यही मत प्रकट किया है। उनका कहना है कि वर्णों को छादन करने के कारण ही छन्द, छन्द कहे जाते हैं। महामहोपाध्याय पं. विधुशेखर भट्टाचार्य ने बताया है[1] कि इस प्रकार की व्याख्या का मूल कारण शायद 'छान्दोग्य उपनिषद्' (1. 4. 2) का वह मन्त्र है[2] जिसमें कहा गया है कि देवता लोग मृत्यु से डरते हुए त्रयी विद्या में प्रविष्ट हुए। उन्होंने अपने-आपको छन्दों में आच्छादित किया और इस प्रकार आच्छादन करने के कारण ही छन्द 'छन्द' कहे जाने लगे। यह कुछ विचित्र व्याख्या है। पर संस्कृत साहित्य में छन्द का अर्थ प्रसन्न होना भी पाया जाता है। 'छन्द' शब्द का मूल अर्थ आनन्द देनेवाला ही हो सकता है। पं. विधुशेखर भट्टाचार्य ने छान्दोग्य के मन्त्र की इस प्रकार व्याख्या करके इस अर्थ की संगति बैठायी है (जो उचित जान पड़ती है): "देवता लोग मृत्यु से डरे हुए थे, उन्होंने वेदमन्त्रों का ऐसा मधुरगान किया कि मृत्यु मुग्ध हो गयी। मुग्ध होने के कारण वह उन्हें देख नहीं सकी, मानो वे इस प्रकार वेदमन्त्रों से आच्छादित हो गये और मृत्यु के पंजों से छुटकारा पा सके।" इस व्याख्या से छन्द की मुग्धकारिणी शक्ति का आभास मिलता है और आच्छादित शब्द इसी अर्थ में लाक्षणिक भाव से प्रयुक्त जान पड़ता है। जो हो, छन्द शब्द मुग्धकारी और प्रसन्न करनेवाले अर्थ में ही अधिक उपयुक्त जँचता है। छन्द के भीतर की गति ही उसे प्रसादक और मोहक बनाती है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि "मनुष्य की सत्ता में अनुभूतिलोक ही वह रहस्यलोक है जहाँ बाहर के रूपजगत् का सम्पूर्ण वेग अन्तर का आवेग बन जाता है और यह अन्तर का आवेग बाहर रूप ग्रहण करने को उत्सुक हो उठता है। इसीलिए वाक्य जब हमारे अनुभूतिलोक के वाहन के काम में नियुक्त होता है तो उसमें गति का होना आवश्यक हो जाता है। वह अपने अर्थ से तो बाहरी घटनाओं को व्यक्त करता है किन्तु गति के द्वारा आन्तरिक वेग को प्रकाशित करता है।"

केवल इतना ही नहीं, छन्द सामाजिक बन्धनों का भी वाहन है। वह केवल छन्दोरचयिता के अन्तर के वेग को ही नहीं प्रकट करता, उस वेग को दूसरे के चित्त में संचरित भी करता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इस तथ्य को निपुण भाव से अनुभव किया था। संस्कृत के नाटकों में बहुत शुरू में ही छन्दोबद्ध रचना द्वारा वक्ता के भावों का आवेग श्रोता के अन्तर में संचारित करने का प्रयास देखा जाता है। उचित ढंग से छन्दों का पाठ श्रोता को उसी आवेग में ले जाता है जिसे मूल रचयिता ने स्वयं अनुभव किया था। यही कारण है कि छन्द ने मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों को दृढ़ और स्थायी बनाने में बड़ा काम किया है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में काव्य करने की अपेक्षा भी काव्य पाठ करने को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है, क्योंकि पाठ से उस सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि होती है जो

1. 'विश्व भारती पत्रिका' (हिन्दी), खण्ड 3, पृ० 34-36
2. देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्। ते छन्दोभिरच्छादयन् यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।

मनुष्य का सहज धर्म है। आदमी संस्कृतात्मा हो तो काव्य जैसे-तैसे बना ही लेता है, किन्तु काव्य पाठ करना तो उसी को आता है जिसको सरस्वती सिद्ध होती है :

करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथा तथा।
पठितु वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती॥

सभा में तो सुन्दर काव्य बनाने की अपेक्षा सुन्दर पाठ की अधिक आवश्यकता होती है। ऐसा जान पड़ता है कि उत्तरकालिक दरबारों में काव्यपाठ का गौरव और भी बढ़ गया था। राजशेखर ने उस कवि को ही वाग्देवी का अत्यन्त प्रिय बताया है जो छन्दों को इस प्रकार पढ़ सके कि रस का आस्वादन गोपालों और अनपढ़ स्त्रियों तक को मिल जाय .

आगोपालकमायोषि दास्तामेतस्य लेह्यता।
इत्थं कवि पठन् काव्यं वाग्देव्या अतिवल्लभः॥

—'काव्यमीमांसा', पृ 33

यह तो हुई राजसभा की बात। निस्सन्देह कवि को कीर्ति प्राप्त करने का प्रधान साधन राज-सम्मान था। पर और भी साधन थे। काव्यकला साधारण सुसंस्कृत नागरिकों के मनोविनोद की वस्तु थी। राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' के आरम्भ में ही काव्यविद्या के अठारह अंगों[1] की चर्चा की है। उनमें एक अंग है वैनोदिक। बहुत दिनों तक पण्डित में जल्पना-कल्पना चलती रही है कि राजशेखर के गिनाये हुए अठारह अंग काल्पनिक हैं या किसी पुरानी परम्परा के अवशेष हैं। अब भी यह जल्पना-कल्पना समाप्त नहीं हुई है। मेरा विचार है कि इस सूची को काल्पनिक नहीं मानना चाहिए। मैंने अपने मत की पुष्टि अन्यत्र की है। यहाँ उस विवाद को उठाने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकृत प्रसंग वैनोदिक नामक काव्यविद्या के अंग का है। यह नाम ही विनोदों से सम्बन्ध रखता है। कामशास्त्रीय ग्रन्थों में मदपान की विधियाँ, उद्यान और जलाशय आदि की क्रीड़ाएँ, मुर्गों और बटेरों—लाव तित्तिरों—की लड़ाइयाँ, द्यूतक्रीड़ाएँ, यक्षरात्रियाँ अर्थात् सुखरात्रियाँ, कौमुदी जागरण अर्थात् चाँदनी रात में जागकर क्रीड़ाएँ करना आदि को 'वैनोदिक' कहा है ('कामसूत्र', 1-4)। इस अंग के प्रवर्तक का नाम राजशेखर ने कामदेव बताया है। इस पर से पण्डितों ने यह अनुमान किया है कि काव्यशास्त्रीय विनोद और कामशास्त्रीय विनोद एक ही वस्तु होंगे। परन्तु कामदेव नामक पौराणिक देवता और काव्यविद्या के वैनोदिक

1. काव्य मीमांसा के अठारह अंग ये हैं . 1. काव्यरहस्य के सहस्राक्ष, 2. औक्तिक के उक्तिगर्भ, 3. रीतिनिर्णय के सुवर्णनाभ, 4. आनुप्रासिक के प्रचेतायन, 5. यमक के चित्रांगद, 6. चित्रकाव्य के भी चित्रांगद, 7. शब्दश्लेष के शेष, 8 वास्तव के पुलस्त्य, 9. औपम्य के औपकायन, 10. अतिशय के पराशर, 11. अर्थश्लेष के उतथ्य, 12. उभयालङ्कार के कुबेर, 13. वैनोदिक के कामदेव, 14. रूपक-निरूपणीय के भरत, 15. रसाधिकारिक के नन्दिकेश्वर, 16. दोषाधिकरण के धिषण, 17. गुणौपादानिक के उपमन्यु, 18. औपनिषदिक के कुचमार।

अंग के प्रवर्त्तक कामदेव नामक आचार्य एक ही व्यक्ति होंगे, ऐसा मानने की कोई जरूरत नहीं है। राजा भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' (5-93-96) से यह अनुमान और भी पुष्ट हुआ है कि कामशास्त्रीय उद्दीपक क्रियाकलाप ही वस्तुतः वैनोदिक समझे जाते थे। शारदातनय के 'भावप्रकाश' में नाना ऋतुओं के लिए जिस प्रकार की उद्दीपन-सामग्री का वर्णन है वह एक विशाल परम्परा का सूचक है, जो रीतिकालीन कवि ग्वाल और पद्माकर तक अविच्छिन्न रूप से बढ़ती चली आयी है। यहाँ तक कह रखना आवश्यक है कि मध्ययुग के काव्य को केवल काव्य-शास्त्र ने ही नहीं, कामशास्त्र ने भी प्रभावित किया है। कारण की विवेचना हम अभी करेंगे। इसलिए काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कामशास्त्रीय विनोदों की चर्चा कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। 'कादम्बरी' (कथामुख) में बाणभट्ट ने शूद्रकवर्णना के प्रसंग में कुछ ऐसे काव्यविनोदों का उल्लेख किया है जिनकी चर्चा करने से राजा 'सम्भोग पराङ्मुख' हो सका था अर्थात् कामशास्त्रीय विनोदों से चित्त को मुक्त कर सका था। बाणभट्ट के बताये हुए इन विनोदों में वीणा, मृदंग आदि का बजाना है, विद्वान्-मण्डली में काव्यादि का पाठ है, आख्यायिका है, कथा है, आलेख्य कर्म है, अक्षरच्युतक है, बिन्दुमती है, मात्राच्युतक है, गूढ़ चतुर्थपाद प्रहेलिका है और ऐसे ही अनेक काव्यशास्त्रीय विनोद हैं।

इस प्रसंग में मनोरंजक बात यह है कि राजशेखर ने रसाधिकारिक के प्रवर्तक आचार्य का नाम नन्दिकेश्वर बताया है। काव्य-शास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि इस सूत्र के प्रवर्त्तक आचार्य भरत हैं और सभी आलंकारिकों ने 'रस' की व्याख्या भरत के सूत्र को ही केन्द्र मानकर की है। वस्तुतः यदि काव्य-शास्त्र की परम्परा को देखा जाय तो इसके प्रधान आचार्य भरत को ही माना जाना चाहिए। राजशेखर ने उन्हें 'रूपक-निरूपणीय' नामक काव्यांग का प्रवर्तक माना है। यह ठीक ही है। पर रूपक-निरूपण के सिलसिले में अब तक के जाने हुए आदि-आचार्य भरत ही हैं। इन्होंने (ना. शा., 6-10) रस, भाव, अभिनय, वृत्ति-प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य गान और रंग को लेकर अपना बृहत शास्त्र रचा था। फिर भी राजशेखर ने उन्हें रस का प्रवर्त्तक आचार्य नहीं माना। इसका कुछ-न-कुछ कारण होना चाहिए। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' के षष्ठ अध्याय में (15-16) आठ नाट्य रसों का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन आठ नाट्य रसों को (अर्थात् शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, अद्भुत, बीभत्स को) महात्मा द्रुहिण ने पहिले-पहल बताया था। यहाँ द्रुहिण ब्रह्मा भी हो सकते हैं या फिर इसी नाम के कोई और भी आचार्य हो सकते हैं। उपलब्ध नाट्य-शास्त्र के अनुसार ये ब्रह्मा ही थे। परन्तु इतना निश्चित है कि भरत को रस-परम्परा अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों से ही प्राप्त हुई थी। भारतीय 'नाट्य-शास्त्र' के षष्ठ और सप्तम अध्यायों में रसों और भावों की व्याख्या है। इन दो अध्यायों में जितने आनुवंश्य या परम्परागत श्लोक उद्धृत हैं, उतने और किसी अध्याय में नहीं है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने इन अध्यायों की सामग्री किसी पूर्ववर्त्ती आचार्य के ग्रन्थ से ली है।

वह आचार्य कौन थे ? राजशेखर के कहने से लगता है कि उनका नाम नन्दिकेश्वर था। नन्दिकेश्वर का नाम नाना सूत्रों से हमारे सामने आया है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों मे कभी उन्हे संगीत का, कभी काम-शास्त्र का, कभी तन्त्र का और कभी अभिनय का आचार्य माना गया है। वात्सायन के 'कामसूत्र' के आरम्भ मे ही वताया गया है कि प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि करके उनकी स्थिति के लिए धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गो के साधन के लिए एक लाख अध्यायो का एक ग्रन्थ रचा। उसके एक-एक वर्ग को अलग करके क्रमश: मनु, बृहस्पति और महादेवानुचर नन्दी ने धर्म, अर्थ और काम के विधायक ग्रन्थों की रचना की। नन्दी का ग्रन्थ हजार अध्यायो का था। उसे औद्दालकि श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों से सक्षिप्त किया और उसे भी बाभ्रव्य पाचाल ने डेढ सौ अध्यायों मे संक्षेप किया। इस प्रकार नन्दी या नन्दिकेश्वर कामशास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्य है। 'पंचसायक' के नन्दीश्वर और 'रति-रहस्य' के नन्दिकेश्वर सम्भवत: यही है। 'कामसूत्र' की जयमंगला टीका मे कहा गया है कि महादेव और पार्वती के सहस्रवर्षव्यापी आनन्दोपभोग को नन्दी ने द्वार पर से देखा था और इसीलिए वे कामशास्त्र के प्रवचन कर सके थे। इससे जान पड़ता है नन्दिकेश्वर या नन्दी महादेव के अनुचर देवता-विशेष का ही नाम है, किसी मानव आचार्य का नही। पर मध्ययुग में ऐसे अनेक आचार्यों को देवता के साथ अभिन्न समझ लिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि बहुत प्राचीन काल मे नन्दी या नन्दिकेश्वर नाम के कोई शास्त्रकार आचार्य अवश्य हुए थे। नन्दिकेश्वर की लिखी एक अभिनय सम्बन्धी पुस्तिका भी प्राप्त हुई थी। यह पुस्तक 1894 ई. में पूना से प्रकाशित हुई थी, और इधर हाल मे डॉ. मनोमोहन घोष ने नये सिरे से इसका उत्तम सम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया है। पुस्तक का नाम 'अभिनय दर्पण' है, इसमें हाथ-पैर, मुख-दृष्टि आदि के अभिनयों की मुद्रा और उनका विनियोग बताया गया है। वेवर के 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' मे नन्दिकेश्वर की लिखी बतायी जानेवाली एक संगीत-विषयक पुस्तक का भी पता चलता है। इसका नाम है 'नन्दिकेश्वर मततालाध्याय'। इस प्रकार नन्दिकेश्वर का नाम तीन विषयो के साथ सम्बद्ध है: गान, नाच और कामशास्त्र। कुछ पण्डितों का विश्वास है कि काम-शास्त्रीय आचार्य नन्दिकेश्वर ही राजशेखर द्वारा अभिप्रेत 'रसाधिकरण' के आचार्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक 'नाट्यशास्त्र' में रसाधिकरण निपुण भाव से गूँथ नही दिया गया था तब तक 'रस' शब्द का अर्थ शृंगाररस ही था। भरत जब कहते हैं कि 'नाट्यशास्त्र' मे आठ रस होते है तो साधारणत: इसका अर्थ यह समझा जाता है कि काव्य में आठ से अधिक रस होते हैं। परन्तु ऊपर की चर्चा को ध्यान मे रखा जाय तो इस कथन का अर्थ यह भी हो सकता है कि और शास्त्रों में रस चाहे एक ही हो पर नाट्य मे आठ होते है। ऐसा अर्थ समझने के पक्ष में प्रबल युक्ति यह है कि काव्य-विवेचना मे बहुत बाद मे चलकर रसों को अन्तर्भुक्त किया गया है। प्राचीन आचार्यों मे दण्डी और भामह रस की चर्चा करते ही न हों ऐसा नही है, पर वे उसे स्वभावोक्ति या वक्रोक्ति

से अधिक महत्त्व नहीं देते। फिर ऐसा एक भी काव्य का विवेचक आलंकारिक नहीं है जो भरत के पहले हुआ हो। सब पर भरत का ही प्रभाव है। ऐसी हालत में यह कैसे मान लिया जाता है कि भरत ने काव्य के रसों को दृष्टि में रखकर ही लिखा था कि "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः"। जब काव्य के नौ या दस रस उनके सामने थे ही नहीं तो निश्चय ही किसी और शास्त्र के 'रस' से नाट्य-रस को अलग करने के लिए उन्होंने वह बात लिखी थी। वह रस क्या था? सम्भवतः वही नन्दिकेश्वर द्वारा प्रचारित रसराज शृंगार था। ऐसा जान पड़ता है कि साधारण रूप में रस का अर्थ एकमात्र शृंगार ही समझने की परम्परा कभी लुप्त नहीं हुई। बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में 'रसेन शय्या स्वयमभ्युपागता' में 'रस' का एक अर्थ शृंगार ही समझा था।

यद्यपि नाट्यशास्त्र के प्रभाववश रसों की संख्या नौ मान ली गयी थी, परन्तु समूचे मध्ययुगीन गीत-काव्य-साहित्य का यदि विश्लेषण किया जाय तो निस्संदेह शृंगाररस की व्यापकता दिखायी देगी। धर्मशास्त्र में कहीं 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' कहकर काव्यालाप का निषेध किया गया है। मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में बतलाया है कि इस वाक्य में 'काव्य' शब्द का अर्थ असत्काव्य है। ऐसा जान पड़ता है कि धर्मशास्त्रकार ने काव्यालाप में शृंगार का बाहुल्य और शृंगार में भी समाज-विरोधी प्रेम आदि पर अधिक झुकाव देखकर ही ऐसा निर्णय किया होगा। बहुत-से कवियों ने और रसशास्त्रियों ने निःसंकोच स्वीकार किया है कि शृंगार ही एकमात्र रस है। यद्यपि 'सरस्वती कण्ठाभरण' में भोजराज ने दस रस माने हैं, पर 'शृंगारप्रकाश' में उन्होंने एकमात्र शृंगार को ही मुख्य रस माना है।[1]

शृंगार वीर करुणाद्भुत रौद्र हास्य बीभत्स वत्सल भयानक शान्त नाम्न
आमासिपुर्दशरसान् सुधियोवयं तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनाम॥

'शृंगारप्रकाश', 6

यह परम्परा रीतिकाल में ग्वाल, पद्माकर आदि कवियों तक सटीक चली आयी है। मध्ययुग में कवि का अधिक ध्यान इस रस की ओर ही था।

1. शारदातनय का भाव-प्रकाश, शिंगभूपाल का रसार्णव, भानुदत्त की रसमंजरी और रसतरंगिणी भी शृंगाररस की महिमा के प्रचारक ग्रन्थ हैं। हिन्दी काव्य में केशवदास की रसिक प्रिया, तोष की सुधानिधि चिन्तामणि का कविकुल कल्पतरु, मतिराम का रसराज, रसलीन के रस प्रबोध और अंग-दर्पण, देव की प्रेमचन्द्रिका और रस-विलास, भिखारीदास के रसशृंगार और शृंगारनिर्णय और पद्माकर के जगद्विनोद में यही परम्परा चलती आयी है। देव ने कहा है :

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल शृंगार।
जो सपति दंपतिन की, जाको जग विस्तार॥
विमल मुद्ध शृंगार रस देव अकास अनन्त।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, विवस न पावत अन्त॥

काव्यालोचना के ग्रन्थों को पढने से हमारी धारणा यह बनती है कि नाटक में ही पहले रस की आवश्यकता अनुभव की गयी थी। बाद में मुक्तकों मे भी रस की विवेचना जरूरी समझी जाने लगी। मध्ययुग की इस सरस कविता को समझने के लिए वास्तविक या कल्पित नायक-नायिकाएँ मन में अवश्य होनी चाहिए, नही तो रसबोध सम्भव नही होगा। प्रायः ही टीकाकार लोग बता देते हैं कि यह श्लोक किस विशेष परिस्थिति मे किस विशिष्ट बोधव्य को सामने रखकर किस विशिष्ट वक्ता ने बताया है। अगर ऐसा न किया जाय तो अनेक सुन्दर श्लोकों से शृंगार-रस का अनुभव करना सम्भव नही। वाग्देवतावतार मम्मट भट्ट ने 'काव्य-प्रकाश' के आरम्भ में ही यह सुन्दर कविता उद्धृत की है :

उग्र णिचल-णिप्फन्दा भिसिणीपत्तमि रेहइ बाचाग्रा।
णिम्मल मरगग्र भाऊण जी द्विग्रा संख सुत्तिव्व॥

यदि व्याख्याकार यह न बता दे कि दो गाढ़ अनुरागी तरुणयुगल में से एक को यह मधुर वर्णन सुनाकर कुछ इशारा करना चाहता है तब तक यह व्यंग्यार्थ निकालना कठिन ही है कि इससे स्थान की निर्जनता और रमणयोग्यता ध्वनित होती है। निर्जनता ध्वनित अवश्य होती है। आज का सहृदय शायद इस मनोहर दृश्य और उससे ध्वनित निस्तब्ध शान्त वातावरण का समाचार पाकर ही गद्गद् हो जाता। जापान मे एक प्रकार की कविता होती है जो बहुत थोड़े शब्दो मे कोई वस्तु ध्वनित करती है। उसमें की एक कविता कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक लेख में उद्धृत की है। कविता इस प्रकार है :

पुराना तालाब,
मेढ़क का उछलना
छप।

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है, "बस, अधिक की जरूरत नही, जापानी पाठक का मन आँखों से भरा है। पुराना तालाब बहुत दिनों से परित्यक्त है, अतएव निस्तब्ध अन्धकार! उसी में एक मेढ़क उछलता है। उसकी आवाज सुनायी दे जाती है। सुनायी दे गयी, इसी से समझा जा सकता है कि तालाब में कैसी निस्तब्ध नीरवता है। इस पुराने तालाब का चित्र किस प्रकार मन में खींच लेना होगा, इसी की ओर कवि ने इशारा कर दिया और बस! इससे अधिक अनावश्यक है।"

इस कविता के साथ ऊपर की प्राकृत कविता की तुलना की जा सकती है। उसमें जिस निस्तब्धता और शान्ति का आभास मिलता है वह शब्दों की कमखर्ची के कौशल से सूना-सूना नहीं लग रहा। निश्चल निष्पन्द बलाका जो मरकत की थाली में रखी हुई शंखशुक्ति के समान पाठक को रूपसौन्दर्य से आकृष्ट करती है, वह शोभा, शालीनता और सरसता का विचित्र वातावरण प्रस्तुत करती है। पाठक केवल शोभा के निस्तब्ध सरोवर के किनारे से लौट नहीं आता और भी आगे बढ़ता है। कहना चाहिए कि प्राचीन भारतीय सहृदय की आँखें मन से भरी

होती थी—ठीक जापानी पाठक से उलटा ! अगर ऐसा न होता तो बिहारी के इस मनोरम दोहे के लिए यह सोचने की उसे आवश्यकता न होती कि किस सखी ने किस मनोभाव वाली सखी से किस उद्देश्य से यह दोहा कहा था :

छकि रसाल-सौरभ सने, मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौरत झपत झौर-झौर मधु-अंध ॥

जिस पाठक का मन आँखों से भरा है वह इसमें न जाने कितना सौन्दर्य देखेगा, परन्तु जिसकी आँखें मन से ही लबालब भरी है वह कुछ और ही कह उठेगा।

लेकिन आधुनिक पाठक न यह है, न वह है। उसका मन बुद्धि से भरा है और इसीलिए वह हर काव्यार्थ को बुद्धि की तराजू पर तौलता है। भावावेग को वह एकदम तो कैसे छोड़ सकता है, पर उससे चालित होने मे वह आधुनिकता का तिरस्कार देखता है। वह रस की अनुभूति के लिए काल्पनिक नर-नारियो की सृष्टि नही करता, अपने सचित अनुभवो का ही प्रयोग करता है। नितान्त आधुनिक काल मे इस अवस्था मे भी परिवर्त्तन हुआ है। पाठक की आँख मन से नही, बुद्धि से नही और सूक्ष्मतर आँखों से भर गयी है। वह किसी भी सरस वस्तु की वर्णना देखकर उसके पीछे खड़े शोषक-सम्प्रदाय को देखता है, शोषकों के पीछे खडी तीव्र सघर्षमयी वर्ग-विषमता को देखता है और उसे भी भेदकर और भी न जाने क्या-क्या देखने लगता है। उसके लिए काव्य आनन्द नही देता, बेचैनी पैदा करता है। आँखो से जब आँख भर गयी हो तो बेचैनी के सिवा और क्या सम्भव है ? पुराना हिन्दी कवि दूसरे रास्ते चलकर इस सत्य तक पहुँचा था :

नैक-सी ककरी जाके परैं सु तो पीर तैं नैंकहुँ धीर धरैं ना।
कैसे परे कल एरी भटू, जब आँखि में आँखि परैं निकरैं ना।

कम से कम समय में ज्यादा-से-ज्यादा पढ लेने की प्रवृत्ति आज-कल बहुत प्रबल हो उठी है। इसीलिए काव्य को रस लेकर झूम-झूमकर पढने की फुरसत किसी को नहीं है। अपनी जल्दबाजी को भी आधुनिक पाठक नाना युक्तियों द्वारा उचित समझने का भाव करने लगा है। साहित्य में जीवन की इस दौड़-धूप के अनुकूल संवेदना-संचारक तत्त्व योजना इसी औचित्य-स्थापिनी मनोवृत्ति का सबूत है। इस मनोवृत्ति ने काव्यालोचना के क्षेत्र मे नये-नये शब्दों की सृष्टि की है। जब-जब आलोचक प्रौढ और जबर्दस्त हुआ है तब-तब वह कवि को अपने इशारे पर नचा लेने में समर्थ हो गया है। काव्य की कारीगरी की विवेचना गौण हो गयी है, उसके मर्मार्थ का विचार ही प्रधान हो उठा है। यह तो भुला ही दिया गया है कि काव्य का मर्मार्थ काव्यो को बार-बार पढने और काव्य की कारीगरी को समझने के अभ्यास मे समझने मे आता है। केवल काव्य ही नही जीवन का अनुभव भी सहृदय को पर्याप्त मात्रा मे होना चाहिए। परन्तु जो बात सबसे अधिक उपेक्षित हुई है यह यह है कि काव्य मे साधारण मनुष्य को सर्वसामान्यता से ऊपर उठाने की शक्ति होनी चाहिए और दुर्जन को सुजन बनाने की शक्ति होनी

चाहिए। काव्य केवल कौशल नही है। वह मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाकर मनुष्य के उच्चासन पर बैठाने का साधन भी है।

प्राचीन काल मे काव्य के गुण-दोष-विवेचक अनेक ग्रन्थ लिखे गये है, पर यह सर्वत्र स्वीकार किया गया है कि सहृदय ही काव्य के उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय कर सकता है। अभिनवगुप्त ने बताया है कि सहृदय वह व्यक्ति होता है, जिसके मनरूपी मुकुर में—मनोमुकुर, जो काव्यानुशीलन से स्वच्छ हो गया होता है—वर्णनीय विषय के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता होती है। ऐसे ही हृदय-सवाद के भाजन रसिकजन सहृदय कहलाते है। पर हृदय-सवाद का भाजन होना क्या मामूली तप का फल है ? केवल शब्द और अर्थ की निरुक्ति जाननेमात्र से यह दुर्लभ गुण नही प्राप्त हो जाता। कवि का अभिप्राय सब समय शब्दो द्वारा प्रकट ही नही हो जाता। कभी-कभी वह एकदम शब्दगोचर होता ही नही। उसके शब्दो में जो आर्द्रता होती है, उसे सब नही समझ पाते। प्रसिद्ध कवयित्री विज्जका देवी ने उन सहृदयो को श्रद्धापूर्वक अपनी प्रणति निवेदन की थी जो उस अशब्दगोचर अभिप्राय को सरस पदों के भीतर से निकाल लेते है और रोमांच-पुलकित होकर गद्गद भाव से इस प्रकार काव्य पाठ करते है कि कण्ठरोध हो उठता है :

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमाविक्रियैर्जनस्य तूष्णीभवतोऽयमञ्जलिः ॥

प्रसिद्ध आलंकारिक राजानक रूय्यक ने 'सहृदय-हृदय-लीला' नामक अपनी पुस्तक में सहृदय के जो लक्षण दिये है, उनसे पता चलता है कि सहृदय केवल काव्य के गुणों का जानकार नही होता, वह प्रत्यक्ष मनुष्य के गुण को जानता है। उसे अपने काल के सुसंस्कृत मनुष्य के सौन्दर्य से परिचित होना चाहिए। वेश-सौन्दर्य से भी उसका परिचय होना चाहिए। सौन्दर्य भीतर का भी होना चाहिए और बाहर का भी। शोभा के विधायक दस गुण होते है जो पूर्वजन्म के पुण्य से प्राप्त होते हैं। सहृदय को ये गुण प्राप्त होते है। वह उनका आदर कर सकता है; क्योंकि शोभा के समुत्पादक को ही गुण कहते हैं, समुद्दीपक को ही अलंकार कहते हैं, अनुप्राणक को ही जीवित कहते हैं और व्यंजन को ही परिकर कहते है। गुण-अलंकार-जीवित और परिकर के ज्ञान से ही शोभा का आनन्द लिया जा सकता है। ये एक-दूसरे के उपकारक होते हैं और परस्पर के अनुग्राहक भी होते हैं। मैंने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का कला-विलास' (परवर्त्ती परिवर्धित संस्करण : 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद') मे इसकी चर्चा विस्तार के साथ की है। यहाँ उसकी विस्तारपूर्वक चर्चा आवश्यक नही है। ऐसा सहृदय ही काव्य को समझ सकता है। फिर भी सुभाषितों का पाठक इस बात को भूल नही सकता कि कवि लोग जहाँ सहृदय को अपने काव्य का प्रधान श्रोता मानते थे वहाँ दुर्जनों से बराबर डरते रहते थे, मत्सरियो और चुगलखोरियो की चिन्ता उन्हें बराबर सताती रहती थी। कवियों ने इन मत्सरियो और दुर्जनों तथा निन्दकों की खूब खबर ली है। वल्लभदेव ने ऐसी कविताओं से चिढ़कर कहा था कि 'यही क्यों

कहते हो कि सहृदय ही काव्य को समझ सकता है। काव्य में भी तो गुण होना चाहिए। ऐसा गुण जो चुगलखोर और दुर्जनों को भी सहृदय बना दे। जिस काव्य को सुनकर मात्सर्यहित चेता व्यक्ति रोमांचकण्टकित न हो उठे, उसका सिर अपने-आप न हिल उठे, उसके कपोलदेश पर लालिमा न दौड़ पड़े, उसकी आँखों में आँसू न आ जायें और उसकी वाणी अध्यारोपित वस्तु के कीर्तन में तन्मय न हो उठे, तो वह काव्य भी भला कोई काव्य है ?'

तत् किं काव्यमनल्पपीतमधुवत्कुर्यान्न यद्धृद्गतं।
मात्सर्यावृतचेतसां रसवशादत्युद्गतिं रोमसु।
कम्पं मूर्ध्नि कपोलयुग्ममरुणं बाष्पाविले लोचने
अध्यारोपितवस्तुकीर्तनपरं वाचः करालंबनम्।

यह बहुत महत्त्व की बात है। जीवन के सम्पूर्ण साररसों से जो काव्य पुष्ट हुआ है वह जीवन की भाँति ही क्रियाशील, सर्जक और निरन्तर विकासमान वस्तु हो, यही वांछनीय है। काव्य से यह आशा करना अनुचित नहीं है कि वह क्षुद्र संकीर्ण स्वार्थों से बद्ध जीव में भी उत्तम भाव संचारित करे। जिससे केवल थोड़े-से सुसंस्कृत लोग ही आनन्द अनुभव कर सकें, उस काव्य में कोई ऐसी त्रुटि होगी जो गुण के नाम पर चल रही है। काव्य सर्जक है, वह मनुष्य की दुनिया में नये भावों की सृष्टि करके विधाता के भावजगत् में वृद्धि करता आ रहा है। नाना भाँति के ऊपरी और परिवर्तनधर्मी कल्पनाओं को मनुष्य का मौलिक सत्य मान लेने से सभी सच्चे काव्य सभी सहृदयों को प्रेरणा नहीं दे पाते। लोक में इन कल्पनाओं को 'संस्कार' कहा जाता है। संस्कार देशगत है, जातिगत है, कालगत हैं। मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ साधना साहित्य के रूप में प्रकट हुई है। उसको यथार्थ रूप से हृदयंगम करने के लिए इन संस्कारों से ऊपर उठने की शिक्षा मिलनी चाहिए। भारतीय अलंकारशास्त्रों की चरितार्थता इसी में है कि उन्होंने काव्यार्थ को समझने के लिए वैज्ञानिक मान निश्चय करने का मार्ग दिखाया है। यदि वे संस्कार बनकर पाठक को देश और काल के बाहर जाने में बाधा दें तो उनकी उपयोगिता नहीं रहेगी। पर मेरा निश्चित मत है कि हमारे अलंकारशास्त्र रस-बोध में सहायक हैं, बाधक नहीं। हमें आज उन्हें प्रेरणास्रोत के रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ना चाहिए। वे पाठक को आगे बढ़ने से रोककर यह नहीं कहते कि इसके आगे जाना मना है। वे काव्यार्थ में प्रवेश कराने का मार्ग दिखाते हैं। उन्हें इसी रूप में ग्रहण करना चाहिए। भारतीय मनीषा के सर्वोत्तम अंगों में से एक का प्रतिनिधित्व करनेवाले इन ग्रन्थों को यों ही नहीं छोड़ देना चाहिए। नयी भारतीय मनीषा इन्हें प्रेरणास्रोत मानकर चरितार्थ होगी। ज्ञान का मार्ग रुद्ध नहीं हो गया है, मनुष्य की जिज्ञासा शान्त नहीं हो गयी है, सहृदय की अन्तिम सीमा निश्चित नहीं हो चुकी है—अभी और भी है, बहुत-कुछ जानना है, बहुत-कुछ समझना है, बहुत-कुछ हृदयंगम करना है। हमारे शास्त्र मनुष्य की अपूर्व बुद्धि की विजयपताका हैं, वे और भी आगे बढ़ने का साहस देते हैं, निश्चित विजय का उत्साह संचारित करते हैं और मनुष्य की क्रियात्मक विकसन-परम्परा के प्रमाण देते हैं।

मित्रो, अपने प्रथम व्याख्यान में मैंने दिखाया था कि उत्तरकालीन संस्कृत लक्षण-ग्रन्थ किस विशेष परिस्थिति मे बने थे और उस युग के काव्य में उक्ति-वैचित्र्य और वचन-वक्रिमा को क्यों इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया था। मैंने यह भी बताने का प्रयत्न किया था कि आधुनिक युग मे पाठक भी बदल गया है और कवि भी बदला है। यन्त्र-युग की समस्याएँ और तरह की है, और उनके समाधान के रास्ते भी हू-ब-हू वही नहीं है जो पूर्ववर्त्ती युग के थे। जमाना बदल गया है, हमारी आवश्यकताएँ बदल गयी हैं, हमारी रहन-सहन बदल गयी है और इन सबके साथ ही साथ हमारा दृष्टिकोण भी बदल गया है। परन्तु संस्कृत के लक्षणग्रन्थों ने जिस आदर्श का प्रचार किया, वह परवर्त्ती स्तब्धवृत्तिक मध्ययुग में बराबर प्रेरणा देता रहा। हमारे विद्यार्थी के चित्त में ये लक्षणग्रन्थ और काव्य एक विशेष प्रकार का संस्कार पैदा करते हैं। आधुनिक युग के सब प्रयत्न उस संस्कार के द्वारा ठीक-ठीक समझे नहीं जा सकते। काव्य में वैयक्तिक स्वाधीनता का प्रवेश हुआ है, पुरानी कर्मव्यवस्था का निर्गमन हुआ है, गोप वधुओ की प्रेमलीलाओं ने कवि की आन्तरिक निजी अनुभूतियों के लिए स्थान छोड़ दिया है, छन्दों में स्वच्छन्दता आयी है और सबसे बड़ी बात यह हुई है कि उपन्यास, कहानी आदि नए-नए साहित्यांग पैदा हुए है जो पाठक को काव्य से अधिक प्रिय हो गये है। छापे की मशीनों ने उनका उत्पादन बढ़ाया है और यातायात के विकसित साधनो ने उन्हें सर्वजन-सुलभ बनाया है। कवि के लिए कीर्ति पाने का रास्ता राजसभा में काव्य-पाठ करना और प्रतिद्वन्दी को पछाड़ना नहीं रह गया है, छपे हुए अक्षरों के मौन पाठकों के दिल में घर बनाना है। काव्य का क्षेत्र संकुचित हो गया है, उपन्यासों और कहानियों का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। काव्य को न तो अब वाक्पाटव की कला माना जाता है, न गोष्ठी-विहारों में मनोरजन करने का साधन। भरत से भी पहले से शृंगार को मुख्य रस माना जाता था, वह आज भी कवि को स्वीकृत है, परन्तु रसध्वनि की अपेक्षा वस्तुध्वनि के आस्वादन में पाठक को कम आनन्द नही मिलता और इसीलिए वस्तुध्वनि का जोर बढ़ रहा है। उत्तर-काल का संस्कृत कवि राजदरबार की ओर अधिकाधिक झुकता गया और इसका फल यह हुआ कि कविता मे वाक्पटुता को ही अधिक स्थान मिलने लगा और वृहत्तर सामाजिक चेतना की ओर ध्यान नही दिया गया। कविता की सहज और शक्तिशाली अन्तर्धारा सामन्त सभ्यता की बालुका के नीचे अविरल भाव से बहती गयी। अन्त में नतीजा यह हुआ कि वास्तविक जीवन्त रसधारा कबीर और सूर-दास और तुलसीदास को आश्रय करके अत्यन्त स्वस्थ और मनोरम रूप में प्रकट हुई। संस्कृत के लक्षणग्रन्थों की प्रेरणा भी जीती रही, पर वह महत्त्वहीन हो गई।

परन्तु मुझे खेद है कि मैंने अपने उस वक्तव्य में अपने साहित्य की दुर्बलता की ओर ही आपका ध्यान अधिक आकृष्ट किया है। मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के अत्यन्त महिमामय रूप की ओर से आँख मूँदना नहीं था, मैं केवल उस तथ्य की ओर आपकी दृष्टि फेरना चाहता था जिनकी यदि ठीक-ठीक जानकारी न हो और जिन्हें यदि विवेकपूर्वक न ग्रहण किया जाय तो वे हमारे विद्यार्थियों में काव्य के उपकरणों को ही काव्य समझने की आदत डाल देंगे और डाल देते हैं। फिर भी मुझे इस बात से दुःख हो रहा है कि हमने अपने देश के महाकवियों द्वारा निरन्तर उद्घाटित और प्रचारित पूर्ण सत्य की बात न करके, दरबारी कवियों द्वारा प्रचारित खण्ड-सत्य पर ही अब तक आपकी दृष्टि को उलझा रखा था। मैं भी जानता हूँ और आप भी जानते हैं कि हमारे पुराने साहित्य का चरम लक्ष्य खण्ड-सत्य कभी भी नहीं रहा है। वाल्मीकि या व्यास, या कालिदास मनुष्य की महिमा के प्रचारक थे, उसकी दुर्बलता के नहीं और न उसकी उस सहजात पशुसुलभ मनोवृत्ति के प्रचारक थे जो थोड़ी-सी उत्तेजना पाते ही झनझना उठती है। भारतीय साहित्य ने 'जीवशास्त्रीय' समझी जानेवाली उस लालसा को प्राधान्य नहीं दिया जो समस्त जीवों की स्थिति के प्रयोजन की पूर्ति करती है। इस लालसा से अतिरिक्त, प्रयोजनातीत, सत्य को ही उन्होंने मनुष्य का अपना 'सत्य' समझा था। प्रेम संयम और तपसे उत्पन्न होता है, भक्ति साधना से प्राप्त होती है, श्रद्धा के लिए अभ्यास और निष्ठा की जरूरत होती है, ये पशुसुलभ आदिम मनोवृत्तियों की उपज नहीं हैं। वाल्मीकि को जब छन्द-सरस्वती का साक्षात्कार हुआ तो उन्हें सबसे बड़ी चिन्ता यह हुई कि किस प्रकार इस में महान् चरित्र की अवतारणा की जाय---ऐसा महान् चरित्र, जो विपत्ति में म्लान न हो, सम्पत्ति में उतरा न उठे, विजयदर्प के समय क्षमा करना न भूले, शक्ति पाने पर सदय होने में न चूके और जीवन के उपरले स्तर की सफलताओं से अभिभूत होकर जीवन के गम्भीर तल में बहनेवाली चरितार्थता की धारा को न भूल जाय। कालिदास ने मदन-वैभव और अकाल-वसन्त की समस्त आकर्षक मोहकता को वैराग्य के एक भ्रूभङ्ग में धूलिसात् करा दिया है और फिर तपस्या की आँच में तपाकर प्रेम के कुन्दन को चमकाया है। सीता, पार्वती और राधिका भारतीय कवि की आदर्श कल्पना हैं। सबको तपना पड़ा है, सबको दुःख और वेदना के मरुकान्तार को पार करना पड़ा है और तब जाकर भारतवर्ष के सहृदय ने उन्हें देवता के आसन पर बैठाया है। संयम बड़ी वस्तु है, तपस्या बड़ी वस्तु है। क्षणिक आवेग, सामयिक उन्माद अधीर विनिवेदन तबतक भारतीय कवि के चित्त को मुग्ध नहीं करते जब तक वे सयम, तप और भक्ति में स्नान करके पवित्र न हो गये हों। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम मिलन केवल खण्ड-सत्य था। कवि ने उस अभिशप्त प्रीति को विजयी नहीं होने दिया है। विजयी हुआ है वह प्रेम, जो जीवनरस में पूरी तरह परिपक्व होकर निकला है। इस अपूर्व मोहक लोक में आपको न ले जाकर मैं जो खण्ड-सत्य के डूहों में भटकता रहा वह यद्यपि अकारण नहीं था तो भी मेरे मन में यह कचोट रह गयी है कि मैंने एकांगी परिचय देकर

अपराध किया है। भारतवर्ष के कवि ने जिस सौन्दर्यलक्ष्मी की सृष्टि की है, वह अपूर्व है। जिन्होंने इस देश में जन्म लिया है वे यदि इस पर मुग्ध हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, पर जो लोग इस देश से हजारों कोस दूर रहते हैं और संयोग से इस सौन्दर्यलक्ष्मी की एक हल्की झांकी पा गये हैं वे भी इसे देखकर कृत-कृत्य हुए हैं; उन्हें भी अपनी आँखों की सफलता पर गर्व हुआ है और वे इसे अधि-काधिक पा सकने में प्रयत्नशील हुए है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के 'पुरुरवा की भाँति इस महनीयरूपा सौन्दर्यलक्ष्मी को देखकर कहने की इच्छा होती है :

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः
पथि स्थिता सुन्दरि यस्य नेत्रयो.।
त्वया विना सोऽपि समुत्सको भवेत्
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः ॥

संस्कार बड़े प्रबल होते है, वे विवेक को बराबर दबोचते रहते है। भारतीय सहृदय एक प्रकार के संस्कारों में पलता है और दूसरे देश के सहृदय दूसरे प्रकार के। जो काव्यलक्ष्मी इन संस्कारों को दबा सके, उसमें प्राणशक्ति का अपूर्व विलास मानना चाहिए। कभी-कभी अच्छे सहृदय भी अपने बद्धमूल संस्कारों से काव्य-सौन्दर्य को परखने का प्रयत्न करते हैं और दृष्टव्य को छोटा करके देखने में रस पाते हैं। एक उदाहरण दूं। आप सभी जानते हैं कि दीर्घकाल से भारतवर्ष इस बात में विश्वास करता रहा है कि किये का फल जरूर भोगना पडता है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में उसे अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। इससे बच सकना सम्भव नहीं है। इस जन्म में जो कुछ भी मनुष्य ने पाया है वह पूर्व-जन्म के पुण्य या पाप का परिणाम है और इस जन्म में जो पुण्य या पाप करेगा उसे भी उसको भोगना ही पड़ेगा। इस विश्वास का प्रभाव भारतवर्ष के साहित्य पर पडा है। इस साहित्य में वह वस्तु एकदम नहीं मिलेगी जिसे पश्चिम के साहित्य में 'समाज के प्रति विद्रोहभावना' कहकर बहुत बड़ा नाम दिया गया है। वस्तुतः प्राचीन हिन्दू कवि इस जगत् के समस्त विधान को सामंजस्यपूर्ण और उचित मानता था। धनी या निर्धन होना पुराने पुण्य या पाप का परिणाम है, अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना सुकृत या दुष्कृत का फल है, इसमें कहीं विरोध या विद्रोह की जरूरत ही नहीं है। साहित्य में इसीलिए 'रिवोल्ट' नामक वस्तु का आप एकदम अभाव पायेंगे। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि प्राचीन भारतीयों का ऐसा विश्वास ठीक था या गलत था। मैं यह भी नहीं कहने जा रहा हूँ कि 'रिवोल्ट' का होना वांछनीय है या अवांछनीय। यह सब अवान्तर प्रसंग है। यथा अवसर मैं इसकी चर्चा करूंगा। यहाँ मैं केवल संस्कारो की प्रबलता और तज्जन्य सांस्कृतिक मनोद्वन्द्व का एक उदाहरण आपके सामने रख रहा हूँ। यह समझना आसान है कि कर्मफल की अवश्य-प्राप्यता में विश्वास करनेवाला नाटककार जगत् की समंजस-व्यवस्था को चुनौती नहीं दे सकता। भारतीय नाटकों में यह प्रथा रूढ हो गयी है कि धर्मात्मा को पापात्मा से

कभी पराजित होते न दिखाया जाय और सद्विचारशील व्यक्ति कठिनाइयों से जूझता हुआ हार न जाने पाये।

यह विश्वास भारतीय नीतिशास्त्र के मूल में है और भारतवर्ष के समस्त प्रयत्नों को इस नैतिक आदर्श के अनुसार रूप देने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए भारतवर्ष में उस श्रेणी के नाटक या आख्यायिका या काव्य नहीं लिखे गये जिन्हें 'ट्रैजेडी' कहते हैं। परन्तु यदि एक बार मनुष्य के मानसिक आवेगों और संवेगों को दृष्टि में रखकर विचार करें तो एक दूसरी सचाई भी सामने आती है। मनुष्य के अनेक मानसिक संवेग (इम्पल्स) जो एक-दूसरे के विरुद्ध जाते हैं, या एक-दूसरे को क्षीणबल करते रहते हैं, कलाकार के संवेदनशील चित्त में युगपत् उत्थित होते है। हमारे देश के अलंकारशास्त्रियों ने स्वीकार किया है कि दो विरुद्ध भाव एक ही आश्रय के मन में आ सकते हैं, रस की अनुभूति में ये समय-समय बाधक ही होते हैं। इसीलिए इनमें किसी एक को या तो अंग बनकर गौण हो जाना चाहिए या आश्रय का भेद दिखाकर रसबोध के मार्ग को निष्कण्टक कर देना चाहिए। लेकिन यह तो इस पर से अनुमान कर ही लिया जा सकता है कि आश्रय के चित्त में न सही, कवि के चित्त में ऐसे चित्र में ऐसे विरुद्ध भाव एक साथ आ जाते है। कवि या कलाकार के चित्त मे ये विरुद्ध-अविरुद्ध भाव अपने विरोधी स्वभाव को छोड़कर बने रहते हैं और अवसर पाकर जब कला के माध्यम से प्रकट होते हैं तो श्रोता के चित्त में विचित्र सामंजस्य उत्पन्न करते है। तरस खाना और करुणार्द्र होना विषय के प्रति अभिमुखीकरण के संवेग हैं, इनके द्वारा चित्त उस वस्तु की ओर अभिमुख होता है जिसे देखकर ये भाव उदित हुए थे। विभीषिका और त्रास प्रतिमुखीकरण के संवेग हैं, इनके द्वारा मनुष्य विषय की ओर जाना नहीं चाहता, उसे दूर छोड़कर मुँह फिरा लेना चाहता है। दुःखान्त नाटकों में ये दोनों भाव एक साथ काम करते रहते हैं। हमारे देश का आलंकारिक निश्चित रूप से यह सिद्ध कर सकता है कि इनमें दोनों समान शक्तिशाली नहीं हो सकते, एक अंगी होकर रहेगा व दूसरा अंग, या फिर दोनो तुल्यबल हुए तो रसबोध को ही मार डालेंगे। परन्तु ट्रैजेडी के आलोचक मानते हैं कि ये दोनों संवेग श्रोता के चित्त मे एक साथ वर्तमान रहते है और एक ऐसे अलौकिक आस्वाद को उत्पन्न करते है जो साधारण जीवन के अनुभवों मे हू-ब-हू नही [illegible] आधुनिक मनोविज्ञान ने बताया है कि हम दो क[illegible]ों से उन मनोवेग[illegible] है जिनसे हैरान होने की आशका होती [illegible] और उन्नयन [illegible] महिमा इस बात में है कि वह इन दो [illegible] है। [illegible] भावों के दमन से पैदा होती है या [illegible] न तो किसी मनोभाव का दमन [illegible] विश्वास का फल [illegible] है। आधु[illegible] क्योंकि वह [illegible]

सामंजस्य उत्पन्न करती है।

यह दो दृष्टियाँ हैं। एक समाज की समजस-व्यवस्था को अनालोड़ित रखने के उद्देश्य से सामाजिक मंगल के रास्ते चलकर प्राप्त की गयी है और दूसरी व्यक्ति-मानव के मनोवेगो का निरीक्षण करके उपलब्ध की गयी है। किसी की महिमा अस्वीकार नही की जा सकती। अस्वीकार करने के लिए अधिक-से-अधिक धीर विवेचना और मानसिक संयम की आवश्यकता है। भारतीय कवि ने अपने विश्वासों के अनुसार जगत् के समंजस विधान में सन्देह करना उचित नही समझा। अपने लिए उसने आत्मनिर्मित अनेक बन्धन स्वीकार कर लिये। इन बन्धनो के भीतर उसने जो रससृष्टि की, उसे अपने देश और कालगत संस्कारो के चश्मे से देखने से हम उसका सौन्दर्य नही उपलब्ध कर सकेंगे।

समूचे भारतीय काव्य में—नितान्त आधुनिक काल को छोडकर—कवि ने अपने को सदा निर्लिप्त द्रष्टा बनाये रखा है। वह चीज जिसे वैयक्तिक स्वाधीनता कहते हैं, जिसमे कवि हर द्रष्टव्य को अपने अनुराग-विराग मे डुबोकर देखता है, आधुनिक युग के संघर्ष की उपज है। यह बात इस देश में नयी है। भारतीय कवि को समझना हो तो भारतीय संस्कारों को समझ लेना चाहिए, नही तो गलती हो सकती है। प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान श्री ए. बी. कीथ ने भारतीय नाटकों की आलोचना के सिलसिले मे एक जगह लिखा है, "मानवजीवन के गम्भीरतर प्रश्नों के लिए कालिदास ने हमारे लिए कोई सन्देश नही रख छोड़ा है और जहाँ तक हम देख सकते हैं ऐसे गम्भीरतर प्रश्नों ने उनके भी मस्तिष्क में कोई सवाल नही पैदा किया। ऐसा जान पडता है कि गुप्त-सम्राटों ने जिस ब्राह्मण-धर्मानुमोदित समाज-व्यवस्था की स्थापना की थी, उसमें वे (कालिदास) पूर्णतया सन्तुष्ट थे और विश्व की समस्याओं ने कभी उन्हें उद्विग्न नही किया। 'शकुन्तला' नाटक यद्यपि मोहक और उत्कृष्ट है तथापि वह एक ऐसी संकीर्ण दुनिया मे चलता-फिरता है जो वास्तविक जीवन की क्रूरताओं से बहुत दूर है। वह न तो जीवन की समस्याओं का उत्तर देने का प्रयत्न करता है और न उसका समाधान ही खोज निकालने की चेष्टा करता है। यह सत्य है कि भवभूति ने दो कर्त्तव्यों के विरोध के अस्तित्व की जटिलता और कठिनता के भाव दिखाये हैं और उस विरोध से उत्पन्न दु:ख को भी दिखाया है, पर उनके ग्रन्थों से भी इसी नियम का प्राबल्य दिखायी देता है कि सब कुछ का अन्त सामंजस्य में ही होना चाहिए। ब्राह्मण-धर्मानुमोदित जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों ने नाटकीय दृष्टिकोण में कितनी संकीर्णता ला दी है, इस बात को संस्कृत नाटकों का समूचा इतिहास प्रमाणित करता है। यही नही, ब्राह्मण-धर्मानुमोदित परम्परा को स्वीकार करने के कारण ही 'चण्ड कौशिक' जैसे नाटक लिखे जा सके है जहां एक अभागे राजा की दानशीलता से उत्पन्न ऋषि विश्वामित्र की विक्षिप्तजनोचित प्रतिहिंसा से तर्क और मनुष्यता के प्रति बेहद विद्रोहाचरण हुआ है।"[1]

1. ए. बी. कीथ, 'संस्कृत ड्रामा', आक्सफोर्ड, 1:24, पृष्ठ 280

यह उद्धरण किसी उत्साही ईसाई धर्मप्रचारक की पुस्तक से नहीं लिया है। श्री कीथ विचारशील पण्डित हैं, भावावेग से वे चलित नहीं होते। कई बार उन्हें भारतीय सभ्यता के उत्साहपरायण विरोधियों से लोहा लेना पड़ा है। उन्हें यूरोपीय पण्डितों के चित्त से अनेक भ्रान्त धारणाओं को दूर करने का श्रेय प्राप्त है। इसलिए यह उद्धरण यों ही टाल देने लायक नहीं है। इसमें जिन बातों को छोटा दिखाने का प्रयत्न किया गया है, उसे छोटा दिखाने के लिए बृहत्तर नैतिक पटभूमिका पर रखना उचित था। यदि उस बृहत्तर पटभूमि पर कालिदास या वाल्मीकि सचमुच छोटे दिखें तो छोटे ही हैं, पर इस प्रसंग में लेखक ने अपने संस्कारों के चश्मे से देखने की गलती की है। यह नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने जो बातें कही हैं वे गलत हैं। गलत है उनकी दृष्टिभंगी। सचाई गलत ढंग से देखी जाने पर अवहेलनीय हो जाती है। जो मनुष्य मानता है कि यह संसार क्षणभंगुर है, इस परिवर्तमान क्षणभंगुरता के बाह्य आवरण के भीतर एक चिरन्तन सत्ता है जो सब सत्यों का सत्य है, और जिसे आश्रय करके ही बाह्य जगत् की सत्ता प्रतिभात हो रही है, वह जीवन के गम्भीरतर प्रश्नों की बात मानता हो कहां है कि उसका उत्तर देता फिरे? उसके मन से तो जीवन के गम्भीरतर प्रश्नों का समाधान हो गया रहता है। बाकी प्रश्न केवल ऊपरी और भ्रमजन्य हैं। जिसे जीवन कहा जाता है, वह भारतीय कवि की दृष्टि से कर्मबन्ध के भोग के लिए एक क्षणिक पड़ाव है। मनुष्य का शाश्वत निवास यह कर्म प्रपंचमूलक जगत् नहीं है। धन और यौवन की समस्याएँ जीवन के गम्भीरतर प्रश्न तो हैं ही नहीं, उनका मूल्य स्वप्न में देखे हुए सुखस्वप्न के समान नितान्त क्षणभंगुर है। मनोविनोद के लिए इस चिन्ता को थोड़ी देर के लिए मान लिया जा सकता है, पर सम्पूर्ण भारतीय साहित्य इसे इतने से अधिक महत्त्व नहीं देता। वास्तविक और गहन प्रश्न है इस लोक से बाहर का। भारतवर्ष का कवि उस पर ही दृष्टि जमाता है। जो लोग इसी में उलझे हुए हैं, उन्हें देखकर उसे आश्चर्य होता है। भला,

चला विभूतिः क्षणभंगि यौवनं
कृतान्तदन्तान्तरवर्ति जीवितम्
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने
नृणां न कि विस्मयकारि चेष्टितम्।

वस्तुतः यदि कोई सचमुच भारतीय साहित्य का रस ... चाहे तो उसे भारतवर्ष के इन चिरसंचित ... का अध्ययन अव ... हुए। जब हम देश और काल के इन ... ठीक-ठीक सम ... आधार पर रचित साहित्य के अ ... परिचय पा ... जैसे विद्वान को भी जब हम विच ... तो लगता ... प्रयत्न की आवश्यकता है। एक ... द आप ... को उसी प्रकार भार ... ोचना ... समझता हूँ, ... की ह

"ग्रीक साहित्य के श्रेष्ठ नाटककार भी मायाजन्य भ्रममूलक बातों को ही जीवन का गम्भीरतर प्रश्न समझते रहे। इस निरन्तर परिवर्तमान जगत् के भीतर भी एक शाश्वत सत्ता है, एक चिन्मय 'सत्' है जो प्रकृति के भासमान विकारों से एकदम निर्लिप्त है, यह सहज-सी बात कभी उनके मस्तिष्क में आयी ही नहीं। ट्रैजेडी की पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर जो नाटक लिखे गये वे कभी भी जीवन के वास्तविक गाम्भीर्य तक पहुँचे ही नहीं। वे और उन्हीं के आदर्श पर लिखे गए उत्तरकालीन अंग्रेजी नाटक, एक ऐसे उद्देश्यहीन मायाजाल में उलझे हुए छटपटाते रहे जहाँ पर पद-पद पर परस्पर-विरुद्ध जानेवाले कर्त्तव्यद्वन्द्व उन्हें सताते रहे और अन्त तक वे किसी सामञ्जस्यमूलक जागतिक व्यवस्था का पता न लगा सके। ग्रीक विचारधारा ने नाटकीय दृष्टि को कितना विशृंखल बना दिया है, इस बात को यूरोपीय नाटकों का समूचा इतिहास बड़े स्पष्ट रूप में दिखा देता है।" इत्यादि-इत्यादि।

कहना बेकार है कि इस प्रकार आलोचना से हम ग्रीक साहित्य के सौन्दर्य को खो देंगे और फिर कोई भी यह नहीं कह सकेगा कि हम अपने विश्वासों के प्रति पूर्ण ईमानदार नहीं है। सचाई भी गलत ढंग से प्रकट करने पर झूठ हो जाती है।

जीवन के गम्भीरतर समझे जाने वाले प्रश्नों का साहित्य में समाधान खोजना आधुनिक प्रवृत्ति है, अत्यन्त हाल में जड़ विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ मनुष्य की दुनिया छोटी हो गई है। यन्त्रों के आविष्कार ने जहाँ जीवन की ऊपरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रचुर उत्पादन की व्यवस्था की है, वहाँ वितरण और उपयोग की उतनी ही अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकी है; क्योंकि उत्पादन के साधन कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों में चले गए है। उनके हथियाने में जिस बौद्धिक कौशल की आवश्यकता है, वह मनुष्य अनायास ही उचित अवसर मिलने पर पा जाता है। परन्तु उससे उत्पादित सामग्री को सब तक पहुँचाकर, सबके साथ मिलकर भोगने में जो मानसिक औदार्य और बौद्धिक निर्लिप्तता आवश्यक है, वह उतनी आसानी से नहीं मिलती। पहली मनोवृत्ति छीन-झपटकर अपना स्वार्थ साधन करने के कौशल को प्रश्रय देती है, इसे मनुष्यों ने अपने पूर्वज पशुओं से विरासत के रूप में पाया है। दूसरी मनोवृत्ति में आत्मत्याग, परदुःख-संवेदना और मनुष्य की चरम एकता के भाव हैं, जो सस्कार और साधना की अपेक्षा रखते हैं। पहली मनोवृत्ति ने शोषकों का दल पैदा कर दिया है, परन्तु दूसरी मनोवृत्ति अब भी अत्यन्त शिशु रूप में है। इस नयी अवस्था ने संसार के सामने सैकड़ो समस्याएँ उपस्थित कर दी हैं। घिनौने युद्ध और भयकर अकाल अब प्रकृति के कोप से नहीं होते, मनुष्य की दुर्ललित वासनाओं के कारण हो रहे है। जीवन एक सिरे से दूसरे सिरे तक इस प्रकार झकझोर दिया गया है कि पुराने सचित संस्कार बुरी तरह झड़ गये है और एक-दूसरे से उलझ गये है। मनुष्य ने इतने दिनो तक जीवन के विभिन्न पहलुओं का जो मूल्य आँका था वह अधिकाश भहराकर चकनाचूर हो गया है। बहुत-कुछ टूट रहा है, बहुत-कुछ ढह रहा है। मनुष्य सर्वत्र इन समस्याओं

का समाधान खोजता है। वह विज्ञान से इसका हाल पूछता है, इतिहास से इसका रास्ता पूछता है और साहित्य से इसके समाधान की आशा रखता है। जीवन जटिल हो गया है। जहाँ विज्ञान ने ज्यादा पैर जमाया है, जहाँ व्यवसायमूलक क्रान्ति हुई है, अर्थात् जहाँ अवसर देखकर एक दल ने उत्पादन के साधनों को हथिया लिया है, वही समस्याएँ सहस्रमुखी हो गयी हैं। उन्होंने नाटक को ग्रस लिया है, काव्य को ग्रस लिया है और साहित्य को समझने की दृष्टि को भी ग्रस लिया है। पुराने भारतीय कवि की अपनी सीमाएँ हैं, ग्रीक कवि की भी अपनी सीमाएँ हैं। उन सीमाओं के भीतर उन्होंने कैसी रूप और रस की सृष्टि की है, यही विचार्य है। आधुनिक समस्याओं का समाधान उनमें नही मिलेगा ऐसा तो नही है, परन्तु उत्तर सामान्य और व्यापक ढंग का होगा, विशिष्ट या शंकुभूत नहीं, क्योंकि जीवन की सभी समस्याएँ सामयिक ही नही हैं, कुछ दीर्घ स्थायी भी हैं। पुराने लोगों ने भी कुछ का सामना किया था। उनके सभी अनुभव वासी नही हो गये हैं। प्रसिद्ध तन्त्रशास्त्रज्ञ सर जान वुडरफ़ ने एक बार बड़े अफ़सोस के साथ कहा था कि "साधारणतः यूरोपीय प्राच्यविद्याविशारदगण और उनके वे भारतीय शिष्य जो उनकी ही अँगुली पकड़कर चला करते हैं, कुछ ऐसे अवहेलामूलक विचारों का पोषण करते हैं कि भारतीय शास्त्र केवल ऐतिहासिक कुतूहल के विषय हैं। यही कारण है कि वे इस तथ्य को स्वीकार नही कर पाते कि प्राचीन पूर्वीय ज्ञान और आधुनिक आविष्कारो मे भी आश्चर्यजनक साम्य मिलता है।"[1]

इस प्रकार की सदोष दृष्टि का परिमार्जन वांछनीय है।

इस प्रकार की दृष्टि लेकर भारतीय साहित्य को देखनेवालो ने अनजान में इस देश में एक प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी है। इस प्रतिक्रिया के कारण इस देश में उन अत्यन्त उत्साहपरायण समालोचकों का आविर्भाव हुआ है जो सब समस्याओं का समाधान एक ही कसौटी पर कसके करने लगे हैं : 'हमारे यहाँ' ऐसा माना है, या 'हमारे यहाँ' ऐसा नही माना है, 'हमारे यहाँ' उनका अमोघ ब्रह्मास्त्र है जिससे किसी को भी धराशायी बनाया जा सकता है। 'पाश्चात्य विचार का प्रभाव' उनका ऐसा बहुधा विघोषित निन्दा वाक्य है कि जिस किसी विचार को परास्त करने के लिए यह एक वाक्यांश बहुत काफी समझा जा सकता है। साधारणतः उपनिषदों के कुछ मन्त्र या 'काव्यप्रकाश' या 'साहित्य दर्पण' के कुछ श्लोक पढ़ कर ये लोग काव्यगत सौन्दर्य के उत्कर्ष या अपकर्ष का निर्णय किया करते हैं और उसके बाहर के किसी भी विचार को 'पाश्चात्य' कहकर निश्चिन्त हो जाते हैं। यह प्राय. ही भुला दिया जाता है कि 'हमारे यहाँ' कोई छोटा-मोटा ज्ञान-रत्नाकर नही है। किसी एक ही विचार को भारतीय विचार कह देना न केवल अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन करना है, बल्कि अपने देश की विशाल ज्ञान-परम्परा का अपमान करना भी है। न जाने इस 'हमारे यहाँ' नामक समुद्र में कितने ज्ञान के रत्न और सस्कारों

1. 'शिएशन ऐज एक्सप्लेण्ड इन दि तंत्राज़'

के नक्र-मकर भरे पड़े है। इसमें आत्मवादी है, अनात्मवादी हैं, वैराग्यमार्गी हैं, *भोगमार्गी हैं, द्वैतवादी है, अद्वैतवादी हैं, शून्यविश्वासी है, नियतिविश्वासी है।* नाना मतमतान्तरों के इस विशाल भण्डार से ज्ञान के एकाध टुकड़े चुनकर उसी को सम्पूर्ण मनीषा की एकमात्र उपज मान लेना क्या उचित है ? हमारे देश का इतिहास हजारों वर्षो की निरन्तर प्रवहमान विचारधारा से समृद्ध है। हमारे पूर्वजों ने अपने सुदीर्घ इतिहास में न जाने कितनी सामयिक परिस्थितियों से युद्ध किया है, कितने विकट प्रश्नों का समाधान खोजा है, वे परिस्थितियाँ समाप्त हो गयी, उन विकट प्रश्नो को उपस्थित करनेवाले घटनाचक्र महाकाल के रथचक्र के नीचे पिस गये, इतिहास के अनवरुद्ध धारा के वेग में उन प्रश्नो के सोचे समाधान भी समाप्त हो गये, केवल किनारो पर छिटककर छूट गये कुछ ग्रन्थ, कुछ शिला-लेख और कुछ अनुभव जो हमारे पास रह गये है। भारतीय विचारधारा इन सबसे बड़ी वस्तु है। हमारा ज्ञान-भण्डार केवल संयोगवश प्राप्त कुछ छिटके-फुटके ताल-पत्रो और प्रस्तरखण्डो की लिपियों तक ही सीमाबद्ध नही है। और कुछ थोड़े-से श्लोकों में उसे बाँधने का प्रयत्न तो एकदम हास्यास्पद है। ऐसा करने से हम वृहत्तर मानवी दृष्टि की प्रतिष्ठा में बाधा खड़ी करते है। हमारे देश के मनुष्य भी वृहत्तर मानवसमाज के अंग है। हमारे पास जो कुछ भी साहित्य वच रहा है, वह यद्यपि अत्यन्त कम है तो भी विशालता में और गम्भीरता मे वह संसार का सर्व-श्रेष्ठ साहित्य है। उसमें हजार प्रश्नों के हजार उत्तर है। उनकी निपुण भाव से परीक्षा करनेवालों ने देखा है कि भारतीय मनीषियो ने हर बात का मूल्य वृहत्तर नैतिक पटभूमिका पर रख कर ही किया है। काव्य का ही अगर प्रश्न लिया जाय तो हमारे देश के मनीषियों ने कभी भी उसे विश्वजनीन नैतिक पटभूमि से निम्न स्तर पर रखकर विचार नही किया। आप उनसे सहमत हों, या नही, यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि शब्द और अर्थ के 'साहित्य' की चारुता का विचार उन्होंने निम्नतर पटभूमि पर रखकर नही किया। और 'हमारे यहाँ' का आधुनिक ब्रह्मास्त्र तो उनके निकट एकदम अपरिचित था।

जहाँ तक केवल जीवन धारण करने का प्रश्न है, मनुष्य अपने प्रयोजनों से बँधा हुआ है। उसकी दुनिया प्रयोजनों की दुनिया है। परन्तु वह केवल जीवन धारण करने को, केवल किसी प्रकार बचे रहने को ही पर्याप्त नही समझता। वह अपने को नाना भाव से प्रयोजन के जगत् से बाहर भेजना चाहता है। वही उसका ऐश्वर्य है। पशु का जीवन केवल जीने के लिए है, उसमें प्रेम नही है, सौन्दर्य-प्रीति *नही है, कुछ नयी बात गढने की इच्छा नही है। ये बातें मनुष्यजीवन का ऐश्वर्य* हैं, उसका प्रकाश हैं। जिस जीवन में प्रेम नहीं, भक्ति नहीं, सौन्दर्य नहीं वह जीवन पशु का जीवन है। मनुष्य उतने से सन्तुष्ट नही है। घी का लड्डू टेढ़ा भी भला होता है, उससे प्रयोजन तो सिद्ध हो ही जाता है पर मनुष्य उतने से ही सन्तुष्ट नही होता। उसे उस लड्डू को सुन्दर बनाने में रस मिलता है। प्रयोजन के अतीत पदार्थ का ही नाम सौन्दर्य है, प्रेम है, भक्ति है, मनुष्यता है। जहाँ स्वार्थ समाप्त

होता है, मनुष्यता प्रारम्भ होती है। जीवन में जहाँ तक स्वार्थ है वहाँ तक वह लालसा के क्षेत्र में रहता है, जहाँ उसके ऊपर जाता है वहीं वह 'प्रेम' के जगत् में आता है। जीना ही केवल जीना थोड़े है !

> कवि ठाकुर भोग सजोग सबै सुख जीजतु है पै न जीजतु है।
> मनभावने प्यारे सुजान बिना जग जीजतु है पै न जीजतु है॥

गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है। काव्य हमारे प्रोजनातीत आनन्द का प्रेरक है। समस्यासमाधान गद्य का काम है, जीवन की चरितार्थता काव्य का अभिप्रेत है। जब तक यह काव्य जीवन का अंग नहीं बन जाता तब तक मनुष्य दीन होता है, प्रकाशहीन होता है; पर काव्य का रस जब उसे मिलता है, जब वह केवल प्रयोजनों की दुनिया से ऊपर उठता है तब उसे उस वस्तु का अनुभव होता है जो 'मनुष्यता' है जो उसके हृदय को संवेदनशील और उदार बनाती है। यह मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य है। जीवन का यही काव्य नाना भाव से अपने को प्रकाशित करता है। काव्य में, शिल्प में, नृत्य में, गीत में, धर्म में, भक्ति में मनुष्य उस अपार भूमा का रस पाता है जो उसे प्रयोजनों की संकीर्ण दुनिया से उठाकर असीम में प्रतिष्ठित करता है। तभी वह उपनिषद् के ऋषि की भाषा में कह उठता है—'भूमैव सुखं, नाल्पे सुखमस्ति'।

मनुष्य के सभी विराट प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं, परन्तु जब वे उस संस्कारजन्य प्रयोजन की सीमा का अतिक्रम कर जाते हैं तो उसमें मनुष्य की विराट एकता और अपार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है। फिर वह किसी समूह में आबद्ध न होकर मनुष्यमात्र की सम्पत्ति हो जाता है। ताजमहल कुछ व्यक्तिगत प्रीति और कुछ समूहगत संस्कारों की बुनियाद पर खड़ा हुआ है, परन्तु वह उस सीमा को अतिक्रम कर गया है। कोणार्क के मन्दिर की जो लोग केवल यह कहकर उपेक्षा करते हैं कि वह मूर्तिपूजा को प्रश्रय देनेवाली कला है तो वे संस्कृति के बहुत निचले स्तर पर भी नहीं पहुँच सके। वे उन बर्बरों के स्तर से बहुत ऊपर नहीं उठ सके जिन्होंने कुफ्र दूर करने के लिए मन्दिरों और मूर्त्तियों को ध्वंस किया था और प्रतिहिंसा से स्पर्धित होकर सुन्दर मकबरों में भूसा भरवा दिया था। आज के प्रजातन्त्र के युग में तुलसीदास को राजतन्त्र का प्रचारक कहकर आसानी से फेंक दिया जा सकता है। ये लोग भूल जाते हैं कि जितना हिस्सा जलता है, वह प्रकाश नहीं कहलाता। प्रकाश उससे अतिरिक्त वस्तु है। ताप केवल प्रयोजन है, प्रकाश उसका ऐश्वर्य है, उसका अतिरिक्त दान है। तुलसीदास का काव्य उस प्रयोजन से कहीं अधिक प्रकाश देता है, जिसके लिए वह रचित हुआ था। वह रामनाम का प्रचारक है, पर इतना ही उसका परिचय नहीं है। वह मनुष्य के सुख-दुःख को, आशा-आकांक्षा को उसके सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ प्रकट करता है। मनुष्यजीवन में जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ महत् है, उसी का विजयोद्घोष करता है, वह उस मानवीय महिमा का प्रचारक है जो धर्म की कान्ति से मनोहर हो उठा है, वीरता के तेज से दीप्त हुआ है और

सतीत्व की श्री से समृद्ध हुआ है। वह मानवधर्म के जगद्विदित महामान से पूरा उतरता है, इसीलिए वह महान् है। जब-जब और जहाँ-जहाँ वह मनुष्यपन का ऐश्वर्य काव्य मे, नाटक मे, शिल्प मे, चित्र मे, मूर्त्ति में अपनी प्रयोजन की सीमा को छोड़कर प्रकाशरूप मे प्रकट हुआ है, वही-वही वह पूजनीय हुआ है। उसी महिमा के बल पर महाकवियो की रचनाओ ने देवता को मनुष्य बनाया है। मूर्तिकारों की छेनी ने पत्थर मे प्राणसचार किया है और नगराय दारखण्ड को पूजार्ह बनाया है।

आज यदि आप ससार की सारी समस्याओ का विश्लेषण करें तो इनके मूल में एक ही बात पायेंगे—मनुष्य की तृष्णा। यह अद्भुत तृष्णा कही समाप्त होने का नाम नही लेती। मनुष्य मे सर्वत्र अभाव-ही-अभाव भर गया है। जीवन की वह परिपूर्णता कम हो गयी है जो मनुष्य को जाचक न बनाकर दाता बनाती है। आज उत्पादन बढ़ाने की धूम है, जीवन का स्तर ऊँचा उठाने का सकल्प मुखर है; परन्तु जीवन मे वह उच्छलित आनन्द कैसे आयेगा जो मनुष्य को संयत और सन्तुष्ट बना सके, इसकी चिन्ता किसी को नही है। मैं भौतिक समृद्धि के प्रयत्नों को छोटा बनाने के उद्देश्य से यह बात नही कह रहा हूँ। उत्पादन को बढाना आवश्यक है, जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न भी श्लाघ्य है, पर इतने से समस्या का हल नही हो जाता। तृष्णा वह आग है जिसके पेट में जितना भी झोंक दीजिए सब भस्म हो जाएगा। उस वस्तु की खोज होनी चाहिए जो मनुष्य को छोटे प्रयोजनों मे बाँधने के बदले उसे प्रयोजनातीत सत्य की ओर उन्मुख करे। साहित्य और संगीत यही काम करते है, कला और सौन्दर्य उसे इसी ओर ले जाते है। नितान्त उपयोगिता की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो मनुष्यसमाज की स्थिति के लिए—सभ्यता और सस्कृति की रक्षा के लिए ही—यह आवश्यक हो गया है कि मनुष्य अपने उस महान् उन्नायक धर्म की उपेक्षा न करे जो उसे क्षुद्रता और संकीर्णता से ऊपर उठाते है। भौतिक समृद्धि के बढाने का प्रयत्न होना चाहिए, पर उसे सन्तुलित करने के लिए साहित्य और संगीत आदि का भी बहुल प्रचार वाञ्छनीय है। सो प्रयोजनों की सीमा छोड़कर पशुसुलभ आहार-निद्रा के धरातल से ऊपर उठकर ही मनुष्य उस महिमा को पाता है, जो उसे देवता बनाते है। संक्षेप में इसी गुण को 'मनुष्यता' कहते हैं।

यह तो निश्चित है कि स्थूल जगत् को छोड़कर मनुष्य नही रह सकता और न अपने देश और काल के सीमाओं से अस्पृष्ट रहकर ही कोई शिल्पसृष्टि कर सकता है। काव्य भी स्थूल जगत् से विच्छिन्न होकर नही रह सकता; क्योकि शब्द और अर्थ ही उसके शरीर है और अर्थ शब्दो द्वारा सूचित बाह्य सत्ता को प्रकट करते है। एक व्यक्ति के चित्त मे उचित अर्थ को दूसरे के चित्त मे प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। भावावेग द्वारा कम्पित और आन्दोलित शब्दार्थ अपने सीमित अर्थ से अधिक को प्रकाशित करता है। शब्द के अभिधेय अर्थ से कही अधिक को प्रकाशित करनेवाली शक्ति को प्राचीनों ने नाना नाम देकर

स्पष्ट करना चाहा है। सबसे अधिक प्रचलित और मान्य शब्द 'व्यंजना' है। अनुप्रास के साथ उसकी तुलना करके उसी भावावेगजन्य कम्पन की ओर इशारा किया गया है। छन्द उस आवेग का वाहन है। छन्दोहीन भाषा मे कल्पना और सम्मूर्तन तो हो सकता है, पर आवेग का कम्पन नही होता। प्राचीन कथाओं की गद्य समझी जानेवाली भाषा में भी एक प्रकार का 'छन्द' है—एक प्रकार की वक्र कम्पनशील नृत्यभंगिमा। वे कहानी की इस सीधी बात को कि 'एक था राजा' इतने सरल ढग से नही कहेंगे। कहेंगे—'धनदर्प कन्दर्प सौन्दर्य सोदर्य रूपो भूपो बभूव।' यह भाषा ही छन्दोमयी है; इसमे छन्द है, झंकार है, लोच है, वक्रता है जो अर्थ मे आवेग भरने का प्रयत्न करते है। उपन्यास में यह आवेग कम होते हैं, क्योंकि उनकी भाषा मे गद्यात्मकता होती है, परन्तु जहाँ कही भी उसमें आवेग का कम्पन आता है, वही प्रच्छन्न छन्द भी रहता है। मेरे कहने का यह मतलब नही समझना चाहिए कि आवेग-कम्पित भाषा न होने के कारण मैं उपन्यास को कम महत्त्वपूर्ण साहित्यांग मानता हूँ। उपन्यास भी साहित्य के मुख्य उद्देश्य का उसी प्रकार पूरक है, जिस प्रकार काव्य। यहाँ पर मैं छन्द और प्रास की क्रिया तक ही अपने विचारो को केन्द्रित रख रहा हूँ। अनुप्रास भावावेग के वेग में नृत्य का छन्द जोड़ता है, जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहरायी जाती है तो श्रोता आवेग की वक्रिमता से सहज ही प्रभावित हो जाता है। यदि काव्य में से अर्थप्रकाशक शब्द हटा दिये जायँ तो वह ध्वनि-प्रवाह संगीत बन जायगा। वस्तुतः अर्थहीन छन्दःप्रवाह संगीत ही है। संगीत में बाह्य जगत् की उस सत्ता से, जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गणित में उस आन्तर सत्ता से, जो आवेगकम्पित स्वर से प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग होता है। चेतना के एक प्रान्त पर संगीत है, दूसरे पर गणित। संगीत में जिसे स्वर कहते हैं वह एक प्रकार का वेग ही है। बाह्य अर्थों से युक्त होने पर वह आवेग के रूप में प्रकट होता है। परन्तु काव्य जिस प्रकार शब्द-प्रकाश्य अर्थ के द्वारा बाह्य विषय-सत्ता से बँधा रहता है, उस प्रकार संगीत नही बँधा रहता। वह अपने-आप ही स्पन्दित होता है। ताल उसमें उसी प्रकार की अनुभूति क्षमता भरता है जिस प्रकार छन्द आवेग मे। काव्य द्वारा और संगीत द्वारा स्पन्दित मानवचित्त के आवेगो मे थोड़ा अन्तर होता है। काव्य में आवेग द्वारा जो स्पन्दन उत्पन्न होता है वह बाह्य सत्ता से पूर्णतया सम्बद्ध होता है, हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति से चालित होते रहते हैं। काव्य पाठक के सुख-दुःख का आवेग उत्पन्न करता है। मनुष्य दूसरों के सुख-दुःख से प्रभावित होता है, उनके साथ उसकी समवेदना होती है और अन्त तक उस सुख-दुःख को अनुभव करने लगता है। इस प्रकार काव्य मनुष्य-मनुष्य के भीतर वर्त्तमान एकत्व का प्रतिष्ठापक हो जाता है। काव्य प्रमाणित कर देता है कि व्यक्ति-मानव के ऊपरी विभेदों के नीचे एक अभेद है, एकता है।

कहते हैं, विभिन्न आवेगों में भिन्न-भिन्न जाति और आकृति के कम्पन

उत्पन्न होते है। सगीत से भी उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न होते है जिस प्रकार के कम्पन काव्य से उत्पन्न होते हैं, फिर भी संगीत से उत्पन्न कम्पनों का योग बाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में उतनी गाढ अनुभूति नही होती जितनी काव्यजनित आवेग के कम्पन से होती है। टोड़ी के आलाप से जो एक प्रकार की उदास और विरह-व्याकुल वेदना चित्त मे घुमड आती है वह विश्वजनीन तो होती है, पर अविच्छिन्न या एब्सट्रैक्ट होने के कारण अनुभूति मे वह सान्द्रता नही ले आ पाती जो काव्य के करुणरस से उत्पन्न होती है; क्योकि संगीत की अनुभूति अहेतुक होती है। मनुष्य का चित्त सर्वत्र कार्य-कारण की शृखला खोजता रहता है—अनुभूति और वेदना के क्षेत्र मे भी। काव्यजन्य अनुभूति की सान्द्रता इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य आवेगचालित अवस्था में कार्य-कारण-शृंखला के प्रति आस्था बनाये ही रहता है। जहाँ वह उसे नही पाता, वहाँ देर तक जमना नही चाहता। यही कारण है कि भक्त कवि भगवान् के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की कल्पना कर लेता है। जिस काव्य मे केवल शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है वह बहुत-कुछ उसी प्रकार का असान्द्र अनुभूतिजनक आवेग-कम्पन उत्पन्न करता है जो सगीत करता है, पर उसमें सगीत की अबाध गति भी नही होती और अर्थ-जगत् से सम्पूर्ण विच्छेद भी नही होता, क्योकि उसके शब्द बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध जोडते रहते हैं और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा उत्पन्न करते रहते है। अर्थभारहीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते है न सगीत का प्रवाह ही। वे दोनों के केवल घटिया प्रभाव-भर उत्पन्न करते है। परन्तु जहाँ शब्दालंकार में अर्थ भार बना रहता है वहाँ वे काव्यगत प्रभाव मे संगीत की सहज गति भर देते है। अर्थालंकार शब्द के प्राणप्रद और विशेषाधानहेतुक दोनो ही धर्मो मे गाढ़ अनुभूति का रस ले आते है, हम उनकी सहायता से वक्तव्य के व्यक्तित्व को, गुणों को और क्रियाओं को गाढ़ भाव से अनुभव करते है। पदार्थ के विशेषाधानहेतुक धर्म—चाहे वे सिद्ध हो या साध्य—सादृश्यमूलक अलंकारो से इस प्रकार सम्मूर्त्तित होते है कि पाठक के चित्त में अनुभूति सहज हो जाती है। वस्तुतः अर्थालंकार जब आवेग-सहचर होकर आते हैं तो काव्य मे अत्यधिक उर्जस्वल तेज भर देते है, पर जब आवेगहीन होकर आते है तो चमत्कारी उक्ति-भर रह जाते हैं। वे उस अवस्था मे बिजली की कौंध के समान एक क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके अन्तर्धान हो जाते है। यह क्षणिक ज्योति हमारे किसी बड़े काम के काम की नही होती, केवल अन्तर की चेतना पर मृदुल आघात करके विलीन हो जाती है। बिहारी की अज्ञातयौवना नायिका ने जब अपनी दासी को ईख की दँतुअन ले आने के अपराध पर झिड़का था तो उसकी सरलता ने ऐसी ही एक क्षणिक ज्योति उत्पन्न की थी। अधर के माधुर्य से दँतुअन कही भी मीठी होकर ऊख-सी नही लगने लगती। इसीलिए इस दोहे में मृदुकम्पन उत्पन्न करने की शक्ति होते हुए भी वह उतना अनुभूतिप्रेरक नही हो पाया, क्योकि इस कम्पन का हेतु बाह्य सत्ता से असम्पृक्त होने के कारण

स्थायी नही होता और न अनुभूति को गाढ़ रंग ही देता है। दोहा इस प्रकार है :

अधर परसि मीठी भई, दई हाथ सो डारि।
लावति दतुअनि ऊख की, नोखी खिजमतिगारि॥

लेकिन प्रश्न यही समाप्त नही हो जाता। यह कविता भी एक श्रेणी के लोगों को आनन्द देती ही है, इसीलिए इसे उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा जा सकता।

अधर का माधुर्य एक श्रेणी की चीज है और चीनी का माधुर्य दूसरी श्रेणी की। चीनी के संस्पर्श से कोई वस्तु मीठी हो जाती है, पर अधर के संस्पर्श से नही होती। होती भी हो तो उस व्यक्ति के लिए तो नही ही होती जिसके अधर मे यह अद्भुत माधुर्य दिन-रात निवास करता है। किसी और के लिए उक्त अधर से स्पृष्ट वस्तु अमृत से भी मीठी हो जाती हो तो मैं आपत्ति नही करूँगा। कविता की चर्चा करते समय मुझसे इतना ठूंठ होने की आशा आप नहीं कर सकते। पर मेरी आपत्ति उसी व्यक्ति की दँतुअनि के मीठी लगने पर है जो स्वयं उस माधुर्य का धनी है। इस प्रकार के चामत्कारिक उक्तियों के मूल में 'माधुर्य'-जैसे लाक्षणिक शब्द हैं। उर्दू का साहित्य इस प्रकार की उक्तियों का समुद्र ही है। सभी देशो में और सभी जातियों मे ऐसे शब्द प्रचलित है जो अपने मूल अर्थ से खिसककर भी उससे मिलते-जुलते अर्थों मे प्रयुक्त होते हैं। शब्दो में और अर्थों में सस्कारसमर्पित रूढि पैदा होती है जो उस देश और उस जाति के साहित्य के समझने के लिए अवश्य ज्ञातव्य होते है। उन रूढियों को जाने बिना आप किसी साहित्य का रस नही ले सकते। रूढि नितान्त निरर्थक नही होती, केवल कालप्रवाह मे लुढकते आने के कारण उसके मूल अर्थ घिसकर अदृश्य हो गये रहते है। इन रूढियों से शब्दो को, अर्थो को और आचारो को एक ऐसा मूल्य मिलता है जो लोककल्पित और अवास्तव होता है। 31 बार तोप दगने के बजाय यदि राष्ट्रीय ध्वज के सम्मान के अवसर पर 30 बार या 29 बार दगता तो कुछ बन या बिगड़ नही जाता। परन्तु किन्ही अज्ञात कारणों ने 31 की संख्या को एक कल्पित मूल्य दे रखा है कि जो लोकचित्त मे आवेग का कम्पन पैदा करता है। अधर-संस्पर्श से दँतुअन का मीठी हो जाना इसी प्रकार का कल्पित और अवास्तव अर्थ है, पर वह भी एक श्रेणी के सहृदय के चित्त में आवेग का कम्पन उत्पन्न करता ही है। एक और सरस उदाहरण लिया जाय :

अति चाह भरी जमुना-जल को बरजै पर हू नित ऐबो करै।
सखि को सुप लाख सुनै न कछू अपनी कहि कै मुसुकैबो करै।
दुति दूनी बढ़ाय 'गुलाब' जबै गुरु लोगन तैं न रुकैबो करै।
नव नागरि रूप उजागरि सो भरी गागरी क्यो ढरकैबो करै।

इस पद्य मे गागरी ढरकाने की जो चर्चा है, उसका कारण यह है कि अज्ञात-यौवना इस बालिका की आँखें हाल ही मे मछली-जैसी हो गयी हैं और बिचारी को शारीरिक परिवर्तन का एकदम पता नही है। जब-जब वह भरी गागरी देखती है तब-तब इन कम्बख्त आँखों की छाया पानी मे पड़ जाती है और उसे भ्रम होता है

कि पानी में मछली आ गयी है और दरका देती है। हर बार ही ऐसा होता है। कहना व्यर्थ है कि इस अर्थ में रूढ़ि द्वारा ही चमत्कार आया है। इस रूढ़ि को समझे बिना रसबोध नहीं हो सकता कि युवावस्था आने के समय किशोरियों की आँखों में मत्स्यधर्मिता आ जाती है।

अर्थ की वक्रिमता को प्रकट करनेवाली सूक्तियाँ मनुष्य के चित्त में गुदगुदी जरूर उत्पन्न करती हैं, साहित्य में उनकी आवश्यकता भी होती है। इन सूक्तियों के सहारे कोमलीकृत चित्त में कवि सहज ही भावों को प्रवेश करा देता है। बृहत्तर मानवजीवन को गाढ़ भाव से उपलब्ध कराने में सूक्तियाँ सहायक होती हैं, परन्तु उससे विच्छिन्न होने पर उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। नाटक, काव्य और उपन्यास में ये बहुत उपयोगी होती हैं क्योंकि इनके बिना पाठक का चित्त भाव को ग्रहण करने में तत्परता नहीं दिखाता। श्रीहर्षदेव की 'रत्नावली' में एक श्लोक है जिसमें कहा गया है कि वसन्त पहले लोगों के चित्त को कोमल बनाता है और उस कोमलीभूत चित्त में प्रेम का देवता आसानी से अपने फूल के बाणों को चुभो देता है :

> इह पढमं महुमासो जनस्स चित्ताइँ कुणइ मिउलाइँ।
> पच्छा विज्झइ कामो लद्धप्पसरेहिँ बाणेहिँ ॥

भावों की सहायता के लिए सूक्तियाँ भी बहुत-कुछ वही काम करती हैं जो वसन्त प्रेम के देवता की सहायता के लिए करता है। छन्द इन सूक्तियों में गति देते हैं और अलंकार शोभासंचार करते हैं। पर सूक्तियाँ मनुष्य के मनोभावों में सहायक होकर ही सरस होती हैं।

केवल गतिमात्र आ जाने से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता जो काव्य का प्रधान उद्देश्य है। गति तो जड़ पिण्डों में भी होती है। यह धरित्री-खण्ड न जाने कब से गतिशील है लेकिन जड़ता उसकी गति में बाधा पहुँचाती है। जड़ पिण्ड घूम-फिरकर एक ही स्थान पर आ जाता है, चेतन आगे निकल जाता है। वर्तुलाकार मार्ग गति में संचारित जड़धर्म-जन्म बाधा का परिणाम है, वह पद-पद पर बाधा पहुँचाता है और जड़ पिण्ड चक्करदार मार्ग में घूमने को बाध्य होता है। गति के साथ आगे बढ़ना भी आवश्यक है। इसी को 'प्रगति' कहते हैं। यह चेतन की अपनी विशेषता है। जब तक काव्यगत सूक्तियों में यह चेतनधर्म नहीं सचरित होता तब तक छन्द उनमें गति का वेग भर दे सकते हैं, प्रगति का उत्साह नहीं सचारित कर सकते। जो कवित्व मनुष्य को घुमा-फिराकर जहाँ-का-तहाँ छोड़ देता है उसमें गति तो है लेकिन प्राण नहीं है। कुछ प्राण भी चाहिए। केवल कहना तो कहना नहीं है, कहने की चरितार्थता इस बात में है कि मनुष्य को आत्मधर्म के प्रति सचेतन बनाये। जिस कहने से कहनेवाले की वेदना प्रत्यक्ष न हो जाय, श्रोता का हृदय सहानुभूति से पूर्ण न हो जाय, उसमें स्वाद क्या है भला !

> कवि बोधा कहे में सवाद कहा, को हमारी कही पुनि मानतु है।
> हमें पूरी लगी कि अधूरी लगी, यह जीव हमारोइ जानतु है।

जब कभी मुझे छन्द की, झंकार की और संगीत की इस प्रकार चर्चा कर
पड़ती है तभी हृदय के अन्तस्थल से यह ध्वनि निकलती रहती है—ततः किम्
छन्द की, झंकार की या संगीत की महिमा क्या वृहत्तर जीवन में भी कुछ सन्तुल
पैदा करती है या वे केवल शब्द और अर्थ के सम्बन्धों को लेकर बौद्धिक कसर
करनेवाले कलावाजों के आरोपित अवास्तव मूल्य के बल पर ही इतने बड़े गौर
का मुकुट धारण किये हुए है ? यह प्रश्न अनुचित नहीं है; क्योंकि जिससे जीवन
कुछ ऊपर उठने की शक्ति न मिलती हो, नीचे की ओर गिरने से बचाव न होता
वह वस्तु बहुत काम की नहीं हो सकती। जिससे हमारे बन्धन शिथिल हों, पद
पर का विनिपात दूर होता हो वही काम की चीज है, नहीं तो बड़ा नाम देने से
कोई चीज बड़ी नहीं हो जाती और हो भी जाय तो उससे विशेष लाभ नहीं
सकता—ये नाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम् ?

वस्तुतः मनुष्य के व्यक्ति-चित्त को आवेग-कम्पित करनेवाला छन्द व्यक्ति
विशेष की पृथक्भूता शक्ति का परिचायक नहीं है। मैंने शुरू में ही कहा है कि व
एक समूहगत शक्ति है। एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचारि
करनेवाला महान् साधन है। ऐसा वह इसीलिए कर सकता है कि वह वृहत्तर जग
की किसी ऐसी ही शक्ति का वागाश्रित मानवीय प्रतिनिधि है। जब वह मनुष्य
वाक्य को आश्रय करके प्रकट होता है तो उस वाक्य के पीछे रहनेवाले अर्थ
प्रयोजन की गुरुता से मुक्त करके भावलोक मे ले जाता है। जब वह मनुष्य की दे
को आश्रय करके प्रकट होता है तो इस देह में भी असाधारण ऐश्वर्य भर देता है, उ
समय हम उसे नृत्य कहते है। छन्द भारसाम्य की रक्षा करता है, सन्तुलन न
बिगडने देता और नितान्त गद्यात्मक प्रयोजनों के भारीपन से भाव को मुक्त करत
है। मनुष्य के समाज को आश्रय करने पर यही छन्द धर्म के रूप में प्रकट होता
और सामाजिक सन्तुलन की रक्षा करता हुआ, आचार-परम्परा मे अध्यात्म
ऐश्वर्य संचारित करता है। जिस समाज मे छन्द नहीं, उसमे सन्तुलन भी नहीं
और उसमें अध्यात्मभावना का अभाव हो जाता है। समूची सृष्टि में ही एक प्रका
की छन्दोमयी गति है। काव्य का छन्द उस वृहत्तर सत्य के अनुरूप होने से
महान् है, वह कलावाजों द्वारा आरोपित काल्पनिक मुकुट पहनकर बडा नहीं हु
है।

इस प्रसग में मुझे कविवर रवीन्द्रनाथ की एक कविता का स्मरण होता है
आदिकवि को जब प्रथम बार छन्द का साक्षात्कार हुआ तो उन्हें इस बात की ब
चिन्ता हुई कि किस प्रकार इस छन्द का—इस महान् साधन का— ऐसा उपयो
किया जाय कि मनुष्य प्रयोजन के गुरुभार से बचकर थोड़ा ऊपर उठ सके, व
पृथ्वी पर रहकर भी स्वर्ग का देवता बन सके। मनुष्य में जो क्षुद्र स्वार्थ है
संकीर्णताएं हैं, प्रयोजन का बन्धन है, वे सब उसे नीचे की ओर खींचते हैं। कुछ ऐ
होना चाहिए जो उसे भाव के स्वाधीन लोक में ले जा सके। आदिकवि जब इस
प्रकार बेचैन घूम रहे थे, उसी समय नारद को ब्रह्मा ने उनके पास भेजा। नार

और वाल्मीकि के इस मिलन में जो बातें हुईं, वह काव्य के चिरन्तन सत्य को प्रकट करती हैं। मुझे खेद है कि कविवर रवीन्द्रनाथ की पूरी कविता इस समय नहीं सुना सकूँगा, पर उसके एक अंश का स्खलित भाषान्तर मैं अवश्य सुनाना चाहता हूँ। उससे मेरा वक्तव्य अधिक स्पष्ट हो जायेगा। वाल्मीकि ने नारद से कहा :

"हाय, भाषा मनुज की है बँधी केवल अर्थ के दृढबन्ध से, चक्कर लगाती है सदैव मनुष्य को ही घेरकर। अविराम बोझिल मानवीय प्रयोजनों से क्षीण हो आया गिरा का प्राण है, उसके परिस्फुट तत्त्व देते बाँध सीमा मे चरण को भाव के। इस धूलितल को छोड़ बिल्कुल ही न उड़ सकती नवल सगीत सम उन अर्थ-बन्धनहीन अपने सप्तस्वर के सप्तपंखों को अबाध पसार विपुल व्योम मे निर्द्वन्द्व अपराधीन !

"प्रातःकाल की यह शुभ्र भाषा वाक्य बन्धन-रहित जो प्रत्यक्ष किरणें है कि वे क्षण मात्र में ही खोल देती है इस जगत् के मर्म मन्दिरद्वार को, होता प्रकट त्रैलोक्य के नवगीत का भाण्डार और विभावरी आच्छन्न कर देती पलक गिरते अपार अनन्त जग को शान्ति की निज ललित भाषा से; कि उसका वाध्यहीन निषेध अपने मन्त्रबल से शान्त कर देता जगत् के खेद, दारुण क्लान्ति, कठिन प्रयास, क्षण में भेद जग के मर्म कोलाहलजनित काठिन्य को, लाता विपुल आभास शामक मरण का नरलोक मे। नक्षत्र की निश्चल गिरा निर्धूम अग्नि समान देती है स्वयं की सूचना ज्योतिष्क सूचीपत्र पर आकाश में; दक्षिण समीरण की गिरा केवल तनिक निःश्वास के बल पर जगाती है नवल आशा निकुंज-निकुज में, है पैठ जाती भेद दुर्गम दुर्ग पल्लवराज की दुस्तर अरण्यान्तः पुरी मे अनायास अबाध, यौवन की *विजयगाथा वहन करती सुदूर दिगन्त तक;—वैसा सहज आलोक दुर्लभ है मनुज के* वाक्य मे, इसमें कहाँ आभास सीमाहीन मिलता है, कहाँ वह अर्थभेदी अभ्रभेदी गीत का उल्लास, मिलता कहाँ आत्मविदीर्णकारी तरलता उच्छ्वास ?

"मानव-वाक्य की इस जीर्ण काया बीच मेरा छन्द भर दे एक नूतन प्राण, उसको अर्थबन्धन से छुड़ा ले जाय ऊपर भाव के स्वाधीन मोहक लोभ में दृढ पक्ष-धारी अश्वराज समान द्रुत उद्दाम शोभन वेग से—यह है हृदय की साध ! मुनि, जिस तरह है यह अग्नि की उद्दीप्त नौका नित्य अपनी गोद में ले सूर्यमण्डल को उतार रही नियत इस पार से उस पार विपुल व्योमसागर बीच, मेरा छन्द भी उस अनल-नौका सदृश ढोये विमल महिमा मनुज की दिक्प्रान्त से दिक्प्रान्त तक। मैं दान करना चाहता हूँ बद्ध मानव-वाक्य को यह दीप्त गतिमय छन्द— ऐसा हो कि यह उन्मुक्त होकर संचरण कर सके जग की क्षुद्र सीमाराशि लेवे खीच इस गुरुभार पृथ्वी को गगन की ओर, ले फिर खींच बन्धन-जड़ित भाषा को मनोहर भावरस की ओर जो है देवपीठस्थली मानवजाति की। जिस भाँति बाँधा है महाम्बुधि ने धरित्री को समावृत कर निरन्तर गान, अविरत नृत्य से; यह छन्द मेरा भी उसी भाँति ही आलिगन-जड़ित कर युग-युगान्तर को सहज गम्भीर कलरव से प्रचारित करे मानव का अपार-अतुल महिम्नस्तोत्र, दे महनीय मर्यादा भुवन मे इस क्षणस्थायी निरम

नरजन्म को।

"हे देवदूत मुने, पितामह के चरण में यह निवेदन करो मेरी ओर से यह स्वर्ग से जो आ गयी है परमनिधि नरलोक को, उसको न अब ले जायें लौटा फिर वहाँ। है जो अपौरुष छन्द हमको मिला उसने देवता को है मनुज कर दिया, मैं हूँ चाहता देवत्वपद पर उठा देना क्षुद्र मानव को, उठाना चाहता हूँ इस धरा पर स्वर्ग का प्रासाद!!"

यही छन्द की महिमा है, वह मनुष्य को देवता बनाने के संकल्प का आदि-वाहक है।

सो, काव्य-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग केवल छन्द के कारण, शब्दालंकारों के कारण और अर्थ-वक्रिमा के कारण ही लोकप्रिय हुआ है। पुराने अलंकारशास्त्रों में ऐसे स्थलों के सौन्दर्य का निपुण भाव से विचार किया गया है। परन्तु जिन लोगों ने इस चमत्कार की विवेचना की है वे लोग उन्हीं संस्कारों में पले थे जिनमें ऐसी उक्तियों के लेखक पले थे, इसीलिए असंगतिजन्य आनन्द को वे सिद्ध अर्थ मान लेते थे अर्थात् वाक्य के व्याहत और अनुपपन्न अर्थ को लक्षणा या व्यञ्जना के सहारे अव्याहत और उपपन्न कर लेने के बाद इस प्रकार की असंगति की संगति लग जाने में जो एक प्रकार का कौशल प्रकट होता था उसे वे आनन्द का कारण स्वीकार कर लेते थे। नाना कारणों से असंगति में संगति लगाकर आनन्द पाने के मनोभाव विकसित हुए हैं। हमें उनका ठीक-ठीक अध्ययन कर लेना चाहिए। अशोकवृक्ष सुन्दरियों के वाम पद के मृदु आघात से फूल उठता है, इस वस्तु के आधार पर न जाने पुराने भारतीयों ने कितनी रसमयी रचनाएँ लिखी हैं। लेकिन यह विश्वास भारतीय साहित्य में बहुत पुराना नहीं है, बहुत दीर्घकाल तक वह टिका भी नहीं। कालिदास के पूर्व शायद अपरिचित था और मध्ययुग के हिन्दी साहित्य में वह नहीं मिलता। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि भारतीय सभ्यता में यक्षों की सभ्यता के मिश्रण के बाद यह विश्वास आया। साँची, भरहुत आदि में अशोकवृक्ष में इस प्रकार दोहद उत्पन्न करनेवाली यक्षिणीमूर्त्तियाँ अंकित हैं। इधर बताया जाने लगा है कि ये और ऐसी ही अन्य बहुत-सी मूर्तियाँ शिल्प में कालिदास के प्रभाव को सूचित करती हैं। मुझे दूसरी ही बात सूझती है। ये मूर्तियाँ उस युग के अत्यधिक प्रचलित विश्वास की सूचना देती हैं और कुछ खास बातों के कल्पित मूल्य की ओर इशारा करती हैं। सच्चा कलाकार इन कल्पित मूल्यों का जमकर उपयोग करता है। कालिदास ने ऐसा ही किया था। बाद में कल्पित मूल्यवाली बात भूल गयी और आलंकारिकों ने इसे कविप्रसिद्ध मान लिया। पर यदि इसके आरोप का इतिहास जाना जाय तो कालिदास के काव्य को अधिक गाढ भाव से अनुभव किया जा सकता है। अशोक दोहद स्थूल वस्तु का उदाहरण है, इससे अधिक सूक्ष्म वस्तु वे अविच्छिन्न विश्वास हैं जो किसी स्थूल आधार पर टिके नहीं रहते। एक युग के काव्य के मर्म को दूसरे युग का सहृदय तब तक नहीं समझ सकता जब तक इन रूढ, किन्तु वस्तुतः किसी कारणवश आरोपित, मूल्यों की ठीक-ठीक जान-

कारो न हो। एक देश के काव्यप्रयत्न भी दूसरे देश के काव्यप्रयत्नों की परम्परा जाननेवाले सहृदयों के निकट सब समय स्पष्ट नहीं होते। वस्तुतः कल्पित मूल्यों की जानकारी से हम काल और देश की सीमा लांघने का सामर्थ्य पाते हैं। यदि भारतीय समाज की विश्वासपरम्परा का अध्ययन किया जाय तो मनुष्य की अद्भुत ग्राहिका शक्ति का पता चल जायगा। हमारे पास जितना भी साधन उपलब्ध है उससे इतना तो स्पष्ट ही जान पड़ता है कि इस देश में भी नाना प्रकार के विश्वास स्वीकार किये गये है, भुलाये गये हैं और झाड़कर फेंक दिये गये हैं। भारतीय चित्त आज जैसा है, वैसा ही सदा नही रहा। संस्कार भी सदा वैसे ही नहीं रहे, सब समय ऐसे रहेंगे भी नहीं। नये विश्वास आयेंगे, नये कल्पित मूल्य स्वीकार किये जायेंगे और नये रास्ते से आवेग का रथ 'भारतीय' कहे जानेवाले चित्त में अबाध भाव से प्रवेश करेंगे। भारतीयता का प्रेमी जब नये अंग्रेजी पढ़े लडकों की यह कहकर भर्त्सना करते है कि इनमें कुछ भी भारतीय नही हैं, कुछ भी ऐसा नही बचा है जो पाश्चात्य प्रभाव से कलुषित न हो गया हो, तो वे अप्रत्यक्ष रूप से यही स्वीकार करते हैं कि भारतीय संस्कार भी परिवर्त्तनशील है और भारतवर्ष में ऐसे व्यक्ति आसानी से पैदा किये जा सकते है जो एकदम भारतीय हों ही नही।

फिर यूरोपीय प्रभाव होने-मात्र से कोई चीज अस्पृश्य नही हो जाती। प्रेमचन्द की कहानियाँ 'वैतालपचीसी' या 'गुलबकावली' के ढंग की न होकर आधुनिक यूरोपीय कहानियों के ढंग की हुई हैं, इतना कह देने से प्रेमचन्द का महत्व कम नही हो जाता। रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक निबन्ध 'काव्य प्रकाश' की शैली पर या 'कविप्रिया' की शैली पर न लिखे जाकर अगर यूरोपीय समालोचकों के ढंग पर लिखे गये हैं तो इससे उनका महत्व घट नही जाता। प्राण चाहिए। जहाँ प्राण का उच्छलित तेज होता है वहाँ यह बात गौण हो जाती है कि बाह्य ढाँचा किस देश या किस जाति से लिया गया है। फिर जो लोग यह मानते है कि देशविशेष के मनुष्य को अपने-आपमें ही सन्तुष्ट और सीमाबद्ध रहना चाहिए, किसी अन्य देश के मनुष्य से कुछ ग्रहण ही नहीं करना चाहिए, वे मनुष्य की मूल एकता में ही विश्वास नही रखते। आज हम साहित्य की जिस ढंग से चर्चा करते है, वह पुराने भारतीय ढंग के अनुरूप न होकर यूरोप के आधुनिक ढंगों के अनुरूप है। हमारे समाचारपत्र और साहित्यिक पत्रिकाएँ यूरोपीय प्रभाव है, हमारी गण्यात्मक आलोचनाशैली यूरोपीय प्रभाव है, हमारे कॉमा-फुलस्टॉप तक मे यूरोपीय प्रभाव है। प्रभाव तो मनुष्य पर तब तक पड़ेगा, जब तक उसमे जीवन है। जहाँ जीवन का वेग अधिक है, प्राणधारा का बहाव तेज है, उसी स्थान से उसका ऐश्वर्य छितरायेगा ही। आलोक सीमा मे बँधना नही चाहता, उसका धर्म ही प्रकाशित होना और प्रकाशित करना है। किसी समय भारतवर्ष में भी यह जीवन का ऐश्वर्य था। कहाँ उसका प्रकाश नही फैला? चीन, जापान, अरब, यूनान, मिश्र, ईरान जहाँ कही भी लोगों में प्रकाश सहन करने की शक्ति थी, वहीं इसने अपना प्रभाव विस्तार किया। आज यदि यूरोप ने तपस्या की है, उसके जीवन में ऐश्वर्य का आलोक प्रकट

हुआ है तो आग भी फैलेगी ही और लोग भी ग्रहण करेंगे ही। भारतवर्ष ने उसे अगर ग्रहण किया है तो इसमें लज्जा की कौन-सी बात है? लज्जा प्रकाश ग्रहण करने में नहीं होती, अन्धानुकरण में होती है। अविवेकपूर्ण ढंग से जो भी सामने पड़ गया उसे सिर-माथे चढ़ा लेना, अन्ध भाव से अनुकरण करना जातिगत हीनता का परिणाम है। जहाँ मनुष्य विवेक को ताक पर रखकर सबकुछ ही अन्ध भाव से नकल करता है वहाँ उसका मानसिक दैन्य और सांस्कृतिक दारिद्र्य प्रकट होता है, किन्तु जहाँ वह सोच-समझकर ग्रहण करता है और अपनी त्रुटियों को कम करने का प्रयत्न करता है वहाँ वह अपने जीवन्त स्वभाव का परिचय देता है। विवेक दाता की पहिचान की शक्ति देता है, अन्धानुकरण दान की ओर सतृष्ण भाव से झुकाता है। दातृत्व तपस्या से प्राप्त होता है, अविवेक साधना के अभाव से उपजता है। यूरोप जितनी दूर तक तपस्वी है, उतनी दूर तक दाता भी बन सकता है। जहाँ वह तपस्या से चालित न होकर तृष्णा से, मोह से, लोभ से चालित हो रहा है, वहाँ वह स्वयं दीन है, वहाँ उसमें ऐश्वर्य का अभाव है। जहाँ तक उसमें तपोलब्ध दातृधर्म है, वहाँ वह सबका सम्मानभाजन है। सबकुछ को बटोर लेने की प्रवृत्ति गलत है, मनुष्यता को उदार बनानेवाले ऐश्वर्य से प्रभावित होना नहीं। वस्तुतः जो राष्ट्र जीवनरस से भरा है वह प्रभावों से डरता नहीं फिरता। वह खुली आँखों से जगत् के समस्त पदार्थों को, धर्मों को, मतों को, काव्यों को, चित्रों को देखता है और उसके जीवन की पूर्ति के लिए जो आवश्यक होता है उसे ग्रहण करता है और अपने-आप जीवनरस की परिपूर्णता के कारण जो ऐश्वर्य आलोकित हो उठता है उसे दूसरों को देता रहता है। देने में और लेने में विवेक की शरण जाना चाहिए, संस्कारों की नहीं। लेकिन ठीक-ठीक विवेक के लिए हमें अपने और पराये संस्कारों का ज्ञान चाहिए।

यह दुर्भाग्य की बात है कि पिछली राजनीतिक दासता के कारण भारतीय जनता के चित्त में एक प्रकार की हीनता-ग्रन्थि पैदा हो गयी। अंग्रेजों के दातृत्व की योग्यता की परीक्षा किये बिना हमने उनका अन्धाधुन्ध अनुकरण किया है। दान बटोरने की ऐसी हास्यास्पद प्रवृत्ति शायद ही इतिहास में इतने उग्र रूप में दिखी हो। आज राजनीतिक दासता समाप्त हो गयी है, पर मानसिक दासता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। ब्रज की गोपिका की आँखों में एक बार अहीर के प्रसिद्ध बालक ने एक मुट्ठी अबीर फेंक दी थी। जैसे-तैसे वह अबीर तो आँखों में से निकल गया, पर अहीर का छोकरा जो जमके बैठा सो बैठा, किसी प्रकार नहीं निकल सका :

> एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन सो
> कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं!

कुछ इसी तरह का हाल भारतीय शिक्षित चित्त का है। अंग्रेजी शासन तो निकल गया, पर अंग्रेज अभी जमा है। हर बात में वे अपने को अनाथ और अरक्षित बालक समझ रहे हैं। अंग्रेजी की सिखायी हुई बोली भूल गयी तो क्या होगा?

अंग्रेजों की बनायी हुई पढाई की नहर सूख गयी तो क्या होगा ? अंग्रेजों की रटायी हुई कानूनी बोली अगर नही रही तो क्या होगा ? मानसिक दासता का ऐसा जबर्दस्त भूत सिर पर सवार है कि हम भूल ही गये है कि हम दुनिया की सबसे प्राचीन सभ्यता के धनी है, हजार-हजार वर्षो से हमारी अपनी भाषा रही है, विद्वत्ता रही है, शासन-व्यवस्था रही है, शिक्षा-व्यवस्था रही है। नवीन समस्याएँ भी आयी है और नवीन ज्ञान भी हमे लेना है, पर हम न तो नौसिखुए है न, असहाय है। एक बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया भी हो रही है। लोग यह कहते है कि जो कुछ अंग्रेजों के संसर्ग से आया है, सब बुरा है, सब त्याज्य है। इन दो चरम अन्तों से बचने का प्रयत्न होना चाहिए। इसीलिए अपने और पराये सस्कारों तथा वास्तविक मानवीय मूल्यों का विवेक अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

उद्देश्य क्या है ?

संस्कारों के समझने से मनुष्य दूसरे देश और दूसरे काल के साहित्य को समझ सकता है। ततः किम् ? क्या होगा इस प्रकार देश और काल की सीमा को लाँघ जाने की स्पर्धित मनोवृत्ति को बढावा देकर ? वस्तुतः समाज के सर्वांगीण विकास के वैज्ञानिक अध्ययन को बढावा देने का एक ही उद्देश्य हो सकता है—ऊपरी भेद-विभेदों के तलदेश में स्तब्ध भाव से विराजमान मानवजाति की अन्तर्निहित एकता की उपलब्धि। परन्तु इसी की क्या आवश्यकता है ? हम अपने अगले व्याख्यान मे इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे। यहाँ इतना ही कह रखना आवश्यक है कि आज समूचे जगत् में जिस मानवीय सस्कृति की प्रतिष्ठा के बिना सभ्यता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ा हुआ दिखायी दे रहा है, जिसके बिना समूची मनुष्यता विनाश के गहन वात्याचक्र में उलझने को लाचार हो गयी है, उसकी प्रतिष्ठा इस प्रकार की उपलब्धि के बिना नही हो सकती। जीवविज्ञान और मनोविज्ञान आदि शास्त्रों ने मनुष्य की एकरूपता को अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है, लेकिन सामाजिक रीति-नीति और संस्कारो के अध्ययन से मनुष्य की दृष्टि और भी उदार बनेगी और देश तथा काल की सीमा को लाँघकर सौन्दर्य और माधुर्य का रस ले सकने का सामर्थ्य इस मानवीय संस्कृति की नीव को मजबूत करेगा। आज भी ऐसे महामानव मिल जाते है जो देश और काल की संकीर्ण सीमाओं को भेदकर यथार्थ मानवधर्म को समझ लेते है। हमारे देश के रवीन्द्रनाथ और गाधीजी ऐसे ही नर-रत्न थे। परन्तु इतना ही पर्याप्त नही है। इस दृष्टि की प्रतिष्ठा के लिए देशव्यापी प्रयत्न करने होगे। छोटी-छोटी सीमाओं में आबद्ध जातीय या राष्ट्रीय ठसक उस गम्भीर संस्कृति के अभाव की परिचायिका है, जो मनुष्य की विचारधारा का ऐश्वर्य है। देश और काल की सीमाओ को बहुमान देकर मनुष्य की अन्तर्निहित एकता के विरुद्ध सोचने का अभ्यास मानव-विकास के इतिहास को न जानने की निशानी है। प्रयत्न करने से इस त्रुटि की पूर्ति हो सकती है। उस प्रयत्न की ओर मनुष्यजाति को उद्बुद्ध करना वांछनीय है। मनुष्य की जो सबसे सूक्ष्म और महनीय साधना है उसी का प्रकाश साहित्य है। उसके अध्ययन से

उद्देश्य सहज-साध्य होगा। सभ्यता और संस्कृतियों के इतिहास से यही तथ्य प्रकट होता है कि मनुष्य समस्त संस्कारों, समस्त आरोपित मूल्यों और समस्त रीति-रस्मों से बड़ा है। मनुष्यता की निरन्तर प्रवहमान धारा नाना मूलों से शक्तिसंग्रह करती हुई आगे बढ़ती आ रही है। मनुष्य का इतिहास इन्हीं साधनाओं का इतिहास है। उसने आदिम कही जानेवाली मनोवृत्तियों के हाथ अपने को नहीं छोड़ दिया, प्रयोजन की संकीर्णता की बेड़ियों से अपने को नहीं बँधने दिया, मृत्यु के नागपाश में अपने को नहीं फँसने दिया। सबकुछ को रौंदकर, सबकुछ को छोड़कर वह न जाने किस विजययात्रा के लिए निकल पड़ा है। ऋषि के शब्दों में कहने की इच्छा होती है :

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं वे ब्रवीमि न मानुष्याच्छ्रेष्ठतरंहि किंचित।"
[तुम्हें यह गुप्त रहस्य बताता हूँ, मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।]

मानव-सत्य

काव्य की इस अपूर्व शक्ति का आश्रय क्या है? किसके बल से बलीयान् होकर काव्य का यह उद्गीत रूप इतना मनोहर और इतना आकर्षक हो जाता है?

इस प्रसंग में मुझे 'छान्दोग्य उपनिषद्' के प्रथम अध्याय के आठवें और नवें खण्ड में दी हुई एक कथा का स्मरण हो आता है। इस कथा में एक बहुत पुराने शास्त्रार्थ विचार का विवरण मिलता है। प्रसिद्ध है कि तीन ऋषि उद्गीथ-तत्त्व के बहुत अच्छे जानकार थे। उनमें दो तो ब्राह्मण थे और तीसरे क्षत्रिय थे। ब्राह्मण ऋषियों में प्रथम थे शालावान् के पुत्र शिलक और दूसरे थे चिकितायन के पुत्र दालभ्य। क्षत्रिय ऋषि जीवल के पुत्र प्रवाहण थे। तीनों उद्गीथ विद्या के मर्मज्ञ थे। एक बार इन लोगों में इस तत्त्व के आश्रय के सम्बन्ध में विचार हुआ। शिलक ने प्रश्नों का उत्तर देते हुए दालभ्य ऋषि ने बताया था कि 'साम का आश्रय स्वर है, स्वर का आश्रय प्राण है, प्राण का आश्रय जल है, और जल का आश्रय स्वर्ग-लोक है। इसके आगे प्रश्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि साम को 'स्वर्ग-लोक' कहकर ही स्तुति की गयी है—स्वर्गो वै लोकः सामवेदः!'

किन्तु शालावान् के पुत्र शिलक, चिकितायन के पुत्र दालभ्य के इस कथन से सहमत नहीं हो सके। यह कैसे हो सकता है कि स्वर्गलोक ही अन्तिम सत्य हो? उन्होंने शिलक के प्रश्न के उत्तर में कहा था, 'स्वर्ग-लोक का आश्रय मनुष्यलोक है—यह मिट्टी की धरित्री है।' शिलक ने बाद में दालभ्य के ढंग [illegible] स्वीकार

किया कि 'इसके आगे प्रश्न करना अनुचित है। सबकी प्रतिष्ठारूप इस मनुष्य-लोक की प्रतिष्ठा और क्या हो सकती है ? साम की, पृथ्वी कहकर ही, स्तुति की गयी है—इयं वै रथन्तरम् ! सो साम का चरम आश्रय यह मनुष्य-लोक ही है।'

जीवल के पुत्र प्रवाहण को यह भी चरम आश्रय नहीं जान पड़ा। बोले, 'मनुष्यलोक ही अन्तिम सत्य नहीं है। मनुष्य-लोक की भी कोई गति होनी चाहिए। यह कैसे मान लिया जाय कि इसके आगे कुछ है ही नहीं ? वस्तुतः इसका भी आश्रय आकाश है। भूतमात्र आकाश में ही उत्पन्न होते हैं, आकाश मे ही विलीन होते हैं। आकाश सबसे बड़ा है। आकाश ही परम आश्रय है।'

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाश प्रत्यस्तं
यन्त्याकाश एवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥

यह विचार आज से कई हजार वर्ष पहले हुआ था। तब से दुनिया के ज्ञान-साधनों में बहुत परिवर्तन हुआ है, विद्वानो के तर्क-कर्कश मस्तिष्को ने इस प्रश्न पर कई दिशाओं से आक्रमण किया है, पर आश्चर्य यह है कि हम आज भी इन्ही तीन उत्तरों की जुगाली करते जा रहे हैं। घूम-फिरकर इन्ही मे से किसी एक पर आकर मनुष्य का मस्तिष्क टिकता है। कहने का ढंग और है, भाषा का रूप और तर्क की विधियाँ और हैं, पर उत्तर यही है।

बहुत-से विचारको ने बताया है कि काव्य मे, कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्दो में, छन्दों मे, यमक-अनुप्रासों में और समूची पदसंघट्टना में एक ऐसी विचित्र शक्ति होती है जो इस दुनिया से ग्रहण की हुई सामग्रियो के उपादान से ही पाठक के चित्त मे एक मनोरम कल्पलोक का निर्माण करती है। यह लोक इस दुनिया में अनुभूत सुख-दुःखों के समानधर्मा सुख-दु:खों से ही निर्मित होता है और इसी-लिए इस दुनिया के समानान्तर ही कहा जा सकता है, परन्तु वह इससे ऊपर होता है और स्थूल जगत् के झमेलों से मुक्त होता है। काव्य के पंख पर केवल मनोभाव ही ऊपर उड़ सकते है, स्थूल भार नीचे ही पड़ा रह जाता है। फल यह होता है कि यहाँ के सभी मनोभाव वहाँ आनन्द ही उत्पन्न करते है, हास भी, रोदन भी, असूया भी, जुगुप्सा ! इन मनोभावो के लौकिक रूप मे दुनिया के स्थूल और मलिन पदार्थ मिल जाते है, परन्तु कविनिर्मित अलौकिक रूप मे यह स्थूल और मलिन पदार्थ असम्पृक्त रह जाते है, इसीलिए आनन्द भी अनाविल और सूक्ष्म होता है। वह कवि का निर्मित जगत् है, उसकी निखरी हुई रुचि की छननी से सब मलिनता छन जाती है और अपूर्व रसलोक की सृष्टि होती है। यहाँ का प्रजापति कवि ही है, उसे जैसा रुचता है, वैसा ही जगत् को बनना पड़ता है।

अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैतत् प्रतिपद्यते ॥

बात यह है कि काव्य में एक बड़ा भारी गुण साधारणीकरण का होता है। जब आप लोक में कहते हैं कि 'हे ब्राह्मण, तुम्हारे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है' तो इस वाक्य के श्रवण से ब्राह्मण के मन मे भी एक प्रकार का आनन्द होता है, पर यह

आनन्द अपने विशुद्ध रूप से नहीं आता। इसके साथ-ही-साथ इसके अनेक सहवर्ती झमेले भी ब्राह्मण को भुगतने पड़ते हैं, फिर यह आनन्द ब्राह्मण के अपने मन तक ही सीमित होता है। इसलिए यह लौकिक है। लोक की स्थूल आवश्यकताएँ इसे न तो ऊपर उड़ने देती हैं, न सबके हृदय को समान भाव से आन्दोलित करने देती हैं। काव्य में यदि कोई ऐसा ही प्रसंग आता तो वह पाठक को इससे भिन्न कोटि की अनुभूति देता। वह आनन्द सर्वजनभोग्य तो होता ही, उसमें से लौकिक स्थूल अंश भी छन गये होते। इसी अर्थ में वह अलौकिक आनन्द होता। काव्य के शब्दों मे पाठक को रजोगुण और तमोगुण के पचड़े से हटाकर सत्त्वस्थ करने की शक्ति होती है। उसे आनन्द के साथ उसके सहवर्ती स्थूल उपादानों की लपेट में नहीं आना पड़ता। उसका आनन्द विशुद्ध मानसिक आनन्द होता है। बड़े-बड़े आचार्यों का तो कहना है कि काव्य वस्तुतः पाठक की चेतना का आवरण हटा देता है और वह अपने ही अनुभूत भावों का आस्वादन करता है। उसे बाहर की किसी भी अन्य सहायता की जरूरत नहीं होती। सचमुच ही यह काव्यलोक अपूर्व है। 'मेघदूत' की अलकापुरी के समान इसमें आनन्द-ही-आनन्द है। आँसू अगर हैं भी तो आनन्द के ही, ताप अगर हैं भी तो प्रेम के देवता के मृदुलाघात के ही, वियोग-बाधाएँ हैं भी तो केवल प्रणयकलह की ही और यौवन के सिवा दूसरी अवस्था को तो लोग वहाँ जानते ही नहीं :

> आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै—
> र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
> नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति—
> र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥

इस प्रकार यह काव्यलोक वस्तुतः ही मनुष्य का बनाया हुआ स्वर्ग-लोक है—स्वर्गो वै लोकः सामवेदः।

किन्तु इस प्रकार माननेवाले भी यह मानते ही हैं कि सभी काव्य इस प्रकार का अपूर्व रस मन में संचार नहीं कर पाते। कुछ कम कर पाते हैं, कुछ अधिक कर पाते हैं। दोष रसों के अपकर्षक होते हैं और सब काव्य उनसे मुक्त नहीं हो पाते। रह-रहकर पृथ्वी का आकर्षण कविनिर्मित स्वर्ग-लोक में भी कम्पन उत्पन्न करता है। स्थूल अनुभूतियाँ उसे धरती की मिट्टी तक घसीट लाती हैं। फिर सब लोग एक ही काव्य से एक ही प्रकार का आनन्द नहीं पा सकते। जिस सहृदय के हृदय में स्थायी भावों की अनुभूति जितनी ही अधिक होगी, वह उतने ही गाढ़ भाव से रस का अनुभव कर सकेगा। जो साहित्यशास्त्र का मर्मज्ञ है, उसी के चित्त में कवि की सरस वाणी प्रसार पाती है। जल छोड़कर और किस स्थान पर तैल-बिन्दु फैल सकता है?

> विना न साहित्य विदा परत्र गुणाः कथंचित् प्रथते कवीनाम्
> आलंवते तत्क्षमम्भसीव विस्तार मन्यत्र न तैल विन्दुः।

परन्तु ऐसा क्यों होता है? निश्चय ही कवि का रस-लोक अपने-आपमें

परिपूर्ण नहीं होता। उसे मनुष्य का ग्राहक हृदय चाहिए। सहृदय चित्त ही उसका आनन्द ले सकता है। और फिर यह प्रश्न होता है कि कवि के काव्य की अच्छाई-बुराई का, उत्तमता-मध्यमता का निर्णायक कौन है? निश्चय ही साहित्यशास्त्र का पारखी मनुष्य ही विवेचना करेगा कि कौन-सा काव्य अच्छा है, कौन-सा कम अच्छा और कौन-सा एकदम अच्छा नहीं। मनुष्य ही तो इस काव्य के कल्पलोक का पारखी है। क्या प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जिस किसी भी काव्य को बुरा कह दे? या फिर और सीधा प्रश्न यह है कि काव्य की अच्छाई-बुराई क्या हर आदमी अपनी-अपनी रसानुभूति के आधार पर बता सकता है? निश्चय ही नहीं। प्रत्येक व्यक्ति समान भाव से रसवस्तु को नहीं समझ पाता, उसे समझने के लिए भी शिक्षा चाहिए, संस्कार चाहिए, साधना चाहिए। दुनिया में ऐसे उदाहरण बहुत हैं कि एक ही कवि को किसी ने बहुत उत्तम कहा है और किसी ने एकदम निकृष्ट। किसी जमाने में शेक्सपियर की बहुत प्रशंसा किया करते थे, उन्हीं दिनों फ्रांस के लोग यह भी मानने को तैयार नहीं थे कि शेक्सपियर को नाटक के एक अक्षर का भी ज्ञान है। एक बार पुरस्कार के निर्णायकों में से एक ने एक पुस्तक पर अस्सी नम्बर दिये थे, दूसरे ने शून्य! ऐसे उदाहरण एक दो नहीं सैंकड़ों खोजे जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य एक पीढ़ी पहले बड़ी सरगर्मी के साथ विचार कर रहा था कि बिहारी संसार के श्रेष्ठ कवि हैं या देव? मज़मून छीनने की योग्यता किसमें अधिक है और कल्पना की उड़ान में कौन किसे धकेल-कर ऊपर उड़ जाता है? कोई भी विचारक किसी से कम गम्भीर नहीं था, किसी के माथे पर कम शिकन नहीं थी और किसी की भृकुटि कम कुंचित नहीं थी। नितान्त हाल में न जाने कितने कवि प्रगतिवादी कहकर तेजी से अपनी ओर खींचे गये हैं और फिर सौगुनी तेजी से प्रतिक्रियावादी कहकर दूर फेंक दिये गये हैं—बहुत-कुछ रहीम के हरि की तरह जिन्होंने कमान की तरह एक बार अपनी ओर खींच लिया था और फिर दूर फेंक दिया था:

> हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूरि।
> खैंचि आपनी ओर को, डारि दिए पुनि दूरि॥

यह सब ठीक है। लेकिन फिर भी इन समस्त परस्पर-विरुद्ध जानेवाली सम्मतियों के होते हुए भी दूसरे तरह के उदाहरण हैं जो उलटी दिशा में सोचने को बाध्य करते हैं। कालिदास का 'शाकुन्तल' भारतीय सहृदयों के गले का हार रहा है, किन्तु उसका अत्यन्त त्रुटिपूर्ण अनुवाद समुद्रपार के सहृदय को वाचाल बना सका, जर्मनी के सर्वश्रेष्ठ कवि गेटे ने अपना सम्पूर्ण हृदय ढालकर उसकी प्रशंसा की। 'पंचतन्त्र' की कहानियों ने देश की, धर्म की, संस्कृति की, भाषा की, सबकुछ की दीवाल को एक ही धक्के में धूलिसात् कर दिया है; उमर खय्याम की रुबाइयों ने विधि-निषेधों की अत्यन्त संकीर्ण सीमाओं को तोड़कर भी मनुष्य का हृदय जीता है; शेक्सपियर के नाटकों ने एकदम विरुद्ध समझी जानेवाली संस्कृतियों के उपासकों का मन हरण किया है। यह नहीं कहा जा सकता कि सुन्दर वस्तु केवल

व्यक्तियों के मन की कल्पना है। ग्रीस देश की मूर्त्तियाँ संसार के सभी पारखियों का आदर पा सकी है, नटराज की मूर्ति ने मूर्त्ति-पूजा के विरोधियों का भी हृदय गलाया है, ताजमहल और कोणार्क मन्दिर यद्यपि दो बिल्कुल विरुद्ध मनोभाव से उद्भूत हुए हैं, पर ससार के पारखी मात्र उन्हे देखकर मुग्ध हुए है, अजन्ता के चित्रो ने धर्म के मिथ्याभिमान का आवरण आसानी से दूर करके सहृदयो का सम्मान प्राप्त किया है, ईरान के गलीचों और पात्रो ने किस देश के सहृदय को नही तरसा दिया? निश्चय ही सौन्दर्य का भी एक ऐसा समान मान है, जो व्यक्ति की मानसिक कल्पना नही है और न इस प्रकार की झूठी उन्मादना ही है जिसे अत्यन्त आधुनिक काल में श्रेणी-विशेष की चालबाजियो की उपज माना जाने लगा है। काव्य मे भी एक प्रकार का सौन्दर्य होता है, जो सहृदय को प्रभावित करता है। वह सौन्दर्य क्या है, कैसे उत्पन्न होता है, किस प्रकार के मनुष्य के चित्त को आस्वादग्राही बनाता है, ये प्रश्न नाना भाव से विद्वानो के बौद्धिक विनोद को उकसाते रहे हैं। प्रश्नों का ताँता यहीं समाप्त नही हो जाता; क्योकि मनुष्य जो कुछ भी जानता है वह मनुष्य का अपना ही समझा हुआ सत्य है। उसे जितने इन्द्रिय प्रकृति ने दिये है उनके विषय कुछ थोड़े-से ही हैं; इन इन्द्रियार्थो को भी मनुष्य पूरी तरह से नही जानता। इनके अतिरिक्त यदि कुछ हो तो वह एकदम ही अज्ञात है। क्या मनुष्य की जानी हुई अत्यन्त सीमित परिधि मे जो सत्य प्रकट हो रहे हैं वही चरम सत्य है? किसी दिन जब मनुष्य कम जानता था तब उसने मान लिया था कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है। अब उसने कुछ अधिक जाना है तो मानने लगा है कि पृथ्वी ही सूर्य के चारों ओर घूम रही है। क्या ठिकाना है कि यही मनुष्य का अन्तिम निर्णय हो! जब जानी हुई दुनिया का यह हाल है तो अनजानी दुनिया की, इस विशाल विपुल व्योम के अन्तरवर्त्ती कोटि-कोटि अनजाने लोको की तो बात ही करना बेकार है। शिलक ने ठीक ही कहा था कि यह मनुष्य-लोक ही साम का आश्रय है, पर प्रवाहण ने यह कहकर कि आकाश ही मनुष्य-लोक का आश्रय है, और भी बड़ी सचाई की ओर इशारा किया था, और भी बड़ी सचाई—जिसे हम सोच नही सकते। तो क्या फिर भी बड़ी या छोटी होती है, अच्छी या बुरी होती है, गलत या सही होती है? साधारणतः मनुष्य की बुद्धि इतना ही सोच पाती है कि सचाई सचाई है, वह एक और अविरोधी होती है, छोटी हो तो, बड़ी हो तो, सचाई सचाई है, शालिग्राम की बटिया क्या छोटी क्या बड़ी! परन्तु फिर भी सन्तोष नही होता।

परन्तु ये प्रश्न काव्यालोचना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रखते। ये तत्वज्ञान के विषय हैं। यद्यपि आज तक कोई तत्त्ववेत्ता इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सका, लेकिन उत्तर देने के व्याज से उन्होंने कुछ-न-कुछ अच्छी अनुमितिमूलक प्रतिज्ञाओं की अवतारणा की है और उनमें सचाई का पता लगे या न लगे—क्या सचमुच उसका पता लग सकेगा?—मनुष्य की तर्कवृत्ति को सन्तुष्ट करने लायक युक्तियाँ उद्भावित हुई हैं। तत्त्ववेत्ता इन अनुमितिमूलक प्रतिज्ञाओं को तत्त्वज्ञान

या सिस्टम या जगत्-प्रपंच की थ्योरी कहने में आनन्द पाते हैं और समस्त जागतिक व्यापारों को उन प्रतिज्ञाओं के साँचे मे ढालना चाहते हैं। मनस्तत्त्व, सौन्दर्यतत्त्व और काव्य भी इनकी लपेट से नही बच पाते। फल यह होता है कि काव्य में अनेक प्रकार के ऐसे वादों का समावेश हुआ है जो वस्तुतः तत्त्ववादियो की अनुमितिमूलक प्रतिज्ञाओ की सन्तान हैं। अत्यन्त आधुनिक काल मे यह प्रवृत्ति बड़े जोरों पर है।

यह तो मैं कैसे कहूँ कि प्राचीन काल मे हमारे देश मे यह बात थी ही नही। काव्यालोचना के क्षेत्र मे यहाँ भी दार्शनिको का प्रवेश हुआ था। महिमभट्ट नैयायिक थे और उन्होने काव्य के रसबोध को भी अनुमान का विषय सिद्ध करना चाहा है। अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी मीमांसक भी काव्यचर्चा में थोड़ी-बहुत गर्मी ले आये थे, पर उनका मुख्य विषय अर्थ-निर्णय था, रस-मीमासा नही। कुमारिल अभिहितान्वयवादी थे और प्रभाकर भट्ट अन्विताभिधानवादी। अभी तक यह नहीं सुना गया कि इन दोनों मे से किसी ने काव्यार्थ पर विचार किया था। इनका विषय वैदिक अर्थ था। परन्तु इनके विचार बहुत युक्ति-पूर्ण थे और परवर्त्ती आलंकारिक इनके मतों की उपेक्षा नही कर सकते थे। इसलिए इनका मत अलंकारशास्त्र का आलोच्य होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने काव्यविचार को सीधे अपना लक्ष्य बनाया था। अभिनवगुप्त कश्मीर के शैव दर्शन के आचार्य थे। उनका मत निश्चय ही एक विशेष दृष्टि-वाले दार्शनिक का विचार है। मम्मट ने उनको ही सबसे बड़ा सम्मान देकर उनके मत के पक्ष में अपना झुकाव दिखाया था। बहुत थोड़े अन्तर के साथ पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इनका मत मान लिया था। परन्तु चाहे मम्मट और अभिनवगुप्त की भाँति यह मान लें कि अज्ञानरूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे युक्त इत्यादि स्थायी भाव ही रस हैं, या पण्डितराज की भाँति यह मान ले कि इत्यादि से युक्त आवरणरहित चैतन्य ही रस है, दर्शन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। दोनों मतो में जो भेद है वह दो दृष्टिकोणों के कारण। एक में चैतन्य विशेषण, इत्यादि विशेष्य और दूसरे में इत्यादि विशेषण है, चैतन्य विशेष्य। पण्डितराज का मत शांकर अद्वैत से प्रभावित है और बाद में चलकर इस मत ने अन्य आलंकारिको को भी प्रभावित किया है। इस प्रकार काव्यालोचना के क्षेत्र में थोड़ा-बहुत दर्शन का प्रभाव इस देश में भी पड़ा है, पर दार्शनिकों ने इस क्षेत्र को सम्पूर्ण रूप से हथिया कभी नही लिया। आज नाना प्रकार की समस्याओं ने मनुष्यजीवन को चंचल बनाया है, वे दर्शन को नयी खाद्यसामग्री देती रहती हैं और दर्शन के माध्यम से उन समस्याओं का समाधान बतानेवाले वाद काव्यालोचना के क्षेत्र में उतरते है। इसीलिए आज काव्य की आलोचना करते समय मनुष्य उन सब बातों की आलोचना करता है जो किसी भी तत्त्वज्ञान की पोथी में पाये जा सकते है—मनस्तत्त्व, जीवविद्या, प्रजननशास्त्र, नीतिविद्या, कानून, अर्थशास्त्र, और ऐसे ही अनेक विषय काव्यालोचना के विषय होते जा रहे हैं। छूटता है केवल

एक ही विषय, काव्यगत रसानुभूति; क्योंकि वस्तुतः रसवस्तु अनुभव की चीज है, विवेचना की नहीं। कहते हैं, एक बार श्रीकृष्णचन्द्र ने स्त्रीवेश धारण करके राधिका के प्रेम की परीक्षा लेनी चाही थी। राधा ने उनके प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा था कि 'ऐ सखी, जो व्यक्ति प्रेमानुभूति को जानने की इच्छा रखता है—ज्ञान द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है—उसे वेदना (अनुभूति) को समझाना एक वेदना (पीडा) ही है। प्रेम तो कुछ ऐसी वस्तु है जो विवेचना करने में अन्तर्धान हो जाता है और नहीं विवेचना करने से भी अविदित ही रह जाता है।'

यो वेदयेद्विविधिपु सखि वेदनं यत् या वेदना तदखिलं खलु वेदनैव।
प्रेमा हि कोऽपि पर एव विवेचने यत्यन्तर्दधात्यनमसावविवेचनेऽपि॥

यह ठीक है, पर 'अलमसावविवेचनेऽपि' ही मनुष्य का बड़ा परिचय है। सत्य-मात्र अनुभवगम्य वस्तु है, फिर चाहे वह गणितज्ञ की पेंसिल की नोक से निकला हो या संगीतज्ञ के सितार की झंकार से। परन्तु मनुष्य उसको बुद्धिपरक विवेचना देने में हिचका नहीं है—'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिन रहा न कोई।' क्योंकि कहे बिन रह जाना मनुष्यत्व का विरोधी है। अनुभूति भी बुद्धि-विवेच्य अवश्य है। कभी-कभी यह बात गलत ढंग से समझी जाती है। यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति से जो बातें जानी जाती है वह और होती है और तर्क से जो बातें जानी जाती हैं वह और होती हैं। दोनों मानो दो जगत् हैं, जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं है। साहित्य-जैसी सुकुमार वस्तु के लिए कार्य-कारण-परम्परामूलक तर्कभावना एकदम बेकार चीज है और न्याय जैसे कठोर शास्त्र के लिए अनुभूतियों का कोमल तन्तु उतना ही निरर्थक है जितना हाथी को बाँधने के लिए कच्चा धागा। यही समझकर श्रीहर्षकवि को उनके विरोधी नैयायिक पण्डितों ने सुकुमार शास्त्र का जानकार कहकर उपहास किया था। श्रीहर्षकवि को यह बात स्वीकार नहीं थी। उनका मत था कि मूल वस्तु है ज्ञान की सक्रिय प्रतिभा। जो लोग समझते हैं कि तरुण दम्पतियों का प्रेम कण्टकाकीर्ण वनस्थली में शिथिल हो जाता है और सुख-मय प्रासाद में दृढ़ हो जाता है, वे भोले हैं। प्रेम हो तो बाह्य परिस्थितियाँ कुछ बना या बिगाड़ नहीं सकतीं। सक्रिय प्रतिभा हो तो कोई भी शास्त्र बुद्धि-विलास का विषय हो सकता है। श्रीहर्ष ने विरोधी नैयायिक पण्डितों को दृप्त भाषा में उत्तर दिया था :

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रंथिले
तर्के वा मयि सविधातरि स्वयं लीलायते भारती।
शैय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भांकुरैःसवृता
भूमिर्वा हृदयंगमो यदि परिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

यह सत्य है कि कुछ विषय आन्तरिक अनुभूति के क्षेत्र में आते हैं और कुछ दूसरे विषय बाह्य वस्तुओं की सामंजस्यविधायिनी तर्कना के क्षेत्र में, परन्तु सर्वत्र एक ही वस्तु दोनों को समझती और प्रकाश करती है—मनुष्य की बुद्धि।

मानवीय चेतना के एक किनारे है भाव और दूसरे किनारे है तथ्य। एक काव्य को, संगीत को, कला को माध्यम बनाकर प्रकाशित होता है; दूसरा दर्शन को और विज्ञान को। दोनों एक-दूसरे से विच्छिन्न नहीं है। एक को छोड़कर दूसरा रह नहीं सकता। तथ्य भी भाव के सहारे खड़ा है और भाव तो तथ्य के बिना एकदम लँगड़ा ही होता है। श्रीहर्षकवि का मत चाहे एक ही व्यक्ति को आश्रयरूप में देखने से स्वीकार करने योग्य न जान पड़े, पर मनुष्यजाति को आश्रयरूप में देखकर यदि इस पर विचार किया जाय तो वह सोलह आने सत्य है। कैसे? देखा जाय।

तथ्य को समझनेवाली बुद्धि चेतना के उस किनारे पर कारोबार करती है जो बाह्यजगत् को द्रष्टा की अनुभूतियों से यथासम्भव असम्पृक्त रखती है। मनुष्य में वह विषयप्रधान दृष्टि की प्रतिष्ठा करती है। विषयी यानी द्रष्टा के भावों से विषय यानी द्रष्टव्य जितना ही स्वतन्त्र, असंयुक्त और निर्लिप्त रहेगा, वह उतना ही तथ्यमूलक होगा। परन्तु बाह्य-जगत् के सभी विषय एक ही साथ इस तथ्यानुधाविनी दृष्टि के लक्ष्य नहीं बनते। द्रष्टा ही उन वस्तुओं को बाह्य-जगत् से चुनता है और उनके विश्लेषण में तथ्य-जगत् का पता लगाता है। इस प्रकार रसायन-विज्ञान या पदार्थ-विज्ञान एकदम द्रष्टृनिरपेक्ष विद्या नहीं कहे जा सकते, फिर भी यह ठीक है कि विज्ञानों का आदर्श द्रष्टृनिरपेक्ष होना ही है। विज्ञान, द्रष्टृनिरपेक्ष तथ्य का अनुसन्धाता है, गणित इस प्रकार की चेतना के सबसे पहले किनारे का विषय है। अन्यान्य विज्ञानों में लौकिक जगत् की जानकारी आवश्यक होती है और इसीलिए द्रष्टा या विषयी के कुछ भावों के लिप्त होने की आशंका बराबर बनी रहती है पर गणित में लौकिक वस्तुओं की जरूरत कम-से-कम होती है; इसीलिए गणित सबसे अधिक द्रष्टृनिरपेक्ष विज्ञान है, और कम-से-कम द्रष्टृ-सापेक्ष। ठीक इसी प्रकार चेतना के उस किनारे पर संगीत और साहित्य है जहाँ बुद्धि अन्तर्जगत् के भाव को लेकर काम करती है। परन्तु यह भी तथ्य को छोड़कर नहीं रह सकते।

साहित्य का और अन्य ललित कलाओं का धर्म ही प्रकाश करना है। ये तथ्य के पात्र में सुरक्षित भाव को ही आस्वाद योग्य बनाते हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि संगीत कम-से-कम विषय-सापेक्ष विद्या है। काव्य उससे अधिक किन्तु अन्य साहित्यांगों से कम विषय-सापेक्ष है। यदि साहित्य का एक छोटा-सा क्षेत्र चेतना के अन्तर्मुखी परले किनारे की ओर बना दिया जाय तो काव्य उसमें संगीत की ओर अर्थात् चेतना के विषय-सापेक्ष और विषय-निरपेक्ष किनारे की ओर रहेगा और उपन्यास उसके विरुद्ध दूसरी ओर रहेगा। उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अन्तर है कि उपन्यास मौजूदा परिस्थिति को भूलकर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता, जबकि काव्य वर्तमान परिस्थिति की या ज्ञात तथ्य की सर्वाधिक नवीन परिणति की सम्पूर्णतः उपेक्षा करके भी अपने आदर्श गढ़ सकता है। यही कारण है कि उपन्यासकार तथ्य को नहीं छोड़ सकता, वह वर्तमान से आँख नहीं मूँद

सकता---यहाँ तक कि पुराने ऐतिहासिक कथानक को आश्रय करने पर भी वह आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसन्धान की बात मन में बराबर बनाये रहकर ही आगे बढ़ सकता है। वह कवि की भाँति जमाने के आगे रहने का दावा नहीं करता। काव्य दुनिया की छोटी-से-छोटी तुच्छता को भी महिमामण्डित कर सकता है, पर उपन्यासकार तुच्छता को तुच्छता मानकर ही कारबार करता रहता है। यह सम्पूर्ण रूप से नये यन्त्रयुग की उपज है और इस युग के सम्पूर्ण दोष-गुणों को लेकर ही इसका जन्म हुआ है। नये युग की कलों ने इसकी माँग बढ़ायी है और उन्हीं ने इसकी पूर्ति का साधन भी जुटाया है। यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा और आख्यायिकाओं की सीधी सन्तान हैं। कथा और आख्यायिका नाममात्र के गद्य हैं। उनमें वह झंकार है जो छन्द का प्राण है। वे काव्य की श्रेणी में पड़ती हैं। यह झंकार आधुनिक कविता का प्राण भले हो, उपन्यास में यह दुर्लभ है। उपन्यास तथ्य-जगत् से बहुत अधिक सम्पृक्त है। वह विशुद्ध गद्य-युग की उपज है। उसकी प्रवृत्ति में गद्य का सहज स्वच्छन्द प्रवाह है। उपन्यास में दुनिया जैसी है उसे वैसी ही चित्रित करने का प्रयास प्रधान होता है, कथा-आख्यायिकाओं का लेखक पुराने कवि की भाँति कल्पना द्वारा एक रसमय लोक का निर्माण करता है। वस्तुतः कथा-आख्यायिकाएँ काव्य के पास पड़ती हैं और उपन्यास तथ्यप्रधान जगत् के पास। उपन्यास और कहानियाँ आज के सबसे मजबूत साहित्यांग हैं। इसका कारण यह है कि उपन्यासकार और कहानीकार का अपना एक मत होता है, काव्य की भाँति वह भावावेग द्वारा अन्तर्जगत् की अनुभूति को उतना नहीं जगाता बल्कि बाह्य जगत् के तथ्यान्वेषण के कारण उत्पन्न समस्याओं के बारे में अपना निश्चित मत व्यक्त करता है। वैयक्तिक स्वाधीनता के नाम से परिचित आधुनिक डेमोक्रैटिक भावना का सर्वोत्तम रूप उत्तम उपन्यासों को आश्रय करके प्रकट हुआ है। इसकी नींव उन वस्तुओं पर रखी हुई है जो गम्भीर भाव से निरन्तर ही हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वन्द्वों को प्रभावित करती रहती है। उपन्यासकार के रचनाकौशल, घटना-विन्यास का चातुर्य और तथ्यात्मक जगत् की समस्याओं में सीधे घुसनेवाली भेदक निजी दृष्टि---इन तीन गुणों के कारण उपन्यास आज इतना लोकप्रिय साहित्यांग बन गया है। नाटक में भी ये गुण होते हैं, पर नाटक विशुद्ध साहित्य नहीं होता अर्थात् शब्द और अर्थ की सिर्फ परस्परस्पर्द्धी चारुता तक ही रहकर रससृष्टि नहीं कर सकता, उसके लिए रंगमंच की जरूरत होती है।

किन्तु कविचित्त की गम्भीर अनुभूति सुन्दर रूप लेकर भाषा में अपनी महिमा प्रतिष्ठित करना चाहती है। प्रेम अपने को सँजोना-सँवारना चाहता है। अन्तर में उसका जो आनन्द है उसे बाहर के जगत् में सौन्दर्य के भीतर वह प्रतिष्ठित करना चाहता है। वस्तुतः काव्य चेतना के उस संवेदनात्मक स्पन्दन का परिणाम है जो बाह्य जगत् के ज्ञात तथ्यों के आधार पर और अन्तर्जगत् के परिचित भावावेग-साधनों के सहारे कविचित्त की मर्मानुभूति को समस्त सहृदयों के हृदय में

संचारित करता है। उसका आधार तथ्यों की दुनिया है। भाव जब तथ्य से युक्त होता है, तभी साधारण सत्य होता है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने आधुनिक विषयि-प्रधान कविताओं का विश्लेषण करते हुए छायावाद की तीन विशेषताओं पर जोर दिया है: (1) व्यक्तिगत अनुभव में प्राणसचार, (2) प्रकृति के अनेक रूपो मे एक महाप्राण का अनुभव, और (3) ससीम और असीम का ऐसा सम्बन्ध जिसमें अलौकिक व्यक्तित्व का आरोप हो। किन्तु महादेवीजी बताती है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है, उनमे जब तक "अनुराग-जन्य आत्म-विसर्जन का भाव नही घुल जाता तब तक वे सरस नही हो पाते। परन्तु मनुष्य के हृदय का अभाव तब तक दूर नही होता जब तक वह सरसता सीमाहीन के प्रति न हो।" इन बातो का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि भाव को तथ्य से एकदम असम्पृक्त रखकर काव्य नही बन सकता। यद्यपि विषयि-प्रधानता काव्य मे अवश्य रहती है, पर काव्य के अनेक ऐसे भेद भी है जिनमे विषय कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। ऐतिहासिक महाकाव्य, काव्य, वर्णनात्मक वीरगाथाएँ आदि बाह्य जगत् के तथ्य से निर्लिप्त नही रह सकती, पर उपन्यास इनमे सबसे अधिक तथ्याश्रयी है। इससे थोड़ा ही सटा हुआ तथ्योन्मुख साहित्य आत्मकथा का है जिसका एक पैर साहित्य मे और दूसरा इतिहास मे होता है।

लेकिन मूल बात जो हम कहना चाहते है, वह यह है कि काव्य और विज्ञान एक ही मानवीय चेतना के दो किनारों की उपज है। वे परस्पर-विच्छिन्न नही है, परस्पर-विरुद्ध तो नही ही है। मनुष्य की एक ही चेतना से दोनों की स्थिति है। इसलिए ऐसा तो नही हो सकता कि एक की अच्छाई-बुराई का निर्णय यदि आसानी से होता है तो दूसरे की अच्छाई-बुराई का निर्णय हो ही नही सकता। कोई-न-कोई एक सामान्य मापदण्ड अवश्य है। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो में काम करनेवाले वैज्ञानिक तथ्य-जगत् के नये-नये तत्त्व बराबर आविष्कार करते रहते है। एक क्षेत्र का वैज्ञानिक दूसरे क्षेत्र के वैज्ञानिक द्वारा आविष्कृत तथ्य की बात नही सोचता। वह बिल्कुल ही विचलित नहीं होगा यदि उसका आविष्कार किसी ऐसी बात का समर्थन करे जो दूसरे क्षेत्र के वैज्ञानिक के आविष्कृत तथ्यों से एकदम उलटी पड़ती हो। इसमे विज्ञान की कोई शिकायत नही है परन्तु यह बताने की जरूरत फिर भी रह जाती है कि इन विभिन्न वैज्ञानिक अनुसन्धानों मे सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाय। सामंजस्य का खोजना आवश्यक है। मनुष्य के आविष्कृत सत्य को मनुष्य के ही आविष्कृत अन्य सत्यों का विरोधी नही होना चाहिए, क्योंकि वह वस्तुत: एक ही चेतना के परिणाम है। तत्त्वज्ञान का शास्त्र यही कार्य करता है। जिस प्रकार तथ्यात्मक जगत् के साधक विभिन्न क्षेत्रो में काम करते हुए परस्पर विच्छिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरुद्ध जानेवाले परिणामों को खोज निकालते हैं, उसी प्रकार भाव-जगत् मे विचरण करनेवाले कवि, चित्रकार, नाटक-कार और संगीत-विशारद विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए ऐसी सौन्दर्य-प्रेरणाओ का सन्धान पाते हैं जो साधारण मनुष्य की समझ के लिए जटिल हो

जाते हैं। सौन्दर्यशास्त्र का आलोचक इन्हीं परस्पर-असम्बद्ध और विच्छिन्न-सी लगनेवाली रसप्रेरणा के स्रोतों में सामंजस्य खोजता है। यह भी तत्त्वज्ञान का ही विषय है। धर्म-विज्ञान पहले से ही एक ऐसी सत्ता में विश्वास कर लेता है जो इस मनुष्यदृष्ट जगत् को अंशमात्र से व्याप्त करके चला रही है। सुना है, इधर हाल में पदार्थ-विज्ञान के नये आविष्कारों ने तत्त्वज्ञानियों की युक्तिसमर्थित समझी जानेवाली कार्य-कारण-परम्परा पर गहरी चोट मारी है और पदार्थविज्ञान की पूर्ति के लिए धर्म-विज्ञान द्वारा अनुधावित किसी लोकोत्तर विश्वास की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है।

लेकिन ततः किम् ? यदि यह मान ही लिया गया कि ये सारी बातें मनुष्य की एक ही चेतन सत्ता के विलास मात्र हैं जिन्हें साहित्य कहते है, कला कहते हैं, विज्ञान कहते है या गणित कहते हैं, तो क्या हुआ ? गणित या पदार्थविज्ञान की उपयोगिता तो समझ में आ जाती है, साहित्य की क्या उपयोगिता हो सकती है ? दूसरे शब्दों में यह प्रश्न हुआ कि साहित्य पढ़ने से मनुष्य को कुछ जीवन में न पढ़ने से सफलता या असफलता मिलती है या नहीं ? और फिर यह असफलता या सफलता काव्य या अन्य साहित्यांगों के उत्कर्ष या अपकर्ष की कसौटी है या नहीं ? मनुष्य ने जो अपने अनुभवों की दुनिया बनायी है उसी के हिसाब से उसने भले या बुरे, सुन्दर या असुन्दर की कल्पना भी बना ली है। यह कल्पना क्या कल्पना-भर ही है या इसकी कुछ उपादेयता या यथार्थता भी है ? सब प्रश्नों को समेटकर संक्षिप्त किया जाय तो मूल प्रश्न यह है कि किस बात से हम निश्चय कर सकते हैं कि कोई वस्तु अच्छी है या बुरी है और वह कसौटी साहित्य पर किस प्रकार लागू होती है। इतना शुरू में ही मान लेना चाहिए कि सबकी एक कसौटी होनी चाहिए, यह नहीं कि विज्ञान के लिए एक हो और कला के लिए दूसरी और तत्त्ववाद के लिए तीसरी; क्योंकि जब सभी मनुष्य-चेतना की ही उपज हैं तो उनमें कोई समानता तो होनी ही चाहिए।

जब कभी मैं इस मनुष्य की उत्पत्ति की बात सोचता हूँ तो अपने रक्तकणों में एक अपूर्व झनझनाहट अनुभव करता हूँ। आप मेरी इस दुर्बलता को क्षमा करेंगे। पर मैं इस बात को सोचे बिना रह नहीं सकता। यह मुझे समस्त सत्यों का सत्य जान पड़ता है। न जाने किस पुण्यक्षण में, किसी अज्ञात काल के अज्ञात मुहूर्त में हमारा यह ग्रहपिण्ड, जिसका नाम पृथ्वी दिया गया है, सूर्यमण्डल से टूट गया था। उस समय यह ज्वलन्त गैसों से भरा हुआ था। शुरू से अन्त तक केवल ताप से परिपूर्ण इस त्रुटित धरित्री-खण्ड के किस कण में जीवतत्त्व वर्त्तमान था, कोई नहीं जानता। उसके बाद लाखों वर्ष तक यह पिण्ड ठण्डा होता रहा, चक्कर मारता रहा, दुर्दान्त वेग से दौड़ता रहा। खिलाड़ी के इशारे पर नाचनेवाले सरकस के घोड़े की तरह यह चक्कर काटता रहा। लाखों वर्षों तक तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा होती रही, लाखों वर्ष धरित्री का ऊपरी भाग धसकता, मसकता रहा, लाखों वर्ष इसकी पपड़ी ठण्डी होती रही। तब से आज तक यह विचित्र धरित्री-पिण्ड विपुल

आकाश में निस्सहाय घूम रहा है। कोई भी परवलयमार्गी धूमकेतु इसे एक ही धक्के में चूर्ण-विचूर्ण कर दे सकता था और आज भी कर दे सकता है, कोई भी प्रतिपरवलय-पन्थी परिव्राजक पिण्ड इसे चुम्बक की भाँति सटाक से खींचकर निगल ले सकता था और निगल ले सकता है, पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। दुर्दान्त वेग कम हो गया, तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा रुक गयी, धसकन-मसकन का उत्पात शिथिल हो गया। और सबसे आश्चर्य की बात यह हुई कि एक एकदम नवीन वस्तु का आविर्भाव हुआ—जीवकण! न जाने कब से जीवतत्त्व उन तप्त धातुओं में छिपा हुआ अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में बैठा हुआ था। समस्त जड़-शक्ति के मस्तक पर पैर रखकर जब वह मृदुल तृणांकुर के रूप में पैदा हुआ, तो पृथ्वी के इतिहास में अघटित घटना ही घटी थी। जड़शक्ति में सबसे अधिक शक्तिशाली थी महाकर्ष की शक्ति—ग्रैविटेशन पावर। नगण्य तृणांकुर ने उसकी प्रतिभा नहीं मानी, वह सिर उठाके खड़ा हो गया। महाकर्ष की शक्ति उसे नीचे नहीं खींच सकी, नहीं खींच सकी। तब से आज तक वह उस वस्तु को नीचे नहीं खींच सकी है जिसमें प्राण है। जीवतत्त्व की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति आज तक समस्त जड़तत्त्वों को परास्त करके विराज रही है।

जीवतत्त्व विकसित होता गया, एक कोश से अनेक कोशों में, सरल सघात से जटिल समूह के रूप में, कर्मेन्द्रियप्रधान जीवों से ज्ञानेन्द्रियप्रधान जीवों के रूप में और अन्त में उसने मनुष्य के रूप में अपने को प्रकट किया। मनुष्य उसकी अन्तिम परिणति है। पण्डितों ने देखा है कि मनुष्य तक आते-आते प्रकृति ने अनेक प्रयोग किये हैं, कितने ही जीव ऐसे बनाये जिनका नाम भी अब नहीं बच रहा है। इस प्रयोगशाला में प्रकृति ने न जाने कितने प्रयोग किये हैं। एक वृक्ष बनाने के लिए उसने एक हजार बीज बनाये है। यह विशाल फिजूलखर्ची क्या व्यर्थ है? यह अद्भुत रचना-कौशल क्या अन्ध प्रचेष्टा का फल है? यह असंख्य प्रयोग क्या राह भूले व्यक्ति के प्रयास हैं? या योजना बनानेवाली किसी बुद्धि के अभाव के परिचायक हैं? मनुष्य को यहाँ तक ले आने में क्या केवल संयोग ने काम किया है या किसी अज्ञात महाशक्ति का इशारा काम कर रहा है? कौन बतायेगा कि इतनी बरबादी प्रकृति ने किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सही है?

मनुष्य के आने के पहले प्रकृति अपने-आप लुढकती-पुढकती, घिसटती-घसटती चल रही थी। मनुष्य ने उसके कार्य-कारण-परम्परा की नीरन्ध्र ठोस भूमिका में दरार किया। उसने इच्छाशक्ति को प्रवेश कराया। अब तक जो कुछ जैसा था, होने को बाध्य था। मनुष्य ने कहा, जैसा है वैसा नहीं, जैसा होना चाहिए वैसा! यहीं से सृष्टि का नया अध्याय शुरू हुआ। मनुष्य प्रकृति के आदेश को न मानकर वह रास्ता ढूंढने लगा जिसमें प्रकृति उसकी इच्छा की अनुवर्त्तिनी हो। वह विजयी हुआ। उसके इशारे पर प्रकृति चलने लगी। मित्रो, यह रक्तकण को झनझना देनेवाली वार्त्ता नहीं है, इससे अधिक उल्लास और उत्कम्प पैदा करनेवाली बात और क्या हो सकती है?

जो जैसा है उसे वैसा ही मान लेना मनुष्यपूर्व जीवों का लक्षण था, पर जो जैसा है वैसा नहीं, बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न मनुष्य की अपनी विशेषता है। इसमें प्रयत्न की आवश्यकता होती है। प्रयत्न करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। पशु में और मनुष्य में बहुत-से सामान्य धर्म हैं। मनुष्य उतनी दूर तक पशु ही है जितनी दूर तक वह केवल आदिम सहजात मनोवृत्तियों और असंगत तथा अविविक्त मयोगों से चालित होता है। लोभ सहजात मनोवृत्ति है, वह पशु और मनुष्य में समान है, पर औदार्य, पर-दुःख-संवेदन उसमें नहीं होते। यह मनुष्य की अपनी विशेषता है। स्वार्थ के लिए लड़ पड़ना मनुष्य और पशु में समान है, पर दूसरे के लिए अपने को उत्सर्ग कर देना, अपने कष्ट सहकर भी दूसरे की सुविधा कर देना मनुष्य की अपनी विशेषता है। इसी प्रकार आहार, निद्रा आदि पशु-सामान्य धरातल से जो ऊपर की चीज है, जो संयम से, औदार्य से, तप से और त्याग से प्राप्त होती है, वह मनुष्य की अपनी विशेषता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। फिर मनुष्य विवेकी है, वह प्रकृति के नियमों का विश्लेषण करता है और इस प्रकार उनका उपयोग करता है जिससे वह नयी सृष्टि कर सके। विवेक, कल्पना, औदार्य और संयम मनुष्यता है और इसके विरुद्ध जानेवाले मनोभाव मनुष्यता नहीं है।

परन्तु क्या प्रमाण है कि मनुष्य ने जो कुछ सोचा है या किया है, वह सचमुच ही वैसा है जैसा होना चाहिए? या फिर क्या सबूत है कि जिन बातों को हमने मनुष्यता कहा है वे निश्चित रूप से उनसे अच्छे ही गुण हैं जिन्हें हमने मनुष्यता नहीं कहा है? हम यहाँ जो कुछ देख रहे हैं, जो कुछ सोच रहे हैं, जो कुछ समझ रहे हैं और वे सभी बातें जिन्हें हम भविष्य में जानेंगे, मनुष्य की दृष्टि से देखा हुआ मनुष्य की अपनी त्रुटि-विच्युतियों से परिभावित मानव-सत्य हैं। यह कोटि-कोटि योजनों में विस्तृत विशाल ब्रह्माण्ड-निकाय भी मनुष्य का सत्य है और यह अत्यन्त सूक्ष्म तर्क-वितर्क, ज्ञान-वैराग्य, रस-भाव, तथ्य-सत्य सब मनुष्य की आँखों से देखा हुआ मानव-सत्य है। केंकड़ा तिरछा चलता है। एकबार केंकड़े के बच्चे ने अपनी माँ से पूछा कि 'माँ, मनुष्य के बच्चे तिरछा क्यों चलते हैं?' माँ ने उत्तर दिया, 'उनका स्वभाव ही ऐसा है।' केंकड़े की दृष्टि से मनुष्य की चाल तिरछी है, क्योंकि केंकडे का जगत् केंकड़े का अपना सत्य है। मनुष्य की दृष्टि में केंकड़े की चाल तिरछी है, क्योंकि यह मनुष्य-दृष्ट तथ्य है। दोनों में कौन ठीक है?

वस्तुतः यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण है नहीं, जितना ऊपर-ऊपर से दिखायी देता है, क्योंकि चाहे भलाई-बुराई कहिए या सुन्दर-असुन्दर कहिए या नैतिक-अनैतिक कहिए, ये सारी धारणाएं मनुष्य-दृष्ट जगत् की हैं। इसलिए जब हमें इन बातों के माध्यम से सोचना पड़ता है तो वस्तुतः हम माननीय जगत् की ही बात सोचते रहते हैं। इसलिए जब हम अच्छा या बुरा, सुन्दर या असुन्दर, नीतिसंगत या अनीतिसंगत बात करते हैं तो वस्तुतः मनुष्य-दृष्ट तथ्यों और भावों के सामजस्य या असामंजस्य की ही बात करते हैं। मनुष्य में दो भाव हैं—जड़ भाव और चेतन

भाव। जड़ उसे नीचे की ओर खींचता है, गतिहीन बनाता है और चेतन उसे ऊपर की ओर ले जाता, गति देता है। चेतन में भी कुछ मनुष्य-पूर्व संस्कार हैं जो उसकी स्वार्थमय वृत्ति को रूप देते हैं और कुछ मनुष्य-सचित संस्कार हैं जो उसे छोटी स्वार्थ-सीमा को छोड़कर दूसरों के साथ एक करते हैं। मनुष्य जितना ही अधिक 'मनुष्य' होता है, उतना ही अधिक वह दूसरों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता है और इसको अन्तिम तर्कसंगत परिणाम तक ले आया जाय तो कह सकते हैं कि 'एकत्व' की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। यह देखा गया है कि व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए मनुष्य जिन बातों के भाव को बहुमान देता है, अभाव से विचलित होता है, उन्हें वह उस समय एकदम तुच्छ समझता है जब दूसरों के प्रति समवेदना से आकृष्ट होकर अपने-आपकी बलि देने को तैयार हो जाता है। साधारण अर्थ में जिसे दुःख माना जाता है, उसे वह उस अवस्था में सुख मानता है। दुनिया के समस्त व्यवहारों का अर्थ ही उसकी दृष्टि में भिन्न हो जाता है। यह समवेदना एक अपूर्व द्रावक रस है। समस्त ललित कलाओं का यह प्राण है। इसके संस्पर्श में आकर दुःख दुःख नहीं रहता, सुख सुख नहीं रहता। समस्त मनोभाव ज्यों-के-त्यों रहते हैं, पर उनकी अनुभूतियाँ एकदम बदल जाती हैं। मनुष्य का यह निजी धर्म है। 'भागवत' में यह बताया गया है कि धन से, प्राण से, मन से, वचन से, कर्म से मनुष्य अपनी देह के लिए, पुत्र-पौत्रादि के लिए उन्हें सम्पूर्ण मानव-समाज से अलग समझकर जो कुछ भी करता है वह असत् होता है, परन्तु इन्हीं स्थूल वस्तुओं से और रागप्रवण मनोवृत्तियों से जब वह समस्त मनुष्य को एक समझकर, अपृथक् समझकर कर्म करता है तो वह 'सत्' हो जाता है, क्योंकि ऐसा कर्म किसी खण्ड-तथ्य की नहीं बल्कि 'पूर्ण' की सेवा में नियुक्त होता है और स्नेहरस से सबके मूल का सेचन करता है :

> यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभिर्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
> तैरेव सद्भवति चेत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत्॥
>
> —भा., 8-9-29

सो, यह मनुष्य की एकत्वानुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। जब अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर—समस्त सुख-दुःखों की तेल-बाती में जलाकर—मनुष्य अपने-आपको 'महा एक' को समर्पण करता है तो वह 'मनुष्य' बनता है। उसका सम्पूर्ण जीवन चरितार्थ होता है। जहाँ यह भाव नहीं है, जहाँ कहीं मनुष्य अपने को, निर्दलित इक्षुदण्ड की भाँति, सुख-दुःख की चक्की में पीसकर अपना जीवन-रस सबके सुख के लिए दे सका है वहीं उसका श्रेष्ठ रूप प्रकट हुआ है, जहाँ ऐसा नहीं हो सका वहाँ उसका श्रेष्ठ रूप भी प्रकाशित नहीं हुआ। मनुष्य का श्रेष्ठ रूप में प्रकट होना ही उसका स्वाभाविक धर्म है। स्वाभाविक का अर्थ सहजात आदिम मनोभाव नहीं समझना चाहिए। प्रयत्न करना मनुष्य का स्वभाव है और उसका स्वाभाविक धर्म प्रयत्न का विरोधी नहीं हो सकता। मनुष्य में कुछ पशु-सामान्य आदिम मनोवृत्तियाँ हैं जो अनायास ही, थोड़ी-सी उत्तेजना पाते ही

विचारक वैज्ञानिक हैं, उन्होंने मनोजगत् के जिन रहस्यों का उद्‌घाटन किया है, उन्हें तथ्यात्मक जगत् का ही रहस्य समझना चाहिए। ये चरम सत्य नहीं हैं, यद्यपि कभी-कभी इन्हें अन्तिम सत्य मानकर साहित्य लिखने का प्रयत्न होता रहता है।

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तथ्य-जगत् से गाढ़ भाव से सम्बद्ध होने पर भी साहित्य का सबसे अधिक सम्बन्ध मानसिक जगत् से है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आज के मनोविज्ञान के नवीन आविष्कारों ने हमारे तरुण साहित्यकारों को अभिभूत कर दिया है। मुझे मनोविश्लेपणशास्त्र से बड़ा अनुराग है, जब कभी सुनता हूँ कि इस विषय की कोई नयी पुस्तक छपी है तो उसे पाने और पढ़ने का प्रयत्न करता हूँ। बुद्धि-विद्या के अनुसार उसके भावों को ग्रहण भी करता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि फ्रायड और उसके शिष्यों ने मनुष्य को समझने के लिए बहुत उत्तम साधन प्रस्तुत किये हैं। हमारे अपने मानस में निरन्तर प्रवाहित होनेवाली अनेक अज्ञात धाराओं को उन्होंने ज्ञात बताया है और अपने-आपको समझने की कुञ्जी दी है। पर सब मिलकर वह शास्त्र अभी शैशवावस्था में ही है। अब भी बहुत-कुछ इसकी पकड़ के बाहर रह गया है। फिर यह मनोविश्लेपण-विज्ञान यद्यपि बहुत तेजस्वी है, जनमते ही न जाने कितने रूढ़ विश्वासों को इसने चित कर दिया है और आचारशास्त्र, सौंदर्य-विवेचक शास्त्र तथा नैतिक विधान आदि पर तो इसने दुर्दान्त आक्रमण किये हैं, तथापि वह मनुष्य द्वारा उद्‌भावित महान् ज्ञानराशि का एक कणमात्र ही है। इसे सब साँचों के साथ मिलाकर तब स्वीकार करना चाहिए—"सब साँच मिलै तो साँच है, ना मिलै सो झूठ!"

हमने ऊपर देखा है कि तथ्यात्मक जगत् के ऊहापोह में लगे हुए वैज्ञानिक इस बात की परवा नहीं करते कि उनका आविष्कृत नवीन तथ्य अन्य गवेषणाओं द्वारा उपलब्ध तथ्यों के साथ सामंजस्य रखता है या नहीं। यह काम उनका नहीं है। यह तत्त्वज्ञानियों का काम है। सुना है, पदार्थ-विज्ञान और जीव-विज्ञान ने ऐसे अनेक तथ्यों का पता लगाया है जिनका अर्थ एक समय उन तथ्यों के अनुकूल नहीं पड़ता था जिन्हें मनोविश्लेपणशास्त्र ने खोज निकाला है। तरुण साहित्यकार एकमात्र मनोविश्लेपणशास्त्र को ही साहित्य-सहायक शास्त्र मान ले तो गलती करेगा। मनोविश्लेपणशास्त्र भी उसी प्रकार का तथ्य-विवेचक शास्त्र है जिस प्रकार के अन्य जड़ विज्ञान हैं। यह समझना कि अवचेतन चित्त की शक्तिशाली सत्ता ही हमारे चेतन चित्त के विकारों को कार्य का रूप दे रही है और अत्यन्त निचले स्तर में विद्यमान हमारी अवदमित वासनाओं और अनुगुप्त कामनाओं के महासमुद्र में हमारा यह दृश्य चेतन-चित्त बोतल के कार्क के समान उतरा रहा है और दुर्दान्त अन्तर्लहरियों के थपेड़े की मार खाकर इधर से उधर उसी प्रकार मारा-मारा फिर रहा है जिस प्रकार भारहीन तृणखण्ड प्रचण्ड बवण्डर में भटक रहा हो, पूर्ण समझना नहीं है। इससे मनुष्य की नियतिदासता के भाव को बढ़ावा मिलता है, जो

असत्य है; इससे मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की नगण्यता सिद्ध होती है, जो झूठ है; इससे मनुष्य की युक्ति-तर्क-प्रवण प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान होता है, जो एकदम गलत है; इससे मनुष्य की उस दुर्जय शक्ति का अपमान होता है जिसमे प्रकृति को अपने अनुकूल करने का संकल्प है, जो अशोभन है, और सबसे बढ़कर मनुष्य के उन समस्त सद्गुणों का तिरस्कार होता है जिन्हे सयम कहा जाता है, विवेक कहा जाता है, साधना कहा जाता है, आत्मदान कहा जाता है—जो अवाञ्छनीय है। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि उन प्रगतिवादियो को भी यह सिद्धान्त मनोरम लगने लगता है जिनका मूल मन्त्र ही दुनिया को नये साँचे मे ढालना है, जो कर्म मे विश्वास करते है, जो उन समस्त मानसिक उन्मादनाओं को ध्वस करने का स्वप्न देखा करते है जिन्हें सुविधाभोगी वर्गो ने बड़े-बड़े नाम देकर अपने स्वार्थसाधन का उपाय बना रखा है।

वस्तुत. इन दोनों मनोभावो का कोई सामंजस्य नही है। यह विश्वास करना कि मनुष्य का युक्तिपरायण होना ही उसके समस्त नैतिक आचरणों का स्रोत है, यहाँ तक कि ईश्वर की कल्पना भी मनुष्य ने इसी नैतिकता के स्रोत की सिद्धि के लिए की है और साथ ही यह भी कहना कि मनुष्य जिसे तर्क-सगत विचार (या रीजन) कहता है वह असल मे उसके सगति बैठाने (या रैशनलाइजेशन) का ही प्रकारान्तर है, यह तो व्याघात दोष है। फिर भी यह क्या आश्चर्यजनक बात नही है कि हमारे बहुत-से साहित्यकार ऐसी बाते एक साँस मे कह जाते है! जब मैं कहता हूँ कि मैं मनोविश्लेषणशास्त्र का प्रेमी हूँ तो मेरे मन मे जो बात होती है उसे स्पष्ट कर देना चाहिए। मुझे ऐसा लगता है कि सचमुच ही मनुष्य के ऐसे अनेक कार्य है जो उसकी अवदमित वासनाओं के प्रकाश है। सचमुच ही ऐसे अनेक विचार है जो उसकी प्रसुप्त वासनाओं के विलास हैं और सचमुच ही ऐसे अनेक तर्क है जो तर्काभास है और अपने-आपको भुलावा देने के लिए उद्भावित संगति लगाने के प्रयासमात्र है। मनोविश्लेषणशास्त्र के आधार पर मनुष्य के इन आचरणों को समझा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार थर्मामीटर द्वारा शरीर के ताप को समझा जा सकता है। परन्तु न तो थर्मामीटर मनुष्य के और भी गम्भीर मर्मस्थल के ताप का पता देने का दावा कर सकता है और न मनोविश्लेषणशास्त्र को मानवात्मा की बुनियादी नींव का पता लगाने का दावा करना चाहिए। उसकी भी एक सीमा है। एक खास हद तक पहुँचकर वह बेकार और भोथा हो जाता है। इसी प्रकार श्रेणी-सघर्ष के कारण मनुष्य-समाज की अनेक समस्याएँ पैदा हुई है, उनके स्वरूप को समझने के लिए और उनका प्रतिविधान करने के लिए भी कुछ विशेष प्रकार के शास्त्र आवश्यक है। उनके अध्ययन से हमें मानव-समाज की ऊपरी सतह की हलचलों का यथार्थ ज्ञान होता है। परन्तु इन समस्त ऊपरी हलचलो के विक्षुब्ध तरंग-संघात के नीचे निस्तब्ध भाव से विराजमान है मनुष्य की एकता। मनुष्य एक है, भेद-विभेद ऊपरी बातें हैं। मनुष्य की इस महान एकता को पाने के लिए समस्त संकीर्ण स्वार्थों का बलिदान, क्षणिक

आवेगों का दमन, उत्ताल सवेगों का निरोध, अशुचि वासनाओं का संयमन, गलत तर्कपद्धति का निरास और आत्मधर्म का विवेक आवश्यक साधन है। इन्ही से वह परम आनन्द चित्त मे उच्छल हो उठता है जिसका प्रकाश साहित्य है। जो साहित्यिक सुख असयम से, अविवेक से, लोभमोह से उत्पन्न होता है वही मानसिक उन्मादना है, प्रसुप्त वासनाओं का विलास है, 'तिविडो' की उत्ताल तरगों पर असहाय भाव से भटकना है। उसे साहित्य नही कहना चाहिए, क्योकि वह 'सर्वस्य मूल निर्येचनं' नही है।

यह भी निस्सन्देह मनुष्य-दृष्ट सत्य ही है। परन्तु मनुष्य के पास इन समस्त इन्द्रियो द्वारा साक्षात्कृत जगत्-प्रपंच के अतिरिक्त और कुछ देखने का साधन क्या सचमुच ही नही है ? ऐसा जान पडता है कि यही सबकुछ नही है, कुछ इससे भी व्यापक है, मनुष्य-दृष्ट जगत् केवल कणमात्र है। जिस महासत्य ने अपने को मनुष्य-दृष्ट जगत् के रूप में प्रकट किया है वह यही समाप्त नही हो जाता—'त्रिपादस्यामृत दिवि'। किस साधन के द्वारा मनुष्य ऐसा अनुभव करता है ? कौन बतायेगा ? प्रवाहण जैवलि ने इसी बात की ओर इशारा किया था, हमारे अन्तस्तल से यही ध्वनि निकल रही है कि ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य के भीतर ऐसा कुछ अवश्य है जो उस विशालतर अज्ञात का समानधर्मा है। ऐसा कुछ है अवश्य। परन्तु यह मेरा विश्वास है और मैं आपके सामने इसे इस रूप मे प्रकट नही करना चाहता कि वह तर्कसगत जँचे। वह केवल विश्वास है। बुद्धि और तर्क के द्वारा हम जो कुछ जानते है, जान सकते है, कल्पना कर सकते है, वह सब मनुष्य-दृष्ट सत्य है। सबकुछ, कोई भी अपवाद नही। काव्य हो या काव्यगत रसानुभूति हो, मनुष्य-दृष्ट वृहत्तर नैतिक नियमों से बाहर नहीं पड़ सकते।

लेकिन रस के नाम पर मैंने बहुत अधिक नीरस चर्चा बढा दी। वस्तुतः रस अनुभवगम्य वस्तु है और उसकी विवेचना के लिए ऐसे विषयों की अवतारणा करनी पडती है जो रस के उपकरण होते है या फिर ऐसी बातों की चर्चा करनी पडती है जो रस होते ही नही। ऐसा विवेक के परिष्करण के लिए किया जाता है। लक्षणग्रन्थ विशेष रूप से काव्य-उपादानो की ही चर्चा करते हैं। हमने देखा है कि चाहे लक्षणग्रन्थ हों या काव्यग्रन्थ हो, दोनों के ही लिए यह आवश्यक है कि हम उन्हे तत्काल वर्तमान बाह्य परिस्थितियो से विच्छिन्न करके देखें नही तो छिलके को ही रस समझने की भूल कर सकते है। फिर भिन्न-भिन्न मानव-समुदाय, भिन्न-भिन्न भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के भीतर से विकसित होने के कारण अपने भीतर ऐसे अनेक संस्कार पैदा कर लेते है जिन्हे उस समुदाय की विशेषता माना जाता है। इन सस्कारो के अध्ययन करनेवालों ने देखा है कि यद्यपि विभिन्न समाज में उनके रूप बहुत भिन्न-भिन्न हो गये है, पर एक ही प्रकार के मनोभाव से चालित होकर मनुष्य उन विशेष प्रकार के संस्कारों तक पहुँचा है। इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध से दिखनेवाले संस्कार भी वस्तुतः मनुष्य की एकधर्मिता को ही सिद्ध करते है। 'संस्कार' शब्द का प्रयोग करते समय मुझे थोड़ा सकोच हो

हो रहा है। संस्कार शब्द अच्छे अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, परन्तु मनुष्य स्वभाव से ही प्राचीन के प्रति श्रद्धापरायण होता है और प्राचीन काल से सम्बद्ध होने के कारण कुछ ऐसी धारणाओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगता है जो जब शुरू हुई होंगी तब तो निश्चय ही उपयोगी रही होंगी, परन्तु बाद में उनकी उपयोगिता घिस गयी और वे रूढ़ि मात्र रह गयीं। ऐसे संस्कार सब समय बृहत्तर मानव-पट-भूमिका पर खरे नहीं उतरते। काव्यजिज्ञासा के क्षेत्र में भी संस्कार हमारे मार्ग-दर्शक बन जाते हैं। कुछ तो प्राचीन काल के काव्य-लक्षणों के अध्ययन के कारण हमारे चित्त में काव्य-स्वरूप और रस-स्वरूप के विषय में ऐसी बातें जड़ जमा लेती हैं जो कालविशेष की परिस्थितिविशेष के कारण उपजी थीं। इन धारणाओं को मन में जमाये रखकर हम जब आधुनिक युग के काव्य को पढ़ने लगते हैं तो रसबोध में बाधा पड़ती है। ठीक यही बात आधुनिक काल के काव्यलक्षणों से उत्पन्न धारणाओं के कारण प्राचीन काव्य के समझने में बाधक होती है। अपने प्रथम व्याख्यान में मैंने संक्षेप में इन कालगत संस्कारों की चर्चा की है। फिर देशगत और जातिगत संस्कार भी अन्य देश और अन्य जाति के विश्वासों पर आधारित साहित्य को समझने में बाधक होते हैं। अपने दूसरे व्याख्यान में मैंने इस कठिनाई की ओर ही आपका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है। मनुष्य का मस्तिष्क ठोस आधारों को आसानी से ग्रहण करता है। सौन्दर्य को वह उसके सम्पूर्ण उपादानों के साथ ही ग्रहण करता है। इसीलिए सौन्दर्य के साथ-साथ उसके आधारभूत बाह्य उपकरणों और अधिकरणों को वह छोड़ नहीं पाता। हमारे साहित्याध्ययन में उपकरण, अधिकरण और आधेय रसवस्तु के परिष्करण और विवेक की व्यवस्था और भी अधिक होनी चाहिए। सहृदयों ने बराबर सावधान किया है कि लावण्य वस्तु प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न और अतिरिक्त पदार्थ है। मुख, नाक, कान आदि शारीरिक अवयव सबके होते हैं, पर सबमें लावण्य नहीं होता। उसी प्रकार काव्य में भी कुछ प्रतीयमान वस्तु होती है जो प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न वस्तु है :

> प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
> यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

लेकिन मनुष्य-स्वभाव—तत्रापि तरुण मस्तिष्क—प्रसिद्ध अवयवों को छोड़कर उस लावण्य को सहज ही धारण नहीं कर पाता। इसी के लिए साधना और विवेकशक्ति की आवश्यकता होती है। यदि यह साधना नहीं की गयी अर्थात् काव्य के मूल सौन्दर्य को तत्तत्कालीन परिस्थितियों द्वारा उपस्थापित उपकरणों से तथा तत्तत् समुदाय के विश्वासों से अलग करके देखने योग्य विवेचनाशक्ति नहीं जाग्रत की गयी तो ये बाह्य आधार देश और काल को भेदकर मनुष्य के सर्वोत्तम प्रयत्न—साहित्य—को समझने में बाधक सिद्ध होंगे।

पुराने और नये काव्यों, उपन्यासों और नाटकों को उनकी सामाजिक पृष्ठ-भूमि पर रखकर देखना और देशगत और कालगत संस्कारों को रसोपलब्धि के

साहित्य का साथी

साहित्य

1. 'साहित्य' शब्द का प्रयोग आजकल बड़े व्यापक अर्थ में होने लगा है। किसी खास विषय की समस्त पुस्तकें उस विषय का साहित्य कहलाती हैं। ज्योतिष का साहित्य कहने से ज्योतिष विषय की सब पुस्तकें समझी जायेंगी, और प्रौढ़-शिक्षा-विषयक साहित्य से वे सभी पुस्तकें समझी जायेंगी, जिनमे प्रौढ-शिक्षा के सिद्धान्तो, प्रयोगो आदि की चर्चा हो। परन्तु इस शब्द की व्यापकता केवल पुस्तकों तक ही सीमित नही है। 'लोक-साहित्य' वह साहित्य है जो बहुत कम लिपिबद्ध हुआ है। उसमें जनता के मुख में ही जीवित रहनेवाले गानों, कहानियों, मुहावरों और लोरियों आदि का समावेश है। परन्तु इतने व्यापक अर्थ मे प्रयोग होते रहने पर भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में भी होता है। अगर समूचे ग्रन्थ-समूह को व्यापक अर्थ में साहित्य मान लें तो स्पष्ट ही उसमें तीन श्रेणी की पुस्तकें मिलेगी :

(1) कुछ पुस्तकें केवल हमारी जानकारी बढ़ाती हैं, उनके पढ़ने से हम बहुत-सी नयी बातों के विषय में सूचना पाते है, परन्तु उनसे हमारी बोधन-शक्ति या अनुभूति बहुत कम उत्तेजित होती है। इसे 'सूचनात्मक-साहित्य' कह सकते है।

(2) कुछ दूसरी पुस्तकें ऐसी मिलेंगी जो हमारी जानकारी तो बढ़ाती ही है, हमारी बोधन-शक्ति को भी निरन्तर जागरूक और सचेष्ट बनाये रहती है। दर्शन, गणित और विज्ञान की पुस्तकें ऐसी ही होती हैं। इन्हें 'विवेचनात्मक-साहित्य' के अन्तर्गत माना जा सकता है; क्योंकि इस प्रकार के साहित्य के मूल में हमारी विवेक-वृत्ति है, जो निरन्तर भिन्न वस्तुओं, नियमों और धर्मों की विशिष्टता स्पष्ट करती रहती है।

(3) इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी भी है। यह आवश्यक नहीं कि इस श्रेणी की पुस्तकों से नयी जानकारी ही प्राप्त हो, वे हमारी जानी हुई बातों को भी नये सिरे से कह सकती हैं और फिर भी हमें बार-बार उन्हीं जानी हुई बातों को पढ़ने के लिए उत्सुक बना सकती हैं। ये पुस्तकें हमें सुख-दुःख की

व्यक्तिगत संकीर्णता और दुनियावी झगड़ों से ऊपर ले जाती हैं, और सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के—और भी आगे बढ़कर प्राणि-मात्र के—दुःख-शोक, राग-विराग, आह्लाद-आमोद को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देती हैं। वे पाठक के हृदय को इस प्रकार कोमल और संवेदनशील बनाती है कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थ को भूलकर प्राणिमात्र के दुःख-सुख को अपना समझने लगता है— सारी दुनिया के साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। पुराने शास्त्रकारों ने इस प्रकार के मनोभाव को सत्वस्थ होना कहा है (दे. 29)। इससे पाठक को एक प्रकार का ऐसा आनन्द मिलता है जो स्वार्थगत दुःख-सुख से ऊपर की चीज है। शास्त्रकार ने इसी को 'लोकोत्तर आनन्द' कहा है। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि की पुस्तकें इसी श्रेणी की हैं। एक शब्द में इस तीसरी श्रेणी के साहित्य को **रचनात्मक साहित्य** कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसी पुस्तकें हमारे ही अनुभवों के ताने-बाने से एक नये रस-लोक की रचना करती है। इस प्रकार की पुस्तकों को ही संक्षेप में साहित्य कहते हैं। 'साहित्य' शब्द का विशिष्ट अर्थ यही है। इस पुस्तक में इस तीसरी श्रेणी की पुस्तकों के अध्ययन करने का तरीका बताना ही हमारा संकल्प है।

2. 'साहित्य' शब्द का व्यवहार नया नहीं है। बहुत पुराने जमाने से लोग इसका व्यवहार करते आ रहे हैं। समय की गति के साथ इसका अर्थ थोड़ा-थोड़ा बदलता जरूर आया है, पर सब मिलाकर इसका अर्थ प्रायः ऊपर बताये अर्थ में ही होता रहा है। यह शब्द संस्कृत के 'सहित' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'साथ-साथ'। 'साहित्य' शब्द का अर्थ इसीलिए 'साथ-साथ रहने का भाव' हुआ।

दर्शन की पोथियों मे एक क्रिया के साथ योग रहने को ही 'साहित्य' कहा गया है। अलंकार-शास्त्र में इसी अर्थ से मिलते-जुलते अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। वहाँ शब्द और अर्थ के साथ-साथ रहने के भाव (साहित्य) को 'काव्य' बताया गया है। परन्तु ऐसा तो कोई वाक्य हो ही नही सकता जिसमें शब्द और अर्थ साथ-साथ न रहते हों। इसीलिए 'साहित्य' शब्द को विशिष्ट अर्थ में प्रयोग करने के लिए इतना और जोड़ दिया गया है कि "रमणीयता उत्पन्न करने में जब शब्द और अर्थ एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए साथ-साथ आगे बढ़ते रहें, तो ऐसे 'परस्पर-स्पर्द्धी' शब्द और अर्थ का जो साथ-साथ रहना होगा वही साहित्य 'काव्य' कहा जा सकता है।" ऐसा जान पड़ता है कि शुरू-शुरू में यह शब्द काव्य की परिभाषा बनाने के लिए ही व्यवहृत हुआ था और बाद मे चलकर सभी रचनात्मक पुस्तकों के अर्थ में व्यवहृत होने लगा। पुराने जमाने से ही इसे सुकुमार वस्तु समझा जाता रहा है और इसकी तुलना में न्याय, व्याकरण आदि शास्त्रों को 'कठिन' माना जाता रहा है। कान्यकुब्ज के राजा के दरबार में प्रसिद्ध कवि हर्ष को विरोधी पण्डित ने यही कहकर नीचा दिखाना चाहा था कि वे 'सुकुमार वस्तु' के ज्ञाता हैं। 'सुकुमार वस्तु' से मतलब साहित्य से था। उत्तर में हर्ष ने गर्वपूर्वक कहा था कि मैं 'सुकुमार' और 'कठोर' दोनों का जानकार हूँ।

3. ऊपर जिसे हमने 'रचनात्मक साहित्य' कहा है और आगे जिसे संक्षेप मे 'साहित्य' कहते रहेंगे, वह सारी दुनिया मे बड़े चाव से पढा जाता है। प्रश्न हो सकता है कि इस श्रेणी के साहित्य को लोग क्यों इतने आग्रह के साथ पढ़ते है। यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके उत्तर के लिए हमे साहित्य को भी ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न करना होगा और पढनेवाले के मन को भी।

साहित्य मानव-जीवन से सीधा उत्पन्न होकर सीधे मानव-जीवन को प्रभावित करता है। साहित्य पढ़ने से हम जीवन के साथ ताजा और घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते है। साहित्य में उन सारी बातों का जीवन्त विवरण होता है जिसे मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा है। जीवन के जो पहलू हमे नजदीक से और स्थायी रूप से प्रभावित करते है, उनके विषय मे मनुष्य के अनुभवों के समझने का एकमात्र साधन साहित्य है। वस्तुतः जैसा कि एक पश्चिमी समालोचक ने कहा है, "भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है।" इसीलिए पश्चिमी पण्डितों में से किसी-किसी ने साहित्य को जीवन की व्याख्या कहा है। इस कथन का अर्थ यह हुआ कि जीवन की जहाँ तक गति है वहाँ तक साहित्य का क्षेत्र है। जीवन से दूर हटा हुआ साहित्य अपना महत्त्व खो देता है।

4. लेकिन साहित्य और जीवन का सम्बन्ध आये-दिन इस प्रकार से बताया जाता है कि यह बात फैशन का रूप धारण कर चुकी है। असल में यह बात-की-बात नहीं बल्कि वास्तविक तथ्य है। इसलिए इसके अन्तर्निहित अर्थ को हमे ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। 'साहित्य जीवन से सीधे उत्पन्न होता है'—इस वाक्य का अर्थ यह है कि साहित्य जीवन में ही रहता है और उसके लिखे या पढे जाने का कारण भी जीवन में ही खोजना चाहिए। इस कथन का और भी स्पष्ट अर्थ यह है कि साहित्य का विचार, उसकी अच्छाई या बुराई का निर्णय, और उसकी महत्ता की जांच के लिए हमे सब समय किसी शास्त्र के या किसी बड़े आदमी के वाक्य को अवलम्ब मानने की जरूरत नही (यद्यपि यह बात अनावश्यक नही है)। यदि जीवन और साहित्य में सचमुच सम्बन्ध है तो हमारे जीवन में ही उसके समझने और ग्रहण करने की शक्ति होनी चाहिए। वस्तुतः ऐसा ही होता है।

हम साहित्य के किसी महान् ग्रन्थ को इसलिए महान् नही कहते कि किसी व्यक्ति ने उसे महान् कह दिया है, बल्कि इसलिए कि उसके पढ़ने से हम मानव-जीवन को निविड़-भाव से अनुभव करते हैं। या तो हम उसमें अपने को ही पाते हैं या अपने इर्द-गिर्द के अनुभूत अर्थों को गाढ भाव से अनुभव करते हैं। पण्डितों ने बताया है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसीलिए वह जिस प्रकार क्रिया-कलाप में सामाजिक बना रहता है, उसी प्रकार विचारो में भी। उसके इस सामाजिकपने का ही परिणाम है कि वह (1) अपने-आपको नाना रूपों में अभिव्यक्त करना चाहता है; (2) अन्य लोगो के करने-धरने में रस लेता है; (3) अपने इर्द-गिर्द की वास्तविक दुनिया को समझना चाहता है; तथा (4) कल्पना द्वारा

एक ऐसी दुनिया का निर्माण करने में रस पाता है जो वास्तविक दुनिया के दोषों से रहित हो। ये ही वे चार मूल मनोभाव हैं जो मनुष्य को साहित्य की तथा अन्य अनेक प्रकार की रचनाओं के लिए उपयोगी बनाये रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य के जीवन में ही वे उपादान मौजूद हैं जो उसे साहित्य की सृष्टि के लिए प्रेरित करते हैं। साथ ही उन्हीं मूल मनोभावों का यह परिणाम है कि वह दूसरों की रचना को देखने, सुनने और समझने में रस पाता है।

5. हम किसी बात में आनन्द क्यों पाते हैं? हमारे देश के मनीषियों ने बताया है कि हम ऊपर से जितने भी खण्डरूप और ससीम क्यों न हों, भीतर से निखिल जगत् के साथ 'एक' हैं। हमने ऊपर जो कुछ समझा है उससे स्पष्ट है कि साहित्य हमें प्राणिमात्र के साथ एक प्रकार की आत्मीयता का अनुभव कराता है (दे० 1)। वस्तुतः साहित्य के द्वारा हम अपनी उसी 'एकता' का अनुभव करते है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस बात को बड़ी सरलता के साथ समझाया है। वे कहते है कि —

"हमारे आत्मा में अखण्ड ऐक्य का आदर्श है। हम जो कुछ जानते हैं वह किसी-न-किसी ऐक्य-सूत्र से जानते हैं। कोई भी जानकारी अपने-आपमें एकान्त स्वतन्त्र नहीं है। जहाँ कहीं भी पाने या जानने में अस्पष्टता दिखायी देती है, वहीं मेरी समझ में कारण है, 'मिलाकर न जान सकना'। हमारे आत्मा में, ज्ञान में और भाव मे यह जो 'एक' का विहार है, वही 'एक' जब लीलामय होता है, जब वह सृष्टि के द्वारा आनन्द पाना चाहता है, तब वह उस 'एक' को बाहर सुस्पष्ट कर देना चाहता है। तब विषय को उपलक्ष्य करके, उपादान को आश्रय करके एक अखण्ड 'एक' व्यक्त हो उठता है। काव्य मे, गीत में, शिल्पकला में, ग्रीक शिल्पी द्वारा रचित पूजापात्र में, विचित्र रेखा के आवर्त्तन में जब हम परिपूर्ण 'एक' को चरम रूप मे देखते है, तब हमारी अन्तरात्मा के 'एक' के साथ बहिर्लोक के 'एक' का मिलन होता है। जो मनुष्य अरसिक है वह इस चरम 'एक' को नहीं देख पाता, वह केवल उपादान की ओर से, केवल प्रयोजन की ओर से इसका मूल्य आँका करता है:

शरद चद, पवन मंद
विपिने बहिल कुसुम-गंध
फुल्ल मल्लि मालति यूथि,
मत्त मधुप मोरनी।—

"यदि इस काव्य में विषय, भाव, कविता और छन्द के निविड सम्मेलन से 'एक' का रूप पूर्ण होकर दिखायी दे, यदि उस 'एक' का आविर्भाव ही चरम होकर हमारे चित्त पर अधिकार करे, यदि यह काव्य खण्ड-खण्ड होकर उल्कावृष्टि-सी करता हुआ हमारे मन पर आघात न करे और यदि ऐक्य-रस की चरमता का अतिक्रम करके और कोई उद्देश्य उग्र न हो उठे, तभी हम उस काव्य मे सृष्टिलीला को स्वीकार करेंगे। गुलाब के फूल से हम आनन्द पाते है। वर्ण में, गन्ध में, रूप

में, रेखा में इस फूल के भीतर हम (अखण्ड) 'एक' की सुषमा देखते हैं। इसके भीतर हमारा आत्मारूपी 'एक' अपनी आत्मीयता स्वीकार करता है, तब फिर इसके और किसी मूल्य की जरूरत नहीं होती।...गुलाब के फूल में जो सुनिहित, सुविहित, सुषमायुक्त ऐक्य है, निखिल विश्व के अन्तर में भी वही ऐक्य है। समस्त (विश्व के) सुर के साथ इस फूल के सुर का मेल है। निखिल ने इस सुषमा को अपना मानकर ग्रहण किया है।"

6. इस लम्बे उद्धरण का अर्थ यह है कि छोटी-से-छोटी वस्तु में उसकी विभिन्नता और क्षुद्रता के बावजूद एक ऐसा सत्य है जो सारी वस्तुओं में समान रूप से पाया जाता है। उसी को रवीन्द्रनाथ 'एक' कहते हैं। जहाँ इस 'एक' के साथ किसी वस्तु का सामंजस्य है वही सौन्दर्य है और कला है। जहाँ सामंजस्य न होकर विरोध है, वहाँ स्वार्थ है, कुरूपता है और पीड़ा है। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने ही रुपया कमाने का उदाहरण देकर इस बात को आसान करके समझाया है। वे लिखते है :

"मैं जब रुपया कमाना चाहता हूँ तो मेरे रुपया कमाने की नाना भाँति की चेष्टाओं और चिन्ताओं के भीतर भी एक 'एकता' वर्त्तमान रहती है। विचित्र प्रयास के भीतर केवल एक ही लक्ष्य की एकता अर्थकामी को आनन्द देती है। किन्तु यह ऐक्य अपने उद्देश्य मे ही खण्डित है, निखिल की सृष्टिलीला से युक्त नही है। पैसे का लोभी विश्व को टुकड़े-टुकड़े करके—झपट्टा मारकर—अपनी धन-राशि को इकट्ठा करता है। लोभी के हाथ मे कामना ही वह लालटेन होती है जो केवल एक विशेष संकीर्ण स्थान पर अपने समस्त प्रकाश को 'संहृत' करती है। बाकी सभी स्थानों में उसका असामंजस्य गहरे अन्धकार के रूप में घनीभूत हो उठता है। अतएव लोभ के इस संकीर्ण ऐक्य के साथ सृष्टि के ऐक्य का, रस-साहित्य और ललित-कला के ऐक्य का सम्पूर्ण प्रभेद है। निखिल को छिन्न करने से लोभ होता है और निखिल को एक करने से रस होता है। लखपती महाजन रुपये की थैली लेकर 'भेद' की घोषणा करता है, गुलाब 'निखिल' का दूत है, वह 'एक' की वार्त्ता लेकर फूटता है। जो 'एक' असीम है, वही गुलाब के नन्हे-से हृदय को परिपूर्ण करके विराजता है। कीट्स अपनी कविता में 'निखिल-एक' के साथ एक छोटे-से ग्रीक पात्र की एकता की बात बता गये हैं; कह गये है कि 'हे नीरव मूर्त्ति! तुम हमारे मन को व्याकुल करके समस्त चिन्ता को बाहर ले जाते हो, जैसा कि असीम ले जाया करता है।' क्योंकि अखण्ड 'एक' की मूर्त्ति, किसी आकार में ही क्यों न रहे, 'असीम' को ही प्रकाश करती है; इसीलिए वह अनिर्वचनीय है, मन और वाक्य उसका कोई कूल-किनारा न पाकर लौट आया करते है।" ('विश्व-भारती पत्रिका', चैत्र 1999, पृ. 110-111)

7. ऊपर-ऊपर से यह बात हमें कठिन या दुर्बोध्य लगेगी। हम आगे सदा इसविषय को नाना भाव से समझने का अवसर पाते रहेंगे। परन्तु साहित्य के विद्यार्थी मात्र को शुरू मे ही यह बात समझ लेनी चाहिए कि साहित्य की साधना

एक ऐसी दुनिया का निर्माण करने में रस पाता है जो वास्तविक दुनिया के दोषों से रहित हो। *ये ही वे चार मूल मनोभाव हैं जो मनुष्य को साहित्य की तथा अन्य* अनेक प्रकार की रचनाओं के लिए उपयोगी बनाये रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य के जीवन में ही वे उपादान मौजूद हैं जो उसे साहित्य की सृष्टि के लिए प्रेरित करते हैं। साथ ही उन्हीं मूल मनोभावों का यह परिणाम है कि वह दूसरों की रचना को देखने, सुनने और समझने में रस पाता है।

5. हम किसी बात में आनन्द क्यों पाते हैं? हमारे देश के मनीषियों ने बताया है कि हम ऊपर से जितने भी खण्डरूप और ससीम क्यों न हों, भीतर से निखिल जगत् के साथ 'एक' हैं। हमने ऊपर जो कुछ समझा है उससे स्पष्ट है कि साहित्य हमें प्राणिमात्र के साथ एक प्रकार की आत्मीयता का अनुभव कराता है (दे० 1)। वस्तुत: साहित्य के द्वारा हम अपनी उसी 'एकता' का अनुभव करते है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस बात को बड़ी सरलता के साथ समझाया है। वे कहते हैं कि —

"हमारे आत्मा में अखण्ड ऐक्य का आदर्श है। हम जो कुछ जानते हैं वह किसी-न-किसी ऐक्य-सूत्र से जानते हैं। कोई भी जानकारी अपने-आपमें एकान्त स्वतन्त्र नही है। जहाँ कही भी पाने या जानने में अस्पष्टता दिखायी देती है, वही मेरी समझ में कारण है, 'मिलाकर न जान सकना'। हमारे आत्मा में, ज्ञान में और भाव में यह जो 'एक' का विहार है, वही 'एक' जब लीलामय होता है, जब वह सृष्टि के द्वारा आनन्द पाना चाहता है, तब वह उस 'एक' को बाहर सुस्पष्ट कर देना चाहता है। तब विषय को उपलक्ष्य करके, उपादान को आश्रय करके एक अखण्ड 'एक' व्यक्त हो उठता है। काव्य में, गीत में, शिल्पकला में, ग्रीक शिल्पी द्वारा रचित पूजापात्र में, विचित्र रेखा के आवर्त्तन में जब हम परिपूर्ण 'एक' को चरम रूप में देखते है, तब हमारी अन्तरात्मा के 'एक' के साथ बहिर्लोक के 'एक' का मिलन होता है। जो मनुष्य अरसिक है वह इस चरम 'एक' को नही देख पाता, वह केवल उपादान की ओर से, केवल प्रयोजन की ओर से इसका मूल्य आँका करता है :

शरद चंद, पवन मद
विपिने बहिल कुसुम-गंध
फुल्ल मल्लि मालति यूथि,
मत्त मधुप मोरनी।—

"यदि इस काव्य में विषय, भाव, कविता और छन्द के निविड़ सम्मेलन से 'एक' का रूप पूर्ण होकर दिखायी दे, यदि उस 'एक' का आविर्भाव ही चरम होकर हमारे चित्त पर अधिकार करे, यदि यह काव्य खण्ड-खण्ड होकर उल्कावृष्टि-सी करता हुआ हमारे मन पर आघात न करे और यदि ऐक्य-रस की चरमता का अतिक्रम करके और कोई उद्देश्य उग्र न हो उठे, तभी हम उस काव्य में सृष्टिलीला को स्वीकार करेंगे। गुलाब के फूल से हम आनन्द पाते है। वर्ण में, गन्ध मे, रूप

में, रेखा में इस फूल के भीतर हम (अखण्ड) 'एक' की सुषमा देखते हैं। इसके भीतर हमारा आत्मारूपी 'एक' अपनी आत्मीयता स्वीकार करता है, तब फिर इसके और किसी मूल्य की जरूरत नहीं होती। ...गुलाब के फूल में जो सुनिहित, सुविहित, सुषमायुक्त ऐक्य है, निखिल विश्व के अन्तर में भी वही ऐक्य है। समस्त (विश्व के) सुर के साथ इस फूल के सुर का मेल है। निखिल ने इस सुषमा को अपना मानकर ग्रहण किया है।"

6. इस लम्बे उद्धरण का अर्थ यह है कि छोटी-से-छोटी वस्तु में उसकी विभिन्नता और क्षुद्रता के बावजूद एक ऐसा सत्य है जो सारी वस्तुओं में समान रूप से पाया जाता है। उसी को रवीन्द्रनाथ 'एक' कहते हैं। जहाँ इस 'एक' के साथ किसी वस्तु का सामंजस्य है वही सौन्दर्य है और कला है। जहाँ सामंजस्य न होकर विरोध है, वहाँ स्वार्थ है, कुरूपता है और पीडा है। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने ही रुपया कमाने का उदाहरण देकर इस बात को आसान करके समझाया है। वे लिखते हैं :

"मैं जब रुपया कमाना चाहता हूँ तो मेरे रुपया कमाने की नाना भाँति की चेष्टाओं और चिन्ताओं के भीतर भी एक 'एकता' वर्त्तमान रहती है। विचित्र प्रयास के भीतर केवल एक ही लक्ष्य की एकता अर्थकामी को आनन्द देती है। किन्तु यह ऐक्य अपने उद्देश्य मे ही खण्डित है, निखिल की सृष्टिलीला से युक्त नहीं है। पैसे का लोभी विश्व को टुकड़े-टुकड़े करके—झपट्टा मारकर—अपनी धन-राशि को इकट्ठा करता है। लोभी के हाथ मे कामना ही वह लालटेन होती है जो केवल एक विशेष संकीर्ण स्थान पर अपने समस्त प्रकाश को 'संहत' करती है। बाकी सभी स्थानों में उसका असामंजस्य गहरे अन्धकार के रूप में घनीभूत हो उठता है। अतएव लोभ के इस संकीर्ण ऐक्य के साथ सृष्टि के ऐक्य का, रस-साहित्य और ललित-कला के ऐक्य का सम्पूर्ण प्रभेद है। निखिल को छिन्न करने से लोभ होता है और निखिल को एक करने से रस होता है। लखपती महाजन रुपये की थैली लेकर 'भेद' की घोषणा करता है, गुलाब 'निखिल' का दूत है, वह 'एक' की वार्त्ता लेकर फूटता है। जो 'एक' असीम है, वही गुलाब के नन्हे-से हृदय को परिपूर्ण करके विराजता है। कीट्स अपनी कविता में 'निखिल-एक' के साथ एक छोटे-से ग्रीक पात्र की एकता की बात बता गये हैं; कह गये हैं कि 'हे नीरव मूर्त्ति ! तुम हमारे मन को व्याकुल करके समस्त चिन्ता को बाहर ले जाते हो, जैसा कि असीम ले जाया करता है।' क्योंकि अखण्ड 'एक' की मूर्त्ति, किसी आकार में ही क्यों न रहे, 'असीम' को ही प्रकाश करती है; इसीलिए वह अनिर्वचनीय है, मन और वाक्य उसका कोई कूल-किनारा न पाकर लौट आया करते हैं।" ('विश्व-भारती पत्रिका', चैत्र 1999, पृ. 110-111)

7. ऊपर-ऊपर से यह बात हमें कठिन या दुर्बोध्य लगेगी। हम आगे सदा इसविषय को नाना भाव से समझने का अवसर पाते रहेंगे। परन्तु साहित्य के विद्यार्थी मात्र को शुरू में ही यह बात समझ लेनी चाहिए कि साहित्य की साधना

निखिल विश्व के साथ एकत्व करने की साधना है। इससे वह किसी भी अंश में कम नहीं है। जो साहित्य-नामधारी वस्तु लोभ और घृणा पर आधारित है, वह साहित्य कहलाने के योग्य नहीं है। वह हमें विशुद्ध आनन्द नहीं दे सकती।

आहार, निद्रा, भय आदि मनोभाव समस्त प्राणियों में समान हैं। मनुष्य जब इनकी पूर्ति का प्रयत्न करता है तो वह अपने उस छोटे प्रयोजन में उलझा रहता है जो पशुओं के समान ही है। बहुत प्राचीन काल से इन पशु-सामान्य प्रवृत्तियों को मनुष्य ने तिरस्कार के साथ देखा है। वह इन तुच्छताओं से ऊपर उठ सका है, यही उसकी विशेषता है। जो बातें हमें इन तुच्छताओं का दास बना देती हैं, या इन तुच्छताओं को ही मनुष्य का असली रूप बताती हैं, वे मनुष्य के चित्त से उसके महत्व को, उसके वैशिष्ट्य को और उसके वास्तविक रूप को हटा देती हैं। वे लोभ और मोह का पाठ पढ़ाती हैं। साहित्य वे नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनकी शिक्षा से मनुष्य खण्ड की साधना करता है, विभेद और तुच्छता को बड़ा समझने लगता है और सारे विश्व के साथ एकत्व की अनुभूति से विरत हो जाता है।

साहित्यकार

8. हम साहित्य की कोई भी पुस्तक उठा लें—तीन बातें हमारे सामने अपने-आप उपस्थित हो जायेंगी। प्रथम तो यह कि उस पुस्तक का कोई लेखक है जिसने संसार के कुछ व्यापारों को अपने ढंग से देखा, समझा और अनुभव किया है। दूसरी यह कि उसने जो कुछ भी देखा, समझा और अनुभव किया है, उन्हीं बातों को इस पुस्तक में कहा है। अर्थात् जिस प्रकार पुस्तक का कोई वक्ता है, उसी प्रकार उसका वक्तव्य भी है। तीसरी यह कि वक्ता ने वक्तव्य को कहने के लिए किसी विशेष ढंग को पसन्द किया है और उसी ढंग से वह हमें सुना रहा है। उदाहरणार्थ, वह अपनी बात कहानी के रूप में कहना चाहता है, या पद्य-बद्ध करके कहना चाहता है, या दो या अधिक पात्रों में बातचीत कराके कहना चाहता है या फिर सीधे युक्ति-तर्क देकर प्रतिपादन कर रहा है। ये तीन बातें हर पुस्तक में रहती हैं। अगर हम इन तीनों को ठीक ढंग से समझ लें तो आलोच्य पुस्तक की जाँच आसानी से हो सकती है। एक चौथी बात भी है जो या तो लेखक के मन में रहती है या वक्तव्य-वस्तु स्वयं उसकी आवश्यकता समझकर अपनी ओर से तैयार कर लेती है। वह है लक्ष्यीभूत श्रोता या पाठक। इस प्रकार किसी पुस्तक की विवेचना करते समय चार बातों का विचार परम आवश्यक है: (1) कौन कह

रहा है (लेखक), (2) क्या कह रहा है (वक्तव्य-वस्तु), (3) कैसे कह रहा है (कारीगरी), और (4) किससे कह रहा है (लक्ष्यीभूत श्रोता या पाठक)।

9. पहले लेखक का ही विचार किया जाय। साहित्य-ग्रन्थ के पढ़ने का प्रथम अर्थ होता है ग्रन्थकार के साथ घनिष्ठ योग। शुरू में ही कहा गया है कि साहित्य जीवन से सीधे उत्पन्न होता है। तो जिस व्यक्ति के जीवन से आलोच्य ग्रन्थ निकला है उसके विषय में जानकारी प्राप्त कर लेने से हमें अनेक सुविधाएँ मिल जाती हैं। यदि हम ऐसा शुरू में ही कर लेंगे तो ग्रन्थ के अनेक अस्पष्ट अंशों को समझ सकेंगे और ग्रन्थ का रस गाढ़-भाव से अनुभव कर सकेंगे।

एक ही लेखक कई पुस्तकें लिख सकता है, ऐसा भी देखा गया है कि इन पुस्तकों में परस्पर-विरोधी बातें भी रहती हैं, और कभी-कभी तो एक ही ग्रन्थ में परस्पर-विरोधी बातें मिल जाती हैं। वस्तुतः महान् लेखक की महान् रचना उसके जीवन के विभिन्न अनुभवों का जीवन्त रूप है। एक पश्चिमी आलोचक ने कहा है कि ग्रन्थकार के लिखे सभी ग्रन्थों को एक ही ग्रन्थ मानकर आलोचना होनी चाहिए। तभी हम ग्रन्थकार के वास्तविक रूप को समझ सकते हैं। आजकल यह प्रथा चल पड़ी है कि किसी ग्रन्थकार की रचनाओं के अध्ययन के लिए रचनाओं का काल-क्रम से वर्गीकरण किया जाता है और ग्रन्थकार के व्यक्तिगत जीवन के साथ उन रचनाओं का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। ऐसा करने से ग्रन्थकार को समझने में आसानी होती है। पर इस ढंग में कुछ दोष भी हैं। आगे हम इस पर विचार करेंगे।

10. ग्रन्थकार के अध्ययन के लिए चार बातों की जानकारी आवश्यक है: (1) वह किस काल में पैदा हुआ; (2) वह किस जाति और समाज में पैदा हुआ; (3) उसके समसामयिक और पूर्ववर्त्ती अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थकार कौन-कौन थे, और उनसे उसका कोई सम्बन्ध था या नहीं; तथा (4) उसका व्यक्तिगत जीवन क्या और कैसा था?

(1) प्रथम बात की जानकारी इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक काल का एक अपना विशेष गुण है। जिस युग में कवि पैदा होता है उस युग की राजनीतिक, सांस्कृतिक और अन्य परिस्थितियाँ उस युग के प्रत्येक लेखक में एक सामान्य गुण भर देती हैं। हिन्दी में सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में जो लेखक हुए, उन सबमें रीति-ग्रन्थों के एक खास पहलू का प्रभाव है। उस युग में मुसलिम-शासन पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था और कितने ही मुसलिम शिष्टाचार समाज में घुल-मिलकर भारतीय हो चुके थे। कवि तात्कालिक समाज की रीति-नीति से प्रभावित रहता था।

कवि के काव्य के विषय में जिज्ञासा का अर्थ यह है कि हम उस ऐतिहासिक शक्ति की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं जो मनुष्य-समाज को प्रत्येक युग में विशेष-विशेष रूप दे रही है। कालिदास जिस युग में पैदा हुए थे उस युग की मूर्ति, स्थापत्य, धर्म और राजनीति आदि को जाने बिना हम न तो कालिदास को ठीक-

ठीक समझ ही सकते हैं और न उसका महत्त्व-निर्णय कर सकते हैं। कालिदास के ग्रन्थ में कालिदास का युग प्रतिफलित है। उस युग के सभी लेखकों में उस युग की छाप पायी जायेगी। कालिदास जिस युग में पैदा हुए थे उस युग में भारतवर्ष ब्राह्मणधर्मानुमोदित पुनर्जन्म-कर्मवाद और कर्मफल प्राप्ति की व्यवस्था को मानता था। इसलिए सबकुछ को एक सामजस्यपूर्ण व्यवस्था के भीतर से देखना उनके लिए स्वाभाविक और सहज था। जो-कुछ घट रहा है उसका एक उचित कारण है—इस विश्वास ने उस युग के साहित्यकारों में एक सन्तोष का भाव भर दिया था। और कालिदास के समान ही उस युग का प्रत्येक कवि और नाटककार ससार को एक सामजस्यपूर्ण विधान मानता था। उस युग के किसी कवि में बीसवीं शताब्दी के आधुनिक साहित्यिकों की भाँति समाज की व्यवस्था के प्रति तीव्र असन्तोष का भाव नहीं पाया जा सकता।

(2) दूसरी बात अर्थात् लेखक के समाज और जाति की जानकारी भी आवश्यक है; क्योंकि :

(क) प्रत्येक जाति का अपना एक जातीय गुण होता है जो उस जाति के व्यक्तियों में प्रायः सामान्य रूप से पाया जाता है। प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में नाना सस्कृतियों के सघर्ष और समन्वय से एक विशेष प्रकार की विचारपद्धति, विश्वास और रीति-नीति बन गयी है। उपनिषद्-काल के बाद जब लौकिक संस्कृत का साहित्य भारतवर्ष में बनने लगा, उस समय से लेकर हजारों वर्ष बाद तक इस देश में वेद की प्रामाणिकता में विश्वास, अध्यात्मवाद, पुनर्जन्मवाद आदि का बोलबाला रहा। मैक्समूलर ने इस युग के भारतवासी के बारे में लिखा है कि "उससे इस शान्त जगत् की बात कहो, वह कहेगा कि अनन्त के बिना शान्त जगत् निरर्थक है, असम्भव है; उससे मृत्यु की बात कहो, वह तुरन्त उसे जन्म की पूर्वावस्था कह देगा; उससे काल की बात कहो, वह इसे सनातन परमतत्त्व की छाया बता देगा। हमारे (यूरोपियनों के) निकट इन्द्रियाँ साधन हैं; शस्त्र हैं, ज्ञानप्राप्ति के शक्तिशाली इञ्जिन हैं; किन्तु उसके निकट वे अगर सचमुच धोखा देनेवाले नहीं तो कम-से-कम सदैव जबर्दस्त बन्धन तो अवश्य हैं, वे आत्मा की स्वरूपोपलब्धि में बाधक हैं। हमारे लिए यह पृथ्वी, यह आकाश, यह जो कुछ हम देख, छू और सुन सकते हैं, निश्चित हैं; हम समझते हैं, यहीं हमारा घर है, यहीं हमें कर्त्तव्य करना है, यहीं हमें सुख-सुविधा प्राप्त है, लेकिन उसके लिए यह पृथ्वी एक ऐसी चीज है जो किसी समय थी ही नहीं और ऐसा भी एक समय आयेगा जब यह नहीं रहेगी; यह जीवन एक छोटा-सा सपना है जिससे शीघ्र ही हमारा छुटकारा हो जायगा, हम जाग जायेंगे। जो वस्तु औरों के लिए नितान्त सत्य है उससे अधिक असत्य उसके निकट और कुछ है ही नहीं और जहाँ तक उसके घर का सम्बन्ध है वह निश्चित जानता है कि वह और चाहे जहाँ कहीं भी हो, इस दुनिया में नहीं है।" भारतवर्ष का यह परिचय आदिकवि वाल्मीकि से लेकर रवीन्द्रनाथ तक ज्यों-का-त्यों चला आया है। इस देश का घोर-से-घोर विषयी

कवि भी इस दुनिया से परे एक अचिन्त्य अव्यक्त सत्ता की ओर इशारा किये बिना नही रहता। परन्तु,

(ख) सारी भारतीय जाति एक ही सतह पर सदा नही रही है, यद्यपि समूची भारतीय जाति के भीतर उक्त प्रकार के सामान्य विश्वास किसी मात्रा में सदा पाये जाते रहे हैं। आर्थिक और राजनीतिक कारणो से कोई उपजाति सुविधाभोग करती है, कोई दूसरी उपजाति औरो की सेवा करती है और कोई तीसरी श्रेणी उपेक्षित और अपमानित ही रहती है। भारतवर्ष मे धार्मिक कारणो से भी ऐसा हुआ है। इन नाना स्तरो में शिक्षा, सस्कार और सवेदन एक ही तरह के नही होते। मध्ययुग मे आचार्य रामानन्द की दीक्षा भिन्न-भिन्न स्तर के कवियो मे एकदम अलग-अलग रूप में व्यक्त हुई है। हाल के शोधो से पता चलता है कि कबीरदास एक ऐसी जाति मे पैदा हुए थे जो नाथ-योगियो से भ्रष्ट होकर गृहस्थ बनी थी और ब्राह्मण-व्यवस्था की कायल नही थी। उस जाति मे योगियो के संस्कार पूरी मात्रा मे विद्यमान थे। फिर बाद में वह धीरे-धीरे मुसलमान भी होने लगी थी, इसलिए मुसलमानी सस्कार भी उसमे आने लगे थे। फिर भी सब मिलाकर उस जाति की सामाजिक मर्यादा निचले स्तर की थी। इसी समाज के संस्कारों के कारण आचार्य रामानन्द द्वारा प्रचारित भक्ति कबीर मे एक ऐसे पौधे के रूप में अकुरित हुई जो अपनी मिसाल आप ही है। कबीर एक ही साथ योगियों का अक्खडपन, निचले स्तर मे वर्त्तमान छोटी समझी जानेवाली जातियो का तीव्र असन्तोष-भाव, मुसलमानी उत्साह और भक्तगण की निरीहता के सम्मिलित रूप थे।

उधर दूसरी ओर तुलसीदास हुए जो रामानन्द के साक्षात् शिष्य तो नही थे, पर उनकी शिष्य-परम्परा में ही पडते थे। वे ब्राह्मण-वश में किन्तु गरीब घर मे पैदा हुए थे। उस श्रेणी में योग-मार्ग का नही बल्कि पौराणिक मत का प्रचार था। तुलसीदास कबीर से बहुत भिन्न है। इतना अवश्य याद रखना चाहिए कि इन दो महान् साहित्यकारों की भिन्नता का कारण उनका अपना व्यक्तित्व भी था (जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे)। परन्तु इस बात में कोई सन्देह नही कि दोनों को उत्पन्न करनेवाली भिन्न-भिन्न सामाजिक भिन्नता भी इनकी भिन्नता के लिए पूर्ण रूप से जिम्मेवार है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस तरह यह जानना *परम आवश्यक है कि ग्रन्थकार किस देश या जाति मे पैदा हुआ, उसी प्रकार यह* जानना भी जरूरी है कि वह समाज के किस स्तर से आया था। इन दोनों बातों को एक शब्द मे कवि का 'जातीय रूप' कह सकते है।

(3) कवि के पूर्ववर्त्ती और समसामयिक ग्रन्थकारों का जानना भी आवश्यक है। उनकी परस्पर तुलना करके हम आलोच्य कवि या लेखक के काल, समाज और देश की बात ठीक-ठीक समझ सकते है कि कवि का अपना व्यक्तित्व क्या था। बिहारी और मतिराम की सतसइयो मे बहुत-सी बातें एक ही जैसी हैं। नायिकाओं का वही रूप, वही अलंकरण-भंगिमा, वही प्रेम और विरह-सम्बन्धी

उक्तियाँ, अलंकारों का वही कौशल, गुणों की वैसी ही योजना और दोषों के वर्जन का वैसा ही प्रयत्न दोनों ही कवियों में मिलेगा। दोनों की तुलना करने से हम आसानी से उस युग की रुचि, संस्कारण, रीति-रस्म, शिष्टाचार और सामाजिकता आदि का पता लगा सकते हैं। और फिर भी यह समझने में देर नहीं लगेगी कि बिहारी हाव-भाव और बिब्बोक-विलासों में अधिक रस पाते हैं और अगज अलंकारों पर विशेष जोर देते हैं, जबकि मतिराम अयत्नज अलंकारों में अधिक रस लेते हैं। [दे. 30]

कवि को पूर्ववर्ती और समसामयिक कवियों की तुलना में रखकर देखने का अर्थ है कि हम मानते हैं कि संसार में कोई घटना अपने-आपमें स्वतन्त्र नहीं है, पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती घटनाएँ वर्तमान घटनाओं को रूप देती रहती हैं; इसलिए जिस किसी रचना या वक्तव्य-वस्तु का हमें स्वरूप-निर्णय करना हो उसे पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती घटनाओं की अपेक्षा में देखना चाहिए। भास कवि का 'चारुदत्त' नाटक, शूद्रक कवि के 'मृच्छकटिक' से पुराना है। 'चारुदत्त' ही 'मृच्छकटिक' का आधार है। दोनों में केवल कथानक का ही साम्य नहीं है, कई श्लोक तक एक ही पाये गये हैं। फिर भी शूद्रक का 'मृच्छकटिक' भास के 'चारुदत्त' से विशेष है। यदि यह सिद्ध हो जाता कि 'चारुदत्त' 'मृच्छकटिक' के बाद की रचना है तो उसका कोई महत्त्व नहीं रहता, पर चूँकि वह पूर्ववर्ती रचना है इसलिए उसका महत्त्व बहुत अधिक है। दोनों नाटकों को साथ पढ़नेवाला व्यक्ति शूद्रक के व्यक्तित्व और महत्त्व को ठीक-ठीक समझ सकता है।

(4) कवि का व्यक्तिगत जीवन भी साहित्य के विद्यार्थी के लिए बहुत आवश्यक है। भारतवर्ष में इस ओर काफी उदासीनता दिखायी गयी है। अपने महान् ग्रन्थकारों में से बहुत कम के व्यक्तिगत जीवन की हमें ठीक-ठीक जानकारी है। उत्सुक पाठक-मण्डली को किम्वदन्तियों पर सन्तोष करना पड़ता है। उधर यूरोप में कवि के जीवन की प्रत्येक छोटी-छोटी घटना को लिपिबद्ध करने और आलोचना करने की परिपाटी पागलपन की सीमा तक पहुँच चुकी है। इस देश में भी यह हवा बहने लगी है। ग्रन्थकारों के खाँसने-डकारने तक की खबर लेने के लिए पन्ने-के-पन्ने रँगे जाने लगे हैं। जिसे भी सस्ते तौर पर साहित्य में नाम कमाने की इच्छा है वही किसी बड़े कवि की पैदाइश का कोई नया गाँव खोज निकालता है, उसके ससुराल की ढही दीवारों का पता बता देता है, उसकी भौजाई की बहू के भतीजे का हस्तलेख निकाल लाता है और पत्रों और पुस्तकों में बहस छिड़ जाती है। ऐसी बात साहित्य के समझने में बाधक होगी।

यहाँ यह कह रखना जरूरी है कि बड़े-बड़े ग्रन्थकारों के जीवन में दो प्रकार की दिलचस्पी पायी जाती है, ऐतिहासिक और साहित्यिक। हमारा प्रधान आलोच्य साहित्यिक दिलचस्पी है। हमें कवि के साहित्य को पढ़ने के लिए उसके जीवन की जानकारी प्राप्त करनी होती है। यदि हम बेकार बातों में समय बर्बाद करने लगेंगे तो यह बात हमारे साहित्यिक अध्ययन में बाधक ही साबित होगी। परन्तु

यदि हम कवि के जीवन से परिचित हों, उसके अनुभवों के चढ़ाव-उतार के जानकार हों तो बहुत-सी साहित्यिक उलझनें सुलझ जाती है। वस्तुतः कोई भी महान् ग्रन्थ अपने लेखक के दिमाग से, हृदय से और रक्त-मास से बना होता है।

महान् ग्रन्थकार अपने अनुभव से सजीव सृष्टि करता है। वह कल्पना और बुद्धि के सहारे गढे हुए जीवों में आस्था नही रखता। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी ने कहा था कि "कल्पना से गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नही है। उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की है, या अपने पात्रों की ज़बान से वह खुद बोल रहा है।"

किसी रचना का सम्पूर्ण आनन्द पाने के लिए रचयिता के साथ हमारा घनिष्ठ परिचय और सहानुभूति मनुष्यता के नाते भी आवश्यक है। हमें आलोचक होने के पहले आलोच्य ग्रन्थकार का विश्वासपरायण मित्र बनना चाहिए। तभी हम उसके वक्तव्य के उचित श्रोता हो सकेंगे; क्योंकि उस हालत में ही उसके व्यक्तिगत सुख-दुख के साथ गम्भीर सहानुभूति का भाव रख सकते हैं। सूरदास, तुलसीदास, रसखान और घनआनन्द आदि कवियों के बारे में जो किम्वदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं उनसे सिद्ध होता है कि जीवन की छोटी-छोटी घटनाएँ भी कभी-कभी महान् पुरुषों को इस प्रकार का झटका देती हैं कि उससे उनके जीवन की दिशा ही बदल जाती है। कवि का जीवन उसकी कृतियों के समझने का प्रधान सहायक है।

11. ग्रन्थकार की शैली उसके व्यक्तित्त्व का ही अंग है। आधुनिक साहित्य के पारखी पण्डितों ने साहित्य का विश्लेषण करके देखा है कि एक लेखक की रचना दूसरे लेखक की रचना से तीन कारणों से भिन्न हो जाया करती है :

(1) पहला कारण तो यह है कि एक व्यक्ति का स्वभाव, संस्कार और शिक्षण दूसरे से कभी हू-ब-हू नही मिलता। फलतः एक व्यक्ति सदा दूसरे से भिन्न हुआ करता है। और इसलिए एक व्यक्ति की रचना स्वभावतः ही दूसरे से भिन्न हो जाया करती है। उसकी शैली, जैसा कि अंग्रेज कवि पोप ने कहा था, 'उसके विचारों की पोशाक' हुआ करती है, पर केवल 'पोशाक' कहना उसे ठीक-ठीक कहना नही हुआ। इसलिए सुप्रसिद्ध मनीषी कारलाइल ने उक्त वक्तव्य का संशोधन करते हुए कहा था कि "शैली लेखक के विचारों की पोशाक नही है बल्कि चमड़ा है।" वह मँगनी नही माँगी जा सकती, उधार नही दी जा सकती। साधारण सहृदय भी किसी व्यक्ति की रचना को देखकर कह सकता है कि ऐसी रचना तो अमुक व्यक्ति की ही हो सकती है। प्रसाद और महावीरप्रसाद द्विवेदी के गद्य दूर से ही अपने लेखक का नाम कह देंगे। इस बात को शैली का व्यक्तिगत पहलू कह सकते हैं। पर व्यक्तिगत पहलू ही शैली का सब-कुछ नहीं है। उसका एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग भी है।

(2) एक खास युग के लेखक एक ढंग की चीज लिखते हैं। बिहारी का जन्म यदि आज हुआ होता तो वे सतसई की शैली में अपना वक्तव्य नही उपस्थित

गुणदोष से मुक्त हो सकते है और न पारिपार्श्विक परिस्थितियों के प्रभाव से बच ही सकते है। इसका अर्थ यह है कि कालिदास एक खास जाति और खास काल मे ही हो सकते थे। एस्किमो जाति के बच्चे को चाहे जितनी भी संस्कृत रटा दीजिए, वह कालिदास नहीं बन सकता और न इस युग का बड़ी-से-बड़ी शक्तिवाला संस्कृतज्ञ ही कालिदास-सा हो सकता है। कालिदास उसी समय में, उसी परिस्थिति में और उसी जाति मे हो सकते थे जिसमें हुए थे।

न दो व्यक्तियों के सोचने का रास्ता एक है, न सोचने की वस्तु ही एक है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी समालोचक टेन ने कहा था कि किसी भी व्यक्ति का निर्माण तीन निर्वैयक्तिक उपादानों से होता है :

(1) उसकी वंश-परम्परा;

(2) उसकी पारिपार्श्विक परिस्थिति; और

(3) उसके युग की विचारधारा और विश्वास।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति जैसा है वैसा ही उसे होना था, वह अपनी इच्छा से अपने को और अपने इर्द-गिर्द की परिस्थिति को बदल नही सकता। इस विचार में आंशिक सत्य अवश्य है, पर इसे सम्पूर्ण सत्य नही माना जा सकता।

13. वस्तुतः परिस्थितियो पर विजय पानेवाले मनुष्यों ने ही प्रत्येक युग मे संसार को आगे बढाया है। जातियो का इतिहास व्यक्तियो का इतिहास है। महापुरुष एक अपूर्व शक्ति लेकर आते हैं और देश का नक्शा बदल देते है। क्रामवेल न होता तो इंग्लैंड का इतिहास और तरह से लिखा गया होता। नैपोलियन न हुआ होता तो फ्रांस की कहानी और ही तरह की होती। ऐसा देखा गया है कि एक-एक शक्तिशाली महापुरुष जाति को एक खास दिशा मे अग्रसर करते समय रास्ते में ही चल बसा और वह जाति अपनी समस्त जातिगत तथा ऐतिहासिक परम्पराओं और अनुकूल पारिपार्श्विक परिस्थितियो के बावजूद उभय-विभ्रष्ट छिन्न मेघ-खण्ड की भाँति विलीन हो गयी।

महापुरुष ही जातियों को बनाते हैं। वे देश को विशेष दिशा की ओर मोड देते हैं, वे साहित्य के स्रष्टा और ज्ञान के विधाता होते है। कबीरदास योगियों की अक्खडता, भक्तों की निरीहता और भारतीय साधकों की सामान्य विशेषता—आध्यात्मिक दृष्टि—के साथ ही अपना एक मस्ताना व्यक्तित्व लेकर पैदा हुए थे। सबकुछ को छोड़कर चल देने की घरफूंक मस्ती और फक्कड़ाना लापरवाही ने कबीरदास को भारतीय साहित्य का सबसे आकर्षक महापुरुष बना दिया है। अपने इसी अनन्य-साधारण व्यक्तित्व के कारण कबीरदास नवयुग की सृष्टि कर सके थे। कौन कह सकता है कि तुलसीदास केवल परिस्थितियो की उपज थे और वे न भी होते तो क्या किसी क. ख. ग. ने वैसा ही 'रामचरितमानस' लिख दिया होता? वस्तुतः ग्रन्थकार केवल परिस्थितियों की ही देन नही है, उसका व्यक्तित्व वह महत्वपूर्ण वस्तु है जो समाज में नया प्राणदान करती है और परिस्थितियो

को अपनी अभीष्ट दिशा में मोड़ देती है।

14. अब तक के वक्तव्य को कबीर के उदाहरण से इस प्रकार समझा जाय :

कबीरदास

1.	कालगत वैशिष्ट्य	भाषा और धर्म की लोकाभिमुखता, दो धर्म-संस्कृतियों का संघर्ष, हिन्दुओं का सांस्कृतिक उतार, ईश्वर पर अविचलित विश्वास, योग और तंत्र-प्रभाव इत्यादि।
2.	देशगत वैशिष्ट्य	
	(1) भारतीय	आध्यात्मिकता, पुनर्जन्म, नामजप, गुरुवाद, कर्मफल-वाद।
	(2) योग-प्रभाव	समाधि, प्राणायाम, काया-साधन की विविध बातें।
	(3) निचला सामाजिक स्तर	जातिगत वैषम्य की तीव्र अनुभूति, समाज-व्यवस्था पर कठोर आक्रमण।
	(4) भक्त-प्रभाव	निरीहता, नम्रता, प्रेम।
	(5) मुसलमानी प्रभाव	बेधड़क खण्डन, हीनता-ग्रन्थि का अभाव, सामाजिक समता में विश्वास।
3.	पूर्ववर्ती और समसामयिक	
	(1) पूर्ववर्ती	नाथपंथी और सहजयानियों की अक्खड़ता, आक्रमण-वृत्ति, पहेलियों की भाषा।
	(2) समसामयिक	सूफीमत, मुल्लों और पण्डितों का बाह्याचार, निरंजन पन्थ से साम्य आदि।
4.	जीवन	जुलाहे का काम, गरीबी, गृहस्थधर्म।
5.	व्यक्तित्व	फक्कड़, मस्त, आत्मविश्वासी, निरीह, बेपरवा, दृढ़।

15. लेखक का इस प्रकार अध्ययन हम इसलिए करते हैं कि उसने जो कुछ लिखा है उसे ठीक-ठीक समझ सकें और उस वक्तव्य का सम्पूर्ण आनन्द ग्रहण कर सकें। इसीलिए प्रधान बात तो वह वक्तव्य ही है जिसके लिए लेखक के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन आवश्यक साधन समझते हैं। वस्तुतः लेखक का वक्तव्य साहित्य का प्रधान विवेच्य है। अगर उसके पास कहने योग्य कोई वस्तु है और उक्त वक्तव्य में नवीनता, ताजगी और सार है, तो अन्यान्य सारी बातें

गौण हो जाती है। प्रतिभाशाली लेखक नये-नये साहित्यांगों और नये-नये साहित्यिक सम्प्रदायों को जन्म दिया करते हैं। कम शक्तिशाली लेखक उनका अनुकरण करके रूढ़ि-पालन किया करते है।

लेखक के वक्तव्य का रसास्वादन कराना ही साहित्यिक समालोचक का कर्त्तव्य है। इतना यहाँ अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि लेखक की वक्तव्य-वस्तु सब समय कोई नयी सूचना या तर्क-युक्ति नही होती। दुनिया की दृष्टि से उसका वाच्यार्थ (दे. 38) कभी-कभी नितान्त मामूली वस्तु हो सकती है। पर ऊपर-ऊपर से दीखनेवाले अर्थ असल मे महाकवि की वाणी को किसी बड़े सत्य की ओर इशारा करने के उद्देश्य से प्रयुक्त होते है (दे. 41)। इस प्रकार वक्तव्य-वस्तु का रसास्वादन कराना ही साहित्य-समालोचक का मुख्य कर्त्तव्य है, फिर भी इसके अतिरिक्त और उद्देश्यों से भी साहित्य का अध्ययन किया जाता है। हम सक्षेप में उसी का विवरण उपस्थित करने जा रहे हैं।

15 क. परन्तु सच्चा साहित्यकार वही है जो महान् साहित्य की रचना करे। साहित्य के मूल प्रेरणास्रोतो को खोज निकालने और समूचे साहित्य को मानव-कल्याण के लिए नियोजित करने की चेष्टा आज जितनी प्रबल है उतनी कभी नही थी, परन्तु साथ ही साहित्य-विचारक आज जितना साहित्यिक गतिरोध से चिन्तित हुआ है उतना कभी नही हुआ था। छोटी-छोटी बातों मे उलझना आज के साहित्यिक जीवन का प्रधान कार्य मान लिया गया है। साहित्य के लक्ष्य और उद्देश्य, आलोचक के कौशल और चातुर्य, साहित्यकार के सिद्धान्त और उद्देश्य आदि अस्पष्ट बातो को लेकर दलबन्दियाँ हो रही हैं, एक-दूसरे पर कटाक्ष करने, असत् अभिप्राय के आरोप करने और व्यक्तिगत स्तर पर छिद्रान्वेषण करने की प्रवृत्ति निरन्तर उग्र होती जा रही है। पर जो बात भुला दी गयी है कि वह यह है कि इन वादो से साहित्य आगे नहीं बढता। प्रायः देखा जाता है कि सिद्धान्तों की बात करते समय अत्यन्त ऊँचे और भव्य आदर्शों की बात करनेवाला लेखक वास्तविक साहित्य-रचना के समय ढुलमुल चरित्रों, गन्दी और घिनौनी परिस्थितियो, असन्तुलित बकवास के आवरण में आच्छादित वादानुवादों और मनुष्य के भीतर छिपे हुए पशु के विस्तारित विवरणो मे रस लेता है। यह सत्य है कि साहित्य नीतिशास्त्र की सूचियों का सग्रह नही होता, पर यह और भी सत्य है कि मनोविज्ञान और प्राणि-विज्ञान की प्रयोगशालाओं से उधार लिये हुए प्राणियो का मेला भी नही होता। जो साहित्य अविस्मरणीय दृढ़चेता चरित्रो की सृष्टि नही कर सकता, जो मानव-चित्त को मथित और चलित करनेवाली परिस्थितियों की उद्भावना नही कर सकता और मनुष्य के दु ख-सुख को पाठक के सामने हस्तामलक नही बना देता वह बड़ी सृष्टि नही कर सकता। जीवन के हर क्षेत्र मे यह सिद्धान्त समान रूप से मान्य है कि छोटा मन लेकर बड़ा काम नही होता। बड़ा कुछ करना हो तो पहले मन को बड़ा करना चाहिए। हमारी साहित्यिक आलोचना के अत्यन्त बौद्धिक और उद्देश्यान्वेषी वाद-विवादों में यही

बात भुला दी जाती है। 'साहित्य' नामक वस्तु साहित्यकार से एकदम अलग अन्य निरपेक्ष पिण्डतुल्य पदार्थ नहीं है। जो साहित्यकार अपने जीवन में मानव-सहानुभूति से परिपूर्ण नहीं है और जीवन के विभिन्न स्तरों को स्नेहार्द्र दृष्टि से नहीं देख सका है वह बड़े साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। परन्तु केवल इतना ही आवश्यक नहीं है, उसमें प्रेमपूर्ण हृदय के साथ अनासक्त बनाये रहनेवाली मस्ती भी होनी चाहिए। मानव-सहानुभूति से परिपूर्ण हृदय और अनासक्तिजन्य मस्ती साहित्यकार को बड़ी रचना करने की शक्ति देती है। हमारा साहित्यिक आलोचक बड़ी-बड़ी विदेशी पोथियों और स्वदेशी ग्रन्थों से सग्रह करके जितनी भी विवेचनाओं का वाग्जाल क्यों न तैयार करे, वह साहित्यिक गतिरोध नहीं दूर कर सकता। साहित्यिक गतिरोध दूर करते हैं विशाल हृदयवाले साहित्यिक। कुछ ऐसी हवा बही है कि साहित्यिक टाँय-टाँय तो बहुत बढ गयी है, पर सच्चा साहित्यकार उपेक्षित हो गया है।

सैद्धान्तिक वाद-विवाद आवश्यक है। पर उन्हीं में उलझ जाना ठीक नहीं है। वास्तविक साहित्यिक दुनिया मे क्या हो रहा है और किन कारणों से ऐसा हो रहा है, इस ओर भी हमारे आलोचकों का ध्यान जाना चाहिए। क्या कारण है कि हमारे मँजे हुए साहित्यिक प्रभावहीन ढुलमुल चरित्रों का निर्माण करते जा रहे है, होटलो की दुनिया मे सीमित हो गये हैं, पारिवारिक पवित्र प्रेम की उपेक्षा कर रहे हैं, उच्च शिक्षा-प्राप्त युवतियो की असन्तुलित जीवन-विकृतियों को महत्त्व दे रहे हैं और तथाकथित यथार्थवादी भावधारा से बुरी तरह आतंकित दिखायी दे रहे है? क्या साहित्य का लेखक सब प्रकार के सामाजिक उत्तरदायित्व से बरी हो गया है? क्या ज्ञान की अनुसन्धित्सा और शिक्षा के सभ्य दिखनेवाले वातावरण ने सचमुच ही हमारे सामाजिक जीवन मे विकृत दृष्टि उत्पन्न कर दी है?

साहित्य प्रभावशाली होकर सफल होता है। साहित्य प्रकाश का रूपान्तर है। कुछ आग केवल आँच पैदा करती है। जीवन के लिए उसकी भी आवश्यकता होती है। हमारे स्थूल जीवन के अनेक पहलू है। हमे नाना शास्त्रों की जरूरत होती है। परन्तु दीप-शिखा स्थूल प्रयोजनों के लिए व्यवहृत होने योग्य आँच नहीं देती। वह प्रकाश देती है। साहित्यकार जो कहानी लेता है, जिन जीवन-परिस्थितियों की उद्भावना करता है वह दीप-शिखा के समान आँच के लिए नहीं होती, बल्कि प्रकाश के लिए होती है। प्रभाव ही वह प्रकाश है। समूचे बाजार की ब्योरेवार घटनाएँ भी वह प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकतीं, जो एक-दो चरित्रों को ठीक से चित्रित करके उत्पन्न किया जा सकता है। उसी प्रकार बहुत-सी लकड़ियाँ जलकर भी उतना प्रकाश नहीं उत्पन्न कर पाती जितना एक छोटी-सी मोमबत्ती कर देती है। संसार के बड़े-बड़े साहित्यकारों ने यथार्थवादी कौशलों को इसलिए अपनाया था कि उनके सहारे वे पाठक को अपने नजदीक ले आते थे और उसके चित्त मे यह विश्वास पैदा करते थे कि लेखक उनसे कुछ भी छिपा नहीं रहा है। यही बात मुख्य नहीं हुआ करती। परन्तु बाद के अनुकरण

करनेवालो ने उन कौशलों को ही लक्ष्य समझ लिया। स्थानीय दृश्यों के ब्योरे-वार चित्रण, सामाजिक रीति-रस्मों का और उनकी प्रत्येक छोटी-बड़ी बातो का सिलसिलेवार निरूपण, वक्तव्य-वस्तु के लिए अत्यन्त अनावश्यक और नगण्य दिखनेवाली बातो का विस्तारित वर्णन, स्थान-कालोपयुक्त बोलियो, गालियो, मुहावरो आदि का प्रयोग, व्यावसायिक और पेशेवर लोगो के प्रसंग मे उनकी भाषा और भगियों का उल्लेख, सनदो, दलीलों, डायरी, सामाचारपत्रो का उपयोग—ये सब यथार्थवादी लेखन नही है, यथार्थवादी कौशल है। इनके द्वारा लेखक पाठक के हृदय मे अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करता है और अपने वक्तव्य की सच्चाई के सम्बन्ध मे आस्था उत्पन्न करता है। ये ही लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य है मनुष्य-जीवन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर के मनुष्यता के वास्तविक लक्ष्य तक ले जाने का सकल्प, मनुष्य के दुःखो को अनुभव करा सकनेवाली दृष्टि की प्रतिष्ठा और ऐसे दृढचेता आदर्श चरित्रो की सृष्टि जो दीर्घकाल तक मनुष्यता को मार्ग दिखाते रहे। जो साहित्यकार ऐसा नही कर पा रहा है उसमे कही-न-कही कोई त्रुटि है। बडे साहित्य का रचयिता ही बडा साहित्यकार है। कभी-कभी उल्टे रास्ते सोचने का प्रयास किया जाता है। हमारी साहित्यिक आलोचना मे हवाई बातो को छोड़कर ठोस रचनाओ को लेकर चर्चा चले तो अच्छा हो, व्यर्थ की दलबन्दियो और आरोप-प्रत्यारोपो के वाग्जाल मे कोई सार नही है। इनसे हमारी चित्तगत दरिद्रता का ही प्रदर्शन होता है। (दे. 77 क)

जातीय (राष्ट्रीय) साहित्य

16. समूची जाति (राष्ट्र) भी एक व्यक्ति-मनुष्य की भाँति है। जिस प्रकार व्यक्ति-मनुष्य कभी सोता है, कभी जागता है, कभी सोचता-विचारता है, कभी आनन्द के तराने छेड़ देता है, उसी प्रकार सारी जाति (राष्ट्र) भी अपने जीवन मे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में से गुजरती है। किसी रवीन्द्रनाथ के विचार जानने के लिए हम यह नही पूछते कि वे सपने मे क्या बड़बड़ाते थे, या अपने बच्चे को क्या कहकर डाँट रहे थे, या छुटपन मे तोतली बोली में कौन-सा शुद्ध या अशुद्ध उच्चारण कर रहे थे—यद्यपि मनुष्य रवीन्द्रनाथ को निविड़ भाव से अनुभव करने के लिए इन बातो के प्रति हमारी जिज्ञासा उचित है—और किसी खास विषय पर उनके विचार की जिज्ञासा के समय हम इन बातों को नही जानना चाहते बल्कि उनकी प्रौढ़ विचारधारा, नाप-तौलकर लिखे हुए वक्तव्य और सँवार-बनाकर कहे

हुए वाक्यों का अध्ययन करते हैं। ठीक यही बात जाति के विचारों के बारे में भी सत्य है।

यदि हमसे कोई पूछे कि भारतीय जाति ने क्या सोचा-विचारा है, उसकी बहुमूल्य चिन्ताराशि क्या है, तो हम उसे उस सम्पूर्ण साहित्य के उत्तम ग्रन्थों का निचोड़ सुनायेंगे जो वैदिक ऋषि से लेकर प्रेमचन्द तक महान् विचारकों ने रचे हैं।

महान् विचारक जाति की चिन्ताशील अवस्था के द्योतक हैं। इसीलिए किसी ग्रन्थकार के ग्रन्थ-विशेष को हम केवल उसी तक सीमित रखकर अध्ययन नहीं करते बल्कि उसे समूचे भारतीय साहित्यरूपी विराट् ग्रन्थ के एक अध्याय के रूप में भी देखते हैं। कालिदास और तुलसीदास भारतीय मनीषा की दो भिन्न तहों के परिचायक हैं।

इसीलिए जब हम किसी साहित्य के इतिहास को पढ़ने बैठते हैं तो वस्तुतः उस जाति की सम्पूर्ण चिन्ताराशि, अनुभूति-परम्परा और संवेदनशीलता का परिचय पाना चाहते है। कालिदास, भवभूति, तुलसीदास और बिहारी परस्पर जितने भी भिन्न क्यों न हों, वे वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय जाति (राष्ट्र) की भिन्न-भिन्न अवस्था और अनुभूति-परम्परा के परिचायक हैं।

17. (क) हमने ऊपर देखा कि ग्रन्थकार के अध्ययन के लिए उसके काल की जानकारी आवश्यक है। परन्तु विरोधाभास यह है कि बिना ग्रन्थकारों के हम विभिन्न काल-धर्म की जानकारी प्राप्त ही नहीं कर सकते। गुप्त-कालीन ग्रन्थों के आधार पर ही मुख्यतया हम गुप्त-काल को समझ सकते है। इसीलिए जाति के भिन्न-भिन्न काल की रीति-नीति, आचार-विचार, वेश-भूषा, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-कर्म समझने के लिए भी साहित्य का अध्ययन करते हैं। ऐसा करके हम उस युग के प्राचीन मनुष्य को तो आमने-सामने पाते ही है, अपने-आपको भी ठीक-ठीक समझते है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि साहित्य की रचना और उसके अध्ययन दोनों ही कार्यों के लिए मूल मनोभाव हमें बराबर सचेष्ट करते रहते है। कालिदास के ग्रन्थों से हम जानते है कि—उन दिनों नागरिक लोग किस बात में रस पाया करते थे? नगर की सुन्दरियाँ कैसा शृंगार करती थीं? प्रकृति की किन वस्तुओं से कौन-सी सौन्दर्य-वर्धक सामग्रियाँ सग्रह की जाती थीं? राजपुरुष कैसे होते थे? राजा और प्रजा का सम्बन्ध कैसा था? और उस समय के सामाजिक लोग किस प्रकार नाच-गान, उत्सव आदि का आनन्द लेते थे? कालिदास हमारे सामने अपने जमाने के स्त्री-पुरुषों को प्रत्यक्ष उपस्थित कर देते है। हम उनके सुख-दुःख, आनन्द-मंगल और आचार-विचार को निविड़ भाव से अनुभव करते है। कालिदास के सरस ग्रन्थों में उस युग को हम जिस जीवन्त रूप में पाते हैं, उतने जीवित रूप में हम उस युग की किसी राजकीय विवरण-पुस्तिका (जो कदाचित् कहीं से मिल जाय) में नहीं पा सकते।

(ख) जाति का ठीक-ठीक परिचय केवल औत्सुक्य की शान्ति के लिए ही

आवश्यक नहीं है, जिस युग में हम वास कर रहे हैं उसमें शान्तिपूर्वक वास करने के लिए भी हमें विभिन्न जातियों की जानकारी ठीक-ठीक होनी चाहिए। राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थवश और अपने संस्कारों के कारण एक जाति दूसरी को गलत समझती है। आजकल यह बात बहुत जटिल रूप धारण कर गयी है। यद्यपि वैज्ञानिक उन्नति ने देश और काल के व्यवधान को कम कर दिया है, परन्तु मानसिक संकीर्णता उसी अनुपात में कम नहीं हुई है, जिसका परिणाम पारस्परिक अविश्वास, युद्ध, विग्रह, कलह और रक्तपात होता है।

हम पहले ही देख चुके है कि उत्तम ग्रन्थ जाति के ठीक-ठीक परिचायक है। उसकी आशा-आकांक्षा, गुण-दोष, आचार-विचार आदि को उसके महान् ग्रन्थ ही ठीक-ठीक उपस्थित करते है। इसलिए जातीय (राष्ट्रीय) साहित्य के उत्तम ग्रन्थों का अध्ययन और प्रचार मानव-समाज की भावी सुख-शान्ति के लिए भी आवश्यक है। शेक्सपियर को पढ़कर हम अंग्रेज जाति की जिस भीतरी सहृदयता का परिचय पाते है, वह विदेशी लेखकों की लिखी हुई सैकड़ों यात्रा-विवृतियों से भी नहीं पा सकते।

परिचय-ग्रन्थ किसी खास प्रयोजन से लिखे जाते है या किसी खास सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए लिखे जाते हैं। इसलिए उनमें द्रष्टा के विचार ही प्रधान हो उठते है। इस श्रेणी के लेखक उस जाति का परिचय कराने के बदले उस जाति-सम्बन्धी अपने विचारों पर ही अधिक जोर देते है। फलतः उससे गलतफहमी पैदा होने या बढ़ने की आशंका रहती है। मिस मेयो की 'मदर इण्डिया' में इस देश को इतने भद्दे रूप में उपस्थित किया गया था कि उससे सारे संसार में भारतवर्ष के प्रति घृणा का भाव बढ़ जाता।

(ग) ऊपर जो बात परिचय-ग्रन्थ के लेखक को लक्ष्य करके कही गयी है वह थोड़ी-बहुत मात्रा में कवि, नाटककार और उपन्यास-लेखक में भी अवश्य रहती है। परन्तु उससे हमारे अध्ययन में विशेष बाधा नहीं पड़ती। हम जानते है कि लेखक का अपना विशेष दृष्टिकोण है और वह भी उस विशेष दृष्टिकोण से देखने पर ही निरन्तर जोर देता रहता है। फिर भी वह जीवित मनुष्य को दिखाता है, उनकी छाया या कंकाल को नहीं। इसीलिए यद्यपि उसके विशेष दृष्टिकोण से हम द्रष्टव्य के विशेष पहलू को देखते है, परन्तु फिर भी हम निष्प्राण ठठरियों के समस्त पहलुओं को देखने की अपेक्षा सच्ची और काम की चीज देखते है। एक काम की चीज का देखना सौ बेकार और बेजान ठठरियों को देखने की अपेक्षा निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

18. ऊपर की बात को एक उदाहरण से समझा जाय :

हिन्दी के प्रसिद्ध औपन्यासिक प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित और अपमानित कृषकों की आवाज थे। पर्दे में कैद, पद-पद पर लाञ्छित और अपमानित असहाय नारी-जाति की महिमा के जबर्दस्त वकील थे और गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। व्यक्तिगत रूप से वे मनुष्य की सद्वृत्तियों में विश्वास रखते थे

ओर उसकी दुर्वृत्तियों को अजेय तो मानते ही नही थे, उन्हें भावरूप में स्वीकार भी नही करते थे। वे मानते थे कि जड़ोन्मुखी सभ्यता ने हमें जड़ता को ही प्रधान और सग्रहणीय मानने की ओर प्रवृत्त किया है। इसी की बदौलत हम आज भीड़-भभ्भड़ को, दिखाव-बनाव और टीम-टाम को महत्त्व देने लगे हैं। ये वस्तुएँ मनुष्य को महान् नही बनाती बल्कि उसके मन को दुर्बल और आत्मा को सशंक बना देती हैं।

व्यक्ति का आत्मबल उसकी जड़-पूजा से अवरुद्ध हो जाता है। जिसके पास ये जड़-बन्धन जितने ही कम होते है, वह उतनी ही जल्दी सत्यपरायण हो जाता है। 'रंगभूमि' का गरीब सूरदास धनी विनय की तुलना में शीघ्र प्राप्य और स्थायी आत्मबल का अधिकारी हो जाता है। यह प्रेमचन्द का अपना दृष्टिकोण है। इस विशेष दृष्टि से दुनिया को देखने के लिए ही वे अपने पाठक को निमन्त्रित करते है, परन्तु फिर भी उनकी रची हुई दुनिया सत्य है। अगर कोई उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकाक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहे तो प्रेमचन्द से अधिक उत्तम परिचायक इस युग मे नही पा सकेगा। झोपड़ियों से लेकर महलो तक, खोमचों से लेकर बैंकों तक, ग्राम-पंचायतो से लेकर धारा-सभाओं तक उसे इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिकता के साथ कोई दूसरा नही ले जा सकता।

कोई भी जिज्ञासु, प्रेमचन्द की अंगुली पकड़कर बेखटके मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर की मानवती बहू को, कोठे पर बैठी हुई वार-विलासिनी को, रोटियो के लिए ललकते हुए भिखमगे को, कूट-परामर्श मे लीन गोयन्दो को, ईर्ष्यापरायण प्रोफ़ेसरो को, दुर्बल-हृदय बैंकरो को, साहसी चमारो को, ढोंगी पण्डित को, फरेबी पटवारी को और नीचाशय अमीर को देख सकता है और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकता है कि जो कुछ उसने देखा है वह गलत नही है। इससे अधिक सचाई के साथ दिखा सकनेवाले परिदर्शक को हिन्दी और उर्दू की दुनिया नही जानती। पर सर्वत्र ही वह लक्ष्य करेगा कि जो संस्कृतियों और सम्पदाओ से लद नही गये है, जो अशिक्षित और निर्धन है, जो गँवार और जाहिल समझे जाते है वे उन लोगों की अपेक्षा अधिक आत्मबल दिखाते हैं जो शिक्षित हैं, जो सम्पन्न है, जो चतुर हैं, जो दुनियादार है।

यह प्रेमचन्द का अपना विशेष दृष्टिकोण है। इससे हम उत्तर-भारत की जनता को देखने की एक विशेष दृष्टि पाते हैं, परन्तु यह दृष्टि हमे उस जनता के वास्तव रूप को समझने में बाधक नही है। यह वास्तव मे परिचय के अतिरिक्त हमारा अधिक लाभ है। परन्तु जब भारतवर्ष का कोई परिचय-लेखक अपनी विशेष उद्देश्य-सिद्धि के लिए ग्रन्थ लिखता है और बताता है कि इस प्रकार के वायुमण्डल और तापमान में रहनेवाले आदमी आलसी, कल्पनाशील और काम-चोर होंगे ही तो बहुत-कुछ छोड़ देता है, बहुत-कुछ जोड़ देता है और बहुत-कुछ अपने मन से गढ लेता है। हम सब उसका विश्वास नही कर सकते।

18क. इस युग में ज्यों-ज्यों भिन्न-भिन्न समुदायों की चिन्ताएँ एक-दूसरे के निकट आती गयी हैं, त्यों-त्यों प्राचीन रूढ़ियों से उनका छुटकारा होता गया है। जिस प्रकार अन्यान्य शास्त्रों में, उसी प्रकार कविता, चित्रकला, मूर्तिकला आदि में भी, एक सार्वभौम भित्ति पर सारे संसार के मनीषियों का ध्यान केन्द्रित होता रहा है। नये वैज्ञानिक आविष्कार इसमें बहुत अधिक सहायक हुए हैं। एकदेशी कल्पनाएँ और उनकी पोषक परम्पराएँ टूट गयी हैं; जहाँ नहीं टूटी हैं, वहाँ टूटने की ओर बढ़ रही हैं। काव्य को समझने का भौगोलिक दृष्टिकोण जो उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय पण्डितों में एक बार अत्यधिक प्राधान्य लाभ कर गया था, आज बुरी तरह गलत साबित हुआ है। यद्यपि भारतवर्ष के सद्यःप्रबुद्ध समालोचक अब भी इस व्याख्या का स्वप्न देखते रहते हैं —विशेषकर धार्मिक क्षेत्रों में—तथापि वह अपनी गतिशीलता खो चुकी है। इस दृष्टि से संसार के इतिहास को देखनेवालों ने मनुष्य के काव्य-नाटकादि ललित-कलाओं से लेकर आचार-विचार, आहार-निद्रा आदि क्रियाओं तक को देश-विशेष की भौगोलिक परिस्थिति की उपज बताया था। भारतवर्ष-जैसे उष्णकटिबन्धीय देश में रहनेवाले आदमी स्वभावतः ही आलसी, केवल कल्पनाशील, कामचोर और परलोकप्रवण होंगे, पर साइबेरिया में रहनेवाले का जीवन प्रकृति से लड़ाई करने में बीतेगा। उसके सामने वास्तविकताएँ इतना कठोर रूप लेकर उपस्थित होंगी कि वह कल्पना-विहार का अवकाश ही नहीं पा सकेगा। उसका साहित्य भी वैसा ही होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भौगोलिक कारण जाति को विशेष रूप देने में बहुत-कुछ कारण बन जाते हैं, पर यही सब-कुछ नहीं है। भारतवर्ष में इस दृष्टि से देखने का सर्वाधिक विकृत रूप साम्प्रदायिक सभा-मंचों के उपदेशकों के मुख से सुनायी देता है, जब वे भारतवर्ष की सती-साध्वियों में, यहाँ की धर्म-प्राण जनता में, यहाँ के धर्म पर कुर्बान होनेवाले धर्मवीरों में कुछ ऐसी विशेषता बताया करते हैं, जो यहीं है और कहीं हो ही नहीं सकती। इस दृष्टिकोण से जिन्होंने भी दुनिया देखी है, उन्होंने मनुष्य की अपेक्षा उसकी रूढ़ियों को अधिक देखा है। अब जब कि रूढ़ियाँ टूटने लगी हैं, भारत की सती-साध्वियों में कोई ऐसी विशेषता नहीं दीखती जो यूरोप की सती-साध्वियों में न हो। यहाँ की धर्मप्राण जनता कभी भी ऐसी हड़ताल नहीं करती, जो रूस या इंग्लैंड के कारखाने में काम करनेवाली जनता ने न की हो।

रीतिकाल की रूढ़ियाँ जब बीसवीं शताब्दी के कवियों के अज्ञान, उपेक्षा और विरोध के कारण टूट गयीं, तो हिन्दी में भी अंग्रेजी के 'रोमांटिक' कवियों का स्वर सुनायी देने लगा। असहयोग-आन्दोलन के बाद यह उत्तरोत्तर साफ होता गया।

इन कवियों ने बाह्यजगत् को अपने अन्तर के योग से उपलब्ध किया; अपनी रुचि, कल्पना और सुख-दुःख में गूँथकर संसार को देखा; हिन्दी-कविता में सैकड़ों वर्ष जिस वैयक्तिकता (individuality) का प्रवेश नहीं हुआ था—जो भौगोलिक व्याख्या के अनुसार भारतीय मनीषी की विशेषता होनी चाहिए थी—वह एक ही धक्के में दरवाजा तोड़कर सामने आ खड़ी हुई। पिछले पन्द्रह वर्षों में भारतीय कवि की वैयक्तिकता ही प्रधान प्रतिपाद्य काव्य-सामग्री रही है। पर लक्षणों मे जान पड़ता है कि उसके भी दिन गिने जा चुके हैं। अब तक कवि चाहे कल्पना के द्वारा इस जगत् की विसदृशताओं से मुक्त एक मनोहर जगत् की सृष्टि कर रहा हो, या चिन्ता द्वारा किसी अज्ञात रहस्य के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा कर रहा हो, या अपनी अनुभूति के बल पर पाठक के वासनान्तर्विलीन मनोभावों को उत्तेजित कर रहा हो—सर्वत्र उसकी वैयक्तिकता ही प्रधान हो उठती रही है। अत्यन्त आधुनिक कवि इस भावुकता को पसन्द नहीं करता। वह वस्तु को आत्मनिरपेक्ष भाव से देखने को ही सच्चा देखना मानता है। यह बात उसके निकट सत्य नहीं है कि वस्तु को उसने कैसा देखा, बल्कि यह कि वस्तु उसके बिना भी वैसी है। इस वैज्ञानिक चित्तवृत्ति का प्रधान आनन्द कौतूहल में है, उत्सुकता में है, आत्मीयता में नहीं। और जैसा कि इस विषय के पण्डितों ने बताया है, विश्व को व्यक्तिगत आसक्त भाव से न देखकर तद्गत और अनासक्त भाव से देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण से जगत् को देखने का प्रयत्न करना है। यद्यपि इस दृष्टि का अधिक विनियोग आर्थिक परिस्थिति को समझने में किया गया है, या यों भी कहा जा सकता है कि समाज की वर्त्तमान परिस्थिति को आर्थिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया गया है, तथापि यही उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। हमारी विचारधारा की वास्तविक नवीनता इस बात में नहीं है कि हमने संसार को व्यक्तिगत रुचि-अरुचि की दृष्टि से देखा है या आर्थिक दृष्टि से—वस्तुतः व्यक्तिगत दृष्टि और आर्थिक दृष्टि का विरोध नहीं भी हो सकता है—बल्कि यह कि हमने ससार को अपने सत्-असत् के संस्कारों की दृष्टि से नहीं, बल्कि इन संस्कारों से मुक्त बुद्धि के द्वारा देखने का प्रयास किया है। दोनों का अन्तर दोनों दृष्टिकोणों के विकास से समझा जा सकता है।

18 ख. यह मानने मे कोई सकोच नहीं होना चाहिए कि हमारी आधुनिक दृष्टि-भंगी यूरोपीय ससर्ग का फल है। इसके पहले हमारी दुनिया एक प्रकार से तय हो चुकी थी। हमारी सत्-असत् सम्बन्धी धारणाएँ हमेशा के लिए मानो स्थिर हो चुकी थी। यूरोप में भी ऐसा ही एक युग था। परन्तु वैज्ञानिक आविष्कारों ने वहाँ के सोचनेवाले आदमियों के मस्तिष्क में एक प्रकार की अशान्ति ला दी। किसी ने कहा है कि ज्योतिष का यह आविष्कार कि पृथ्वी समस्त ग्रहनक्षत्र-मण्डल के केन्द्र में नहीं है, यूरोपीय मस्तिष्क के ऊपर सबसे पहली और सबसे जोरदार चोट थी। उसकी समस्त धार्मिक और आध्यात्मिक कल्पना, सारा पौराणिक विश्वास, समस्त रूढ़ियाँ इस चोट से तिलमिला गयी। विज्ञान प्रसारित होता

गया, धर्मविश्वास संकुचित। प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार अठारहवीं शताब्दी मे ईश्वर और धर्म को पीछे ढकेलता गया, अन्त मे उन्नीसवी शताब्दी में ये दोनों वस्तुएँ---'कहियतु भिन्न-न-भिन्न'---सम्पूर्णतया पृष्ठभूमि में आ गयी। पर मनुष्य अपने-आप अत्यधिक विश्वासपरायण हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी जिस प्रकार नास्तिकता-प्रधान युग है, उसी प्रकार आत्मविश्वासपरायण भी। इस काल में सारे संसार में आदर्शवादियो का प्राधान्य था। आज भी जहाँ कहीं बड़े-बड़े आदर्शवादी दीख रहे हैं, वे उसी शताब्दी के भग्नावशेष है। इन आदर्शवादियों ने संसार की वास्तविकता की तरफ नही ध्यान दिया, बल्कि अपना सारा ध्यान एक आदर्श दुनिया को गढने मे केन्द्रित रखा--- जहाँ मनुष्य क्षुद्र स्वार्थ का शिकार न होकर सेवा का विधाता होगा; जहाँ धर्म मनुष्य का मार्गदर्शक न होकर मनुष्य द्वारा परिचालित होगा, जहाँ का सबसे बड़ा सत्य मनुष्य है। इस आदर्श के उन्नयन के साथ-ही-साथ आत्मसापेक्ष दृष्टि अपने-आप अनजान मे ही, प्राधान्य लाभ करती गयी। अपनी भावनाओं के रंग मे दुनिया को रँगकर देखने का अभ्यास बढता गया। हिन्दी का वैयक्तिकता-प्रधान साहित्य उसी का अन्तिम प्ररोह था। पहले वह समाज-सुधार के क्षेत्र मे दिखायी दिया और बाद में उसने अन्यान्य क्षेत्रो को भी बुरी तरह से आच्छादित कर लिया। न जाने किस अमूलदर्शी ने कविता मे उसका नाम छायावाद चला दिया! परन्तु विचार की दुनिया मे एक बार जो अशान्ति घुस गयी थी वह फिर भी अशान्ति बनी रही। वैज्ञानिक प्रगति ने बेचैनी बढाने का ही काम किया। जीवन को देखने के दृष्टिकोण मे फिर जबर्दस्त परिवर्तन हुआ। मार्क्स और फ्रायड ने समाज और व्यक्ति को देखने का नया चश्मा दिया। समाज का जो अंश सर्वाधिक उपेक्षित रहा, वह तेजी से प्रधान स्थान प्राप्त करता गया। व्यक्ति को समझने के लिए भी उसके चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन की प्रधानता स्थापित हो गयी। आदर्शवाद को इन दोनो बातों से चोट पहुँची। फ्रायड ने कहा है कि मनुष्य वस्तुत: वैसा नही है जैसा कि वह स्पष्ट ही दीख रहा है, प्रत्युत वह वैसा है जैसा कि अपने को चेष्टापूर्वक नहीं दिखाना चाह रहा। चेतन के द्वारा नही, अवचेतन के द्वारा मनुष्य को पहचाना जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य के समस्त काव्य, समस्त कला, समस्त धर्माचरण एक नये रूप में प्रकट हुए। हम दुनिया को जैसा देख रहे है, जितने सदाचार हैं, जितने कायदे-कानून है, जो कुछ नैतिकता-विधान है, सब वस्तुत: वैसे नहीं हैं। मार्क्स ने कहा है कि इन विधानों का कारण कोई वास्तव सत्य नहीं है बल्कि आर्थिक परिस्थिति है। दोनों दृष्टियों से आपातत. साधु दृश्यमान आदर्शवाद थोथा ही दीखने लगा। इस प्रकार मानवीय चिन्ता दूसरी बार अपने सस्कारो को झाडकर देखने का प्रयास करने लगी। काव्य को, समाज को, धर्म को, राजनीति को--- सबको उसने तद्गत और अनासक्त भाव से देखने का प्रयास किया। पहली चिन्ता मे व्यक्ति प्रधान था, दूसरी में दृश्य प्रधान हो गया। पहली का दृश्य द्रष्टा के मन से विमुक्त होकर सामने जाता था, दूसरी का द्रष्टा दृश्य के पीछे छिप जाता है। यही नया दृष्टिकोण

है। इस दृष्टि से, जैसा कि एक रूसी आलोचक ने हाल ही में कहा है, अब तक कलाकार की वैयक्तिकता के प्रकाशन में, रीति-ग्रन्थों में, निजी कल्पनाओं में और रूपहीन (abstract) चिन्ताओं में कला का वंभाजन ही प्रकट हुआ है। और जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा था, दो कारणों से इस कविता की भाषा और शैली में भी परिवर्त्तन हुआ है। एक तो विषय को जब अनासक्त और तद्‌गत भाव से देखा जाता है, तब स्वभावतः ही भावुकता को स्थान नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में कवि वैज्ञानिक-जैसी गद्यमय भाषा लिखता है। दूसरे, विषय की नवीनता को सम्पूर्ण रूप से अनुभव करने के लिए वह जान-बूझकर ऐसी भाषा और शैली का व्यवहार करता है जो पाठक के मन को इस प्रकार झकझोर दे कि उस पर से प्राचीनता के संस्कार झड़ जायें। वे ऐसी उपमाओं, ऐसे रूपकों और ऐसी वक्रोक्तियों का व्यवहार करते हैं जो केवल नवीन ही नहीं अद्‌भुत भी जँचें। ऐसे काव्य में मेंढक और कुकुरमुत्ते केवल इसलिए व्यवहृत हो सकते हैं कि पाठक के चित्त को जोर से झकझोर दें, यद्यपि उसका अन्तर्निहित तत्त्व यह भी हो सकता है कि समुद्र और सूर्य अपनी महत्ता में जितने सत्य हैं उतने ही सत्य मेंढक और कुकुरमुत्ते भी हैं। जब तक द्रष्टा अपनी रुचि-अरुचि से मानकर सृष्टि को देखेगा तब तक वह इस महत्ता का अनुभव नहीं कर सकेगा।

परन्तु इस दृष्टिकोण का बहुत ही व्यापक प्रभाव स्वयं दृश्य या दृष्टव्य पर पड़ा है। अब तक काव्य, साहित्य, नृत्य आदि ललित और धर्मात्मक कलाएँ अपने-आप में अध्येतव्य थीं। अन्यान्य ज्ञान-विज्ञान के साधन से हम इन्हें समझने का प्रयत्न करते थे। अब समझा जाने लगा है कि वस्तुतः ये स्वयं अध्येतव्य विषय नहीं हैं, ये साध्य भी नहीं हैं, ये साधन हैं। इनके द्वारा हम किसी और को समझ सकते हैं। पदार्थ-विज्ञान और भूगर्भ-विद्या की भाँति ये भी अपने-आपमें सम्पूर्ण नहीं हैं। वह साध्य वस्तु क्या है, जिसकी साधना के लिए काव्य, नाटक और नृत्य-चित्र-मूर्त्ति-कलाएँ साधन हैं। वह जीवन है। जीवन समझने के लिए ही यह सारा टण्टा है। जीवन, जिसकी उद्दाम लहरें नाना स्तरों में प्रवाहित होकर किसी अज्ञात दिशा की ओर भागी जा रही हैं। 'अपारे काव्य-संसारे' का प्रजापति कवि उन सैकड़ों स्तरों में से एक स्तर है, जिसके रूप में जीवन-महासमुद्र की तरंगें प्रकट हो रही हैं। उससे हम समुद्र की गम्भीरता और उसके विस्तार की खोज पा सकते हैं, वह स्वयं ज्ञातव्य, गम्भीर्य या विस्तार नहीं है। विश्व उस प्रकार गठित नहीं हो रहा है, जैसा कवि को रुचता है बल्कि विश्व को जैसा रुचता है, वह वैसा ही उसके भीतर

साहित्य का व्याकरण

19. कोई भी पुस्तक कुछ शब्दों का संघात है। शब्दों के समूह ही तो पुस्तक कहलाते हैं। परन्तु वे शब्द सजाकर इस प्रकार रखे गये होते हैं कि उनसे हम एक अर्थ पाते रहते है। इनमे कुछ संज्ञा शब्द है, कुछ क्रियापद है, कुछ विभक्तियाँ है, कुछ उपसर्ग हैं, कुछ प्रत्यय हैं और फिर इन सबका एक सामजस्यपूर्ण सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही बड़ी चीज है, क्योंकि यह न रहे तो शब्दों से कुछ अर्थ निकलना असम्भव हो जाय। इस सम्बन्ध को बतानेवाले शास्त्र को व्याकरण कहते है।

साहित्य का भी अपना व्याकरण है। इसे अलकार-शास्त्र कहते है और इस शास्त्र के आचार्यों को आलकारिक। यह शास्त्र शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय को लेकर सिर नही खपाता बल्कि शब्द और अर्थ की मनोहारिणी व्याख्या करता है। इस शास्त्र मे शब्द की शक्तियाँ, उसका अर्थ, रस, गुण, दोष और अलकार की विवेचना होती है। साहित्य के विद्यार्थी को इन बातों की जानकारी जरूर होनी चाहिए और उसे यह भी मालूम होना चाहिए कि साहित्य के रसास्वादन मे इस शास्त्र की मर्यादा का क्या महत्त्व है। इन बहुत जरूरी बातों की चर्चा हम यहाँ संक्षेप मे कर लें तो अच्छा रहेगा। यह विषय बहुत शास्त्रीय है, पर यहाँ चर्चा करते समय इसे कम-से-कम शास्त्रीय ढंग से कहेंगे। सहज करके कहना ही हमारा उद्देश्य है।

20. 'शेर' शब्द के सुनते ही हमारे सामने जो एक विशेष प्राणी का रूप उपस्थित हो जाता है उसका कारण क्या है? आलंकारिक लोग कहते है कि शब्द की एक विशेष शक्ति होती है जिसके द्वारा 'शेर' शब्द का अर्थ एक विशेष प्रकार का जीव होता है, नाव या महल नही। इस शक्ति का नाम अभिधा-वृत्ति है। यह शक्ति शब्द के उस अर्थ को बताती हैं जो कोष और व्याकरण से प्राप्त है, जो परम्परा से एक आदमी दूसरे से सुनता और सीखता आ रहा है। आलकारिक लोग इस बात को कहने के लिए एक बड़ा लम्बा-सा शब्द व्यवहार करते है। यह शब्द है 'साक्षात्-संकेतित', अर्थात् 'शेर' शब्द कहने से एक जीव-विशेष का ज्ञान होता है, बीच मे कोई बाधा नही पड़ती। यह साक्षात्-सकेतित अर्थ कोष से, व्याकरण से और व्यवहार से तथा विश्वसनीय व्यक्ति से जाना जा सकता है। इस शक्ति के द्वारा जो अर्थज्ञान होता है उसे अभिधेय या वाच्य-अर्थ (वाच्यार्थ) कहते है।

21. लेकिन जब कहा जाय कि 'लड़का शेर है' तो स्पष्ट ही 'शेर' शब्द का वाच्यार्थ काम नही दे सकता। दुनिया जानती है कि लड़का आदमी है, शेर नहीं; फिर भी भाषा में ऐसे प्रयोग बराबर ही होते है और समझनेवाले समझ भी लेते है। जब कहा जायगा कि लड़का शेर है तो समझदार आदमी समझेगा कि लड़का वीर है, साहसी है, निर्भीक है। सारे हिन्दी 'शब्द-सागर' को खोजने

अन्तिम दो लक्षणाओं में आरोप के आधार और आरोप्यमाण में कोई-न-कोई सम्बन्ध होता है। 'ब्राह्मण गाय है' इस वाक्य में ब्राह्मण और गाय में निरीहता नामक गुण का सादृश्य है। गुणों का सादृश्य जिनमें होता है, उन लक्षणाओं को 'गौणी-लक्षणा' कहते हैं। किन्तु गुण सादृश्य के अतिरिक्त और किसी सम्बन्ध से लक्षणा हुई हो तो उसे शुद्धा कहते है। इस प्रकार अन्तिम दो लक्षणाओं में से गौणी और शुद्धा नाम से दो-दो भेद होते है। अर्थात् सब मिलाकर छ प्रकार की लक्षणाएँ हुईं: लक्षण-लक्षणा, उपादान-लक्षणा, गौणी सारोपा-लक्षणा, शुद्ध सारोपा-लक्षणा, गौणी साध्यवसाना-लक्षणा और शुद्धा साध्यवसाना-लक्षणा।

नीचे के कोष्ठक से प्रयोजनवती लक्षणा के 6 भेद स्पष्ट होगे :

इस प्रकार गौणी के दो और शुद्धा के चार ये कुल 6 लक्षणाएँ है। लक्षणा के प्रसंग में हम बराबर 'प्रयोजन' की बातें करते आ रहे है। यह प्रयोजन न तो वाच्यार्थ होता है और न लक्ष्यार्थ। यह वस्तुत: व्यग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ भी आचार्यो ने दो प्रकार के बताये है—(1) गूढ़, और (2) अगूढ़। गूढ़व्यंग्य को वही समझ सकता है जो मर्मज्ञ हो, पर अगूढ-व्यंग्य सहज ही समझ में आ जाता है। ऊपर बतायी हुई लक्षणा के छहों भेदों में से प्रत्येक लक्षणा गूढव्यंग्या और अगूढव्यंग्या भेद से दो-दो प्रकार की बतायी गयी है। इनके उदाहरणादि लक्षण-ग्रन्थों में देखने चाहिए।

23. अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त शब्द की एक तीसरी शक्ति भी आलंकारिक आचार्य मानते है। इन आलंकारिकों के सिवा अन्य शास्त्रकार इस तीसरी वृत्ति को नही मानना चाहते। इस तीसरी शक्ति का नाम व्यंजना है। इससे जो अर्थ सूचित होता है उसे व्यंग्यार्थ कहते है। पहले जिन दो वृत्तियो की चर्चा हुई है उनसे यह भिन्न प्रकार की है। अभिधा और लक्षणा केवल शब्द के बल पर ही काम करती है, या अर्थ के बल पर भी। इसीलिए इनके दो भेद किये गये हैं — शाब्दी और आर्थी। यह व्यंजना अभिधामूलक भी होती है, लक्षणामूलक भी होती है और व्यंजनामूलक भी होती है। सास ने बहू से कहा, 'सूर्य अस्त हो गया।' बहू ने इसका अर्थ समझा कि दीपक जलाओ। यह अर्थ वाच्य नही हो सकता, क्योकि सूर्य का दीपक अर्थ और अस्त होने का जलाना अर्थ किसी प्रकार साक्षात्संकेत नहीं है। फिर यह अर्थ लक्ष्य भी नही है; क्योंकि लक्षणा की पहली

अन्तिम दो लक्षणाओं में आरोप के आधार और आरोप्यमाण में कोई-न-कोई सम्बन्ध होता है। 'ब्राह्मण गाय है' इस वाक्य में ब्राह्मण और गाय मे निरीहता नामक गुण का सादृश्य है। गुणों का सादृश्य जिनमें होता है, उन लक्षणाओ को 'गौणी-लक्षणा' कहते है। किन्तु गुण सादृश्य के अतिरिक्त और किसी सम्बन्ध से लक्षणा हुई हो तो उसे शुद्धा कहते है। इस प्रकार अन्तिम दो लक्षणाओ में से गौणी और शुद्धा नाम से दो-दो भेद होते है। अर्थात् सब मिलाकर छ. प्रकार की लक्षणाएँ हुई: लक्षण-लक्षणा, उपादान-लक्षणा, गौणी सारोपा-लक्षणा, शुद्ध सारोपा-लक्षणा, गौणी साध्यवसाना-लक्षणा और शुद्धा साध्यवसाना-लक्षणा।

नीचे के कोष्ठक से प्रयोजनवती लक्षणा के 6 भेद स्पष्ट होगे :

इस प्रकार गौणी के दो और शुद्धा के चार ये कुल 6 लक्षणाएँ है। लक्षणा के प्रसंग में हम बराबर 'प्रयोजन' की बातें करते आ रहे है। यह प्रयोजन न तो वाच्यार्थ होता है और न लक्ष्यार्थ। यह वस्तुत. व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ भी आचार्यो ने दो प्रकार के बताये है—(1) गूढ, और (2) अगूढ़। गूढव्यंग्य को वही समझ सकता है जो मर्मज्ञ हो, पर अगूढ़-व्यंग्य सहज ही समझ में आ जाता है। ऊपर बतायी हुई लक्षणा के छहों भेदों में से प्रत्येक लक्षणा गूढव्यग्या और अगूढव्यग्या भेद से दो-दो प्रकार की बतायी गयी है। इनके उदाहरणादि लक्षण-ग्रन्थों में देखने चाहिए।

23. अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त शब्द की एक तीसरी शक्ति भी आलकारिक आचार्य मानते है। इन आलंकारिको के सिवा अन्य शास्त्रकार इस तीसरी वृत्ति को नही मानना चाहते। इस तीसरी शक्ति का नाम व्यजना है। इससे जो अर्थ सूचित होता है उसे व्यंग्यार्थ कहते है। पहले जिन दो वृत्तियों की चर्चा हुई है उनसे यह भिन्न प्रकार की है। अभिधा और लक्षणा केवल शब्द के बल पर ही काम करती है, या अर्थ के बल पर भी। इसीलिए इनके दो भेद किये गये हैं — शाब्दी और आर्थी। यह व्यंजना अभिधामूलक भी होती है, लक्षणामूलक भी होती है और व्यंजनामूलक भी होती है। सास ने बहू से कहा, 'सूर्य अस्त हो गया।' बहू ने इसका अर्थ समझा कि दीपक जलाओ। यह अर्थ वाच्य नही हो सकता, क्योकि सूर्य का दीपक अर्थ और अस्त होने का जलाना अर्थ किसी प्रकार साक्षात्संकेत नही है। फिर यह अर्थ लक्ष्य भी नही है; क्योकि लक्षणा की पहली

शर्त है मुख्यार्थ मे बाधा। सो सूर्य का मुख्यार्थ जो आसमान में चलता दिखनेवाला उज्ज्वल नक्षत्र-पिण्ड है वही यहाँ भी है। उसका अस्त होना ठीक ही प्रयोग है। कही कोई बाधा नही है। इसीलिए इस अर्थ को न तो वाच्य ही कह सकते है और न लक्ष्य ही।

(1) कई बार ऐसा होता है कि एक ही शब्द के अनेक साक्षात्-संकेतित अर्थ होते है। प्रसग देखकर कोई एक अर्थ नियत कर लिया जाता है। सैन्धव घोड़े को भी कहते है, नमक को भी। भोजन के प्रसंग पर सैन्ध्व माँगनेवाले को नमक ही दिया जायेगा, घोडा नही। प्रसंग से सैन्धव का अर्थ नियत हो गया है। अभिधा द्वारा जब कोई एक अर्थ नियत हो जाता है और फिर भी उस अर्थ मे यदि दूसरा अर्थ प्रतीत होता हो तो वहाँ अभिधामूला-व्यजना समझनी चाहिए। हम ऊपर देख आये है कि लक्षणा में एक प्रयोजन रहा करता है। उस प्रयोजन को व्यग्य-अर्थ ही समझना चाहिए; क्योकि प्रयोजन न तो वाच्य ही है और न लक्ष्य ही। इसलिए निश्चय ही यह किसी तीसरी शब्द-शक्ति का विषय है।

इस प्रयोजन की प्रतीति करानेवाली शक्ति को लक्षणामूला-व्यजना कहते है। लक्षण-ग्रन्थों मे बताया गया है कि अभिधा-मूला और लक्षणा-मूला शाब्दी-व्यंजनाओ के अतिरिक्त आर्थी-व्यंजना भी होती है। इन दोनो को शाब्दी-व्यजना इसलिए कहते है कि अभिधा-मूला तो अनेकार्थक शब्दों पर निर्भर है और लक्षणा-मूला लाक्षणिक शब्दों पर।

(2) आर्थी-व्यंजना वहाँ होती है जहाँ निम्नांकित दस बातों में से किसी एक या अधिक के वैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। दस बातें ये हैं : (1) वक्ता या कहनेवाला, (2) बोधव्य या सुननेवाला, (3) काकु या कण्ठध्वनि की विशिष्ट भंगी, (4) वाक्य, (5) वाच्य, (6) अन्य-सन्निधि अर्थात् कहने-वाले और सुननेवाले के अतिरिक्त किसी तीसरे की उपस्थिति, (7) प्रकरण, (8) देश, (9) काल, और (10) चेष्टा। काव्य पढनेवाले को नित्य ही ऐसे प्रसंग मिलते रहते है जहाँ इन दसों में से किसी भी एक की विशिष्टता से और-का-और अर्थ प्रतिभासित हो जाता है। सीताजी ने अयोध्या से जरा बाहर निकलते ही कहा, 'पिय पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै!' यहाँ वक्ता की विशिष्टता से तुरत पता चल जाता है कि कभी घर से बाहर पैदल चलने का अभ्यास न होने से सीताजी थक गयी हैं। यहाँ वक्ता की विशिष्टता से ही व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है।

अन्य-सन्निधि का भी एक उदाहरण लिया जाय। एक लड़की किसी लडके से प्रेम करती है। उससे मिलने को व्याकुल है, पर उसे कोई खबर भी नही भिजवा सकती। अचानक एक दिन वह लड़का दिख गया, पर उस समय लड़की की सखी मौजूद थी। लडकी ने होशियारी के साथ अपनी सखी से कहा, 'क्या बताऊँ सखी, दिन-भर काम में जुती रहती हूँ। सिर्फ शाम को थोडी फुरसत मिलती है, तब कही नदी-किनारे पानी लाने जाती हूँ, पर उस समय वहाँ कोई

व्याकरण ही है। वह नीरस होगा ही। परन्तु अलंकार-शास्त्र के आचार्य व्याकरण लिखते समय भी कुछ सरसता जरूर बनाये रखते थे। भीतर से प्रायः सभी कवि थे। कविता उनकी दृष्टि में एक सुन्दरी स्त्री के समान है। हमने ऊपर देखा है कि उसकी आत्मा का नाम ध्वनि है। बहुत ठीक। आत्मा का पता तो चल गया, परन्तु केवल आत्मा का तो कोई रूप नहीं होता। उस सुन्दर स्त्री के कुछ हाथ-पैर होंगे—इन सबके बिना सुन्दर रूप की कल्पना ही कैसे हो सकती है? सो, आलंकारिक पण्डितों ने इन बातों को भी गिना दिया है: शब्द और अर्थ ही उस कविता-सुन्दरी के शरीर है; शब्दों और अर्थों के नाना प्रकार के दृश्यग्राही कौशल, जिन्हें साहित्यशास्त्र में 'अलंकार' कहा जाता है, ही कविता-सुन्दरी के गहने हैं; मधुरता आदि धर्म जिस प्रकार मनुष्य के गुण हैं उसी प्रकार इस कविता-सुन्दरी के भी कुछ 'गुण' है। शास्त्र में उसका नाम भी 'गुण' दिया हुआ है। जिस प्रकार कानापन, लँगड़ापन, लूलापन आदि दोष मनुष्य के हुआ करते हैं उसी प्रकार शब्द और अर्थ का कानापन, लँगड़ापन भी हुआ करता है; सो, कविता-सुन्दरी के भी दोष है। इस प्रकार यह कविता-सुन्दरी सब प्रकार से मनुष्य-जैसी ही है। जिस प्रकार कोई मानव-सुन्दरी सब प्रकार से मनुष्य-जैसी ही है; जिस प्रकार कोई मानव-सुन्दरी सब अलंकार पहन ले, परन्तु उसमें आत्मा ही ही नही तो वह भद्दी निर्जीव जड़-पिण्ड के सिवा और कुछ नहीं होती; उसी प्रकार जिस कविता में अलंकार तो अनेक हो, पर ध्वनि हो ही नहीं, तो वह निर्जीव और भद्दी है।

लेकिन किसी स्त्री में आत्मा हो किन्तु उसमे आत्मिक ज्योति न हो; वह केवल बनाव-सिंगार को, केवल बाहरी वस्तुओं को इतना महत्त्व दे रही हो कि उसके भीतर की ज्योति दब गयी हो, तो वह यद्यपि सजीव कही जायगी परन्तु उसे कोई अच्छी स्त्री नहीं कहेगा। उसी प्रकार कविता में यदि ध्वनि कमजोर हो और अलकार ही प्रधान हो तो कविता मध्यम मानी जायगी।

जिस प्रकार बिना गहने के भी शौर्य-माधुर्यवती और सती-साध्वी स्त्री सबकी श्रद्धा आकृष्ट करती है, उसी प्रकार कविता भी यदि उत्तम ध्वनिवाली हो और उसमें एक भी अलंकार न हो तो भी सहृदयों की श्रद्धा आकृष्ट करती है। जिस प्रकार हम उसी स्त्री को भक्तिपूर्वक स्मरण करते है जो सीधी-सादी साफ हो और देश के पतनोन्मुख युवक-युवतियों को अपनी तेजोमयी वाणी से आत्मत्याग और बलिदान का मार्ग दिखाती हो, उसी प्रकार हम उस कविता को भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं जो सहज और सीधी होती है और हमें आत्मत्याग और बलिदान का मार्ग सिखाती है। भोग और पतन की ओर ले जानेवाली कविता भी उत्तम नहीं है और स्त्री भी नहीं। स्त्री जिस प्रकार संसार की त्राणकारिणी है, स्थिति-रक्षिका है, धर्म और त्याग की मार्गदर्शिका है, सेवा और बलिदान की शिक्षादात्री है, उसी प्रकार कविता भी है। जिस प्रकार निर्जीव आदमी मे कोई गुण नही रह सकता; क्योंकि शूरता, मधुरता आदि गुण आत्मा में रहते हैं; उसी प्रकार निर्जीव ध्वनिहीन कविता मे कोई गुण नही होते। जिस प्रकार गहने बाहरी चीज हैं, उसी

प्रकार काव्य में अलंकार भी बाह्य वस्तुएँ है।

26. 'काव्य की आत्मा ध्वनि है'—यह सिद्धान्त यद्यपि काफी पुराना है, परन्तु फिर भी बहुत पुराना नही कहा जा सकता। जिन दिनों यह सिद्धान्त प्रतिष्ठालाभ करने लगा था, उन दिनो काव्य नाम से ऐसी बहुत-सी बातें परिचित हो चुकी थी जिन्हे इस सिद्धान्त के माननेवालो को छोड़ देना पड़ता। ध्वनि के सिद्धान्त को माननेवालो ने बहुतेरी बातो को उत्तम काव्य मानने से इनकार कर दिया, पर बहुत-कुछ को उन्होंने स्वीकार भी किया। ध्वनि को ही उन्होंने तीन श्रेणियों में विभक्त किया—(1) वस्तु-ध्वनि, (2) अलंकार-ध्वनि, और (3) रस-ध्वनि। जहाँ कोई वस्तु या अर्थ ध्वनित होता हो वहाँ 'वस्तु-ध्वनि', जहाँ कोई अलंकार ध्वनित हो वहाँ 'अलंकार-ध्वनि' और जहाँ कोई रस ध्वनित हो वहाँ 'रस-ध्वनि'। ऐसा जान पड़ता है कि व्यवहार मे ये सभी ध्वनिवादी रस-ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते थे। प्रथम दो प्रकार की ध्वनियाँ प्राचीन आचार्यों से समझौता करने के लिए मान ली गयी थी। रस को उत्तम ध्वनि तो माना ही गया है। विश्वनाथ नामक आचार्य ने तो रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है, अर्थात् उनके मत से काव्य की आत्मा रस है, बाकी दो ध्वनियाँ नही। हमने दूसरी पुस्तक में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि जब ध्वनिवादी आचार्य ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते है तो वस्तुतः उनका अभिप्राय रस-ध्वनि से ही होता है।

27. रस नौ है। नाटक मे आठ ही रस बताये गये है। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र मे कहा है कि 'विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के योग से रस की निष्पत्ति होती है।' यह बात सूत्र-रूप में कही गयी है। इसके प्रत्येक शब्द की व्याख्या आवश्यक है।

(1) विभाव दो प्रकार के होते हैं : आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन जैसे नायक और नायिका; उद्दीपन जैसे चाँदनी, उद्यान, मलयपर्वत इत्यादि। (2) कटाक्ष, रोमांच आदि शरीर-सम्बन्धी विकारो को अनुभाव कहते हैं। (3) संचारी भाव वे है जो मन मे उठते-पड़ते है और आते-जाते है। शास्त्रकारों ने बताया है कि संचारी भाव कुल तैंतीस है। (4) काव्य या नाटक में कुछ ऐसे भाव होते हैं जो शुरू से अन्त तक रहते है, इनको स्थायी भाव कहते है। ये ही स्थायी भाव रस-रूप में परिणत होते है। नौ रसों के स्थायी भाव भी नौ है :

रस	स्थायी भाव	रस	स्थायी भाव
शृंगार	रति या लगन	भयानक	भय
हास्य	हास	बीभत्स	जुगुप्सा
करुण	शोक	अद्भुत	विस्मय
रौद्र	क्रोध	शान्त	निर्वेद
वीर	उत्साह		

28. नाटक में शान्त को रस नही मानते। अब हम भरत मुनि के सूत्र को समझ सकते है। उसमें जो अनुभाव, विभाव और संचारी भाव शब्द हैं उनके अर्थ

हमे मालूम हो गये। बाकी रहा 'निष्पत्ति' शब्द। इस निष्पत्ति का क्या अर्थ है? हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि काव्य या नाटक में कोई एक स्थायी भाव जरूर रहता है जो शुरू से आखिर तक बना रहता है। हमने ऊपर यह भी लक्ष्य किया है कि नायक-नायिका आदि को आलम्बन कहा जाता है। वस्तुतः यों कहना चाहिए कि जब नायिका के चित्त में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है तो आलम्बन नायक होता है, और जब नायक के चित्त मे प्रेम का प्रादुर्भाव होता है तो आलम्बन नायिका होती है। जिसके चित्त मे प्रेमभाव आविर्भूत होता है वह आश्रय कहा जाता है। तो स्थायी भाव आश्रय के चित्त मे आलम्बन के सहारे प्रवृत्त होता है और उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त होता है।

इस प्रकार उद्दीपित किये जाने के बाद आश्रय के शरीर मे कुछ विकार होते है, वे अनुभाव कहे जाते हैं। स्थायी भाव आदि मे अन्त तक वर्तमान रहता है, पर बीच में कभी शका, कभी असूया, कभी लज्जा, कभी भय आदि संचारी भाव आते-जाते रहते है। 'नाट्य-शास्त्र' में बताया गया है कि स्थायी भाव ही राजा है, अन्यान्य भाव उसके सेवक हैं। उसी शास्त्र मे यह भी बताया गया है कि जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्य और सौफ आदि मसाले वगैरा के संयोग से छः रस निष्पन्न होते है, उसी प्रकार नाना भावों से उपहित स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है।

जान पड़ता है कि स्वयं भरत मुनि 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ आस्वाद ही समझते थे। उन्होंने एक बार भोज्य वस्तु के रस के साथ उसकी तुलना की है। अब ध्यान से विचारकर देखा जाय कि नीबू, चीनी आदि के संयोग से शरबत का जो आस्वाद होता है वह न तो नीबू ही है न चीनी ही, न पानी है, न इन सबका योगफल ही है और न इनके बिना रह ही सकता है। वह रस इन सबसे भिन्न है और फिर भी इन्ही वस्तुओं से निष्पन्न या: अभिव्यक्त हुआ है। ठीक इसी प्रकार विभाव-अनुभाव आदि के योग से जो रस निष्पन्न होता है वह न तो विभाव ही है, न अनुभाव ही है, न सचारी भाव ही है, न स्थायी भाव ही है, न इन सबका योगफल ही है और न इनके बिना रह ही सकता है। यह रस भी इन सब वस्तुओं से भिन्न है और फिर भी इन्ही से निष्पन्न हुआ है। इसीलिए कवि का उद्देश्य इन सभी वस्तुओ का सूक्ष्म रूप से वर्णन करना नही है, बल्कि इन सारी बातो को साधन बनाकर उस अलौकिक चमत्कारवाले रस को व्यंग्य करना है।

ऊपर के कथन का स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि रस के साथ विभाव, अनुभाव आदि का सम्बन्ध व्यंग्य-व्यजक सम्बन्ध है। अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि व्यजक है और रस व्यग्य है।

29. नाटक देखनेवाले या काव्य सुननेवाले सहृदय के चित्त मे स्थायी भाव नाना प्रकार के पूर्व-अनुभवो के कारण पहले से ही वासना-रूप मे स्थित होता है। काव्य, नाटक आदि से वह स्थायी भाव (रति आदि) उद्‌बुद्ध और आस्वादित होता है। काव्य में एक ऐसी साधारणीकरण की शक्ति होती है जो राम मे से रामत्व, सीता मे से सीतात्व और सहृदय श्रोता मे से श्रोतृत्व आदि हटाकर

साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में उन्हें उपस्थित करती है। जब काव्यार्थ इस प्रकार उपस्थित होता है तो उसके फलस्वरूप सत्वगुण का उद्रेक होता है—मनुष्य दुनिया की संकीर्णता से ऊपर उठता है, उसका चित्त प्रकाशमय और आनन्दमय हो जाता है। प्रकाश और आनन्द सत्वगुण में ही धर्म कहे जाते है, इसलिए जिस अवस्था में मनुष्य छोटे-मोटे स्वार्थ के अन्धकार से बाहर निकल आता है, संकीर्णता के भार से हल्का हो जाता है और एक आनन्द की अवस्था में आ जाता है, उस समय सत्वगुण का उद्रेक हुआ रहता है।

रस की अनुभूति के समय ऐसा ही होता है। रस विश्वजनीन होता है। उसमे कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नही होता। रस-बोध के समय सहृदय विभावों के साथ अपना अभेद अनुभव करता है। अभेद की अनुभूति मे कोई बाधा पडे तो रसानुभव असम्भव हो जाता है। वह लौकिक भय-प्रीतिजनक व्यापारो से भिन्न होता है, क्योंकि उसमें व्यक्तिगत सुख-दुःख का स्वार्थ नही होता। लोक मे एक स्त्री एक पुरुष के प्रति जब अभिलाषा प्रकट करती है तो उस अभिलाषा मे व्यक्तिगत सुख-दुःख का भाव रहता है, पर काव्य मे जब यह बात होती है तो कवि का शब्द-विन्यास मनुष्य को एक ऐसी अवस्था मे पहुँचा देता है जहाँ वैयक्तिक सुख-दुःख का भाव नही रहता। वहाँ सहृदय एक निर्वैयक्तिक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता रहता है। यह आनन्द उस आनन्द के समान ही है जो योगियो को अनुभव होता है। यद्यपि अपने ही चित्त का पुनः-पुनः अनुभूत स्थायी-भाव अपने आकार के समान ही अभिन्न है, तथापि काव्य-नैपुण्य से वह गोचर किया जाता है; आस्वादन ही इसका प्राण है, विभावादि के रहने पर ही यह रहता है, नाना प्रकार के मीठे-खट्टे पदार्थो से बने हुए शरबत की भाँति यह आस्वादित होता है, मानो सामने परिस्फुटित होता हुआ, हृदय में प्रवेश करता हुआ, सर्वांग को आलिंगन करता है, अन्यत्व को तिरोहित करता हुआ ब्रह्मानन्द को अनुभव करानेवाला यह रस अलौकिक चमत्कारकारी है—ऐसा शास्त्रकारो का मत है।

जो बात इस प्रसंग में विशेष रूप से लक्ष्य करने की है वह यह है कि (1) रस व्यंग्य होता है, वाच्य नही; (2) रस निर्वैयक्तिक और अलौकिक होता है, (3) रस आस्वादयिता के बाहर नही होता, और इन्ही बातो के कारण यदि (4) कोई कवि रस को वाच्य करे या वैयक्तिक आसक्ति का कारण बना दे तो वह कवित्व से हीन समझा जाना चाहिए।[1]

30. यदि हम रस के विभाग को ध्यान से देखे तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि वे मनुष्य के मनोरागों को आश्रय करके और उसी के मनोरागो को अवलम्बन करके कल्पित किये गये है। पुरुष और स्त्री में जो प्रेम है उसको आश्रय करके ही शृंगार रस है, परन्तु पुरुष का प्रेम यदि किसी देवता से हो, प्रकृति मे हो तो वह

1. रस के बारे मे कुछ और विस्तृत चर्चा के लिए आगे 'रस क्या है ?' 121 और 'साहित्य का नया रास्ता' 122 देखिए।

कौन-सा रस होगा ? पुराने आचार्य इसे रस नहीं भाव कहते थे। सो, देवादि-विषयक प्रेम को 'भाव' नाम दिया गया है। बीच में एक ऐसा समय गया है जब प्रेम के नाम पर केवल पुरुष और स्त्री के प्रेम का ही चित्रण किया गया है। प्रकृति को या उन प्राकृतिक शक्तियों को—जिन्हें देवता कहा गया था, जैसे मेघ, विद्युत, उषा, सूर्य, चन्द्र आदि—केवल उद्दीपन के रूप में वर्णित किया गया था।

हम आगे देखेंगे (50-51) कि वह प्रवृत्ति इन दिनों कम हो गयी है और कवि लोग प्रकृति को आलम्बन-विभाव के रूप में यथेष्ट भाव से देखने लगे हैं। परन्तु रस को मानवीय मनोरागों पर आश्रित समझने का एक परिणाम यह हुआ कि मनुष्य की प्रकृति का खूब सुन्दर विश्लेषण किया गया है। नायक कितने प्रकार के हो सकते है, नायिकाएँ कितने प्रकार की हो सकती है, उनकी परिचारिकाएँ कितनी तरह की हो सकती है, इन बातों का बड़ा विस्तृत विवेचन किया गया है। स्त्रियो का उनकी अवस्था, वय, मनोभाव और सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर सूक्ष्म भेद किया गया है। यही से उस विचित्र और शक्तिशाली साहित्य का आरम्भ होता है जिसे नायिका-भेद कहते हैं।

इन नायिकाओं के स्वाभाविक और अयत्नसाध्य अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस प्र संग मे लक्ष्य करने की बात यह है कि यद्यपि स्त्री और पुरुष के स्वाभाविक प्रेम की व्यंजना मे रसानुभूति होती है, तथापि यह माना गया है कि यदि यह प्रेम ऐसे पुरुष और स्त्री के बीच हो जिनका सम्बन्ध सामाजिक मर्यादा के प्रतिकूल हो, या एकतरफा हो तो 'रस' न होकर रसाभास हो जाता है। परायी स्त्री से जो प्रेम है वह सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन करता है, उसके श्रवण मात्र से सहृदय के चित्त में विक्षेप होता है और रसानुभूति में बाधा पहुँचती है। आचार्यों ने पशु-पक्षियों की शृंगार-चेष्टाओं को भी रसाभास ही कहा है; क्योंकि पशु-पक्षी आदि के साथ सहृदय अपने को अभिन्न नही समझ पाता। परवर्त्ती कवियों ने ऐसे प्रसंगों का भी यथेच्छ वर्णन किया है, पर है यह रसाभास ही। इस प्रकार 'भाव' भी जब अनुचित होता है तो भावाभास कहा जाता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक दूसरे का अंग होकर केवल मुख्य रस को अलंकृत करने के लिए आता है। उस अवस्था में अंग बना हुआ 'रस' रस के बदले 'रसवत्' कहा जाता है। जैसे कोई शोकाभिभूत स्त्री अपने मृत पति के हाथ को लेकर कहे कि यही वह हाथ है जिसने अमुक-अमुक शृंगार-चेष्टाएँ की थी तो शृंगार-रस करुण-रस का अलंकरण होकर 'रसवत्' कहा जायगा।

31. व्यावहारिक जगत् की भीड़-भक्कड़ के कारण साधारणतः मनुष्य की संवेदनाएँ थोथी हो गयी होती हैं। प्रत्येक वस्तु का ठीक-ठीक बिम्ब ग्रहण करना उसके लिए सम्भव नहीं होता। दुनिया की अधिकांश बातें साधारणतः सामान्य सत्य द्वारा ही प्रकट की जाती हैं। कवि जब किसी वस्तु को रसास्वाद का साधन बनाता है तो उस सामान्य सत्य से उसका काम नहीं चलता। वह उसको निविड़ भाव से अनुभव करना चाहता है। भाषा के साधारण प्रयोग से उसका उद्देश्य

सिद्ध नहीं होता। उस हालत में वह अलंकारों का आश्रय लेता है। वह शब्दों में झंकार पैदा करता है। ध्वनि-साम्य श्रोता का मन गलाता है और अपने वक्तव्य की ओर उसे उत्सुक बना देता है। इसी को शब्दालंकार कहते हैं। परन्तु केवल शब्दालंकार से भी कवि का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। शब्दालंकार पाठक को उत्सुक बनाते हैं और साधारण-सी बात को असाधारण के समान बनाकर उपस्थित करते हैं। 'भौंरे जगह-जगह आम की बौरों की ओर तपक रहे हैं' यह एक मामूली-सी खबर है, लेकिन 'ठौर-ठौर झम्पत-झपत भौंर मौर-मधु-अंध' में शब्दों में जो झंकार है उसने उसे मामूली से बड़ा बनाकर श्रोता के सामने रखा है।

32. परन्तु कवि जब वक्तव्य-वस्तु के किसी गुण-क्रिया या रूप को गाढ़ भाव से अनुभव कराना चाहता है तो वह 'अप्रस्तुत' का विधान करता है। अप्रस्तुत अर्थात् अप्रासंगिक। जो बात प्रासंगिक नहीं होती उसे कौशलपूर्वक ले आकर कवि अपना उद्देश्य सिद्ध करता है। 'मुख सुन्दर है'—इतना कहने से मुख की कोई विशेषता नहीं मालूम हुई। सुन्दर एक सामान्य बात है। सैकड़ों वस्तुओं को हम सुन्दर कहा करते हैं। अब मुख कैसा सुन्दर है ?—हमारी यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। इसी विशेषता को अनुभव कराने के लिए कवि कहता है, 'मुख प्रफुल्ल कमल के समान सुन्दर है।' प्रफुल्ल कमल का कोई प्रसंग नहीं था, प्रस्ताव तो मुख का चल रहा था। इसीलिए प्रस्तुत (=प्रस्तावित) विषय तो मुख ही है, कमल अप्रस्तुत वस्तु है। वह मुख के विशेषत्व को गाढ भाव से अनुभव करा देने के लिए आया है।

साहित्य-शास्त्री इस बात को अनेकानेक भेद करके समझाते है। अप्रस्तुत का विधान अर्थालंकारों में होता है। उनमें भी अधिकतर सादृश्य बतानेवाले अर्थालंकारों में। जैसे शब्दों के अलंकार श्रोता को वक्तव्य की ओर उत्सुक बनाते है, वैसे ही अर्थों के अलंकार उस वक्तव्य को गाढ़ भाव से अनुभव करने में सहायक होते हैं। ये अर्थालंकार नाना प्रकार के हैं। कुछ सादृश्यमूलक है,कुछ विरोधमूलक है, कुछ शृंखलामूलक हैं, कुछ न्यायमूलक हैं और कुछ गूढार्थ-प्रतीतिमूलक है। किसी भी अलंकार-ग्रन्थ में उन्हें खोज लिया जा सकता है।

33. सबसे मुख्य है सादृश्यमूलक अलंकार। इनमें कुछ अभिधामूलक हैं, कुछ लक्षणामूलक हैं और कुछ व्यंजनामूलक हैं। अभिधामूलक अलंकारों में भेद और अभेद, दोनों की प्रधानता होती है। जब कहा जाता है कि मुख कमल के समान सुन्दर है तो स्पष्ट ही मुख और कमल को भिन्न-भिन्न माना जाता है; यद्यपि सुन्दरता दोनों में एक ही है। अर्थात् जहाँ तक सुन्दरता का सम्बन्ध है, दोनों में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार अभिधामूलक अलंकारों में भेद और अभेद, दोनों की प्रधानता होती है। लक्षणामूलक अलंकार अभेदप्रधान होते हैं। जब कवि कहता है कि मुख-कमल से नि.श्वास-सुरभि निकल रही है तो मुख और कमल को अभिन्न मान लेता है। मुख और कमल दो चीजें हैं। उनमें अभेद लक्षण द्वारा आता है। व्यंजनामूलक अलंकारों में सादृश्य व्यंग्य होता है। जब कहा जाता है

कि 'जो ऋषि इस बालिका से तप कराना चाहता है वह कमल की पंखड़ी की धार से *बबूल का पेड़ काटना चाहता है'*, तो *कमल की पंखड़ी और बालिका में तथा* बबूल के पेड़ और तप में जो सादृश्य है, वह व्यंग्य होता है।

इस प्रकार अप्रस्तुत विधान तीन प्रकार का हुआ : (1) अभिधामूलक या भेदाभेद-प्रधान, (2) लक्षणामूलक या अभेद-प्रधान और (3) व्यंजनामूलक या गम्योपगम्याश्रय।* इन तीनों ही प्रकार के अप्रस्तुत विधानों से कवि वक्तव्य

*कुछ मुख्य अलंकारों का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है :

अर्थालंकार (1) सादृश्यगर्भ
(2) विरोधगर्भ
(3) शृंखलामूल
(4) न्यायमूल
(5) गूढार्थ-प्रतीतिमूल

1. सादृश्यगर्भ-अलंकार
(क) भेदाभेद-प्रधान
(1) उपमा
(2) उपमेयोपमा
(3) अनन्वय
(4) स्मरण
(ख) अभेद-प्रधान,
(i) आरोपमूल.
(5) रूपक
(6) संदेह
(7) उल्लेख
(8) भ्रान्तिमान
(9) अपह्नुति
(ii) अध्यवसायमूल
(10) उत्प्रेक्षा
(11) अतिशयोक्ति
(ग) गम्योपगम्याश्रय—
(i) पदार्थगत :
(12) दीपक
(13) तुल्ययोगिता
(ii) वाक्यार्थगत :
(14) दृष्टान्त
(15) प्रतिवस्तूपमा
(16) निदर्शना
(iii) भेदप्रधान :
(17) व्यतिरेक
(18) सहोक्ति
(iv) विशेषण-विच्छित्ति मूलक :
(19) समासोक्ति
(20) परिकर
(v) विशेषण-विशेष्य-विच्छित्याश्रय :
(21) श्लेष

2. विरोधगर्भ
(22) विरोधाभास
(23) विभावना
(24) विशेषोक्ति
(25) विषम
(26) अधिक
(27) असंगति

3. शृंखलामूल
(28) कारणमाला
(29) एकावली
(30) सार

4. न्यायमूल
(31) अर्थान्तरन्यास
(32) काव्यलिंग
(33) अप्रस्तुत-प्रशंसा
(34) अर्थापत्ति
(35) उदात्त
(36) परिवृत्त

5. गूढार्थ प्रतीतिमूल
(37) वक्रोक्ति
(38) व्याजस्तुति
(39) भाविक

की सीमा समाप्त हो जाती है। इसका मतलब यह नही कि कविता निष्प्रयोजन वस्तु है। इसका मतलब सिर्फ यह है कि कविता उस आनन्द का प्रकाश है जो प्रयोजन की संकीर्ण सीमा के अतिरिक्त होता है। वह प्रयोजन को छोड़कर नहीं रह सकता, पर प्रयोजन के अतिरिक्त है।

लोक में प्रसिद्ध है कि 'घी का लड्डू टेढा भी भला होता है', क्योकि जहाँ तक लड्डू का प्रयोजन है—अर्थात् उसकी मिठास, उसके पेट भरनेवाले गुण इत्यादि का सम्बन्ध है—वहाँ तक उसके गोल या अन्य सुन्दर आकार में ढलने की कोई जरूरत नही। प्रयोजन टेढ़े से भी सिद्ध हो जाता है, फिर भी हलवाई उसे गोल और सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। यह बात प्रयोजन के अतिरिक्त है, यहाँ वह कला और आनन्द के क्षेत्र में आता है। प्रश्न हो सकता है कि क्या आनन्द या सौन्दर्यानुभूति का मनुष्य को कोई प्रयोजन ही नही है, क्या ये बेकार बातें हैं?—हर्गिज नही। आनन्द भी प्रयोजनीय है। पर जैसा कि मैंने शुरू में ही कहा है, साधारण बुद्धि के आदमी प्रयोजन का अर्थ बहुत सकीर्ण समझते हैं। यहाँ हम साधारण लोक-विश्वास की चर्चा कर रहे है। ये बातें कविता की परिभाषा नही हैं, इनसे केवल इतना ही समझा जा सकता है कि साधारण बुद्धि के आदमियों में 'कविता' शब्द का क्या अर्थ समझा जाता है। परन्तु चूंकि साधारण जनता का विश्वास किसी-न-किसी सचाई पर आश्रित होता है, इसलिए इस विश्वास के सहारे हम कविता के मूल रूप का आभास पाने का भी प्रयत्न कर रहे हैं। सो, कविता का लोक-प्रचलित अर्थ वह वाक्य है जिसमें भावावेग हो, कल्पना हो, पदलालित्य हो और प्रयोजन की सीमा समाप्त हो चुकी हो।

36. हमारे इस देश का इतिहास बहुत पुराना है। न जाने किस अनादि काल से हमारे पूर्वज इन विषयों की चर्चा करते रहे हैं। इन्होने काव्य को समझाने के अनेक रास्ते सुझाये है। परन्तु जैसे-जैसे समाज में नये-नये उपादान आते गये, वैसे-वैसे उनकी परिभाषाएँ बदलती गयी; क्योकि नये-नये उपादान के साथ मनुष्य की कल्पना और भाव-प्रवणता भी नया-नया रूप धारण करती गयी। जिन विद्वानों ने इस देश के साहित्य का अध्ययन किया है, उनमे से कई लोगों का अनुमान है कि शुरू-शुरू में नाटक के प्रसंग में ही रस की चर्चा होती थी। अर्थात् 'रस' की उपयोगिता नाटक के क्षेत्र में ही स्वीकार की जाती थी, काव्य मे अलकारों का होना परम आवश्यक समझा जाता था। इस मत को सर्वांश में सत्य नही माना जा सकता, तो भी इतना सही है कि काव्य में चमत्कार को बड़ी चीज माना जाता था।

मैंने अपनी दूसरी पुस्तक मे इस विषय की विस्तृत आलोचना की है। यहाँ इतना ही प्रसंग है कि काव्य मे उत्तम उक्तियों और अलंकारों का होना आवश्यक माना जाता था। परन्तु शीघ्र ही आचार्यों ने इस मत में सुधार किया। वे कहने लगे कि शब्द और अर्थ की परस्पर-स्पर्द्धो चारुता के साहित्य (अर्थात् सम्मिलित भाव) को काव्य कहते हैं। फिर ध्वनि का सम्प्रदाय प्रबल हुआ। ध्वनि को ही

कहा है कि "काव्य के सत्य से हमारा अभिप्राय यह है कि काव्य में उन्ही बातों का वर्णन नहीं होना चाहिए, और न होता ही है, जो वास्तव में सत्यता की कसौटी पर कसी जा सकती हैं पर उनका भी वर्णन होता है और हो सकता है जो सत्य हो सकती है।"

40. ऊपर हम बराबर तथ्य और सत्य की बात करते रहे हैं। दोनों में क्या अन्तर है, यह समझ लिया जाय। "हमारा मन जिस ज्ञान-राज्य मे विचरण कर रहा है वह दोमुँहा पदार्थ है। उसके एक ओर है तथ्य और दूसरी ओर सत्य। जैसा है वैसे ही भाव को तथ्य कहते है और वह तथ्य जिसे आश्रय करके टिका है वह सत्य है। मुझमे जो 'मैं' बंधा हुआ है वही मेरा व्यक्तिरूप है। यह तथ्य अन्धकार का वाशिन्दा है, वह अपने को स्वयं प्रकाश नही कर सकता। जभी इसका परिचय पूछा जायगा तभी वह (परिचय) एक ऐसे बड़े सत्य के द्वारा दिया जायगा जिसे आश्रय करके वह टिका हुआ है। उदाहरणार्थ, कहना होगा मैं हिन्दुस्तानी हूँ। लेकिन हिन्दुस्तानी है क्या चीज ? वह तो एक अविच्छिन्न पदार्थ है, जो न छुआ जा सकता है, न पकड़ा जा सकता है। तथापि उस व्यापक सत्य के द्वारा ही उसका परिचय दिया जा सकता है। तथ्य खण्डित और स्वतन्त्र है, सत्य के भीतर ही वह अपने वृहत् ऐक्य को प्रकाशित करता है। मैं व्यक्तिगत 'मैं' हूँ इस छोटे-से तथ्य के भीतर 'मैं मनुष्य हूँ', इस सत्य को जब मैं प्रकाश करता हूँ तभी उस विराट् एक के आलोक से नित्यता के भीतर मैं उद्भासित होता हूँ। तथ्य के सत्य का प्रकाश ही प्रकाश है। चूंकि साहित्य और ललित-कला का काम ही प्रकाश करना है, इसलिए तथ्य के पात्र को आश्रय करके हमारे मन को सत्य का स्वाद देना ही उसका काम है। यह स्वाद एक का है, असीम का है। मैं 'व्यक्तिगत मैं हूँ' यह मेरी सीमा की ओर की बात है, यहाँ मैं व्यापक 'एक' से विच्छिन्न हूँ। किन्तु 'मैं मनुष्य हूँ' यह मेरे असीम की ओर की बात है। यहाँ मैं विराट् 'एक' के साथ युक्त होकर प्रकाशमान हूँ।

"गोधूलि-काल में एक बालिका मन्दिर से निकल आयी, यह तथ्य हमारे लिए बहुत मामूली बात है। महज इस संवाद के सहारे ही यह चित्र हमारे सामने नष्ट नही हो जाता। हम मानो सुनकर भी नही सुनते, किसी चिरन्तन 'एक' के रूप में वह वस्तु हमारे भीतर स्थान नहीं पाती। यदि कोई—'मान-न-मान-मै-तेरा-मेहमान'—भला आदमी हमारा ध्यान खीचने के लिए फिर से इस खबर को सुनाने लगे तो हम खीझकर कहेंगे, 'बालिका अगर मन्दिर से बाहर निकल आयी तो हमारा क्या ?' अर्थात् हम अपने साथ उसका कोई सम्बन्ध अनुभव नही कर रहे है, इसलिए यह घटना हमारे लिए सत्य ही नही है। किन्तु ज्यों ही छन्द, स्वर और उपमा के योग से यह मामूली बात सौन्दर्य के एक अखण्ड ऐक्य के रूप में परिपूर्ण होकर प्रकट हुई, त्यों ही यह प्रश्न शान्त हो गया कि 'इससे हमारा क्या ?' क्योंकि जब हम सत्य का पूर्ण रूप देखते हैं तब उसके द्वारा व्यक्तिगत सम्बन्ध के द्वारा आकृष्ट नही होते, सत्यगत सम्बन्ध के द्वारा आकृष्ट होते है।

"गोधूलि के समय बालिका मन्दिर से निकल आयी, इस बात को तथ्य के द्वारा यदि पूरा करना होता तो शायद और भी बातें कहनी पड़ती। आस-पास की अनेक खबरें इसमे और जोड़ी जाने से रह गयी है। कवि शायद कह सकता था कि वह मन-ही-मन मिठाई की बात सोच रही थी। बहुत सम्भव है, उस समय यही *चिन्ता बालिका के मन में सबसे अधिक प्रबल थी।* किन्तु *तथ्य* जुटाना कवि का काम नही है। इसीलिए जो बातें बहुत जरूरी और बड़ी है वही कहने से रह गयी है। यह तथ्य का बोझा जो कम हो गया है, इसीलिए संगीत के बन्धन मे यह छोटी-सी बात इस तरह एकत्व के रूप में परिपूर्ण हो गयी है और कविता इतनी सुन्दर और अखण्ड होकर प्रकट हुई है। पाठक का मन इस सामान्य तथ्य के भीतरी सत्य को इस गहराई के साथ अनुभव कर सका है। इस सत्य के ऐक्य का अनुभव करके ही हम आनन्द पाते है।"—रवीन्द्रनाथ।

ऊपर का उद्धरण ज़रा लम्बा हो गया है। परन्तु उसमे काव्यगत सत्य को जिस आसानी से समझाया गया है वह दुर्लभ है। इसलिए लम्बा उद्धरण हमारे बहुत काम की चीज साबित होगा। दुनिया मे ज्ञान दो श्रेणी का है: (1) तथ्यगत और (2) सत्यगत। ऊपर तथ्य और सत्य के भेद को बहुत अच्छी तरह से समझाया गया है। जिस बात को हम विशेषतः यहाँ लक्ष्य करना चाहते है वह यह है कि अखण्ड ऐक्य को आश्रय करके ही सत्य प्रकाशित होता है। जो बात हमे खण्डित और विच्छिन्न तथ्यो का अनुभव कराती है वह काव्य नही हो सकती।

41. इस प्रकार कवि यद्यपि दुनिया की साधारण वस्तुओं को ही उपादान के रूप में व्यवहार करता है, परन्तु उसका अर्थ असाधारण होता है। पुराने पण्डितो ने कहा है कि यदि कवि के प्रयोग किये हुए शब्द उसके साधारण प्रचलित (कोशव्याकरण-सम्मत) अर्थ को बताकर ही रह जाते है तो वह कविता उत्तम कोटि की नही मानी जा सकती। जब छन्द अलंकार, पद-संघटना आदि के योग से कवि पाठक के चित्त को सत्त्व गुण में स्थिर कर देता है (दे. 29)—अर्थात् उसे दुनिया की संकीर्णताओं से ऊपर उठा ले जाता है, वह 'मैं' और 'मेरे' के सकीर्ण घेरे से बाहर निकल आता है, तभी उसे रस का अनुभव होता है। इसलिए यह रस अलौकिक कहा जाता है। अब, जो छन्द, अलकार और पद-संघटना इस रस का साक्षात्कार कराते है वे निश्चय ही काव्य के महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं। इन्हें काव्य मे से हटाया नही जा सकता। परन्तु इतना अवश्य याद रखने की बात है कि ये सभी साधन है, साध्य नही।

यदि कवि इन्ही को सब-कुछ समझ ले और ऐसी कविता लिखने बैठ जाय जिसमें काव्यगत सत्य की तो कोई परवा ही न की गयी हो और केवल छन्द, अलकार और पद-लालित्य को ही बड़ा करके दिखाने की चेष्टा की गयी हो तो उसकी कविता उत्तम नही मानी जायगी। अनाड़ी आदमी के हाथ में अच्छे अस्त्र दे दिये जायें तो वह अनर्थ कर बैठेगा। अलंकार, छन्द आदि भी बड़े प्रभावशाली अस्त्र है—किसी ने बिहारी के दोहों को 'नाविक के तीर' कहा था! उत्तम कवि

इन ग्रस्त्रों का प्रयोग जानता है, ग्रनाड़ी तो केवल भावों ग्रौर रसों की हत्या के लिए ही इनका उपयोग करता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक ऐसा युग बीता है जिसमें इन ग्रलंकारों, छन्दों ग्रौर ग्रन्यान्य बाह्य साधनों का जमकर उपयोग किया गया है। उन दिनों बड़े-बड़े उत्तम कवि हुए थे, जिन्होंने इनसे कमाल की रस-सृष्टि की है ग्रौर ऐसे ग्रनाड़ी कवि भी कम नहीं हुए, जिन्होंने जबरदस्ती ग्रलकारों की पल्टन सजाकर रस के शान्त राज्य में उत्पात मचा दिया था।

42. जैसा कि ऊपर बताया गया है, कवि इस दुनिया की मामूली चीजों से ही ग्रपना कारबार चलाता है। इसलिए कवि इन मामूली चीजों को ठीक-ठीक पहचाने बिना ग्रपना काम नहीं चला सकता। ग्रच्छा शिल्पी जानता है कि कौन-सा पत्थर का टुकड़ा किस जगह बैठाया जाकर सौन्दर्य को सौगुना निखार देगा। ग्रौर उत्तम कवि भी जानता है कि कौन-सा शब्द या ग्रर्थ या कौन-सी वस्तु या वस्तुधर्म किस प्रकार प्रयुक्त होकर श्रोता को उपयुक्त रस-ग्रहण कराने मे सहायता कर सकता है। जिस प्रकार मामूली ईंट-पत्थर के टुकड़ों से स्थपित उत्तम महल बना देता है, उसी प्रकार मामूली शब्दों ग्रौर भावों की सहायता से कवि ग्रलौकिक रस की सृष्टि करता है। इसीलिए दुनिया की ग्रत्यन्त मामूली बातों की जानकारी भी कवि का ग्रावश्यक गुण है। लेकिन सिर्फ जानना ही काफी नहीं है। जानते तो बहुत-से लोग हैं, परन्तु उसको ठीक-ठीक ग्रनुभव भी करा देना कवि का ही काम है।

43. (1) कवि जिस किसी वस्तु का वर्णन करने क्यों न जाय, उसका प्रथम कर्त्तव्य है 'बिम्ब-ग्रहण' कराना। 'बिम्ब-ग्रहण' ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल का चलाया हुग्रा शब्द है। जिस वक्तव्य से किसी वस्तु का संकेतित ग्रर्थ-मात्र ग्रहण न होकर उसका पूरा चित्र उपस्थित हो वही वक्तव्य बिम्ब-ग्रहण कराने में समर्थ कहा जा सकता है। शुक्लजी इसे भी ग्रभिधा-शक्ति का ही कार्य मानते थे। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि नाना प्रकार के सादृश्यमूलक ग्रलंकारों की सहायता से कवि पाठक को वक्तव्य वस्तु के गुण, क्रिया, या धर्म को गाढ़ भाव मे ग्रनुभव कराता है। परन्तु यह भी एक साधन-मात्र है। कवि का वास्तविक कर्त्तव्य तो 'एक' का ग्रनुभव कराना ही है। बिम्ब-ग्रहण वस्तुतः तथ्य ही है (दे. 40), सत्य नहीं। सादृश्यमूलक ग्रलंकार जिस वस्तु के गुण या धर्म को गाढ़ भाव में ग्रनुभव कराते है वे भी तथ्य ही हैं। यही कारण है कि केवल ग्रलंकारों की प्रधानतावाले काव्य को ग्राचार्यों ने 'ग्रवर' या निचली कोटि का ही काव्य माना है।

(2) जिस प्रकार ग्रप्रस्तुत विधान के द्वारा कवि वक्तव्य-वस्तु का बिम्ब-ग्रहण ग्रौर गाढ़ ग्रनुभव कराता है, उसी प्रकार छन्द उसे गतिशील बनाते हैं तथा उसके द्वारा पाठक के चित्त को संकीर्ण सीमा के बन्धन से मुक्त करते हैं। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने कहा है कि "जिस प्रकार नदी के तट ग्रपने बन्धन से धारा

की गति को सुरक्षित रखते हैं—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में धारा का प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान करके निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर करके उन्हें सजीव बना देते हैं।" *वस्तुतः भाषा के प्रवाहधर्म का नाम ही छन्द* है। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' गद्य में लिखी गयी है, किन्तु उसमें अपना एक विशेष प्रवाह है जो नित्य-प्रति व्यवहार में आनेवाले गद्य में नहीं पाया जाता। आयुर्वेद और ज्योतिष की बहुत-सी पुस्तकें पद्य में लिखी गयी हैं, पर उनमें वह प्रवाह *नहीं है जो काव्य में अत्यन्त आवश्यक रूप में वर्तमान रहता है।* छन्दों की पुस्तकों में जो लक्षण दिये हुए हैं उनके पालन मात्र से पद्य काव्यमय नहीं हो जाते। पद्य में जब तक प्रवाह न हो तब तक वह काव्य का आवश्यक साधन नहीं बन सकता। प्रवाहशील गद्य में भी एक प्रकार का छन्दोधर्म वर्तमान रहता है। उस धर्म के रहने से ही *गद्य गद्य होता है। अतः यह समझना भूल है कि 'छन्दोधर्म' अर्थात्* प्रवाह और गति के बिना भी काव्यत्व सम्भव है।

(3) यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकार छन्द में झंकार भरते हैं। इसलिए वे छन्द के सहायक हैं। कवि छन्द और शब्दालंकार के सहारे अपने अभीष्ट तक पहुँचता है। इसलिए अन्त्यानुप्रास या तुक कविता का एक महत्त्वपूर्ण उपादान माना गया है। यद्यपि तुक का न होना कोई दोष नहीं है, पर उसका होना गुण अवश्य है।

44. *दो बातें कविता में प्रधान रूप से विद्यमान पायी जाती हैं। प्रथम यह* कि कवि कुछ कहना चाहता है, और दूसरा यह कि उस बात को कहने के लिए वह किसी रचना-कौशल का व्यवहार करता है। पहले को भाव-पक्ष कहा गया है और दूसरे को कला-पक्ष। हम अब तक कला-पक्ष का ही विवेचन करते रहे। *अब भाव-पक्ष पर आया जाय।*

45. काव्य को मोटे तौर पर दो विभागों में बाँट दिया गया है : (1) विषय-प्रधान और (2) विषयि-प्रधान। प्रथम में कवि बहिर्जगत में अपने को लीन करके अपने बाहर रहनेवाली वस्तु (विषय) में सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है, और दूसरे में वह अपनी ही सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों को प्रकट करता है। चूँकि वह अपने को (विषयी को) ही प्रकट करता है, इसलिए ऐसे काव्य को विषयि-प्रधान कहा जाता है। महाकाव्य, ऐतिहासिक चरित्र, उपन्यास आदि विषय-प्रधान होते हैं। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक और दृष्टि से काव्य को दो भागों में विभक्त करके सोचा है :

(1) एक वह जिसमें अकेले कवि की बात रहती है।

(2) दूसरा वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदाय की बात रहती है।

अकेले कवि की कहने का [illegible] समझ में नहीं आ सकती। [illegible] फिर जो बात किसी [illegible]

सामान्य मनुष्यता को किस प्रकार प्रभावित कर सकेगी और अखण्ड ऐक्य का अनुभव किस प्रकार करा सकेगी ? अकेले कवि की बात का तात्पर्य यह है कि कवि के भीतर इस प्रकार का सामर्थ्य है कि वह अपने सुख-दुःख, कल्पना और अभिज्ञता के भीतर से विश्व-मानव के चिरन्तन हृदयावेग और जीवन की मर्म-व्यथा को अनायास ही प्रतिध्वनित कर सकता है। ऐसे सामर्थ्य को कवि गीति-काव्य का आश्रय लेकर प्रकाशित करता है। जिस प्रकार वीणा का एक तार आहत होकर अन्य सभी तारो में एक अनुरणन पैदा करता है, उसी प्रकार कवि का हृदय सहृदय-मात्र को झंकृत कर देता है।

46. दूसरी श्रेणी के कवि वे है जिनकी रचना से एक समूचा देश और समूचा काल अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को व्यक्त करके उस रचना को *शाश्वत समादरणीय सामग्री बना देता है। ऐसे कवि को महाकवि कहते है* और उसके काव्य को महाकाव्य। रामायण और महाभारत हमारे देश के महाकाव्य हैं। शताब्दियो तक कवि इन लोग महाकाव्यो को अवलम्ब करके काव्य लिखते आये है। अब भी लिख रहे है और आगे भी लिखते रहेंगे। पर इनका सौन्दर्य अभी जैसे-का-तैसा है। 'रामायण' के राम, भरत, लक्ष्मण, सीता, कौशल्या, कैकेयी, रावण, हनूमान आदि चरित्र महान् है। वे कवि की भावावेश-अवस्था के कल्पित पात्र नही है, बल्कि समूची जाति की युगव्यापी साधना के परिणाम है। इस काव्य को पढ़ने पर पीढ़ियो का रचित भारतवर्ष प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी प्रकार 'महाभारत' को उज्ज्वल चरित्रों का वन कहा जा सकता है। यह कवि-रूपी माली का यत्न-पूर्वक सँवारा हुआ उद्यान नही है जिसके प्रत्येक लता, पुष्प-वृक्ष अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं, बल्कि वह अपने-आप की जीवनी-शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियो और लताओं का अयत्न-परिर्वाधत विशाल वन है जो अपनी उपमा आप ही है।

'महाभारत' का कोई भी चरित्र शायद ही महलों के भीतर पलकर चमका हो। सब-के-सब एक तूफान के भीतर से होकर गुजरे है। अपना रास्ता उन्होने स्वयं बनाया है और अपनी रची हुई विपत्ति की चिता मे वे हँसते-हँसते कूद गये है। इस महाकाव्य का अदना-से-अदना चरित्र भी डरना नही जानता। किसी के चेहरे पर कभी शिकन नही पड़ने पाती। पाठक पढ़ते समय एक जादू-भरे वीरत्व के अरण्य मे प्रवेश करता है, जहाँ पद-पद पर विपत्ति तो है पर भय नही है; जहाँ जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करनेवाला हतोत्साह नही होता; जहाँ गलती करनेवाला अपनी गलती पर गर्व करता है, प्रेम करनेवाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करनेवाला अपनी घृणा का खुलकर प्रदर्शन करता है। प्राचीन भारत अपने समस्त गुण-दोषों के साथ 'महाभारत' में मूर्तिमान हो उठा है।

47. परन्तु इस युग में विषयि-प्रधान कविता का प्रचार ही अधिक हो गया है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य में इस श्रेणी की कविता का बहुत प्रचार है। तीन

बातें इन दिनों प्रधान रूप से दृष्टिगोचर हो रही है—कल्पना, अनुभूति और चिन्तन।

(1) कल्पना की अवस्था में इस युग का कवि वर्त्तमान जगत् की अननुकूल और विसदृश परिस्थितियों से ऊबकर एक अनुकूल और मनोरम जगत् की सृष्टि करता है। एक युग ऐसा बीता है जब ससार के साहित्य मे कल्पना का अखण्ड राज्य रहा है। कवि इस दुनिया के समानान्तर धरातल पर ही एक ऐसी दुनिया की सृष्टि करता था, जहाँ प्रेमी और प्रेमिकाएँ तो हमारे ही जैसी होती थी, पर वहाँ के कायदे-कानून अलग ढग के होते थे और स्वच्छन्द प्रेम मे जो सहस्रों बाधाएँ इस जगत् मे अपने-आप खडी हो जाती है वे वहाँ नही होती थीं।

(2) परन्तु जब कवि चिन्ता की अवस्था मे पहुँचता है तो वह प्रायः कल्पना की अवस्था आयत्त कर चुका होता है। इसीलिए वह किसी चीज को शुद्ध मनीषी की भाँति न देखकर उस पर कल्पना का आवरण डालकर देखता है। दिगन्त के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए नील नभोमण्डल, मणियो के समान ग्रह-नक्षत्र और चन्द्रिकाधौत धरित्री को देखकर वह कभी कुछ भी चिन्तन क्यो न करे, एक बार श्वेतवस्त्रधारिणी, विततकेशा, भूरि-भूषणा सुन्दरी या प्रिय-वियोग मे कातर, खण्डिता रजनी या इसी प्रकार की अन्य वस्तु की कल्पना किये बिना नही रहता। कारण यह है कि कवि का प्राथमिक कर्त्तव्य बिम्ब-ग्रहण कराना है और उसका साधन अप्रस्तुत-विधान है। इसके बिना कवि मनोरम भाव से हृदयहारी बनाकर अपना वक्तव्य कह ही नही सकता। अप्रस्तुत-विधान के समय कवि की कल्पना-वृत्ति सतह पर आ गयी होती है। वस्तुतः चिन्ता करते समय भी कवि वैज्ञानिक की भाँति तथ्य का विश्लेषण नही करता होता, बल्कि सत्य को सुन्दर करके रखने का प्रयास करता है (दे. 39-40)।

(3) कवि अपने सीमित व्यक्तित्व के भीतर जिस सुख-दुःख का अनुभव प्राप्त किये होता है, उसे वह जब कल्पना के साहाय्य से, छन्द, उपमा आदि के सयोग से और निखिल विश्व की मर्म-व्यथा की चिन्ता करके जब निर्वैयक्तिक करके प्रकट करता है, तो उसे हम अनुभूति-अवस्था कहते है। इस अवस्था में कवि अपने सीमित सुख-दुःख को असीम जगत् मे अनुभव करता है। इस प्रकार चिन्ता की अवस्था मे कवि ससार को देखता है और सोचता है कि यह सब क्या हो रहा है, कैसे चल रहा और क्यों चल रहा है? अनुभूति की अवस्था मे वह अनुभव करता है कि वह क्या हो गया है, कौन-सी वेदना या उल्लास, विषाद या हर्ष संसार को किस रूप में परिणत कर रहा है? कल्पना की अवस्था में वह इस जगत् के समानान्तर जगत् की सृष्टि करता है, जिसमें इस जगत् की असुन्दरताएँ और विसदृशताएँ नही रहती; पर अनुभूति की अवस्था में उसके पैर इस दुनिया पर ही जमे रहते है, वह इसे छोड नही सकता।

47. क. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'कल्पना' को काव्य का बोध-पक्ष मानते थे। वे कल्पना और व्यक्तित्व पर अधिक बल देने को बहुत अच्छा नही समझते थे।

एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि " 'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की, पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में, इतनी अधिक मुनादी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हटकर इन्हीं दो पर जा जमी। 'कल्पना' काव्य का बोध-पक्ष है। कल्पना में आयी हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अन्तःसाक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोध-पक्ष के अतिरिक्त काव्य का भाव-पक्ष भी है। कल्पना को रूप-योजना के लिए प्रेरित करनेवाले और कल्पना मे आती हुई वस्तुओं मे श्रोता या पाठक को रमानेवाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि भाव या मनोविकार होते हैं। इसी से भारतीय दृष्टि ने भाव-पक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम मे 'कल्पना'-'कल्पना' की पुकार के सामने धीरे-धीरे समीक्षकों का ध्यान भाव-पक्ष से हट गया और बोध-पक्ष ही पर भिड़ गया। काव्य की रमणीयता उस हल्के आनन्द के रूप में ही मानी जाने लगी जिस आनन्द के लिए हम नयी-नयी, सुन्दर, भड़कीली और विलक्षण वस्तुओं को देखते जाते है। इस प्रकार कवि तमाशा दिखानेवाले के रूप में और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशबीन के रूप मे समझे जाने लगे। केवल देखने का आनन्द कुछ विलक्षण को देखने का कुतूहल-मात्र होता है।"

48. भौतिकवादी वैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला में यह बात सिद्ध कर दी है कि संसार की सम्पूर्ण शक्ति में घटती-बढती नही होती। एक वस्तु को जब हम नष्ट होते देखते है तो वस्तुतः उसी परिमाण मे अन्य वस्तुएँ बनती रहती हैं—ससार की समूची शक्ति जैसी-की-तैसी बनी रहती है। कुछ नवीन विपर्य-मूलतावादी पश्चिमी दार्शनिकों ने इस मत का प्रत्याख्यान किया है। उनका मत यह है कि मानसिक चिन्ता के रूप मे हम नित्य इस विश्व-शक्ति में कुछ बढाते जा रहे हैं। कवियों की मानसी सृष्टि सत् वस्तु है— अर्थात् वह कल्पना होने के कारण मिथ्या नही है, बल्कि उसका अस्तित्व है—और वह निश्चय ही नित्य-नवीन होकर बढ़ती जा रही है। मै इस मत को नही समझ पाता, यह यहाँ साफ-साफ स्वीकार कर लेना ही अच्छा है। 'गीता' मे कहा है कि जो वस्तु है ही नही वह कभी हो ही नही सकती और जो है वह कभी 'ना' नही हो सकती। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत इसी का अनुवाद है। परन्तु यह सच है कि वाल्मीकि ने जो मानसी सृष्टि की है वही तुलसीदास की मानसी सृष्टि नही है, और मैथिलीशरण गुप्त की भी निश्चय ही भिन्न सृष्टि है। तो क्या ये नयी रचनाएँ विश्व में कुछ नयी बातें नही जोड़ रही है ? क्या मानसिक होने के कारण ही वे शून्य हैं ? मेरा उत्तर है कि यह बात नही है। ये सभी रचनाएँ नयी भी हैं और सत्य भी है, पर इनकी रचना के लिए भी किसी-न-किसी ऐसी ही वस्तु का उपयोग हुआ है जो पहले से ही है और बाद मे भी रहेगी।

जो बात भौतिक जगत् मे हम देख रहे हैं यह उससे मिलती-जुलती है। नयी सामाजिक परिस्थितियां पुराने सड़े विचारो का खाद संग्रह करती है और उर्वर कवि-चित्तभूमि मे नया जीवन्त विचार अंकुरित होता है। पुराने बहुत-कुछ को

खाकर ही ये विचार नवीन होते है। जिस प्रकार ईंट-पत्थरों का ताजमहल नाना स्थानों के पत्थर, मिट्टी, मसाले और मानव-श्रम को खपाकर बना है वैसे ही रवीन्द्रनाथ की 'गीताजलि' नाना स्थानों की कल्पना, अनुभूति और चिन्तन को पचाकर बनी है। पुराने पण्डितो ने इसी बात को फक्कड़पन के लहजे मे कहा था, कोई कवि ऐसा नही है जो चोर न हो—'नास्त्यचौरः कविजनः !' कहने का मतलब यह है कि मानसी सृष्टि भी पुराने विचारो से ही तैयार होती है।

49. काव्य मे विषयी के प्रधान होने से उन गीत-प्रधान मुक्तकों का प्रचलन बढ़ गया है जो व्यक्तिगत भावोच्छ्वास को आश्रय करके लिखे जाते है। इग्लैण्ड मे जब व्यावसायिक क्रान्ति हुई तो वहाँ के सास्कृतिक जीवन मे बड़ा परिवर्त्तन हुआ था। उस परिवर्त्तन के समय कवियों में और विचारको में सामाजिक रूढ़ियो के प्रति अनास्था का भाव बढा था और व्यक्तिगत स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज्म) का जोर रहा। अग्रेजी अमलदारी के साथ-ही-साथ इस देश में अग्रेजी साहित्य पढाया जाने लगा। उसी के फलस्वरूप इस देश के कवियों मे भी वैयक्तिक स्वाधीनता (इण्डिविजुअल लिबर्टी) का जोर बढता गया। इंग्लैण्ड और इस देश की परिस्थिति एक-जैसी नही थी। इग्लैण्ड मे यह हवा वहाँ के भीतरी जीवन का परिणाम थी, जबकि इस देश मे वह विदेशी ससर्ग और अन्य कारण का फल था। शुरू-शुरू में इसीलिए वह अस्वाभाविक-सी लगी, परन्तु ज्यो-ज्यो समय बीतता गया त्यों-त्यों कविगण अपने देश की वास्तविक परिस्थिति के साथ और अपनी साहित्यिक परम्परा के साथ सामजस्य खोजते गये। सामजस्य खोजनेवालों में प्रमुख कवि है: प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा। इन कवियों ने भाव मे, भाषा में, छन्द मे और मण्डन-शिल्प (डेकोरेशन) मे नवीन विचारों के साथ सामजस्य किया। इस व्यक्तिगत स्वच्छन्दतावाद के साथ-ही-साथ नाना भाव के प्रगीत मुक्तक इस देश में लिखे जाने लगे।

हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि इनमें कुछ कल्पनामूलक है, कुछ चिन्तनमूलक और कुछ अनुभूतिमूलक। मुक्तक इस देश में नयी चीज नही है। हाल की 'प्राकृत सतसई' और अमरुक का सस्कृत 'अमरुक-शतक' और 'बिहारी-सतसई' मुक्तक-काव्य ही है। "मुक्तक मे प्रबन्ध के समान रस की धारा नही रहती, जिसमें कथा-प्रसग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छीटे पड़ते है जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड-दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणो के लिए मन्त्रमुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त सक्षिप्त और सशक्त भाषा में व्यक्त करना पड़ता है।" (रामचन्द्र शुक्ल)

इन प्राचीन मुक्तकों में कवि की कल्पना कुछ ऐसे शास्त्ररूढ़ व्यापारों की योजना करती थी जिनसे किसी रस या भाव की व्यंजना सुकर हो। आधुनिक प्रगीत-मुक्तक कवि के भावावेश के महत् क्षणों की रचना होते हैं, उनमें गीत की सहज और हल्की गति होती है। इनकी गुलदस्तों के साथ तुलना नहीं की जा सकती। ये विच्छिन्न जीवन-चित्र होने पर भी प्रभावशील होते हैं और इनमें शास्त्र-रूढ़ व्यापार-योजना की आवश्यकता नहीं होती। पुराने रूपकों में कवि-कल्पना की समाहार-शक्ति प्रधान हिस्सा लेती थी, पर आधुनिक मुक्तकों में कवि का भाववेग ही प्रधान होता है।

50. परन्तु इतना स्मरण रखना उचित है कि आजकल के प्रगीत-मुक्तकों मे यद्यपि व्यक्तिगत अनुभूति का प्राधान्य है तो भी वे इसलिए हमारे चित्त में आनन्द का सचार नहीं करती कि वे कवि की व्यक्तिगत अनुभूति हैं, बल्कि इस-लिए कि वे हमारी अपनी अनुभूतियों को जाग्रत करती है। हमने शुरू में ही लक्ष्य किया है कि सहृदय के चित्त मे वासनारूप में स्थित भाव को ही कविता उद्बुद्ध करती है। जो बात हमारे मन को आनन्द से हिल्लोलित कर देती है वह हमारी अपनी होती है। इसलिए यद्यपि आज के अच्छे मुक्तक-लेखक कवि की विषय-ग्राहिता परम्परा-समर्थित न होकर आत्मानुभूतिमूलक है—वस्तुतः यह आत्मानुभूति सदा ही कवि मे रही है, फिर वह आज का युग हो या हजारो वर्ष पहले का—तथापि वह पाठक के भीतर जो भाव है उसी को उद्बुद्ध करके रस-संचार करता है।

इस बात को किसी अंग्रेज समालोचक ने इस प्रकार कहा है कि आधुनिक प्रगीत मुक्तकों की अपनी अनुभूति के बल पर कवि सहृदय पाठक के हृदय मे प्रवेश करता है और उसके हृदय मे स्थित उसी भाव के अनुभव करनेवाले कवि के साथ एकात्मता का सम्बन्ध स्थापित करता है। इस बात को इस प्रकार भी कहा गया है कि यद्यपि आज का प्रगीत-मुक्तक व्यक्तिगत विषय-ग्राहिता का परिणाम है, परन्तु वह उतना ही सामाजिक है जितना रीति-कालीन रूढ़ियो की योजना के भीतर से गृहीत मुक्तक होता था। इस प्रकार दोनो में समानता की मात्रा कम नहीं है। व्यक्तिगत होने के कारण इन अनुभूतियो का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है।

पुराने मुक्तक में जिन विभावों की योजना केवल उद्दीपन के रूप में होती थी और जिन अनुभावों का वर्णन केवल मानवीय मनोरोगो की अपेक्षा में ही होता था, वे विभाव अब आलम्बन के रूप में योजित होने लगे है और वे अनुभाव अब मनुष्य से बाहर के जगत् के कल्पित मनोरागो के सम्बन्ध में वर्णित किये जाने लगे हैं। ऐसा करने के कारण भाषा में अधिकाधिक लक्षणात्मकता आने लगी है, क्योंकि जड़ प्रकृति को यदि आलम्बन बनाकर उसमें अनुभावो और हावों की योजना की जायेगी तो लक्षणा-वृत्ति का आश्रय लेना पड़ेगा। किसी-किसी वृद्ध आचार्य को इस प्रकार की योजना पसन्द नहीं आयी है।

51. परिस्थितियों के बदलने के कारण कवि ने ही अपनी कारीगरी का

माध्यम नहीं वदला है; ग्राज का सहृदय भी प्राचीन काल के सहृदय से भिन्न हो गया है। एकाध उदाहरण लेकर इसे समझा जाये :

माए घरोवग्ररणं ग्रज्जहु णत्थित्ति साहिअं तुमए।
ता भण किं करणिज्ज एमेग्र ण वासरो ट्ठाइ ॥

[माँ, यह तो तुमने पहले ही वता रखा है कि ग्राज घर के काम-धन्धे की कोई सामग्री नहीं। तो वताग्रो, मुझे क्या करना है, दिन तो यों ही पड़ा नही रहेगा !]

'काव्य-प्रकाश' के ग्राचार्य मम्मट ने इस कविता को व्यग्यार्थ के प्रसग मे उद्धृत किया है। उन्होने इसमें यह ध्वनि वतायी है कि लड़की ग्रपने प्रिय से मिलने को व्याकुल है, ग्रतएव वह गृहकार्य का वहाना वनाकर वाहर जाना चाहती है। श्लोक से यह वात साफ मालूम होती है कि घर मे गृहकर्म के उपकरण नही है। यह वात वाहर जाने के लिए जरूरत से ज्यादा कारण हो सकती है। पर ग्राज तक किसी सहृदय ने मम्मट की वात पर सन्देह नही किया, क्योंकि कवि ने जिस 'स्पिरिट' मे कविता लिखी थी उसे उन्होने ठीक ही पकड़ा था। उस युग में कोई भी समालोचक इसमें ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा की मिलन-विरह-वेदना का ग्राभास पाकर उपहासास्पद वनाना पसन्द न करता; क्योंकि उस युग में ग्रात्मा-परमात्मा सर्वत्र मिलते थे, इस श्लोक में न भी मिलते तो कवि या सहृदय को कोई चिन्ता न थी। एक नयी कविता ग्रागे उद्धृत की जा रही है। इसमे विहारार्थिनी की व्यंजना ग्रधिक साफ हो सकती थी, पर कोई सहृदय ऐसा व्यग्यार्थ निकालकर इस युग में उपहासास्पद हुए विना न रहेगा :

ग्रामि कोन् छले जाव घाटे ?
शाखा थरथर पाता मरमर—
छाया सुशीतल बाटे ?
वेला बेशि नाइ, दिन हल शोध,
छाया वेड़े पाय, पड़े ग्रासे रोद,
ए वेला केमन काटे ?
ग्रामि कोन् छले जाव घाटे ?

(रवीन्द्रनाथ)

[मैं किस वहाने घाट पर जाऊँ ? किस छल से उस रास्ते पर जाऊँ, जहाँ शाखाएँ थर-थर काँप रही है, पत्ते मर्मर-ध्वनि कर रहे है। ग्रव ग्रधिक समय नही है, दिन समाप्त हो चला है, छाया वढती जा रही है; हाय, यह समय कैसे कटेगा ? मैं किस वहाने घाट पर जाऊँ !]

52. ऊपर रवीन्द्रनाथ की जो कविता उद्धृत की गयी है, उसमें निश्चय ही एक प्रकार का प्रेम-व्यग्य है। वह प्रेम मनुष्य का ही है, पर उसका ग्रालम्वन मनुष्य नही है वल्कि नदी है, घाट है, रास्ता है, वृक्ष हैं, झुरमुट हैं। मध्ययुग मे इन वस्तुग्रों को केवल उद्दीपन विभाव (दे. 27) के रूप में देखने की चलन हो गयी थी। मनुष्य के प्रेम का ग्रालम्वन मनुष्य ही हो सकता है, यह वात कुछ जँचती

नहीं मालूम होती।

आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने प्रेम-प्रतिष्ठा के दो कारण बताये हैं : (1) सुन्दर रूप के अनुभव द्वारा, और (2) साहचर्य द्वारा। शुक्लजी का कहना है कि सुन्दर रूप के आधार पर जो प्रेम-भाव या लोभ प्रतिष्ठित होता है उसकी कारण-परम्परा पहचानी जा सकती है, हम उसका क्रम देख सकते हैं। परन्तु जो प्रेम केवल साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित और पल्लवित होता है, वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान-शून्य होता है। "यदि हम किसी किसान को उसकी झोपड़ी से हटाकर किसी दूर देश में ले जाकर राजभवन में टिका दें तो वह उस झोपड़ी का, उसके छप्पर पर चढ़ी हुई बेल का, सामने के नीम के पेड़ का, द्वार पर बँधे हुए चौपायों का ध्यान करके आँसू बहायेगा। वह कभी नहीं समझता कि मेरा झोपड़ा इस राज-भवन से सुन्दर था, परन्तु फिर भी इस झोपड़े का प्रेम उसके हृदय में बना हुआ है। वह रूप प्रेम-सौन्दर्यगत नहीं है; सच्चा, स्वाभाविक और हेतु-ज्ञान-शून्य प्रेम है। इस प्रेम को रूप-सौन्दर्यगत प्रेम नहीं पहुँच सकता।" रवीन्द्रनाथ की कविता में यही प्रेम प्रकट हुआ है।

ब्रजभाषा की कविताओं में यह भाव है ही नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता; पर कम है, यह बात ठीक है। श्रीकृष्ण ने जब कहा था कि 'कोटिनहू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं', तो वहाँ करील के कुंज ही उनके प्रेम के आलम्बन थे। यह व्याख्या उतनी मनोहर नहीं है कि करील के कुंज उन्हें इसलिए प्रिय थे कि वे गोपियों के साथ जो प्रेमलीला होती थी उसे उद्दीप्त करने के साधन थे। प्रकृति के विभिन्न रूपों के लिए हमारे चित्त में जो आकर्षण है वह केवल इसलिए नहीं कि हमारे मानवाश्रित प्रेम को उत्तेजित करते है, बल्कि इसलिए कि हमारे अन्तःकरण में निहित वासना को उसी प्रकार उद्बुद्ध करते है जिस प्रकार नायक-नायिका के प्रेमालाप हमारे अन्त.करण में वासनारूप से स्थित स्थायीभाव को उद्बुद्ध करते हैं। इसलिए ये भी हमारी रसानुभूति के कारण हैं।

पं. रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "वनों, पर्वतों, नदी-नालों, कछारों, पटपरों, खेतों, खेतो की नालियो और घास के बीच से गयी हुई ढुर्रियो, हल, बैलो, झोपड़ों और श्रम में लगे हुए किसानों इत्यादि में जो आकर्षण हमारे लिए है वह हमारे अन्तःकरण में निहित वासना के कारण है, असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभा के कारण नहीं। जो केवल पावस की हरियाली और वसन्त के पुष्प-हास के समय ही वनों और खेतों को देखकर प्रसन्न हो सकते है, जिन्हें केवल मंजरी-मण्डित रसालों, प्रफुल्ल कदम्बो, और सघन मालती-कुंजो का ही दर्शन प्रिय लगता है, ग्रीष्म के खुले हुए पटपर, खेत और मैदान, शिशिर की पत्र-विहीन, नंगी-वृक्षावली और झाड़-बबूल आदि जिनके हृदय को कुछ भी स्पर्श नहीं करते, उनकी प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिए। वे अपने विलास या सुख की सामग्री प्रकृति में ढूँढते हैं, उनमें उस सत्व की कमी है जो सत्तामात्र के साथ एकीकरण की अनुभति द्वारा लीन करके आत्मसत्ता के विभुत्व का आभास देती है।

"सम्पूर्ण सत्ता, क्या भौतिक क्या आध्यात्मिक, एक ही परम-सत्ता या परम-भाव (दे. 5-6) के अन्तर्गत है। अतः ज्ञान या तर्क-बुद्धि द्वारा हम जिस अद्वैत भाव तक पहुँचते है उसी भाव तक इस 'सत्व' गुण के बल पर हमारी रागात्मिका वृत्ति भी पहुँचती है (तुल. 29)। इस प्रकार अन्ततः वृत्तियो का समन्वय हो जाता है। यदि हम ज्ञान द्वारा सर्वभूत को आत्मवत् जान सकते है तो रागात्मिका वृत्ति द्वारा उसका अनुभव भी कर सकते है। तर्क-बुद्धि से हारकर परमज्ञानी भी इस स्वानुभूति का आश्रय लेते है। अतः परमार्थ दृष्टि से, दर्शन और काव्य दोनो अन्त.करण की भिन्न-भिन्न वृत्तियो का आश्रय लेकर, एक ही लक्ष्य की ओर ले जानेवाले हैं। इस व्यापक दृष्टि से काव्य का विवेचन करने से लक्षण-ग्रन्थो में निर्दिष्ट सकीर्णता कहीं-कहीं बहुत खटकती है। वन, उपवन, चाँदनी इत्यादि को दाम्पत्य-रति के उद्दीपन-मात्र मानने से सन्तोष नही होता।"

53. विषयि-प्रधान कवि प्रकृति को आलम्बन के रूप मे चित्रित करने लगा है। लेकिन यह युग वैयक्तिक स्वाधीनता का है। आधुनिक कवि ने प्राचीन साहित्यिक रूढियों की उपेक्षा की है, उसने अपने देखने का ढग भी अपना ही रखा है। इसका परिणाम यह हुआ कि आलम्बन होने पर भी प्रकृति का बिम्ब-ग्रहण सबने एक *ही ढंग से नही किया है*। देखने के *ढग बदलने के कारण द्रष्टव्य के नाना* पहलू नाना भाव से प्रधान होकर अनुराग-विराग के साधन बने है। इन भेदो को गिना सकना सम्भव नहीं है। कुछ मोटे भेद इस प्रकार बताये जा सकते है.

(1) वाच्यार्थ-प्रधान दृष्टि, (2) *लक्ष्यार्थ-प्रधान* दृष्टि, और (3) *व्यग्यार्थ* प्रधान दृष्टि।

विषयि-प्रधान कवि के सामने यह सारा विश्व मानो एक काव्य-ग्रन्थ है। वह इस काव्य-ग्रन्थ का अर्थ अपने ढंग से समझता है।

(1) वाच्यार्थ-प्रधान दृष्टिवाले कवि इस जगत् को यह जैसा है वैसा ही देखते हैं। इसके नद-नदी, पहाड़, जंगल अपने-आपमे परिपूर्ण और महनीय हैं। वे जैसे हैं वैसे ही महान् है। अभिव्यक्तिवादी कवि इसी श्रेणी के हैं।

(2) लक्ष्यार्थ-प्रधान दृष्टिवाले कवि मानते है कि जगत् अपने-आपमें बाधित है। *प्रकृति लाख-लाख बीज प्रति वर्ष पैदा करती है। उनमे से अधिकाश नष्ट हो* जाते है, कुछ थोड़े-से जीवित रह पाते है। यह लाख-लाख नष्ट होनेवाले बीज कुछ असत्य हो, ऐसी बात नहीं; परन्तु वे अपने-आपमे ही सम्पूर्ण सत्य नही हो सकते। किसी विराट् प्रयोजन के लिए यह महानाश का कारबार चल रहा है। इन कवियो के मत से इस सृष्टि की सिद्धि के लिए दूसरे किसी का आक्षेप अपेक्षित है, या फिर दूसरी सिद्धि के लिए यह अपना अर्थ ही खो देती है।

(3) व्यग्यार्थ-प्रधान दृष्टिवाले कवि के लिए यह जगत् केवल एक उपलक्ष्य-मात्र है, एक इशारा-भर है। सत्य है इसके पीछे प्रच्छन्न रहस्य। इस जगत् की प्रत्येक वस्तु परमार्थत. उस प्रच्छन्न रहस्य की ओर ही सकेत कर रही है। ससार की प्रत्येक वस्तु मानो उस अपरिचित रहस्य की ओर ध्यान खीचनेवाली अँगुली

है जो स्वयं कुछ न होकर उसी को दिखा रही है। अनादिकाल से मानव-चित्त में यह रहस्य वर्तमान है। आदि-मानव के मनोजगत् की यह रहस्य-भावना मध्ययुग तक नाना स्तरों को पार करती हुई लीलामय भगवान् के रूप में प्रकट हुई थी। आज संसार में जब उस अतृप्त भावना के लिए अकुण्ठ मार्ग नहीं रह गया है तो वह रसमय काव्य-संसार में पूर्ण रूप से आत्म-प्रकाश करने लगी है।

54. हिन्दी में जब नवीन युग की हवा बही तो जो विषयि-प्रधान कविताएं भी लिखी जाने लगीं, वे सभी कविताएँ एक ही श्रेणी की नहीं थीं। कुछ वाच्यार्थ-प्रधान थीं, कुछ व्यंग्यार्थ-प्रधान। पर सबमें प्राचीन रूढ़ियों की उपेक्षा की गयी थी। किसी ने इस प्रकार की सब कविताओं का नाम 'छायावाद' रख दिया। बाद में व्यंग्यार्थ-प्रधान दृष्टि रखनेवाले कवियों को यह नाम उपयुक्त नहीं लगा। उन्होंने सशोधन करके 'रहस्यवाद' नाम दिया। कुछ दिन तक ये दोनों ही शब्द चलते रहे। अब तक पण्डितों ने दोनों शब्दों का अलग-अलग अर्थ नियत कर दिया है।

पं. रामचन्द्र शुक्ल के मत से छायावाद के दो अर्थ होते हैं : (1) एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है, अर्थात् जहाँ कवि किसी अज्ञात और अनन्त प्रियतम को अवलम्ब बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार से प्रेम की व्यंजना करता है; और (2) दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है। छायावाद का सामान्यतः यह अर्थ हुआ—प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत (दे. 32) का कथन। शुक्लजी ने लिखा है कि "छायावाद का पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो चलनेवाली श्री महादेवी ही हैं। पन्त, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्र-भाषा-शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाये।"

यह प्रतीक-पद्धति क्या है ? शुक्लजी ही के शब्दों में कहा जाय तो "चित्र-भाषा-शैली या प्रतीक-पद्धति के अन्तर्गत जिस प्रकार वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का (दे. 21-22) व्यवहार होता है, उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसग पर अप्रस्तुत चित्रों का विधान भी। अतः अन्योक्ति-पद्धति का अवलम्बन ही छाया-वाद का एक विशेष लक्षण हुआ।"

वस्तुतः आचार्य शुक्ल छायावाद को एक शैली-विशेष ही अधिक समझते थे। इस शैली की मुख्य विशेषताएँ ये हैं : लाक्षणिकता, प्रभाव-रहस्य पर जोर, प्रकृति के वस्तु-व्यापारों पर मानुषी वृत्तियों का आरोप, प्रेमगीतात्मक प्रवृत्ति।

किन्तु श्री महादेवी वर्मा के मत से छायावाद की तीन विशेषताएँ हैं : (1) व्यक्तिगत अनुभव में प्राण-संचार, अर्थात् कवि व्यक्ति-रूप में जो अनुभव करता है वह उसके अपने जीवन की देन है, वह किसी रूढ़ि या शास्त्र के बताये हुए विषय को घोखता नहीं रहता; (2) प्रकृति के अनेक रूपों में महाप्राण का अनुभव, और (3) ससीम और असीम का ऐसा सम्बन्ध जिसमें एक प्रकार के

अलौकिक व्यक्तित्व का आरोप हो। इस प्रकार महादेवी वर्मा छायावाद को शैली-विशेष ही नही मानती, वे काव्य-वस्तु की ओर से भी इस पर विचार करती हैं। रहस्यवाद इसके बाद की वस्तु है। महादेवीजी कहती है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है, उसमे जब तक अनुरागजन्य विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नही हो पाते। परन्तु मनुष्य के हृदय का अभाव तब तक दूर नही होता जब तक यह सम्बन्ध सीमाहीन के प्रति न हो। सो, उस सीमाहीन अनन्त सत्ता मे एक मधुर व्यक्तित्व का आरोप करके उसके प्रति जो अनुरागजन्य सरस आत्म-निवेदनमूलक कविताएँ है उन्ही मे रहस्यवाद होता है।

55. मुझे ऐसा लगता है कि रहस्यवादी कविता का केन्द्रविन्दु वह वस्तु है जिसे भक्ति-साहित्य मे 'लीला' कहते है। यद्यपि रहस्यवादी कवि भक्तों की भाँति पद-पद पर भगवान् का नाम लेकर भाव-विह्वल नही हो जाता, परन्तु वह मूलतः है भक्त ही। उसका भगवान् पर अविचलित विश्वास होता है। ये भगवान् अगम-अगोचर तो है ही, वाणी और मन के अतीत भी है, फिर भी रहस्यवादी कवि उनको प्रतिदिन प्रतिक्षण देखता रहता है। वे ज्ञान के अगम्य होकर भी प्रेम के वशीभूत हैं, क्योंकि ज्ञान सब मिलाकर हमारी अल्पज्ञता को ही दिखा देता है, पर प्रेम समस्त त्रुटियो और विच्युतियो को भर देता है। संसार में जो कुछ घट रहा है, और जो घटना सम्भव है, वह सब उस परमप्रेममय की लीला है— इसे देखने में आनन्द आता है। भक्त उससे प्रेम करके अपनी समस्त त्रुटियों को पूर्ण करता है। इसलिए महादेवी वर्मा ने कहा है कि मनुष्य के हृदय का अभाव तब तक दूर नहीं होता जब तक सीमाहीन के प्रति रागात्मक सम्बन्ध न हो। सीमाहीन अर्थात् परम प्रेममय भगवान्। भगवान् के साथ की यह निरन्तर चलनेवाली प्रेम-केलि ही रहस्यवादी कविता का केन्द्रविन्दु है। इसी को किसी और उपयुक्त शब्द के अभाव मे पश्चिम के समालोचकों ने 'मिस्टिसिज्म' कहा है, और इसी को ठीक-ठीक न समझने के कारण, न जाने किसने, रहस्यवाद नाम दे दिया था। यह नाम भ्रामक है, क्योंकि 'लीला' कोई रहस्यवाद नहीं है। रहस्य जिज्ञासा का नाम है, लीला समाधान का। आधुनिक हिन्दी कविता मे इस तत्त्व का सर्वोत्तम विकास महादेवी वर्मा की कविताओं मे ही मिलता है।

56. विषयि-प्रधानता के साथ-साथ काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है। केवल चेतन मन के विचार, अनुभव या संस्कार ही उस का विषय नहीं हो गये हैं। फ्रायड के मनोविज्ञान ने बताया है कि मनुष्य के मन का चेतन अंश उसके ऊपर-ऊपर का हिस्सा है। नीचे का हिस्सा अवचेतन मन है जो बहुत शक्तिशाली वस्तु है। इस अवचेतन मन की अस्पष्ट और अव्यवस्थित अनुभूतियाँ भी [illegible] काव्य का विषय होने लगी हैं। स्वप्न, [illegible] भाव और दिवा-स्वप्न की [illegible] बातें भी काव्य का मनोहर विषय समझी जाने लगी हैं, [illegible] वैज्ञानिक और मन-सम्बंधी [illegible] के चमत्कार ने [illegible]

जटिलता का सूत्रपात किया है। प्रतीकों ने शब्दों को दबोच दिया है। हमने शुरू में ही लक्ष्य किया है कि शब्द और अर्थ दोनों को लेकर साहित्य बनता है। जहाँ शब्दो की उपेक्षा हुई हो वहाँ कविता सम्भव ही नही है। इस जटिलता के द्वारा नग्न यथार्थवादी काव्य-साहित्य को सम्पूर्ण रूप से पराहत कर देने के कारण ये कविताएं अति यथार्थवादी कही जाने लगी है। फ्रायड के मनोविज्ञान-शास्त्र ने अवचेतन मन के जिन प्रतीको की स्थापना की है, उनका खुलकर व्यवहार होने लगा है।

57. हमने अबतक काव्य के भिन्न-भिन्न उपकरणों पर विचार किया है। ये उपकरण काव्य को और कवि के उद्दिष्ट अर्थ को समझने में सहायक हैं। इन उपकरणो और शैलियों को ही मुख्य मानने की जरूरत नही। काव्य कोई संकीर्ण बुद्धि-विलास नही है। वह मनुष्य के जीवन के सब-कुछ को लेकर बनता है। आदिकवि वाल्मीकि को आम्नाय से भिन्न छन्द मिला था, यह कहानी सबकी जानी हुई है। परन्तु उन्हें उपयुक्त विषय नही मिल रहा था। वे उन्मत्त की भाँति घूम रहे थे। उसी समय नारद से उनका साक्षात्कार हुआ। नारद ने उन्हे विषय सुझाया था। उन्होने कहा था कि अब तक देवताओं को मनुष्य बनाया गया है, अब तुम मनुष्य को देवता बनाओ।

मनुष्य को देवता बनाना ही काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है। मनुष्य को उसकी स्वार्थ-बुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्वगुण मे प्रतिष्ठित करना, परदुःखकातर और संवेदनशील बनाना और निखिल जगत् के भीतर चिरस्तब्ध 'एक' की अनुभूति के द्वारा प्राणि-मात्र के साथ आत्मीयता का अनुभव कराना ही काव्य का काम है। छन्द, अलंकार, पद-लालित्य और शैलियाँ इसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के साधन हैं। इस उद्देश्य को वह अन्यान्य मनीषियो की भाँति दीर्घ व्याख्या करके नही सिद्ध करता, बल्कि इन साधनो की सहायता से वह महान् सत्य को आसानी से व्यंग्य करता रहता है। यह हम पहले ही लक्ष्य कर चुके है कि उत्तम व्यंग्य या ध्वनि ही काव्य का प्राण है।

57 क. भारतीय साहित्य में नयी भाव-धारा का आगमन कुछ लोगों के लिए चिन्ता का विषय हो गया है। कभी-कभी उसे इसलिए निन्दनीय मान लिया जाता है कि वह विदेशी सम्पर्क का परिणाम है। परन्तु ऐसा नही सोचना चाहिए।

मैंने 'साहित्य के नये मूल्य' नाम के निबन्ध मे लिखा था कि "जीवन-साहित्य के सम्पर्क मे आने से जीवन्त मनुष्य प्रभावित होता है। उन्नीसवी शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य मे अद्भुत जीवनी-शक्ति उद्वेलित हो रही थी—एक अपूर्व उन्मुक्त भाव-धारा। इसमे परिपाटी-विहित और परम्परा-मुक्त रस-दृष्टि के स्थान पर आत्मानुभूति, आवेगधारा और कल्पना का प्राधान्य था। इस विशिष्ट दृष्टिभङ्गी को अपने ध्यान मे रखकर विद्वानो ने उस युग के साहित्य को स्वच्छन्दतावाद नाम दे दिया है। पर यह शब्द उस साहित्य की आत्मा को सम्पूर्ण रूप से प्रकट करने

में समर्थ नही है। स्वयं इंग्लैण्ड मे उस युग के साहित्य को रोमांटिक साहित्य कहा गया है। रोमांटिक अर्थात् वह साहित्य जो वस्तुतः जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण विशिष्ट रूप ले सका है जो कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित किंवा प्रेरित होता है और स्वय भी इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को चालित और प्रेरित करता रहता है। उस देश के क्लासिकल या परम्परा-समर्थित साहित्य में परिपाटी-विहित रसज्ञता या रस-निष्पत्ति पर जोर दिया गया था, इसीलिए उसमें उस अनासक्तिपूर्ण सौन्दर्य-ग्राहिणी दृष्टि का प्राधान्य था जो अधिकाधिक मात्रा में सामान्य होती है, विशेष नही। जब कोई सहृदय सौन्दर्य और रसबोध के सामान्य मान को स्वीकार कर लेता है तो उसका ध्यान सामान्य भाव से निर्धारित सौन्दर्य के टाइप और नीति तथा सदाचार के परिपाटी-विहित नियमो की ओर केन्द्रित होता है। व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूति तो कल्पना और आवेग के माध्यम से ही प्रकट होती है और जब वह प्रकट होती है तो नीति और सदाचार के परिपाटी-विहित मूल्यों से सब समय उसका सामंजस्य भी नहीं होता। कई बार उसे ऊपरी सतह के सदाचार के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ता है। परन्तु यह विद्रोह उसका मूल स्वर नही होता। हिन्दी साहित्य के छायावादी उत्थान के समय इसी प्रकार की उन्मुक्त आवेग-प्रधान और कल्पना-प्रवण अन्तर्दृष्टि दिखी थी। कई कवियों मे उसका विद्रोहमूलक रूप ही प्रधान हो उठा, परन्तु यह भली-भाँति समझना चाहिए कि यह विद्रोह केवल विशेष प्रकार की वैयक्तिक दृष्टि-भङ्गी के साथ परिपाटी-विहित रसास्वादन का सामंजस्य न हो सकने का बाह्य रूपमात्र है। यदि यही अन्त तक कवि का मुख्य वक्तव्य बना रह जाय तो कवि सफल नही होता। परन्तु जो कवि उसका वास्तविक मूल्य समझता है वह स्थायी और अमर साहित्य का निर्माण करता है। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेजी के जिन साहित्यकारो में उन्मुक्त स्वाधीन दृष्टि-भंगी विकसित हुई थी वे विद्रोही अवश्य थे, परन्तु वह विद्रोह उनकी नवीन भावधारा का एक बाहरी और तत्काल के लिए आवश्यक रूपमात्र था। केवल परम्परा-प्राप्त साहित्य का विरोध करने के लिए या परिपाटी-विहित रसज्ञता का प्रत्याख्यान करने के लिए यह साहित्य नही रचा गया था। इसीलिए उसे 'स्वच्छन्दतावाद' कहना केवल एक पहलू को ही बढा-चढ़ाकर कहना है। भारतवर्ष में इसी स्वाधीन चिन्ताधारा का स्पर्श पाकर नवीन साहित्य निर्मित हुआ था। इसने साहित्य-रसिकों के हृदय में उन्मुक्त भावधारा के प्रति सम्मान बढ़ाया, इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आज परिपाटी-विहित कविता के स्थान पर उन्मुक्त आवेग और अन्तर्दृष्टि-युक्त कल्पनावाली कविता लोकप्रिय हो गयी है। भारतीय सहृदय के चित्त में इस नयी भावधारा ने नया कम्पन उत्पन्न किया है। परन्तु इसे भी 'पाश्चात्य प्रभाव' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यद्यपि यह बात पाश्चात्य देशों के साहित्य के सम्पर्क से ही आयी, तथापि वह वहाँ भी नवीन ही थी। उसके लिए जिस नवीन ढंग के मानसिक गठन की आवश्यकता है वह नये विज्ञान द्वारा उपस्थापित

परिस्थितियों के कारण ही सम्भव हो सका था। जैसा कि पहले ही कहा गया है, इस नवीन साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घनसंश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग, ये दोनों निरन्तर घनीभूत वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य-रूप की प्रधान जननी हैं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि ये दोनों एक-दूसरे से अलग रहकर काम करती हैं। वस्तुतः इनको पृथक्-पृथक् नाम देना और स्वरूप बनाना केवल आलोचना की चर्चा की सहूलियत के लिए ही परिकल्पित हैं। काव्य की अभिव्यक्ति में ये दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे से इस प्रकार गुँथी रहती है कि इन्हें एक-दूसरे से अलग करना कठिन होता है। केवल सहृदय ही यह अनुभव कर सकता है कि कहाँ एक की मात्रा अधिक है और कहाँ दूसरी की कम, कहाँ वे करीब-करीब समान हैं और कहाँ एक ने दूसरी को एकदम दबोच लिया है। परन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, उन्मुक्तता केवल इन दो मनोवृत्तियों का समानान्तर धर्म नहीं है। वह केवल काव्य के क्षेत्र में ही अपने-आपको प्रकाशित नहीं करती। जीवन के विविध क्षेत्रों मे उसकी लीला विराजने लगती है।"

57 ख. यदि उस युग के इंगलैण्ड की बाह्य परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाय तो एक और तथ्य भी प्रकट होगा। इगलैण्ड की साधारण जनता उन दिनों बहुत व्यवहारकुशल दुनियादारी में लगी थी, रोजगार के नये साधन सामने आ रहे थे, दुनिया के कोने-कोने में बृटिश सिंह का जय-निनाद गूँज रहा था और घर में अनायास-लब्ध समृद्धि को भरने का प्रयत्न छोटे-बड़े सभी कर रहे थे। यही बिल्कुल ऊपरी सतह की बात है, किन्तु उस देश के विचारशील लोगों में एक प्रकार की मानसिक अशान्ति अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुई थी, सन्तुलन नष्ट हो रहा था, सवेदनशील चित्त बाहरी समृद्धि और भीतरी औचित्य-बोध के सघर्ष से अस्थिर हो उठा था और भीतर-बाहर के इस सघर्ष ने सुकुमार कलाओ के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना शुरू किया था। कवि-चित्त जब बाह्य परिस्थितियो के साथ समझौता नहीं कर पाता, तब छन्दों की भाषा अत्यन्त प्रभावशाली होकर प्रकट होती है। आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति और बाहरी असुन्दर-सी लगनेवाली परिस्थिति की टकराहट से जो विक्षोभ पैदा होता है वह सभी देशों में काव्य की भाषा को मुखर बना देता है, उसमें मूर्त्त का रूप और आवेग का पंख लगा देता है। आदिकवि के उपाख्यान में इसी तथ्य की ओर इशारा किया गया है। ऋषि का मनुष्योचित रूप अपने आन्तरिक आदेशो के एकदम विरुद्ध पड़नेवाले क्रौंचवधरूपी असुन्दर व्यापार से जब विचलित हुआ था, तभी अशरीरिणी वाणी नवीन छन्दों मे मुखर हो उठी थी। रोमांटिक साहित्य इसी प्रकार के कवि-चित्त के आन्तरिक सौन्दर्य के आदर्श और बाहरी जगत् के एकदम विपरीत परिस्थिति के संघर्ष का परिणाम है। कवि-चित्त का प्रिय आदर्श जब दूर रहता है, तब उसका प्रेम और भी निविड़ हो जाता है, और भी व्याकुल वेदना जगा देता है।

यह गलत बात है कि उसके अभाव से कवि मौन हो जाता है।

इस संघर्ष में कवि के चित्त में विद्रोह का स्वर भी अवश्य मुखर हो उठता है, पर असली और प्रधान स्वर रचनात्मक ही होता है। वह कुछ नया करने का प्रयत्न है जो नया देखने की तीव्र आकांक्षा से उत्प्रेरित होता है और बाह्य असुन्दरता को बदलने के उद्देश्य से परिचालित होता है। इस भावधारा में स्नान करके पुरातन भी नवीन रूप में प्रकट होता है। हमारे देश में कविवर रवीन्द्रनाथ की कविताओं में पुरातन ने जो अपूर्व नवीन सौन्दर्य-लक्ष्मी का रूप लिया है, वह इसी प्रक्रिया का परिणाम है। इस सद्यःस्नाता काव्य-लक्ष्मी की *'प्रत्यग्र मज्जन-विशेषविविक्तकान्तिः'* सचमुच दर्शनीय है। वर्डसवर्थ, शेली, कीट्स आदि कवियों ने जिस मोहक सौन्दर्य-जगत् का निर्माण किया है वह अपनी उपमा आप ही है। इस नवीन भावधारा ने हमारे देश के कवियों के संवेदनशील चित्त को उद्बुद्ध किया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस नये साहित्य के मनन और चिन्तन ने इस देश में वैयक्तिकता-प्रधान नवीन चिन्ता-धारा को जन्म दिया है। इसे केवल विदेशी प्रभाव कहकर-समझकर उपेक्षणीय समझना ठीक नहीं है। हिन्दी के कई प्रतिभाशाली कवियों को इस उन्मुक्त भावधारा ने प्रेरणा दी है। इसके यथार्थ स्वरूप को नहीं समझने से, इसकी आलोचना मध्यकालीन दृष्टि से की जाती है और इस प्रकार कभी-कभी इसे सदोष और त्याज्य समझा जाता है। जो वस्तु त्याज्य हो उसे त्याज्य समझना उचित ही है, पर विवेक-पूर्वक वस्तु के यथार्थ का पता लगाना भी आवश्यक है, नहीं तो जैसा कि दुष्यन्त के मुँह से कालिदास ने कहलवाया है कि अन्धे के सिर पर यदि मालतीमाला डाल दी जाय तो वह साँप समझकर सिर धुनने लगता है।

57 ग. जिन लोगों को इस प्रकार की भावधारा का सच्चा इतिहास नहीं मालूम है वे यदि इसको त्याज्य बताते हैं तो सोचना चाहिए कि उनकी बात विवेक-दृष्टि से कहाँ तक ठीक है। कहीं उन्होंने आँखें तो नहीं मूँद ली। उन दिनों व्यावसायिक क्रान्ति के कारण इंगलैण्ड की राजनीतिक और आर्थिक शक्ति धीरे-धीरे सामन्त-वर्ग के हाथ से निकलकर व्यवसायी-वर्ग के हाथों आ गयी। जिन दिनों वहाँ सामन्तशाही के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन हुआ था उन दिनों पूँजीवाद नया शिशु ही था। साधारण प्रजा के स्वार्थ के साथ उसका विरोध नहीं था। साधारण जनता ने उन दिनों पूँजीवाद के नये पुरस्कर्त्ताओं का साथ दिया था। नये वैज्ञानिक साधनों के उपयोग से जो नयी नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई, उसने कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी कि अनायास ही परम्परा की कड़ियाँ टूटती गयीं, शहर की भीड़-भाड़ ने पुराने सदाचार के नियमों को शिथिल कर दिया, शिक्षा-प्रचार राज्य का कर्त्तव्य मान लिया गया और वैज्ञानिक शोधों के साथ मिली हुई नयी शिक्षा-व्यवस्था ने एक ही साथ वंशगत प्रतिष्ठा और धार्मिक शासन के साथ विद्रोह किया। इस प्रकार परिस्थितियाँ वैयक्तिक स्वाधीनता के अनुकूल थीं। साधारण जनता साहित्य के क्षेत्र में अबाध-भाव से आने लगी। उत्तरकालीन

विक्टोरियन युग की साहित्यिक विशेषता उपन्यासों और समाचार-पत्रों की भर-मार मे प्रकट हुई थी। छापे की मशीन ने साहित्य के क्षेत्र में जनतन्त्र को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित कर दिया। समाज के निचले स्तर से अनेक उर्वर मस्तिष्कवाले इस क्षेत्र मे आये जिन्हे शास्त्रीय अध्ययन और परिपाटी-विहित शिष्टाचार की शिक्षा एकदम नही मिली थी। इस नयी जाति की मेधा ने साहित्य में एक तरफ नया प्राण-सचार किया, दूसरी तरफ विचारगत हल्केपन का भी प्रवेश कराया। ये सब बातें थोडे समय बाद रूप बदलकर हमारे देश के साहित्य मे भी आयीं।

इस समय भारतवर्ष मे जो नयी शिक्षा आयी, वह इंगलैण्ड की इन बहुविध विचार-प्रवृत्तियो से प्रभावित थी। पर इसमें मनुष्यमात्र की समानता सिद्धान्त-रूप मे स्वीकृति हो गयी थी, व्यवहार मे वह राष्ट्र के मनुष्यों तक ही सीमित थी। व्यवहारगत शिथिलता ने वहाँ उस जातिगत उत्कर्ष के भद्दे सिद्धान्त को जन्म दिया, जिसने आगे चलकर ससार मे भयंकर अशान्ति के बीज बो दिये। राष्ट्र के भीतर अवश्य ही स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त स्वीकार कर लिये गये थे।

एडम स्मिथ ने सुझाया था किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उसके व्यक्तियो की योग्यता और स्वाधीनता पर ही निर्भर है। व्यावसायिक क्रान्ति की उथल-पुथल ने कुलीन पुरुष के इस दावे को निर्मूल सिद्ध किया कि कुल-विशेष भगवान् की ओर से गुणो के साथ उत्पन्न किया गया है। व्यवसाय मे, जनता के व्याख्यान-मच पर, कानून बनानेवाली सभाओ मे और जन-चित्त की प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त करनेवाले समाचार-पत्रों में कौलीन्य का कोई विशेष मूल्य नही था। आगे चल-कर यह तर्क भी उपस्थित किया जाने लगा कि वैयक्तिक स्वाधीनता यदि व्यवसाय-वाणिज्य और नागरिक सम्बन्धों मे अच्छी चीज है तो वह सदाचार और नैतिकता के क्षेत्र में क्यो नही अच्छी है। गाडविन ने निस्सन्दिग्ध होकर घोषणा की थी कि मनुष्य स्वभावतः सदाचारी है। अगर सभी कानून और नियम रद्द कर दिये जायें तो मनुष्य की बुद्धि और चरित्र में निस्सन्देह अभूतपूर्व उन्नति होगी। शेली ने इन विचारों को छन्दों की भाषा प्रदान की थी।

उन दिनों सवेदनशील कवियों के चित्त मे ऊपरी सतह की ये हलचलें अपनी निश्चित लाछन-रेखा छोड जाती थी। इन कवियो के चित्त मे जो रचनात्मक प्रतिभा थी, उसमे इन ऊपर से कर्कश दिखनेवाले विचारो की कोमल अभिव्यंजना थी। वस्तुतः यह साहित्य अपने युग की सम्पूर्ण चेतना और विचार-सघर्ष की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति है। यह कहना ठीक नही है कि यह किसी पुराने विचार का नामान्तर मात्र है। इस कथन का अर्थ यदि यह हो कि मूल मानव-मनोवृत्तियाँ वही बनी रहती है, केवल विभिन्न-परिस्थितियों मे उनका ऊपरी रूप परिवर्तित होता रहता है तब तो यह बात किञ्चित स्वीकरणीय हो सकती है, किन्तु यदि इसका अर्थ यह हो कि इसी श्रेणी की या यही भावधारा पहले कभी रही और बाद मे भी कभी आ सकती है तो यह बात स्वीकार-योग्य नहीं होगी। यह कहना

कि कवीर का रहस्यवाद ही रवीन्द्रनाथ का रहस्यवाद है या मीराँ का रूपान्तर ही महादेवी वर्मा हैं, पूर्ण सत्य नही है। ऐसी बातों मे विचारगत गम्भीरता का निदर्शन नहीं। इतिहास अपने-आपको चाहे तथ्यात्मक जगत् मे कभी-कभी दुहरा भी लेता हो, परन्तु विचार की दुनिया मे वह जो गया सो गया, मनुष्य का जीवन अपना उपमान आप ही है। इसमें एक बार जो गलती हो जाती है या भटकाव आ जाता है, वह अनुभव के रूप में और स्मृति के रूप मे कुछ-न-कुछ नया जोड़ जाता है। इस जुड़े हुए अश को किसी भी पूर्ववर्ती युग मे नही पाया जा सकता। स्वय रोमाटिक साहित्यकारों में चौथी शताब्दी में ही विचारगत विभेद और वैशिष्ट्य लक्षित होने लगा था। पण्डितों ने उन्नीसवी शताब्दी के दूसरे चरण के साहित्य मे एक विशेष प्रकार की नयी प्रवृत्ति का सन्धान पाया है जो इसलिए सम्भव हुई थी कि इन दिनो के साहित्यकार इस बात मे सचेत हो गये थे कि वे कुछ नया कर रहे है और उनके प्रधान अस्त्र आवेग और कल्पना है। पूर्ववर्ती साहित्यकारों मे जो एक प्रकार का वाह्य जगत् के प्रति विस्मय का भाव था, वह आदि-मानव के उस मनोभाव का सजातीय था जिसने पौराणिक विश्वासों और तान्त्रिक आचारो को जन्म दिया था जबकि दूसरे चरण के साहित्यकारो मे उस प्रकार का मनोभाव है जो तान्त्रिक आचारों को निर्विवाद रूढियों के रूप में स्वीकार करनेवाले मनुष्य में पाया जाता है।

उपन्यास और कहानी

58. उपन्यास और कहानियाँ हमारे साहित्य मे नयी चीज है। पुराने साहित्य में कथा, आख्यायिका आदि के रूप में इस जाति का साहित्य मिलता है, पर उनमे और आधुनिक कथाओं—उपन्यास और कहानियो—मे मौलिक भेद है। मौका पाकर हम इस भेद को समझने का प्रयत्न करेंगे। अभी तो हम आधुनिक ढग के उपन्यासों और कहानियों की ही चर्चा करने जा रहे है।

59. उपन्यास इस युग का बहुत ही लोकप्रिय साहित्य है। शायद ही कोई पढ़ा-लिखा नौजवान इस जमाने मे ऐसा मिले जिसने दो-चार उपन्यास न पढे हों। यह बहुत मनोरजक साहित्याग माना जाने लगा है। आजकल जब किसी पुस्तक को बहुत मनोरंजक पाया जाता है तो प्राय. कह दिया जाता है कि इस पुस्तक में उपन्यास का-सा आनन्द मिल रहा है। किसी-किसी यूरोपियन समालोचक ने उपन्यास का एक-मात्र गुण उसकी मनोरजकता को ही माना है। इस

साहित्यांग (उपन्यास) ने मनोरंजन के लिए लिखी जानेवाली कविताओं का ही नहीं, नाटकों का भी रंग फीका कर दिया है; क्योंकि पाँच मील दौड़कर रंगशाला में जाने की अपेक्षा पाँच सौ मील दूर से ऐसी किताब मँगा लेना कहीं अधिक आसान हो गया है जो अपना रंगमंच अपने पात्रों में ही लिये हुए हो।

उपन्यास में उन टण्टों की कोई जरूरत नहीं रह जाती जो रंगमंच सजाने में आ खड़े होते हैं। किसी ने बिल्कुल ठीक कहा है कि आज के जमाने में उपन्यास एक ही साथ शिष्टाचार का सम्प्रदाय, बहस का विषय, इतिहास का चित्र और पाकेट का थियेटर है। मशीन ने ही इस जाति के साहित्य का उत्पादन बढ़ाया है और उसी ने इसके वितरण का पथ प्रशस्त किया है। उपन्यास साहित्य में मशीन की विजय-ध्वजा है। ऐसे लोकप्रिय साहित्य को समझने का प्रयत्न क्या करना भला! किन्तु दुनिया में प्रायः ही ऐसा देखा जाता है कि सबसे प्रिय वस्तु को समझने में ही आदमी सबसे अधिक गलती करता है। प्रिय वस्तुओं के प्रति एक प्रकार का मोह हुआ करता है जो ज्ञान का परिपन्थी है। उपन्यास के समझने में भी बहुत गलतियाँ की जाती हैं। सीधी लकीर का खींचना सचमुच टेढ़ा काम है।

60. परन्तु उपन्यास है क्या चीज? हिन्दी के श्रेष्ठ औपन्यासिक प्रेमचन्द ने लिखा है कि "उपन्यास की ऐसी कोई परिभाषा नहीं है जिस पर सब लोग सहमत हों।" फिर भी उन्होंने उसे समझाने का प्रयास किया है। वे कहते हैं:

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। किन्हीं भी दो आदमियों की सूरत नहीं मिलती, उसी भाँति आदमियों के चरित्र नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं, पर इतनी समानता रहने पर भी विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियों के चरित्रों में भी बहुत-कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यह चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व—दिखाना उपन्यास का मूल कर्त्तव्य है।

"सन्तान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो? लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राएँ हैं, उसके भेद हैं। कोई सन्तान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्मभीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी सन्तान के लिए बुरा न हो। कोई औचित्य का लेशमात्र भी विचार नहीं करता और जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय करना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह सन्तान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है जहाँ सन्तान की सच्चरित्रता प्रधान कारण होती है, जबकि पिता उसका कुचरित्र देखकर

उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। इसी प्रकार अन्य मानवी गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म और जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से चरित्रों का चित्रण हो सकेगा। सन्तान-प्रेम की एक दशा यह भी है जब पिता पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर उसका घातक शत्रु हो जाता है। और वह भी सन्तान-प्रेम ही है जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नही होता। एक ऐसा सन्तान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी और जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।"

इस प्रकार प्रेमचन्दजी उपन्यास को बहु-विचित्र मनुष्य-जीवन का चित्र-मात्र मानते हैं। यह चित्र सुन्दर हुआ है या नही और यदि सुन्दर हो सका है तो पाठक की उत्कर्ष-सिद्धि मे कहाँ तक सहायक हुआ है, यह बात फिर भी विचारणीय रह जाती है।

61. उपन्यास और कहानियों की हम इस अध्याय में एक साथ विवेचना करने जा रहे है। इसका कारण यह है कि दोनों वस्तुत: एक ही जाति की चीजें हैं। शुरू-शुरू में तो छोटे उपन्यास को 'कहानी' कहते थे। परन्तु छापे की कल तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार ने छोटी कहानियों का बहुत प्रचार किया और धीरे-धीरे वे स्वतन्त्र हो गयीं। बाद में चलकर यह निश्चय हो गया कि आकार-मात्र ही कहानी की विशेषता नही है। कहानी का अपना एक लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कहानी-लेखक कम-से-कम पात्रों और घटना की योजना करता है। वह लक्ष्य ही प्रधान होता है, घटना और पात्र निमित्त-मात्र। इस प्रकार उपन्यास और कहानी का प्रधान अन्तर यह होता है कि उपन्यास में चरित्रों और घटनाओं का प्राधान्य रहता है, वे केवल निमित्तमात्र नही होते, बल्कि उन्हें स्वच्छन्द रूप से विकसित होने का मौका मिलता है, जबकि ये दोनों ही तत्त्व कहानी में प्रधान न होकर निमित्त-मात्र बने रहते है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह नही कहा जा रहा है कि कहानी में पात्र और घटना गौण होते हैं, बल्कि यह कहा जा रहा है कि वे निमित्त-मात्र होते है; असली बात लक्ष्य होती है। और उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए पात्र और घटना जितने सहायक होते है उतने ही रखे जाते है। लेखक का व्यक्तिगत मत इसमे अधिक स्पष्ट होता है। कुछ समालोचकों ने एक उपमा देकर इस बात को समझाने की चेष्टा की है। उपन्यास एक शाखा-प्रशाखावाला विशाल वृक्ष है, जबकि छोटी कहानी एक सुकुमार लता। कुछ दूसरे समालोचकों ने बताया है कि उपन्यास और कहानी का वही सम्बन्ध है जो महाकाव्य और गीतिकाव्य का। इन उपमाओं के बहाने जो बात कही गयी है उसे स्पष्ट भाषा में इस प्रकार रखा जा सकता है: उपन्यास और कहानी दोनों एक ही जाति के साहित्य हैं; परन्तु उसकी उपजातियाँ इसलिए भिन्न हो जाती है कि उपन्यास मे जहाँ पूरे जीवन

की नाप-जोख होती है, वहाँ कहानी में उसकी सिर्फ एक झाँकी मिल जाती है। मानव-चरित्र के किसी पहलू पर या उसमें घटित किसी एक घटना पर प्रकाश डालने के लिए छोटी कहानी लिखी जाती है।

देखा गया है कि अच्छे उपन्यासकार सब समय अच्छे कहानी-लेखक नहीं हो सके हैं, ठीक उसी प्रकार अच्छे महाकाव्य-लेखक सब समय अच्छे गीतिकाव्य-लेखक नहीं हुए हैं। यह तथ्य इस बात का सबूत है कि कहानी और उपन्यास के लिखने में भिन्न-भिन्न कोटि की प्रतिभा आवश्यक होती है। प्रेमचन्दजी ने कहा है कि कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। कहानी-लेखक का उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य-जीवन को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र के एक अंग-मात्र को दिखाना होता है।

नये आलोचकों के मत से इधर कहानी की कारीगरीवाले दृष्टिकोण में थोड़ा और परिवर्त्तन हुआ है। अब प्रतिभा की अपेक्षा चतुरता और कारीगरी का मूल्य ज्यादा आँका जाने लगा है। इसका नतीजा यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ-काल के लेखकों की लिखी हुई अत्यन्त श्रेष्ठ कहानियों को भी कहानी-कला की दृष्टि से फीका समझा जाने लगा है।

"उन्नीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठ कहानी-लेखक अपनी रचनाओं में मनोरंजकता, रहस्यमय कथानक, मानव-हृदय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, गहरे यथार्थवाद और अनोखी सूझों का समावेश करके कहानियों के क्षेत्र में यथेष्ट सफलता प्राप्त कर लेते थे। परन्तु कहानी-कला के वर्त्तमान आलोचकों की राय में इन सारी बातों की महत्ता बहुत कम रह गयी है। इन चीजों को व्यर्थ या निस्सार तो आज का समालोचक भी नहीं कहता, परन्तु अब यह कहानी के कलेवर को उसकी आत्मा से भी अधिक महत्त्व देने लगा है।" (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार)

परन्तु आज के समालोचक का यह मत केवल सामयिक नवसर्जन-मनोवृत्ति का परिणाम है। इस युग में सबको सब समय कुछ नया गढ़ने का पागलपन ग्रास किये हुए है। कोई आश्चर्य नहीं कि साहित्य के क्षेत्र में इस मनोवृत्ति ने प्रतिभा को कारीगरी के सामने गौण बना दिया है। सही बात, जैसा कि चन्द्रगुप्त विद्यालंकारजी ने कहा, यह है कि प्रतिभा नयी-नयी कारीगरियों को जन्म देती है; वह सदा प्रधान रहेगी।

62. उपन्यास हो या कहानी, उसकी आलोचना करते समय हम एक बात भूल नहीं सकते। वह यह कि उपन्यास या कहानी, और कुछ हो या न हो, एक कहानी या कथा जरूर है। कहानी या कथा में जो बातें आवश्यक हैं वे उनमें अवश्य होनी चाहिए। कोई उपन्यास (या छोटी कहानी) सफल है या नहीं, इस बात की प्रथम कसौटी यह है कि कहानी कहनेवाले ने कहानी ठीक-ठीक सुनायी है या नहीं—अनावश्यक बातों को तूल तो नहीं दिया है, जहाँ-जहाँ कहानी अधिक मर्मस्पर्शी हो सकती थी वहाँ-वहाँ उसने उचित रीति से सम्हाला है या नहीं, छोटी-छोटी बातों में ही उलझकर तो नहीं रह गया, प्रसंगवश आयी हुई घटना का

अधिक वर्णन तो नही करने लगा जिससे पाठक का जी ही ऊब जाय, और सौ बात की एक बात यह है कि वह शुरू से अन्त तक सुननेवाले की उत्सुकता जाग्रत रखने मे नाकामयाब तो नही रहा। कहानीपन इस साहित्य की प्रथम शर्त है।

सभी कहानी नही कह सकते, कुछ लोगों को यह गुण विधाता की ओर से मिला होता है। असल में वे ही लोग अच्छे उपन्यास-लेखक हो सकते है जो कहानीपन के जानकार हैं और शुरू से अन्त तक श्रोता की उत्सुकता बनाये रखने की कला के उस्ताद हैं।

63. कोई भी कहानी हो—यहाँ 'कहानी' नामक साहित्यिक रचना से मतलब नही है, बल्कि लोकप्रचलित मामूली अर्थ मे व्यवहार हो रहा है—उसमें छः बातें जरूरी हैं :

(1) वह कुछ प्राणियों के जीवन की घटना होती है; (2) इन लोगों का सम्बन्ध कुछ घटनाओं या व्यापारों से रहता है; (3) जिनके जीवन की कथा सुनायी जा रही है वे आपस में, और कभी खुद अपने से भी, बातचीत जरूर करते है; (4) कथा की घटना किसी-न-किसी स्थान और किसी-न-किसी काल मे जरूर घटती है; (5) फिर कहनेवाले का अपना कोई-न-कोई ढंग जरूर रहता है। कोई भी कहानी हो ये पाँच बाते उसमें रहती है, यह तय है।

एक छठी बात भी है जो आजकल उपन्यास मे प्रधान हो उठी है। पुराने जमाने में सब समय इसका रहना जरूरी नही समझा जाता था। यह (6) छठी बात है उद्देश्य। उपन्यास में जो छः बातें रहती है, उन्हे शास्त्रीय भाषा मे क्रमशः (1) पात्र, (2) कथा-वस्तु, (3) कथोपकथन, (4) देशकाल, (5) शैली, और (6) उद्देश्य कहते है।

उपन्यास के इन तत्त्वो मे से कभी-कभी एक या दो तत्त्व प्रधान हो जाते है। उनकी प्रधानता के अनुसार उपन्यासो के भिन्न भेद हो जाते है। उदाहरण के लिए, जिन उपन्यासो में पात्रो की प्रधानता होती है वे चरित्रप्रधान और जिनमे घटना की प्रधानता होती है उन्हे घटनाप्रधान उपन्यास कहते है। अन्यान्य बातो की प्रधानता भी उनके नाम पर ही प्रसिद्ध होती है। यदि हम तत्त्वों पर ध्यान देकर विचार करें तो मालूम होगा कि घटना इन सबमें स्थूल वस्तु है और उद्देश्य सबसे सूक्ष्म। इन बातों का अलग-अलग सुन्दर निर्वाह उपन्यासकार का आवश्यक गुण है, परन्तु इन सबके सामंजस्य से ही उपन्यास की कथा मनोहर होती है। इनके उचित सन्निवेश से ही उपन्यास का रसास्वाद सुकर होता है।

64. कथा-वस्तु का ठोस और सुसम्बद्ध होना परम आवश्यक है। कथा की गति को अग्रसर करने के लिए और उसके पात्रो की मनोवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए जितना आवश्यक है उससे कुछ भी अधिक होने से घटनागत औचित्य नष्ट हो जाता है। उद्देश्य-विशेष की सिद्धि के लिए लेखक कभी-कभी ऐसी घटनाओ की योजना करता है जो कथा-वस्तु के ठोसपन की दृष्टि से एकदम अनावश्यक और अप्रासगिक होती है। 'प्रेमाश्रम' में सनातन धर्म-सभा का भड़कीला अधिवेशन

कोई बहुत आवश्यक नहीं था, वह तो सिर्फ जमींदारी-प्रथा की कलंक-रेखा को और भी गाढ़ बना देने के उद्देश्य से लिखा गया था। उसको निकाल देने से मूल कथा का कोई विशेष नुकसान नहीं होता। परन्तु लेखक को जमींदारी-प्रथा और वकालत के पेशे को बुरा सिद्ध करने का मोह था और वे इन लम्बे प्रसंगों को छोड़ नहीं सके।

मूल कथा को उज्ज्वल रूप में प्रत्यक्ष कराने के लिए कभी-कभी ग्रन्थकार अवान्तर घटनाओं की सृष्टि करता है। ये अवान्तर घटनाएँ दो प्रकार से मूलकथा को उज्ज्वल और गतिशील बनाती हैं (1) सहायक के रूप में या (2) विरोधी के रूप में। सुग्रीव और वालि का झगड़ा 'रामायण' की मूल कथा को अग्रसर करने में सहायक है, परन्तु 'गोदान' में होरी की कहानी के साथ रायसाहब आदि उच्चतर वर्ग के लोगों का जो समानान्तर घटना-प्रवाह चलाया गया है, वह इस-लिए कि किसान के जीवन को उसके एकदम प्रतिकूल जीवन की पृष्ठभूमि में रखकर और भी उज्ज्वल रूप में दिखाया जा सके।

घटनागत औचित्य का तकाजा है कि अवान्तर घटनाएँ इस प्रकार मूल घटना के साथ बुन दी जायें कि पाठक को कहीं भी सन्देह न होने पावे कि वह दूसरी कथा भी पढ़ रहा है। 'रंगभूमि' एक तरफ सूरदास आदि ग्रामीण पात्रों की कहानी है और दूसरी तरफ राजे और रईसों की। परन्तु लेखक ने बड़ी मुस्तैदी से दोनों कथा-वस्तुओं को एक-दूसरे से उलझा दिया है। 'गोदान' की कथा-वस्तु में इतनी सफाई नहीं है। इस प्रकार यद्यपि उद्देश्य की सिद्धि के लिए लेखक को बहुत-कुछ करने का साधन और अधिकार प्राप्त है, परन्तु घटनागत औचित्य का निर्वाह भी कम जवाबदेही का काम नहीं है।

65 औचित्य उपन्यास की जान है। औचित्य का अभाव सर्वत्र खटकता है, पर उपन्यास में उसका अभाव तो बहुत अधिक खटकनेवाला होता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में, उनकी बातचीत में, उनके वस्त्रालंकारों के वर्णन में, उनकी रीति-नीति के उपस्थापन में सर्वत्र औचित्य की आवश्यकता होती है। सर्वत्र यह आवश्यक है कि उपन्यासकार पूरी ईमानदारी और सच्चाई से काम ले। इन सब बातों में देश, काल और पात्र के ज्ञान की आवश्यकता रहती है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखनेवाला लेखक उस काल के वातावरण से बँधा होता है। वह कोई भी ऐसी बात अगर लिख दे, जो उस जमाने में सम्भव नहीं थी तो बात खटक जायगी और सहृदय पाठक के रसास्वाद में बाधा उपस्थित होगी।

एक प्रसिद्ध उपन्यासकार ने पठानकाल की एक घटना को आश्रय करके उपन्यास लिखा है। उसमें अमरूद के पेड़ों का वर्णन है। यह बात काल-विरुद्ध है; क्योंकि अमरूद का पेड़ पोर्तुगीजों का ले आया हुआ है। उनसे पहले वह इस देश में था ही नहीं। उपन्यास का एक पात्र खाट पर लेटे-लेटे पुस्तक पढ़ता है, यह भी काल-विरुद्ध बात है। उन दिनों न तो छापे की कल के कारण आधुनिक ढंग के उपन्यास ही थे, न पुट्ठोंवाली पुस्तकें ही थीं, और न लेटे-लेटे पढ़ने की प्रथा ही

थी। उन दिनों खुले पत्रों की पुस्तकों का ही प्रचलन अधिक था। इसी प्रकार देश-विरुद्ध बातें भी खटकनेवाली होती है।

एक लेखक ने उत्तर-भारत के नगरोद्यान के वर्णन-प्रसग में वसन्त-ऋतु में शेफालिका-पुष्पों का वर्णन किया है। दक्षिण-भारत मे तो सुना है, वसन्त मे शेफालिका खिलती है, पर उत्तर-भारत मे यह बात साधारणतः नही दिखती। पात्रगत औचित्य के निर्वाह मे प्रायः प्रमाद का परिचय पाया जाता है। कभी-कभी बड़े-बड़े सम्राटों के मुंह से ऐसी बातें कहलवायी जाती है जो न उनकी पद-मर्यादा के उपयुक्त होती है, और न चरित्र-विकास के। इस औचित्य-निर्वाह के लिए परम आवश्यक है कि उपन्यास-लेखक अपने देश और काल का पूरा जानकार हो, और पात्रों के चरित्र-विकास का समझनेवाला हो। वह जो कुछ कहे, उसका देखा-जांचा और अनुभव किया हुआ हो। ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक की ईमानदारी की भी यह कसौटी है।

कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक प्राचीन काल की बातों को स्वय कैसे देख सकता है। उत्तर यह है कि ऐतिहासिक लेखक का वक्तव्य इतिहास की उत्तम जानकारी तथा उस युग की प्रामाणिक पुस्तकों, मुद्राओं और शिलालेखों के आधार पर जाँची हुई होनी चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यास का लेखक मृत घटनाओ और अर्द्धज्ञान या नाममात्र से परिचित व्यक्तियो के ककाल मे प्राण-सचार करता है। कल्पना उसका प्रधान अस्त्र है। उस पर कल्पना के साथ उसकी जानकारी का सामंजस्य होना चाहिए। अगर उसकी कल्पना के पोषक प्रमाण प्रामाणिक नही हुए तो रसास्वाद में पद-पद पर बाधा पहुँचेगी। इस प्रकार विषयगत औचित्य और विषयिगत ईमानदारी उपन्यास की जान है। ये ही लेखक पर पाठक का विश्वास स्थिर करते है। जो उपन्यास-लेखक पाठक का विश्वास नही अर्जन करता, वह कभी सफल नही हो सकता।

लेखक की ईमानदारी का एक उत्तम उदाहरण सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियों के स्त्री-पात्र है। इनकी कहानियाँ बहुओ—विशेषकर शिक्षित बहुओ—के दुःखपूर्ण जीवन को लेकर लिखी गयी है। उन्होने किताबी ज्ञान के आधार पर या सुनी-सुनायी बातो का आश्रय करके कहानियाँ नही लिखी, बल्कि अपने अनुभवों को ही कहानी के रूप मे रूपान्तरित कर दिया है। यही कारण है कि उनके स्त्री-पात्रो का चरित्र-चित्रण अत्यन्त मार्मिक और स्वाभाविक हुआ है। उनसे परिचय पाकर हम सजीव प्राणियों के संसर्ग में आते है, जो अपने जीवन के उन पहलुओं से हमारा परिचय कराते है, जिन्हे हम बहुत कम जानते है। उस ईमानदारी के कारण ही उनके पात्र इतने प्रभावशाली हो सके है।

66. उपन्यासकार के पात्रो की सजीवता और स्वाभाविकता सदा अपेक्षित है। पाठकों को उनके ससर्ग में आते समय यह विश्वास बना रहना चाहिए कि वे सत्य है, कपोल-कल्पित नही। प्रेमचन्द को 'कल्पना के गढ़े हुए आदमियो मे' विश्वास नही था। उन्होंने लिखा है कि इन गढ़े हुए पात्रो के कार्यो और विचारो से

हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है वह प्रत्यक्ष ग्रनुभवों के ग्राधार पर की गयी है, या ग्रपने पात्रों की जवान से वह खुद वोल रहा है। इसीलिए कुछ समालोचकों ने साहित्य को लेखक का जीवन-चरित्र कहा है। ग्राजकल का लेखक कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्त्ति वनाता है, पर ऐसी जिसमें सजीवता हो; वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से ग्रवलोकन करता है, मनोविज्ञान का ग्रध्ययन करता है ग्रौर इस वात का प्रयत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत मे ग्रौर हर मौके पर इस प्रकार ग्राचरण करें जैसे रक्त-मास का मनुष्य करता है।

पात्रो का चारित्रिक विकास स्वाभाविक होना चाहिए। साधारणतः दो तरह से उपन्यास-लेखक ग्रपने पात्रों के चरित्र का विकास करता है : (1) घटनाग्रो से टक्कर खिलाकर, ग्रौर (2) पात्र के भीतर के स्वाभाविक ग्रंकुर के विशेष गुण को निमित्त बनाकर (दे. 87)। प्रथम को बाह्य उपकरणमूलक विकास कहते हैं ग्रौर दूसरे को ग्रान्तरिक उपकरणमूलक। दूसरे प्रकार का विकास ही स्वाभाविक ग्रौर हृदयग्राही होता है। घटिया श्रेणी के लेखक प्रायः इस विषय में ग्रसफल सिद्ध होते है। उपन्यास का नायक ही जव समस्त घटनाग्रों में योग स्थापित कर रहा हो ग्रौर उन घटनाग्रों का ग्रापस मे कोई सम्बन्ध न हो तो ऐसे कथानक को शिथिल कथानक कहते है; परन्तु यदि घटनाएँ जीवन्त रूप में एक दूसरे से गुँथी हों तो उस कथानक को संग्रथित कहते है।

67. कुछ उपन्यासकार ग्रात्म-कथा की शैली पर उपन्यास लिखते हैं, कुछ डायरी के रूप मे, कुछ चिट्ठियो के रूप मे, कुछ वातचीत के रूप में ग्रौर कुछ पूर्वापर रूप में कहानी को कह जाने के रूप में। सर्वत्र ग्रौचित्य का ध्यान रखना ग्रावश्यक है। ग्रात्म-कथा या डायरी के रूप मे लिखनेवाले पर केवल नायक की जानी हुई वातों के सहारे उपन्यास-गत ग्रौत्सुक्य बनाये रखने तथा रस-परिपाक कराने की जिम्मेदारी होती है। उसे कथा-प्रवाह के वढ़ाव के लिए वड़ी सावधानी से ऐसी नयी-नयी घटनाग्रो का उल्लेख करना पड़ता है, जो पाठक की जानकारी मे सम्भव हों। चिट्ठियों ग्रौर वातचीत के रूप मे लिखे गये उपन्यासो मे लेखक को कुछ ग्रधिक सुविधा प्राप्त होती है, पर बन्धन वहाँ भी होता है। सबसे सहज शैली है उपन्यासकार का सर्वज्ञ वन जाना। दुनिया के वड़े-वड़े उपन्यासकारों ने ग्रधिकतर इसी शैली को ग्रपनाया है। उपन्यासकार वहाँ सब जानता है—पात्र के भीतर क्या घट रहा है, उसके सम्पर्क मे ग्रानेवाले क्या ग्रौर कितना समझ रहे है, वाहर क्या घट रहा है इत्यादि सभी वातें उसे मालूम होती है। परन्तु सर्वज्ञता की जवाबदेही के कारण उसका कार्य वड़ा कठिन होता है। जो शैली सबसे सहज है उसमें ग्रौचित्य का निर्वाह सबसे कठिन है।

68. ग्रपने उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए लेखक सारी घटनाग्रों का सन्निवेश करता है, पात्रों के चरित्रों को ग्रभीष्ट दिशा मे विकसित होने देता है, उनमें वातचीत कराता है ग्रौर शैली-विशेष का ग्राश्रय लेता है। कभी-कभी वह जिस

उद्देश्य को लेकर लिखने बैठता है, अन्त तक सिद्ध नही होता। 'प्रेमाश्रम' मे लेखक का उद्देश्य प्रेम और भ्रातृ-भाव के महान् आदर्श को अंकित करना जान पड़ता है। ग्रन्थकार ने इसी उद्देश्य से कहानी का भित्तिस्थापन किया था और चरित्रों की योजना की थी, पर अन्त तक जाकर यह उद्देश्य दब गया है और एक दूसरा प्रतिपाद्य प्रबल हो गया है। यह दूसरा उद्देश्य है जमींदारी-प्रथा की अनिष्टकारिता। लेखक का भावात्मक आदर्श गौण हो गया है और अभावात्मक आदर्श प्रधान।

69. उपन्यास के भिन्न-भिन्न तत्त्वों का अलग-अलग और मिलाकर भी किया हुआ सूक्ष्म चित्रण और सफलतापूर्वक निर्वाह ही उपन्यास को बड़ा नही बना देता, बड़ा बनाती है उद्देश्य की महत्ता और उसकी सफल सिद्धि। सब तत्त्व मिलकर पाठक के ऊपर जिस प्रभाव की सृष्टि करते है, उस प्रभाव के माप पर ही उपन्यास का महत्त्व निर्भर है। घटना, पात्र, कथोपकथन और शैली आदि का सफल निर्वाह उस प्रभाव की अपेक्षा मे ही उत्तम हो सकता है। कई उपन्यास-लेखकों की कृतियों में इन तत्त्वों का जोरदार सन्निवेश है, फिर भी उनसे पाठक के चित्त पर अच्छा प्रभाव नही पडता। वे मानव-जीवन की सड़ाँध और गन्दगी को मोहक बनाकर रखते है और इस प्रकार पाठक को एक प्रकार की गन्दी शराब पिलाकर मोहग्रस्त कर देते है। यह वस्तु कभी बड़ी नही हो सकती। भोजन की उत्तमता की कसौटी केवल परिपाक, सुगन्धि और द्रव्यों का सन्निवेश मात्र नहीं, और न खूब सुस्वादु होना ही उसकी कसौटी है। भोजन अच्छा वह है, जो इन सारे गुणों के साथ-ही-साथ मनुष्य को स्वस्थ और सबल बनाये। जो भोजन परिणाम मे मोहग्रस्त कर देता है या रोगी बना देता है या मृत्यु का शिकार बना देता है, उसे अच्छा-भोजन नही कह सकते। बुरे प्रभाववाला उपन्यास भी ऐसा ही है। मानव-जीवन की गन्दगियों को मोहक और आकर्षक करके चित्रण करनेवाले उपन्यास विपाक्त भोजन के समान घातक है। सुप्रसिद्ध पत्रकार पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने ऐसे उपन्यासो को 'घासलेटी साहित्य' नाम दे रखा है।

70. प्रश्न हो सकता है उद्देश्य की महत्ता की परख क्या है। मनुष्य का चरित्र जिस रूप में आज परिणत हुआ है उसके कई कारण है। नाना मनीषियों ने इसे नाना रूप में समझने-समझाने की चेष्टा की है। अपने विशेष दृष्टिकोण का समर्थन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक पूर्ववर्त्ती दृष्टिकोण से उसकी श्रेष्ठता न प्रमाणित कर ली जाय। इस प्रकार पूर्वमत को निरस्त करके नये मत के स्थापित करने का नियम है। उपन्यास-लेखक दार्शनिक पण्डित के इस नियम को नही मानता; पर जीवन के प्रति उसका जो विशेष दृष्टिकोण है उसे वह कौशलपूर्ण ढग से स्थापित करते समय उस विशेष दृष्टिकोण के प्रति उपेक्षा का भाव पैदा कर देता है जो उसका अभिप्रेत नही है। इस कार्य को वह बड़ी सावधानी से करता है। हिन्दी में प्रेमचन्दजी इस कला के उस्ताद थे। उनकी कहानियों में जीवन को समझने की अनेक दृष्टियाँ मिलेगी। अपने जीवन में उन्होंने मानव-जीवन को समझने के लिए दृष्टिकोण बदले भी है, पर पुरानी दृष्टि-भ...

की गलती दिखाने के बाद ही। 'कफ़न' नामक कहानी इस बात का एक उत्तम उदाहरण है। उसके पढ़ने से जीवन की व्याख्या करनेवाले अनेक मत निस्सार प्रतीत होते हैं। जान पड़ता है कि लेखक ने उन व्याख्याओं को सामने रखकर ही कहानी लिखी है।

धार्मिक व्याख्या यह है कि भगवान् संसार को एक सामजस्यपूर्ण व्यवस्था मे रखने के लिए सदा प्रयत्नशील हैं। जो कोई भी जीव, जहाँ-कहीं भी, जिस-किसी रूप में दिख रहा है, वह उसी रूप में वहाँ आने को बाध्य था। सब-कुछ किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा पूर्व निर्णीत है—पाप और पुण्य, धर्म और कर्म, ऊँच और नीच—सब। दूसरी एक व्याख्या एक प्रकार के नास्तिकों की है। प्रसिद्ध फ्रेंच पण्डित टेन इस मत का पोषक बताया जाता है कि जो कुछ भी, जहाँ-कहीं भी, जिस-किसी रूप में दिख रहा है वह तीन कारणों से हुआ है—जातिगत विशेषता के कारण, भौगोलिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के कारण और ऐतिहासिक परम्परा के भीतर से आने के कारण (दे. 12-13)। इन तीनों बातों को अलग-अलग एकमात्र कारण मानकर भी जीवन की व्याख्याएँ की गयी हैं। एक प्रकार के पण्डित है जो स्वीकार करते हैं कि भौगोलिक परिस्थिति ही हमारे समस्त विधि-निषेध, आचार-विचार और दर्शन-काव्य के मूल में हैं। एक दूसरे पण्डित समस्त सद्गुणों और असद्गुणों के कारण आर्थिक परिस्थितियों में खोजते हैं। उनके मत से आर्थिक सुविधा या असुविधा ही सामाजिक, धार्मिक और मानसिक विधान-श्रृंखला के वास्तविक मूल है। 'कफ़न' मे इस दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण की प्रधानता इस कहानी में कुछ इस प्रकार उपस्थित की गयी है कि मध्यमवर्ग की बहु-विघोषित करुणा और प्रेम की कोमल भावनाओं का कोमलपन अत्यन्त खोखला होकर प्रकट हुआ है!

उत्तम लेखक समाज की जटिलताओं की तह मे जाकर उसे समझता है और वहीं से अपनी विशेष दृष्टि पाता है! यदि कोई लेखक केवल परम्परागत रूढ़ियों को—सत् और असत् की निर्धारित सीमाओं को—बिना विचारे ही उपन्यास या कहानी लिखने बैठता है तो वह बड़ी कृति नही दे सकता। उसे हमेशा जटिलताओं को चीरकर भीतर देखने का व्रत लेना पड़ता है। ऐसा करने के बाद यदि वह रूढ़ियों को ही सत्य समझे तो कोई हर्ज नही, परन्तु सचाई उसकी अपनी आँखों देखी होनी चाहिए। इसके बिना वह बड़ी कृति नही पैदा कर सकता। साधारण पाठक भी इस कसौटी पर उपन्यास-लेखक के उद्देश्य और जीवन के प्रति उसकी विशेष दृष्टि-भंगी की महत्ता समझ सकता है।

71. अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सभी लेखक अपनी तरफ से काट-छाँट और कमी-बेशी करके मानव-चरित्र को हमारे सामने रखते हैं। बात यह है कि कोई कितना भी ब्योरेवार जीवन को उपस्थापित करने का यत्न क्यों न करे, उसे बहुत-सी बातें छोड़नी ही पड़ेंगी। किसी आदमी के जीवन में एक दिन में जितने प्रयत्न और चेष्टाएँ होती है उनको लिपि-बद्ध करने से पोथा तैयार हो

सकता है। इसलिए लेखक अपने विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए और कथा को प्रवाहशील तथा मनोरंजक बनाये रखने के लिए जितना भी आवश्यक है, उतना ही अंश लिपिबद्ध करता है, बाकी जो तुच्छ है, जो अनायास-ग्राह्य है, जो उबा देनेवाली हैं, और जो अनावश्यक है, उन्हें छोड़ देता है। प्रश्न किया गया है कि क्या ऐसा करने का उसे अधिकार है!

एक श्रेणी के साहित्यिक हैं जो चरित्रों में काट-छाँट और सजाव-बनाव को दोष समझते हैं। ये लोग यथार्थवादी कहलाते हैं। ये लोग मानव-चरित्र को उसके नग्न रूप में—अर्थात् उसे बनाये-सजाये बिना—जैसा है वैसा ही रूप रख देने के पक्षपाती हैं। उनके चरित्रों का प्रभाव पाठक पर बुरा पड़ेगा या भला, इसकी वे परवाह नहीं करते। उनके चरित्र अपने जीवन की कमजोरियाँ और मजबूतियाँ, दोष और गुण, अमृत और विष दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। संसार में स्पष्ट ही दिखता है कि सब समय सत्कर्मों का फल शुभ ही नहीं होता और असत् कर्मों का फल अशुभ ही नहीं होता, इसलिए इन यथार्थवादी साहित्यिकों के चरित्र अच्छा काम करके भी ठोकरें खाते रहते हैं, और अपमानित-लांछित होते रहते हैं। अपने अनुभवों के बल पर यथार्थवादी ने देखा है कि संसार में बुरे चरित्रों की ही अधिकता है और अच्छे-से-अच्छे समझे जानेवाले चरित्र में भी दाग होता है। इसलिए यथार्थवाद मनुष्य के चरित्र को उसके नग्न रूप में उपस्थित करता है। प्रेमचन्द ने यथार्थवादी के इन गुणों को ध्यान में रखकर यह निष्कर्ष निकाला था कि यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देता है। वह हमारी विषमताओं और खामियों का नंगा प्रदर्शन है। वह मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठा देता है और पाठक को ऐसा बना देता है कि उनको चारों ओर बुराई-ही-बुराई दिखायी देने लगती है। परन्तु उन्हें भी इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा को दिखाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है; क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव है कि हम उस बुराई को दिखाने के लिए अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखायें, जितना कि वह वास्तव में है, लेकिन जब वह *दुर्बलताओं के चित्रण में शिष्टता की सीमा लाँघ जाता है, तब आपत्ति*-जनक हो जाता है।

दूसरा दल आदर्शवादी कहलाता है। वह ऐसे चरित्रों की सृष्टि करना पसन्द करता है जो दुनिया की कमजोरियों से ऊपर होते हैं, जो प्रलोभनों से डिगते नहीं और जिनकी सरलता दुनियादारी और कूट-बुद्धि से हारकर भी पाठक को उन्नत बनाती है। आदर्शवादी यह नहीं मानता कि मनुष्य में छोटा अहंभाव है, जो उसे आहार, निद्रा आदि पशु-सामान्य प्रवृत्तियों की गुलामी करने को ही प्ररोचित करता है, या जो सारी दुनिया को वंचित करके अपने को समृद्ध बनाने में रस पाता है, वही वास्तव या यथार्थ है। उसके मत से मनुष्य का सच्चा मनुष्यत्व उसका आत्मत्याग है, सत्यनिष्ठा है, कर्त्तव्यपरायणता है, और इसी को वह बड़ा करके चित्रित करता है। वह कठिन-से-कठिन कष्ट की हालत में भी अपने आदर्श पात्र

के चेहरे पर शिकन नही पड़ने देता।

72. यथार्थवाद के साथ रोमांस की भी तुलना की जाती है। 'रोमास' शब्द अंग्रेजी का है। साहित्य मे इसका प्रयोग दीर्घकाल से होता रहा है, इसलिए इस शब्द से जो कुछ समझा जाता है उसमें बहुत परिवर्त्तन भी होता रहा है। साधारणतः रोमास उन साहस और प्रेम-मूलक कथाओ को कहा जाता है जो भारतीय साहित्य में गद्यकाव्य की श्रेणी में आते है (दे. 79.)। यही कारण है कि अंग्रेज पण्डितो ने 'कादम्बरी', 'दशकुमार-चरित' आदि को भारतीय रोमास कहा है। रोमास मे कल्पना का प्राबल्य होता है और उसमे एक ऐसे वातावरण का निर्माण किया जाता है, जो इस वास्तविक दुनिया की जटिलताओं से मुक्त रहता है पर जहाँ मनुष्य के मनोराग वैसे होते हैं, जो इस दुनिया के होते है।

वस्तुतः रोमांस का वातावरण काव्यमय होता है और उसमें कल्पना और भावावेग का प्राधान्य होता है। यथार्थवाद के यह ठीक विरद्ध दिशा में जाता है। आदर्शवाद के साथ यथार्थवाद का अन्तर उद्देश्यगत है, परन्तु रोमास के साथ उसका विरोध प्रकृति-गत है। किसी पश्चिमी पण्डित ने रोमांस के मूल मे जो सत्य है उसकी तुलना काव्यगत सत्य से की है। यथार्थवाद तथ्य-जगत् के बाहर की चिन्ता नही करता। रोमास मनुष्य के चित्त की उस वास्तविक मनोवाञ्छा से उत्पन्न है जो चिरन्तन है और सत्य है। काव्यगत सत्य ही रोमास का भी सत्य है, क्योकि रोमास वस्तुतः गद्यकाव्य है।

72 क. भारतवर्ष के साहित्यिक इतिहास मे एक समय आया है जब रोमास की मनोवृत्ति प्रवल रूप में प्रकट हुई थी :

सातवी-आठवी शताब्दी से इस देश में ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा खूब चली। इन्ही दिनों ईरान के साहित्य में भी इस प्रथा का प्रवेश हुआ। इस काल में उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से बहुत-सी जातियों का प्रवेश इस देश में होता रहा। वे राज्य-स्थापन करने में भी समर्थ हुई। पता नही कि उन जातियों की स्वदेशी प्रथा की क्या-क्या बातें इस देश मे चली। साहित्य में नये-नये काव्य-रूपों का प्रवेश इस काल में हुआ अवश्य। सम्भवतः ऐतिहासिक पुरुषो के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने का चलन भी उनके संसर्ग का फल हो। परन्तु भारतीय कवियो ने ऐतिहासिक नाम-भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमे काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम; कल्पनाविलास का अधिक मान था, तथ्यनिरूपण का कम; सम्भावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओ की ओर कम; उल्लसित आनन्द की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिये गये है। राजा का विवाह, शत्रु-विजय, जल-क्रीड़ा, शैल-वन-विहार, दोला-विलास, नृत्य-गान-प्रीति— ये सब बातें ही प्रमुख हो उठी हैं। बाद मे क्रमशः इतिहास का अंश कम होता गया और सम्भावनाओं का जोर बढ़ता

गया। राजा के शत्रु होते हैं, उनसे युद्ध होता है। इतिहास की दृष्टि मे एक युद्ध हुआ, और भी तो हो सकते थे। कवि सम्भावना को देखेगा। राजा के एकाधिक विवाह होते थे। यह तथ्य अनेकों विवाहो की सम्भावना उत्पन्न करता है, जल-क्रीड़ा और वन-विहार की सम्भावना की ओर संकेत करता है और कवि को अपनी कल्पना के पंख खोल देने का अवसर देता है। उत्तरकाल के ऐतिहासिक काव्यों में इसकी भरमार है। ऐतिहासिक विद्वान् के लिए सगति मिलाना कठिन हो जाता है।

वस्तुतः इस देश की साहित्यिक परम्परा मे इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नही लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथा-नायक जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है। कुछ मे दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है—जैसे राम, बुद्ध, कृष्ण आदि—और कुछ मे काल्पनिक रोमास का आरोप करके निजन्धरी कथाओ का आश्रय बना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रतनसेन और रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का—फैक्ट्स और फिक्शन का—अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्तिभाण्डार होने में दृढ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रंग में रँगा है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियो का भी चरित्र लिखा जाने लगा तब भी इतिहास का कार्य नही हुआ। अन्त में रचनाएँ काव्य ही बन सकी, इतिहास नहीं। फिर भी निजन्धरी कथाओं से वे इस अर्थ में भिन्न थी कि उनमें बाह्य तथ्यात्मक जगत् से कुछ-न-कुछ योग अवश्य रहता था, कभी-कभी मात्रा में कमी-बेशी तो हुआ करती थी पर योग रहता अवश्य था। निजन्धरी कथाएँ अपने-आपमें ही परिपूर्ण होती थीं।

72 ख. जिस प्रकार भारतीय कवि काल्पनिक कथानकों में ऐसी घटनाओं को नहीं आने देता जो दु.ख-परक विरोधों को उकसायें, उसी प्रकार वह ऐतिहासिक कथानकों में भी करता है। सिद्धान्ततः काव्य मे उस वस्तु का आना भारतीय कवि उचित नही समझता जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करे, दु.खोद्रेचक विषम परिस्थितियो—ट्रेजिक कट्रेडिक्शंस—की सृष्टि करे; परन्तु वास्तव जीवन में ऐसी बातें होती ही रहती हैं। इसलिए इतिहासाश्रित काव्य में भी ऐसी बातें आयेंगी। बहुत कम कवियों ने ऐसी घटनाओं की उपेक्षा कर जाने की बुद्धि से अपने को मुक्त रखा है। यही कारण है कि इन ऐतिहासिक काव्यों के नायक को धीरोदात्त बनाने की प्रवृत्ति प्रबल हो गयी है; परन्तु वास्तविक जीवन के कर्त्तव्य-द्वन्द्व, आत्म-विरोध और आत्म-प्रतिरोध जैसी बातें उसमें नही आ पाती। ऐसी बातों के न आने से इतिहास का रस भी नही आ पाता और कथा-नायक कल्पित पात्र की कोटि मे आ जाता है। फिर, जीवन में कभी हास्योद्रेचक असमिल स्वर भी मिल जाते हैं। संस्कृत-काव्य का कर्ता कुछ अधिक गम्भीर रहने में विश्वास करता है और ऐसे प्रसंगो को छोड़ जाता है। ऐसे प्रसगों

को तो वह भरसक नही आने देना चाहता जहाँ कथा-नायक के नैतिक पतन की सूचना मिलने की आशका हो। यदि ऐसे प्रसंगों की वह अवतारणा भी करता है, तो घटनाओ और परिस्थितियों का ऐसा जाल तानता है जिसमें नायक का कर्त्तव्य उचित रूप मे प्रतिभासित हो। सब मिलाकर ऐतिहासिक काव्य काल्पनिक निजन्धरी कथानको पर आश्रित काव्य से बहुत भिन्न नही होते। उनसे आप इतिहास के शोध की सामग्री संग्रह कर सकते है, पर इतिहास को नही पा सकते —इतिहास, जो जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवन-कथा होता है, जो काल-प्रवाह से नित्य उद्घटित होते रहनेवाली नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चित्र उपस्थित करता है, और जो काल के परदे पर प्रतिफलित होनेवाले नये-नये दृश्यो को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है। भारतीय कवि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र को भी निजन्धरी कथानको की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है। इस कार्य के लिए वह कुछ कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग करता है जो कथानक को अभिलषित दिशा में मोड़ देने के लिए दीर्घ-काल से प्रचलित हैं। इनसे कथानक मे सरसता आती है और घटना-प्रवाह मे एक प्रकार की लोच आ जाती है।

73. उपन्यासकार परिस्थितियों के सच्चे चित्रण से विमुख नहीं हो सकता, परन्तु उसका उद्देश्य केवल फोटोग्राफी नही है, वह कलाकार है। यथार्थवाद चित्र का सिर्फ एक पहलू है। केवल सच्चा जीवन-चित्रण भी अपना नैतिक सन्देश रखता ही है। परन्तु सच्चा चित्रण होना चाहिए। बहुत-से लेखक यथार्थवाद के नाम पर समाज की उन गन्दगियो का ही चित्रण करते हैं जो समग्र रूप का एक नगण्य अंशमात्र है। यह यथार्थवाद नही हो सकता। यथार्थवाद भले की उपेक्षा करके बुरे के चित्रण को नही कहा जा सकता, फिर वह चित्रण कितना भी यथार्थ क्यों न हो। इसी प्रकार उस चीज को आदर्शवाद नही कह सकते जो केवल रूढ़ि-समर्पित सदाचार के उपदेश का नामान्तर है। उपन्यासकार का व्यक्तिगत उद्देश्य और मतवाद ठोस तथ्यों पर आधारित होता है। उसका प्रचारित नैतिक सन्देश इन तथ्यो से विच्छिन्न होकर कला के ऊँचे सिंहासन से च्युत हो जाता है। जिस प्रकार समग्र रूप से विच्छिन्न बुराइयाँ अपना मूल्य खो देती हैं, उसी प्रकार समग्र से विच्छिन्न भले-भले उपदेश भी फीके हो जाते हैं। उपन्यास का उपदेश भी काव्य के अर्थ की भाँति व्यंग्य होना चाहिए। वाच्य होने से उसका मूल्य कम हो जाता है। इसीलिए प्रेमचन्दजी ने कहा है कि अच्छा उपन्यास वह है जहाँ यथार्थवाद और आदर्शवाद का उचित समन्वय हो।

74. केवल यथार्थ चित्रण उपन्यास या कहानी को महान् नहीं बनाता। हिन्दी की एक प्रसिद्ध कवयित्री की कहानियाँ हमने पढ़ी हैं। उन कहानियों के स्त्री-पात्र बड़े ही गन्दे और गलीज थे। इन पात्रों से परिचय पाने के बाद मनुष्य बहुत-कुछ सोचने-समझने का अवसर पाता है। परन्तु फिर भी उनकी कहानियों में समाज के प्रति सिर्फ एक नकारात्मक घृणा का भाव ही स्पष्ट हुआ है। पाठक

यह तो सोचता है कि समाज किस प्रकार स्त्रियों पर—विशेषकर शिक्षिता वहुओं पर—निर्दयता का व्यवहार कर रहा है, परन्तु उनके चरित्रों में कही भी वह भीतरी शक्ति या विद्रोह-भावना नही पायी जाती, जो समाज की इस निर्दयतापूर्ण व्यवस्था को अस्वीकार कर सके। कही भी वह मानसिक दृढता नही पायी जाती, जो प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी दुःख पानेवाले को विजयी बना सके, जो स्वेच्छा-पूर्वक समाज की बलिवेदी पर बलिदान होने का प्रतिवाद कर सके। इसके विरुद्ध उनके चरित्र अत्यन्त निरुपाय-से होकर समाज की अग्नि-शिखा मे अपने-आपको होम देते हैं, और चुपके से दुनिया की आँखो से ओझल हो जाते है।

सवाल यह नही है कि सचमुच ही ऐसा होता है या नही। सचमुच ही होता होगा। किन्तु सचमुच का बहुत-कुछ होना ही बडी बात नही है। एक जहाज तूफ़ान में उलझता है। भयंकर संघर्ष के बाद डूब जाता है। हजारो आदमी 'हाय-हाय' करते हुए समुद्र के गर्भ मे बैठ जाते है। इन मरनेवालों में जहाज का वह वीर कप्तान भी है जो अन्तिम क्षण तक अदम्य आशा और उत्साह लेकर अपनी सारी विद्या और बुद्धि के बल पर तूफान से जूझता रहा और निरुपाय यात्रियों को बचा लेने के लिए जान लड़ाता रहा। मरना कप्तान का भी सही है, और 'हाय-तोबा' मचानेवाले हजारो भीरु यात्रियों का भी सही है। दोनो सचमुच हो हुए हैं और दोनों ही यथार्थ है। परन्तु एक यथार्थ मनुष्य में आशा और विश्वास पैदा करता है और दूसरा यथार्थ निराशा और भीरता। कोई भी लेखक जब दुनिया के लाख-लाख मनुष्यो में से किसी एक को चुनकर अपने ग्रन्थ का नायक बनाता है तो वह चुनता ही है। चुनाव तो उसे करना पड़ेगा। तो फिर क्यों न ऐसे यथार्थ चरित्र चुने जायँ जो यथार्थ में मनुष्य हो, मनुष्य की खाल ओढ़े हुए कीड़े-मकोड़े नहीं ?

मेरे कहने का यह मतलब नही कि दुनिया के दुःख और अवसाद से आँख मूँद ली जाय। आँख मूँदनेवाला बड़ा लेखक नहीं हो सकता। परन्तु लेखक से यह आशा करना बिल्कुल असंगत नही है कि वह दु:ख, अवसाद और कष्टो के भीतर से उस मनुष्य की सृष्टि करे जो पशुओ से विशेष है, जो परिस्थितियो से जूझकर ही अपना रास्ता साफ करता आया है, जो सत्य और कर्तव्य-निष्ठा के लिए किसी की स्तुति या निन्दा की बिल्कुल परवा नही करता। इन्ही बातों से उपन्यास बड़ा होता है, काव्य महान् होता है, कहानी सफल कही जाती है।

75. ऐसा करना असम्भव नहीं है। शिवरानी देवी की कहानियों को उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है। 'आँसू की दो बूँदें' नामक कहानी इस विषय मे पहले बतायी हुई कहानियो के विरोध मे रखी जा सकती है। इस कहानी मे सुरेश नामक युवक की बेवफाई कनक नामक लड़की के सर्वनाश का कारण नही हो जाती। कनक अपने लिए रास्ता खोज लेती है। यह रास्ता सेवा का है। अगर उसका प्रेम नकारात्मक होता—अर्थात् उनमें लोभ की जगह विराग, क्रोध के स्थान पर भय और ब्रह्मचर्य की जगह सन्देह, सामाजिकता के बदले एकान्तनिष्ठा

और संगमेच्छा की जगह व्रीड़ा का उदय होता तो वह भी शायद आत्मघात कर लेती।

मनोविज्ञान के पण्डित मनुष्य के दो प्रकार के चरित्रों की बात बताते हैं : नकारात्मक या 'नेगेटिव' और धनात्मक या 'पाज़िटिव'। लोभ, क्रोध, आश्चर्य, सामाजिकता और संगमेच्छा धनात्मक गुण है और इनके स्थानों में क्रमशः विराग, भय, सन्देह, एकान्तनिष्ठा और व्रीड़ा नकारात्मक। पहले विश्वास किया जाता था कि स्त्रियो मे नकारात्मक गुण अधिक होते है और पुरुषों में धनात्मक गुण। आधुनिक काल के प्रयोगो से इस विश्वास को बहुत अधिक जोर देने योग्य नही समझा जा सकता। यह माना जाने लगा है कि प्रत्येक मनुष्य में इन दोनों प्रकार के गुणो का मिश्रण होता है। जिसमें धनात्मक गुण अधिक होते है उसी का चरित्र आशा और विश्वास का संचार कराता है।

वस्तुतः कोई भी लेखक एक व्यक्ति मे केवल एक ही प्रकार के गुण दिखाकर आज के युग मे पाठक का विश्वास-पात्र नही बना रह सकता, क्योंकि मनुष्य-चरित्र दोनो का मिश्रण है। मनोविज्ञान की प्रयोगशाला मे यह बात सिद्ध हुई है कि कमजोर-चरित्र का आदमी जिस प्रकार के बलिष्ठ चरित्र के ससर्ग में आता है उसी प्रकार का हो जाता है। उपन्यास के जीवन्त और बलिष्ठ पात्र पाठकों के सहचर है। नाना विपत्तियो और कष्टो के भीतर से गुजरती हुई उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा और सच्चा मनुष्यत्व पाठक को बल देता है, परन्तु उनकी इन्द्रियपरायणता, कूटबुद्धि और कुटिल कर्म पाठक को दुर्बल और निरुत्साह बना देते हैं। परिस्थितयों से आँख मूँदना आदर्शवाद नही है। वस्तुतः सच्चा आदर्शवादी सच्चा यथार्थवादी होता है, वह मनुष्य का मनुष्यत्व पहचानता है और प्राण-धर्म का रहस्य समझता है।

76. शायद यह बात सुनने में आश्चर्यजनक मालूम दे कि मानवता के सच्चे स्वरूप और प्राण-धर्म को पहचाननेवाला लेखक यदि चरित्र-चित्रण में छोटी-मोटी गलतियाँ भी करे तो भी वह बड़ी कृति दे सकता है। हम शुरू से ही इस प्रसंग में 'चित्रण' शब्द का व्यवहार करते आये हैं। यह शब्द चित्र बनाने की विद्या से लिया गया है; उपन्यास या कहानी के प्रसंग मे इसका प्रयोग लाक्षणिक है। उपन्यास या कहानी में हमे जो मानव-जीवन प्राप्त होता है उसे हम चित्र की भाँति प्रत्यक्ष देखते हैं। इसीलिए बार-बार साहित्य में इस शब्द का प्रयोग होता है। यदि ऊपर की बात को हम चित्र की भाषा मे कहने का प्रयत्न करें तो वह कुछ इस प्रकार होगी—किसी मनुष्य के चित्र मे यदि उसके हाथ-पैर ठीक-ठीक चित्रित न हों और फिर भी यदि आदमी का प्राण-धर्म ठीक-ठीक चित्रित किया जा सका हो, तो चित्र बड़ी कृति बन सकता है! ऊपर-ऊपर से यह कथन बड़ा विचित्र मालूम पड़ता है! आदमी के हाथ-पैर दुरुस्त नही और फिर भी वह चित्र बड़ा हो सकता है! मनुष्य का अन्यान्य जीवों से जो वैशिष्ट्य है वही मनुष्य का प्राण-धर्म है—अर्थात् उसी को आश्रय करके मनुष्य मनुष्य बना हुआ है। यदि

वह धर्म ठीक है तो यह कोई आवश्यक नहीं कि उसके अंग-प्रत्यंग ठीक ही हों — हों तो बहुत अच्छा, न हों तो कोई बात नहीं। जायसी कुरूप थे, सूरदास अन्धे थे, चौरंगीनाथ लँगड़े थे; फिर भी कौन कहेगा कि ये सिद्ध पुरुष नही थे ?

एक चित्र के उदाहरण से समझने पर यह बात ज्यादा आसान हो जायेगी। इस विषय में हम भारतवर्ष के श्रेष्ठ शिल्पाचार्य श्री नन्दलाल वसु महाशय के लेख से एक उदाहरण यहाँ सग्रह कर रहे है। वसु महाशय ने रवीन्द्रनाथ के चित्रों की आलोचना करते हुए एक बार कहा था कि उनके चित्र यथार्थ तो होते है, पर यथार्थवादी नही होते। जब बहुत-से पाठकों ने उनसे इस बात को स्पष्ट करने का अनुरोध किया तो उन्होंने लिखा :

"पश्चिमी देशों में चित्रणीय वस्तुओं का इतना सूक्ष्म अध्ययन हुआ कि एक शिल्पी-सम्प्रदाय वस्तु को जैसा वह है वैसा ही दिखाने पर अड गया। यही यथार्थ-वादिता (या 'रियलिस्टिक') है। किन्तु एक सिंह अंकित करनेवाला चित्रकार सिंह के सभी अंगों और चेष्टाओं को अंकित करके भी—अर्थात् सिंह की बनावट के प्रति पूर्ण ईमानदार रहकर भी—एक ऐसा सिंह बना दे सकता है जिसमे वह शौर्य, पराक्रम और अकुतोभय भाव नही आ सकता, जो सिंहत्व की जान है। उसका यह अंकित चित्र यथार्थवादी तो होगा, पर यथार्थ नही। दूसरी तरफ एक शिल्पी सिंह के अंगोपांगों के चित्रण में गलती करके भी यदि ऐसी सिंह-मूर्ति बना देता है, जिसे देखकर दर्शक के मन में सिंहत्व का भाव जाग उठे, तो वह यथार्थ-वादी न हो करके भी यथार्थ सिंह का अंकन होगा। रवीन्द्रनाथ इसी श्रेणी के शिल्पी थे।

77. "औसत शिक्षित व्यक्ति को ऊपर की बात जरा अजीब लगेगी। सिंह की बनावट ठीक होने पर भी क्यों सिंह गलत हो गया और बनावट मे गलती होने पर भी क्यों ठीक हो गया, यह बात ऊपर-ऊपर से पहेली-जैसी लगती है। इस बात को यों समझा जाय :

"ऊपर के चित्रों में नं. 1 एक आधुनिक कलाकार का बनाया हुआ सिंह है।

इसमें सभी अग ठीक-ठीक चित्रित हुए है। इसलिए इसे 'रियलिस्टिक' कहा जा सकता है। चित्र नं. 2 एक वहुत पुराने असीरियन कलाकार का अकित सिंह है। इसका अग-विन्यास उतना यथार्थ नही है जितना प्रथम चित्र का है। फिर भी इसमे सिहत्व पूर्ण मात्रा मे विद्यमान है। इस चित्र को देखनेवाले के मन मे सिंह-सम्बन्धी सभी गुण जाग्रत हो जाते है। इसीलिए यह 'रियलिस्टिक' न होकर भी 'रियल' है। ऐसा यह इसलिए हुआ है कि सिहत्व का जो छन्द है वह इसमे वर्त्तमान है। यह 'छन्द' नं. 3 के चित्र मे दिखाया गया है। अनेक परिश्रम और अनुधावन के वाद कलाकारो ने इस 'छन्द' का आविष्कार किया है। यही वह अरूप (abstract) धर्म है जो वस्तु के बिना भी सत्य है। रवीन्द्रनाथ के चित्रों मे यह धर्म वर्त्तमान है। वह कभी वस्तु के साथ है और कभी वस्तु से अलग। इसी 'छन्द' की यथार्थता के कारण अनेक चित्र 'रियलिस्टिक' न होकर भी 'रियल' है।" (हिन्दी 'विश्वभारती पत्रिका', खड 1, अंक 1)

77 क. कला के क्षेत्र मे यथार्थवाद किसी विशेष प्रकार की प्रकाशनभगिमा का नाम नही है, बल्कि वह ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है जो निरन्तर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है और इसीलिए नाना प्रकार के कला-रूपो को अपनाने की अद्भुत क्षमता रखती है। यह स्वय कारण भी है और कार्य भी है। वस्तुतः यह मनोवृत्ति उन सिद्धान्तों, मान्यताओं और भाव-प्रवण उद्देश्यों की अनुगामिनी होती है जो अवसर के अनुकूल विविध रूपो में अपने को प्रकाशित कर सकते है। मुश्किल से सौन्दर्य-निर्माण की कोई ऐसी आकाक्षा मिलेगी जो युक्तिसगत परिणति तक ले जाने पर यथार्थवादी प्रवृत्ति के आसपास न पहुँच जाती हो। फिर उपन्यास का तो जन्म ही समाज की यथार्थ परिस्थितियो के भीतर से हुआ है। उपन्यास किसी देश की साहित्यिक विचारों की प्रगति को समझने के उत्तम साधन माने जाते है, क्योकि जीवन की यथार्थताएँ ही उपन्यास को आगे बढाती है। मनुष्य के पिछड़े हुए आचार-विचारों और बढती हुई यथार्थताओ के बीच निरन्तर उत्पन्न होती रहनेवाली खाई को पाटना ही उपन्यास का कर्त्तव्य है। इसीलिए उपन्यास के अध्ययन का मतलव होना चाहिए किसी जाति या समाज के बढते हुए विचारों और निरन्तर उत्पन्न होती रहनेवाली जीवन की यथार्थ परिस्थितियो से सम्पर्क स्थापित करते रहने के प्रयत्नों का अध्ययन। जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है। पुरानी कथा-आख्यायिको से वह इसी बात मे भिन्न है। वे जीवन के खटकनेवाले यथार्थ के सघर्षों से बचकर स्वप्न-लोक की मादक कल्पनाओ से मानव को उलझाने, बहकाने और फुसलाने का प्रयत्न करती थी, जबकि उपन्यास जीवन की यथार्थताओं से रस खीचकर चित्त-विनोदन के साथ-ही-साथ मनुष्य की समस्याओं के सम्मुखीन होने का आह्वान लेकर साहित्य-क्षेत्र मे आया था। उसके पैर ठोस धरती पर जमे है और यथार्थ जीवन की कठिनाइयों और संघर्षों से छनकर आने वाला 'अव्याज-मनोहर' मानवीय रस ही उसका प्रधान आकर्षण है। जो उपन्यास

इस रस से शून्य है वह अपनी मृत्यु का परवाना साथ लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया है। वह केवल पाठक का समय नष्ट करता है और समाज की अनियन्त्रित उत्पादन व्यवस्था पर काला प्रश्न-चिह्न मात्र है।

पोथी में पड़े हुए वादों के आधार पर उपन्यास लिखे गये हैं, पर वे टिक नही सके हैं। *बड़े-बड़े विदेशी उपन्यासकारों के अनुकरण पर उपन्यास लिखे गये है,* पर वे उसी श्रेणी का प्रभाव उत्पन्न नही कर सके है। क्यो? क्योंकि उन्होंने अपने देश की यथार्थ परिस्थितियों को नही समझा और इसीलिए वे उस खाई की भी ठीक-ठीक जानकारी नही पा सके जिसे पाटने का प्रयत्न ही उपन्यास को सच्चे अर्थों में यथार्थवादी बनाता है और जो नित्य बदलती हुई परिस्थितियों से और बढते हुए ज्ञान से पिछडी हुई आचार्य-परम्परा और पुरानी मान्यताओ के व्यवधान के कारण निरन्तर नये आकार-प्रकार मे प्रकट होती रहती है।

विज्ञान के प्रभावशाली रूप धारण करने के बाद क्रमशः मनुष्य की सोचने-विचारने की प्रणाली मे परिवर्त्तन होते गये है। कभी भौतिक विज्ञान ने मानव-बुद्धि को अभिभूत किया था, फिर जीव-विज्ञान ने उसे चकित कर दिया और कुछ दिनों से मनोविज्ञान का प्रभाव प्रबल होता जा रहा है। उपन्यास मे ये तीनों अभिभूतकारी तत्त्व यथासमय प्रकट हुए है। परन्तु हिन्दी-उपन्यासो मे यह क्रम स्वाभाविक रूप से प्रकट नही हुआ। जिन दिनो पश्चिम मनोविज्ञान की ओर झुकने लगा था, उन दिनों हमारा उपन्यास-साहित्य आरम्भ हुआ। हिन्दी ज्ञान-विज्ञान पर आधारित प्रकृतिवादी सिद्धान्त कभी भी घासलेटी साहित्य की मर्यादा के ऊपर नही उठ सका; क्योंकि साहित्य मे मनोविज्ञान की बढती हुई मर्यादा का प्रभाव पड़ा, तब प्रकृतिवादी क्रमशः मद्धिम पडता गया और मनोवैज्ञानिक गुत्थियों का प्रभाव प्रबल हो गया। उस समय खाई जीव-विज्ञान द्वारा निश्चित सिद्धान्तों द्वारा नही निश्चित होती थी।

77 ख. हिन्दी मे जब उपन्यास-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ, तब इस देश की वही अवस्था नही थी जो इंगलैण्ड की, अन्य पश्चिमी देशों की थी। हिन्दी का पिछला साहित्य बहुत सीमित क्षेत्रो मे आबद्ध रह गया था। यथार्थ की उसमें उपेक्षा तो नही थी, किन्तु यथार्थ को मादक बनाकर प्रकट करने की प्रवृत्ति जोरों पर थी। रीतिकालीन कविता से यह मादक बनाने की प्रक्रिया उन दिनों विरासत मे प्राप्त हुई थी। वह समय न तो यथार्थवाद के अनुकूल था और न प्रकृतिवादी सिद्धान्तो के। फिर भी पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से क्रमशः इहलौकिक और मानवतावादी दृष्टि प्रतिष्ठित होती जा रही थी। प्रथम धक्के में इस देश के उपन्यासो की दृष्टि सामाजिक कुरीतियो पर पडी। प्रकृतिवादी सिद्धान्तों का जोर कभी भी इस देश में बढ़ नही पाया; क्योंकि न तो यहाँ के विचारशील लोगों के मत इसके अनुकूल पड़ते थे, और न विज्ञान का, और उससे उत्पन्न युक्तिवाद का विकास ही वैसा हुआ जैसा पश्चिमी देशो में हुआ था। जिन दिनो हिन्दी के उपन्यास कुछ-कुछ प्रकृतिवादी सिद्धान्तों से प्रभावित होने लगे, उन दिनो विज्ञान

बहुत आगे निकल गया था और यूरोपीय साहित्य में प्राणि-विज्ञान की मर्यादा चढ़ाव पर नहीं थी। हिन्दी के प्रकृतिवादी साहित्यिक यूरोप के पिछड़े जमाने के साहित्य से प्रभावित थे। वे नवीन विचारधाराओं से अनभिज्ञ ही बने रहे। यही कारण है कि हिन्दी के प्रकृतिवादी साहित्यिक साहित्य मे कभी महत्त्वपूर्ण स्थान नही प्राप्त कर सके और घासलेटी साहित्य से उच्चतर मर्यादा भी नही प्राप्त कर सके।

77 ग. साहित्य और कला के विभिन्न क्षेत्रों में नये तत्त्व-ज्ञान (फिलासफी) द्वारा सुझाये हुए युक्ति-तर्कों से प्रभावित अनुसन्धान-पद्धति का आश्रय लिया गया। परिणाम यह हुआ कि कला और साहित्य के क्षेत्र का विस्तार होता गया और ऐसी बहुत-सी बातें साहित्य मे प्रवेश करने लगी, जो पहले निषिद्ध मानी जाती थी। ज्ञान अधिकाधिक अवितथ होने का प्रयत्न करता जा रहा था और गणित-शास्त्र की पद्धतियों का आश्रय लेता जा रहा था। साहित्य में भी उन पद्धतियों का प्रवेश किसी-न-किसी तरह हो ही गया। इतिहास और नैतिक विज्ञान के क्षेत्र में इन गाणितिक पद्धतियो का प्रयोग होने लगा। और उनकी देखादेखी उपन्यास-साहित्य में दलील और सनद उपस्थित करनेवाली मनोवृत्ति क्रमशः शक्तिशाली होती गयी।

यही साम्प्रदायिक यथार्थवाद की ओर जानेवाली मनोवृत्ति है। ऐसा यथार्थवादी साहित्यकार बाहरी दलीलों और सनदों का इस प्रकार प्रयोग करता है जिससे पाठकों के ऊपर यह प्रभाव पड़े कि वह यथार्थ जीवन में घटनेवाली सच्ची बात कह रहा है। परम्परा-प्रथित धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक विश्वासों के कारण मानव-जीवन के जो तत्त्व साहित्य मे जुगुप्सित, निषिद्ध और अमगलकारी माने जाते थे, उनका साहित्य में धीरे-धीरे प्रवेश होने लगा और यथार्थवाद के उस रूप का प्रचलन हुआ, जो मनुष्य की बाह्य प्रकृति को प्रधानता देनेवाले विज्ञान से—विशेषकर प्राणि-विज्ञान से—प्रभावित था।

इस प्रकार उस समय प्रकृतिवादी सिद्धान्त साहित्य मे गृहीत हुआ। वस्तुतः प्रकृतिवादी सिद्धान्त जो मनुष्य की शारीरिक भूख के विविध रूपों पर ही आश्रित है, प्राणि-विज्ञान की बढ़ती हुई मर्यादा के साथ ही बढ़ा है और घटती मर्यादा के साथ घटा है।

उपन्यास-लेखक कभी भी वर्तमान प्रगति से पिछड़ा रहकर सफल नही हो सकता। हिन्दी के घासलेटी उपन्यासकार इस तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं।

77 घ. कहा जाता है कि इगलैण्ड में भी प्रकृतिवाद उस प्रकार का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं कर सका, जैसा कि उसने फ्रांस मे किया था। इगलैण्ड की जनता अधिक रक्षण-शील (कजर्वेटिव) थी, और मानव-शरीर की उच्छृंखल बुभुक्षा को सहन ही नही बरदाश्त कर सकती थी। यही कारण है कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग तक इगलैण्ड के साहित्य में यथार्थवादी उपन्यासकार तो हुए, किन्तु उल्लेख-योग्य प्रकृतिवादी उपन्यासकार नही हुए। भारतवर्ष मे तो

उनके प्रधान होने की नौबत कभी आयी ही नहीं। उन्नीसवीं शताब्दी के यथार्थवादी उपन्यासकारों की भी कई श्रेणियां हैं। थैकरे, रीड, जार्ज इलियट आदि उपन्यासकारों की रचनाएं इस देश के उपन्यासकार बराबर पढ़ते रहे और उनकी रचनाओं से प्रेरणा पाते रहे। इसलिए हमारे देश के उपन्यासों में यथार्थवादी झुकाव तो पाया जाता है, किन्तु यथार्थवाद का जो वास्तविक मर्म है—अर्थात् आगे बढ़े हुए ज्ञान और पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार-परम्परा, इन दोनों के व्यवधान को पाटते रहने का निरन्तर प्रयत्न—वह कम उपन्यासकारों के पल्ले पड़ा। आगे बढ़ा हुआ ज्ञान तो सारे संसार के लिए एक होता है, किन्तु पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार-परम्परा विभिन्न देशों-समाजों में भिन्न-भिन्न होती है; इसीलिए यथार्थवादी लेखक के सामने व्यवधान की मात्रा देश-विशेष और समाज-विशेष के अनुसार बदलती रहती है और उसी के अनुपात में उसके प्रयत्नों में तारतम्य आता है। दुर्भाग्य-वश अपने देश के कम लेखकों ने इस व्यवधान के रूप को समझने का प्रयास किया है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो हमारे नये उपन्यासकार सच्चे अर्थों में यथार्थवादी नहीं हैं। वे यथार्थवाद को उसके वास्तविक अर्थ में नहीं ग्रहण कर सके हैं, परन्तु उन पर यथार्थवाद का आतंक अवश्य है। जो लोग केवल वाद-विशेष से आतंकित हैं, या उसे फैशन के रूप में ग्रहण करते हैं, वे कोई अविस्मरणीय चरित्र नहीं पैदा कर सकते और जिन सिद्धान्तों के प्रचार के उद्देश्य से उपन्यास लिखे जाते हैं, उनकी अमिट छाप भी नहीं छोड़ पाते। इसीलिए इन उपन्यासों को पढ़कर कोई उल्लास नहीं होता। आज भी प्रेमचन्द हमें जहाँ छोड़ गये थे वहाँ से आगे हम नहीं बढ़ पाये। क्षेत्र तो प्रस्तुत हो ही रहा है। आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही वह औपन्यासिक हिन्दी-जगत् में अवतीर्ण होगा जो जीवन के व्यापक अनुभवों के भीतर से 'अव्याज-मनोहर' मानवीय रस को खींच लायेगा।

78. कुछ लोग उपन्यासों को तीन श्रेणी का मानते हैं—घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और भाव-प्रधान। स्टीवेंसन इसी मत के उपस्थापक थे। वे घटना-प्रधान उपन्यास को ही सबसे उत्तम समझते थे। उनके मत से उपन्यासकार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह एक ऐसी माया की सृष्टि कर दे और रोचक परिस्थितियों को ऐसे ढंग से उपस्थित कर दे कि पाठकों की कल्पना उससे आकर्षित हुए बिना न रह सके—उपन्यास पढ़ते समय पाठक अपने को घटनाओं में तन्मय कर दे और पात्रों के साथ एकाकार कर दे, ताकि पात्रों के साहसपूर्ण कृत्यों को अपना-सा समझकर वह उनमें रस लेने लगे।

स्टीवेंसन का यह मत सर्वांश में ग्राह्य नहीं है, यह हम आगे चलकर समझ सकेंगे, पर सन्देह नहीं कि घटनाओं का मनोरंजक सन्निवेश उपन्यासकार का बड़ा भारी गुण है।

(1) हिन्दी में नाना-प्रकार के घटना-प्रधान उपन्यास लिखे गये हैं। सबसे प्रधान और प्रथम प्रयत्न देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यास हैं, जिनमें ऐयारों

के घात-प्रतिघातमूलक घटनाओं का सन्निवेश बड़ी तत्परता के साथ किया गया है। इन उपन्यासों में अद्भुत तिलस्मों का चित्रण है, परन्तु ये घटना-प्रधान उपन्यास ही है। यद्यपि ऐयारों के चरित्रगत गुण भी इनमें कम आकर्षक नहीं हैं, तथापि घटनाओं की प्रधानता इनमें स्पष्ट है। इसी प्रकार डकैती आदि के साहसिकतापूर्ण कथानक, जासूसी उपन्यास, प्रेमाख्यान, ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यास केवल घटनाओं के सन्निवेश से ही मोहक बने है। (2) हिन्दी में प्रेमचन्द, सुदर्शन और 'कौशिक' आदि लेखकों की कहानियाँ और उपन्यास चरित्र-प्रधान श्रेणी में पड़ेंगे, और (3) 'प्रसाद' का 'तितली' और 'कंकाल', शिवनन्दन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' तथा 'हृदयेश' की कहानियाँ भाव-प्रधान श्रेणी में पड़ेंगी।

79. जिन्हे भाव-प्रधान उपन्यास कहकर ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें बहुत-कुछ पुरानी कथा-आख्यायिकाओं के गुण है। उनमें भाषा की मनोहारिता, अलकार-योजना, पद-लालित्य और भावावेग इतनी अधिक मात्रा में हैं कि उन्हें गद्य-काव्य कहना ज्यादा उचित होगा। उपन्यास विशुद्ध गद्य-युग की उपज है। उनमें भाषा की गद्यात्मकता और सहज भाव अपेक्षित है। इन उपन्यासों में वह बात नहीं है।

हिन्दी के एक प्रवीण विद्वान् ने उपन्यास को गद्य-काव्य का ही एक भेद माना है। किन्तु यह बात आंशिक रूप मे ही सत्य है। पुराने जमाने के 'वासवदत्ता', 'दशकुमार-चरित', 'कादम्बरी' आदि काव्यों से ये आधुनिक उपन्यास भिन्न श्रेणी के है। उपन्यास नये यन्त्र-युग की उपज है। नये यन्त्र-युग ने जिन गुण-दोषों को उत्पन्न किया है उन सबको लेकर यह नया साहित्यांग अवतीर्ण हुआ है। छापे की कल ने इनकी माँग बढ़ायी है और उसी ने उसकी पूर्ति का साधन बताया है।

यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा-आख्यायिकाओं की सीधी सन्तान है। ऊपर जिन भाव-प्रधान उपन्यासो की चर्चा हुई है, उनकी रचना के मूल मे सम्भवतः पुरानी कथा-आख्यायिकाओं का आदर्श था, परन्तु शीघ्र ही यह भ्रम टूट गया कि शब्दो में झंकार देकर गद्य-काव्य लिखना और आधुनिक ढंग के उपन्यास लिखना एक ही बात है। झकार कविता का बडा भारी गुण है, परन्तु उपन्यास मे वह थोड़ी मात्रा में ही काम देता है। चूँकि उपन्यास और कहानियाँ विशुद्ध गद्य-युग की उपज हैं, इसीलिए उनकी प्रकृति में गद्य का सहज, स्वाभाविक प्रवाह है। इस नवीन साहित्यांग का पुराने गद्य-काव्यों से जो प्रधान अन्तर है, वह आदर्शगत है। यन्त्र-युग ने पश्चिम मे जिस व्यवसायिक क्रान्ति को जन्म दिया, उसके कई फलो मे एक है वैयक्तिक स्वाधीनता। यह वैयक्तिक स्वाधीनता ही उपन्यासों का आदर्श है और काव्य-काल का रूढ़ि-निर्धारित और परम्परा-समर्थित सदाचार कथा-आख्यायिकाओं का आदर्श है। उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी ही चित्रित करने का प्रयास होता है। इस वास्तविकता के भीतर से ही उपन्यासकार अपना आदर्श ढूँढ़ निकालता है (दे. 70-71)। कथा और आख्यायिका मे कवि कल्पना के बल पर वास्तविक दुनिया से भिन्न एक नयी

दुनिया बनाता है। (कुछ अधिक विस्तार के लिए देखिए 123)

80. उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अन्तर है कि उपन्यास मौजूदा हालत को भुलाकर भविष्य की कल्पना नही कर सकता, जबकि काव्य वर्तमान परिस्थिति की सम्पूर्ण उपेक्षा करके अपने आदर्श गढ सकता है। यही कारण है कि उपन्यासकार वर्तमान पर जमा रहता है। प्राचीन ऐतिहासिक कथानक की रचना के समय भी वह वर्तमान काल की जानकारियो के बल पर ही अपना कार-बार चलाता है और जासूसी तथा वैज्ञानिक कथावस्तु को सम्हालने मे भी आधुनिक जानकारियों की जहाँ तक पहुँच है, उसी के आधार पर अपनी कल्पनाओं और सम्भावनाओं की सृष्टि करता है। वह कवि की भाँति जमाने के आगे रहने का दावा नही करता। काव्य दुनिया की छोटी-मोटी तुच्छताओं को भी महिमा-मण्डित करके प्रकाशित करता है, जो कुछ है उसे सजाकर, सँवारकर सुन्दर और महत् बनाने की साधना करता है।

वस्तुतः जहाँ कहीं भी तुच्छता को महिमा-मण्डित करके प्रकाशित करने का प्रयत्न है वहाँ उपन्यासकार कवि का काम करता है। एक उदाहरण लिया जाय :

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनमे सर्वत्र काव्य का सुर ही प्रधान हो उठा है। उन्होंने जान-बूझकर एक उपन्यास ऐसा लिखा है जिसमें, आलोचकों का मत है कि, कवित्व को दबाकर औपन्यासिकत्व प्रधान हो उठा है। इस उपन्यास का नाम है 'मालञ्च'। इसमें नायिका बीमार पड़ जाती है और नायक किसी और लड़की के साथ काम-काज मे लग जाता है। नायिका को ईर्ष्या होती है। ज्यों-ज्यो वह मृत्यु के निकट पहुँचती जाती है, त्यों-त्यों उसकी ईर्ष्या बढती जाती है। अपने देवर के समझाने से वह सकल्प करती है कि मरते समय वह अपनी समस्त स्वार्थ-बुद्धि को जलाजलि देकर अपने हाथों उस लड़की को पति को सौंप जायगी। ऐसा मौका आता है। उस मौके पर मरती-मरती यदि वह कह देती कि 'हे प्रिय, मैंने अपना सर्वस्व तुम्हें दिया है, इस बालिका के साथ अपना मान-अभिमान सबकुछ तुम्हे निःशेष भाव से देकर विदा लेती हूँ', और प्यार से उस लड़की का हाथ पति के हाथो मे रखकर दम तोड देती तो यह बात कवित्व का एक सुन्दर उदाहरण हो जाती। पर मौका आने पर वह ऐसा नही करती। अपनी तुच्छ ईर्ष्या को अन्त तक वह अपने त्याग की महिमा से महिमा-मण्डित नही कर पाती। लडकी को देखकर वह और भी ईर्ष्या से जल उठती है और दुर्वाच्य करती हुई और मरने के बाद भी उसे जलाती रहने का अभिशाप देती हुई दम तोड देती है। इस प्रकार कवित्व का वातावरण छिन्न-विच्छिन्न हो गया है और उपन्यासकार की वास्तव-प्रियता प्रधान हो उठी है।

81. उपन्यास और कहानियाँ आज के जमाने मे बहुत शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक साहित्यांग समझे जाते हैं। इनके लेखक का अपना एक जबर्दस्त व्यक्तिगत मत होता है, जिसकी सचाई के विषय में लेखक का पूरा विश्वास होता है। वैयक्तिक स्वाधीनता का यह सर्वोत्तम साहित्यिक रूप है। 'धासलेटी' उपन्यास

के लेखक का अपना कोई मत नहीं, जो एक ही साथ उसका अपना भी हो और जिस पर उसका अखण्ड विश्वास भी हो। इसलिए 'घासलेटी' लेखक ललकारे जाने पर या तो भाग खड़ा होता है या विक्षुब्ध होकर गाली-गलौज पर उतर आता है। वह भीड के आदमियों को अपनी नजर के सामने रखकर लिखता है, पर अपने प्रचारित मत पर उसे खुद विश्वास नही होता।

प्रेमचन्द का अपना मत है जिस पर वे पहाड़ के समान अविचलित खड़े है। इस एक महागुण के कारण नाना विरोधो के होते हुए भी जैनेन्द्रकुमार को साहित्य में अपना स्थान बना लेने से कोई नही रोक सका। उपन्यासकार वह है ही नहीं, यदि उसमे अपनी विशेष दृष्टि न हो और उस विशेष दृष्टि पर उसका दृढ विश्वास न हो। महत्त्वपूर्ण उपन्यास या कहानी केवल अवसर-विनोदन का साधन नही है। वे इसलिए महत्त्वपूर्ण होते है कि उनकी नीव मजबूती के साथ उन वस्तुओ पर रखी हुई होती है जो निरन्तर गम्भीर भाव से और निर्विवाद रूप मे हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वन्द्वों को प्रभावित करती है। हम उपन्यासकार के रचना-कौशल, घटना-विकास की चतुराई, पात्रों के सहज-स्वाभाविक विकास की सचाई और अपने निजी दृष्टिकोण को ईमानदारी के कारण मनुष्यमात्र के साथ एकात्मतः अनुभव करते है, दूसरो के दु.ख-सुख मे अपनापन पाते है, और इस प्रकार हमारा हृदय संवेदनशील और आत्मा महान् बनता है। हम पहले ही लक्ष्य कर चुके है कि यह एकात्मता की अनुभूति साहित्य का चरम साध्य है।

नाटक

82. हमने उपन्यास को समझने का प्रयत्न किया है। अब नाटक को समझने जा रहे हैं। यह क्रम कालक्रम की दृष्टि से उलटा है। पहले नाटक का आविर्भाव हुआ था और उसके बहुत बाद जाकर उपन्यास का हुआ। इस तरह कालक्रम के हिसाब से नाटक की विवेचना ही पहले करनी चाहिए थी, उपन्यास की बाद में। प्रायः ही आलोचक लोग इसी क्रम का पालन करते हैं। इसका कारण यह है कि उपन्यास असल मे नाटक की अपेक्षा शिथिल कथानक का साहित्य है। नाटक अधिक ठोस कथानक का साहित्य है। इसलिए उपन्यास का विश्लेषण सहज और अल्पायास-ग्राह्य होता है। दूसरे, नाटक उपन्यास की भाँति केवल पुस्तकगत साहित्य नहीं है। वह रंग मच को दृष्टि मे रखकर लिखा गया होता है—अर्थात्

केवल पुस्तक में लिखी हुई बातें ही सम्पूर्ण नाटक नही है, वे अपने-आपकी पूर्णता के लिए रंगमच की अपेक्षा रखती है। उपन्यास मे यह बात नही होती; वह अपना रंगमंच अपने पात्रों में लिये फिरता है। तीसरे, उपन्यास-लेखक जानता है कि उसका पाठक अपनी सुविधा और अवसर के मुताबिक थोडा-थोडा करके पढ सकता है। इसलिए वह किसी संकीर्णता मे बँधा नही रहता, जबकि नाटक का लिखनेवाला लेखक अच्छी तरह जानता है कि उसका नाटक दो या तीन घण्टे के भीतर द्रष्टा को देख लेना है। और इसीलिए आकार और विस्तार के मामले मे वह संकीर्ण सीमा में बँधा रहता है। उसकी यह मनोवृत्ति नाटक को जहाँ अधिक ठोस बना देती है वहाँ अनेक कौशल ग्रहण करने को बाध्य कर देती है। इसीलिए नाटक उपन्यास की अपेक्षा अधिक जटिल होता है। एक चौथा कारण यह है कि उपन्यासकार को अपने पात्रो के भीतरी मनोभावो को खोलकर बता देने की स्वाधीनता प्राप्त रहती है, जो नाटककार को नही रहती। इसलिए नाटक-लेखक जहाँ अपने उपस्थापन मे संक्षिप्त और ठोस होता है, वहाँ अनेक बन्धनो से जकड़ा भी रहता है। इस पराधीनता के कारण उसे अनेक कौशल अवलम्बन करने पडते है। इन भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न कौशलो के अवलम्बन के कारण उपन्यास की अपेक्षा नाटक अधिक ठोस होता है। इसलिए यह मामूली कायदा-सा हो गया है कि पहले उपन्यास की विवेचना कर लेने के बाद ही नाटक की विवेचना की जाय।

83. जिन पण्डितों ने पुराने शास्त्रो का अध्ययन किया है उनका अनुमान है कि बहुत पहले भारतवर्ष में जो नाटक खेले जाते थे उनमे बातचीत नही हुआ करती थी। वे केवल नाना अभिनयों के रूप में अभिनीत होते थे। अब भी संस्कृत के पुराने नाटकों में इस प्रथा का भग्नावशेष प्राप्य है। इन नाटकों में जब कोई पात्र कुछ करने को होता है तो उसका निर्देश इस प्रकार दिया जाता है—'अमुक पात्र अमुक कार्य का अभिनय कर रहा है' [शकुन्तला वृक्षसेचन नाट्यति]। यह इस बात का सबूत बताया जाता है कि नाटको में बातचीत उतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु नही मानी जाती थी जितनी क्रिया। डिडेराट नामक पश्चिमी पण्डित के बारे में प्रसिद्ध है कि उसकी यह अद्भुत आदत थी कि नाटक देखते समय कान बन्द कर लेता था। ऐसा करने से वह नाटकीय क्रिया को बातचीत से अलग करके देख सकता था और नाटक की उत्कृष्टता को ठीक-ठीक समझ सकता था।

इसमे कोई सन्देह नही कि नाटक मे क्रिया ही प्रधान होती है। इसका मतलब यह हुआ कि नाटक की पोथी में जो कुछ छपा होता है, उसकी अपेक्षा वही बात ज्यादा महत्त्वपूर्ण होती है जो छपी नही होती और सिर्फ रंगभूमि में देखी जा सकती है। नाटक का सबसे प्रधान अंग उसका क्रिया-प्रधान दृश्यांश ही होता है, और इसीलिए पुराने शास्त्रकार नाटक को दृश्यकाव्य कह गये हैं।

84. उपन्यास में जितने तत्त्व होते हैं वे सभी (दे. 63) नाटक में भी होते है। इन तत्त्वों के सम्मिलित जोर से ही नाटक क्रिया-परायण होता है। इसलिए

उसमे भी कथावस्तु उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है जितना उपन्यास में, परन्तु, जैसा कि शुरू में ही बताया गया है, नाटककार हर मामले मे बहुत-से बन्धनो मे बँधा रहता है। इसीलिए वह बड़ी सावधानी से उन कम-से-कम घटनाओं का सन्निवेश करता है जिनके बिना काम नही चल सकता। यदि वह ऐसे बेकार दृश्यो की अवतारणा करे, जो नाटक मे कोई उद्देश्य ही नही सिद्ध करते, तो उसका नाटक शिथिल हो जायगा। शैथिल्य नाटक का बड़ा भारी दोष है। परन्तु हर बात में नाटककार को स्टेज की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखना पड़ता है। आजकल के वैज्ञानिक आविष्कार ने स्टेज मे ऐसी अनेक सुविधाएँ ला दी हैं, जिनके कारण आज के नाटककार का प्राचीन नाटक की अपेक्षा कम घटनाओ के सन्निवेश से भी काम चल जाता है। कालिदास और भवभूति के नाटको मे ऐसे बहुत-से दृश्य अवतरित किये गये है, जिन्हें आज का नाटककार छोड़ देता और स्टेज मे ऐसा निर्देश दे देता जिससे वे बातें बिना कहे ही सहृदय श्रोता की समझ मे आ जाती हैं। इब्सन आदि आधुनिक नाटककार उस प्रकार के घटनाबहुल दृश्यों की अवतारणा न करके एक खास बात पर घटनाओ को इस प्रकार केन्द्रित करते है कि उनका उद्देश्य प्रतिफलित हो जाता है। इसलिए नाटकीय कथावस्तु औपन्यासिक कथावस्तु से ज्यादा कठिन होती है।

इस (नाटक की) कथावस्तु के दो अंग होते हैं—दृश्यांश और सूच्यांश। अर्थात् एक तो वह वस्तु जो नाटक की क्रिया को अग्रसर करती है और सहृदय को रसानुभूति के अनुकूल करती है। नाटककार को यह समझना चाहिए कि कथावस्तु मे कौन-सा दृश्यांश होगा और कौन-सा सूच्यांश। हिन्दी की एक नामी नाटककार ने राम के वन जाते समय नागरिको को रोकना, वशिष्ट का व्याख्यान देना आदि बातें बड़े आडम्बर के साथ दृश्य रूप में अंकित की है, जबकि कैकयी का वर माँगना और राजा का शोकाकुल होना केवल नागरिको के बातचीत के रूप मे सूचित-भर कर दिया है। स्पष्ट ही वे कथा के उस मार्मिक अंश को तरह दे गये है, जो सहृदय के रसबोध को जाग्रत करता और अभिनेता के अभिनय-कौशल की कसौटी होता। अगर कालिदास ने दो नागरिकों मे बातचीत कराके यह सूचना दे दी होती कि शकुन्तला को राजा दुष्यन्त ने अस्वीकार कर दिया, तो उनका 'अभिज्ञान शाकुन्तल' अत्यन्त दरिद्र हो जाता। इसलिए नाटक की कथावस्तु का विचार करते समय देखना चाहिए कि नाटककार जिन बातो को रंगमंच पर अभिनीत होते दिखाना चाहता है वे मार्मिक अंश है या नही, और पूर्ववर्त्ती या परवर्त्ती घटनाओ की अनुभूति को गाढ़ करने में कोई सहायता पहुँचा रही हैं या नही।

85. पुराने जमाने के नाटको में केवल सूचना देने के लिए पाँच प्रकार के कौशल का निर्देश है।। इन्हे अर्थोपस्थापक कहा गया है। प्रधान दो हैं—'प्रवेशक' और 'विष्कम्भक' या 'विष्कम्भ' सिर्फ दो पात्रो मे (जो कभी भी उत्तम श्रेणी के नही होते) बातचीत के द्वारा भावी या अतीत अर्थ की सूचना देने के लिए अंक

के आरम्भ में जोड़ा जाता है। जब इसके पात्र मध्यम श्रेणी के होते थे और शुद्ध (संस्कृत) भाषा में बात करते थे तो इसे 'शुद्ध विष्कम्भक' कहा जाता था। और जब उनमे से एक निम्न-श्रेणी का होता था और लौकिक (प्राकृत) भाषा बोलता था तो उसे 'मिश्र विष्कम्भक' कहा जाता था। 'विष्कम्भक' नाटक के आरम्भ में भी आ सकता था। 'प्रवेशक' ठीक इसी तरह की चीज है। अन्तर केवल यह है कि इसके पात्र निम्न श्रेणी के होते थे, प्राकृत में बात करते थे और नाटक के आरम्भ में इसका प्रयोग नही होता था।

पर्दे के भीतर से किसी आवश्यक बात की सूचना देने को 'चूलिका' या 'खण्ड चूलिका' कहते थे। किसी अंक के अन्त मे आगामी अंक के विषय मे दी गयी सूचना को 'अंकमुख' और एक अंक की क्रिया लगातार दूसरे अक तक जब चलती रहे तो उसे 'अकावतार' कहा जाता था। इन कौशलो से ऐसी बातों की सूचना दी जाती थी, जो रंगमंच पर अभिनीत होने के योग्य नहीं समझी जाती थी।

86. उपन्यास की भाँति नाटक में भी एकाधिक कथा-वस्तुएँ रह सकती हैं। एक घटना प्रधान होती है, बाकी अप्रधान। प्रधान को पुराने आचार्य 'आधिकारिक' और अप्रधान को 'प्रासंगिक' कह गये है। रामायण मे राम की कथा 'आधिकारिक' है और सुग्रीव की 'प्रासगिक'। प्रासंगिक' कथाएँ दो प्रकार की होती है :

(1) वे, जो 'आधिकारिक' कथा के साथ बराबर चलती रहें और (2) वे जो थोड़ी दूर तक ही चलें। पहली को 'पताका स्थान' और दूसरी को 'प्रकरी' कहते है। नाटक में यदि दो कथा-वस्तुओं का इस प्रकार सन्निवेश हो कि दोनोंही प्रधान-सी लगे या परस्पर एक-दूसरे से असम्बद्ध जान पड़ें, तो वहाँ नाटककार सफल नही कहा जा सकता। इस बात को 'अजातशत्रु' नामक प्रसादजी के नाटक से समझा जा सकता है। 'अजातशत्रु' की कथा मे तीन घटनाएँ एक-दूसरे से गूँथी गयी हैं :

(1) मगध के राजघराने का कलह, जिसके कारण वृद्ध राजा बिम्बसार और रानी वासवी राजच्युत हुई है, (2) कौशल के राजा प्रसेनजित् और उनके पुत्र तथा रानी का पारस्परिक मनोमालिन्य, और (3) कौशाम्बी के राजा उदयन और उनकी रानी मागन्धी तथा पद्मावती का विवाद। मागन्धी ही अन्त मे चलकर श्यामा वेश्या बन जाती है और वही आगे जाकर आम्रपाली। यह तीसरी घटना बहुत सार्थक नही है। मागन्धी का श्यामा के रूप मे घर छोड़कर बाजार मे जा बैठना थोड़ा-सा नाटकीय उद्देश्य सिद्ध जरूर करता है, वह नाटक का अत्यन्त आवश्यक अंग नही है। अब इन घटनाओं पर विचार किया जाय।

वस्तुतः प्रथमोक्त दो राजघरानों के घरेलू कलह से ही नाटक की घटना बनी हुई है। वे दोनों घटनाएँ समानान्तर-सी हैं, यद्यपि दोनो का नियोग दो तरह से हुआ है। दोनो मे ही पिता-पुत्र का झगड़ा है। दोनों में ही विद्रोही पुत्रों की माताएँ उन्हें उत्तेजित करने में प्रमुख भाग लेती हैं। परन्तु मगध का बूढ़ा सम्राट्

बिम्बसार नकारात्मक चरित्र का पात्र (दे. 75), जबकि कोशल का प्रसेनजित् धनात्मक (दे.75)। इसका नतीजा यह होता है कि पहला सिंहासन त्याग कर बन्दी हो जाता है और उसका विद्रोही पुत्र सम्राट् बन बैठता है, जबकि दूसरा (प्रसेनजित्) गद्दी पर जमा रहता है और पुत्र को देश-निकाले की सजा देता है।

ये दोनों कथानक बहुत-कुछ निरपेक्ष-से है। कोशलवाली कहानी मगधवाली कहानी की अपेक्षा गौण केवल इस अर्थ में है कि मगध का गृह-विवाद पहले होता है और उसका समाचार पाने पर ही कोशलवाला गृह-विवाद आरम्भ हो जाता है, यद्यपि आगे की घटनाओ से हम जानते है कि इस गृह-विवाद के पीछे बहुत पुराना झगडा है। यह निर्णय करना कठिन है कि इनमें कौन-सी घटना 'आधिकारिक' है और कौन-सी 'प्रासगिक'। नाटक के नाम से जान पड़ता है कि मगधवाली कथा को ही नाटककार प्रधान मानता है। इस कथा को अग्रसर करने मे कोशलवाली घटना से थोड़ी सहायता मिली जरूर है, पर वहाँ भी यह निर्णय करना कठिन ही है कि अजात को शैलेन्द्र से अधिक सहायता मिली है या शैलेन्द्र को अजात से। केवल एक चरित्र से—मल्लिका से—जो कोशलवाली घटना का परिणाम है—दोनों घटनाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है और इस एक ही सूत्र की सहायिका होने के कारण कोशलवाली घटना मे प्रासंगिकता आ गयी है। उदयनवाली तीसरी कथा की एकमात्र देन श्यामा है, जो नाटक के घटना-विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लेती है, पर अगर वह पहले मागन्धी के रूप में रानी न रही होती और सिर्फ काशी की वेश्या ही होती तो नाटक की कोई हानि नही होती। उसके रानीत्व की सूचना बाद मे केवल विदूषक की बातचीत में आती है—खुद वह विदूषक भी इस दृश्य मे केवल इसलिए खड़ा कर दिया गया है कि नाटककार ने आम्रपाली की जो कहानी नाटक मे लिख दी है उसको कुछ सार्थक बना दिया जाय। किन्तु वह भी बेकार ही है। यदि आम्रपाली के मागन्धी-रूप का कथन नितान्त आवश्यक भी होता तो कई दृश्यों की अवतरणिका न करके उसे सूक्ष्म रूप मे उपस्थित किया जा सकता था।

87. कुछ लोगों ने यह भ्रम फैला दिया है कि नाटक में चरित्र-चित्रण गौण वस्तु है। वस्तुतः चरित्र-चित्रण और घटना-विन्यास दोनों सम्मिलित भाव से उस महान् गुण को उत्पन्न करते हैं जिसे क्रिया कहते है। उत्तम चरित्र-चित्रण नाटककार की कृति को महान् बनाता है। सिर्फ घटनाएँ ही यदि बाहर से आ-आकर पात्रो को विशेष दिशा मे अग्रसर करती रहे तो पात्र निर्जीव जड़-पिण्ड के समान मालूम होंगे और नाटकीय प्रभाव उत्पन्न नही हो सकेगा। शकुन्तला का आश्रम में आत्म-समर्पण और बाद मे अपने प्रेमी के द्वारा प्रत्याख्यात होकर रोष-दीप्त होना महज अपने-आप मे स्वतन्त्र बाहरी घटनाएँ नही हैं, बल्कि शकुन्तला के सरल और निष्कपट चरित्र के भीतर से उत्पन्न हुई हैं। 'उत्तर रामचरित' में राम-द्वारा सीता का निर्वासन राम के भीतरी चरित्र की तर्क-संगत परिणति है।

यह जरूर है कि नाटककार उपन्यासकार की भाँति अपने पात्रों के चरित्र-

विश्लेषण का सुयोग नही पाता। उसे अपने पात्रो का चरित्रचित्रण थोड़े-से इशारों से कर देना पड़ता है। उसका प्रधान अवलम्ब उस पात्र की बात-चीत और अन्य पात्रों की, उसके सम्बन्ध मे की हुई, उक्तियाँ होती हैं। परन्तु, जैसा कि शुरू मे ही कहा गया है, नाटक मे यह बात उतनी महत्त्वपूर्ण नही है कि पात्र क्या कहता है, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह क्या करता है। घटना और पात्र एक-दूसरे से धक्का खाकर आगे बढते रहते है और इस घात-प्रतिघात से उत्पन्न क्रियाओं के द्वारा हम पात्रों के चरित्र-रूपी ग्रन्थ के पन्ने खोलते जाते है। नाटककार का बड़ा कठिन कार्य यह है कि वह प्रति मूहूर्त्त भिन्न-भिन्न पात्रो के रूप मे नया-नया मनोभाव स्वीकार करता है और इसलिए उसका व्यक्तिगत मत और विचार बराबर दबते रहते है। इसी बात को नाटक का 'निर्वैयक्तिक तत्त्व' कहते है।

88. कथा-वस्तु और पात्रो के घात-प्रतिघात से नाटक महान् बनता है। नाटककार यदि पात्रों और घटनाओं को होशियारी से सम्हाल सका और घटना-विन्यास की सुकुमार अवस्थाओं को पहचान सका, तो अत्यन्त मामूली कहानी को भी महिमा-मण्डित कर दे सकता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' है, जिसे सक्षेप मे 'शकुन्तला नाटक' कहा जाता है। महाभारत की सीधी-सादी कहानी को सम्हालने मे नाटककार ने कमाल की सुकुमार प्रतिभा का परिचय दिया है।

महाभारत की कहानी सीधी है। राजा दुष्यन्त कण्व के आश्रम मे जाता है। शकुन्तला को देखकर आकृष्ट होता है। वह निस्संकोच अपना अप्सरा से जन्म होना बता जाती है। दोनो में कुछ बहस होने के बाद उसे यकीन हो जाता है कि गान्धर्व-विवाह धर्म-संगत है। गान्धर्व-विवाह हो जाता है, परन्तु उसमे शकुन्तला शर्त करा लेती है कि उसी का पुत्र राजा होगा। राजा राजधानी को लौट आता है। शकुन्तला के पुत्र होता है। उसे ऋषि के शिष्य दरबार तक पहुँचाकर चले आते है। राजा अस्वीकार करता है। शकुन्तला कड़ी-कडी बाते सुनाती है। फिर आकाशवाणी होती है कि शकुन्तला का पुत्र वस्तुत: दुष्यन्त का ही पुत्र है और राजा उसे स्वीकार करता है तथा बताता है कि चालाकी से देव-वाणी द्वारा यह कहलवा लेना ही उसका उद्देश्य था कि भरत वस्तुत: दुष्यन्त का ही पुत्र है।

यही वह सीधी-सादी कहानी है जिसे कालिदास ने अपने नाटक के मूल कथानक के रूप मे पाया था। इस अत्यन्त सरल कहानी को कालिदास की जादू-भरी लेखनी ने एकदम नयी काया दे दी है। यहाँ लज्जाशीला तापसकुमारी अपना जन्म-वृत्तान्त स्वय नही कहती। उसकी सखियाँ केवल उस ओर इशारा-भर कर देती है। बाकी बुद्धिमान राजा को स्वयं समझ लेने को छोड़ देती है। उसके प्रेमोदय और गान्धर्व-विवाह तूली के अत्यन्त सुकुमार स्पर्श से चित्रित किये गये हैं। राजा के अनुचित आचरण को शाप की कथा से ढँक दिया गया है, और इस आचरण की थोड़ी-सी जिम्मेदारी शकुन्तला पर भी डालकर कवि ने करुणतर अनुभूति का अवसर दिया है।

शकुन्तला जब दरबार में पति-दर्शन की आशा से उपस्थित होती है तो शाप की घटना एक विचित्र नाटकीय 'भाग्य-विडम्बन' (दे. 95) का काम करती है। राजा के मर्मान्तिक प्रत्याख्यान को इस शाप की कथा ने ऐसा बना दिया है कि सहृदय का क्षोभ एक विचित्र करुण रस में भीगकर ऊपर आने के अयोग्य हो जाता है। राजा पर झुंझलाने के बदले वह उस पर दया करता है। शकुन्तला को शाप के वृत्तान्तों से अनभिज्ञ रखकर नाटककार ने इस प्रसंग को अद्भुत मानसिक द्वन्द्वों का करुण चित्र बना दिया है। शकुन्तला का रोष, राजा का प्रत्याख्यान, ऋषि-शिष्यों का शकुन्तला को छोड़ जाना—सब-कुछ विचित्र रसपरिपाक के कारण बन जाते हैं।

महाभारत की शकुन्तला की भाँति कालिदास की शकुन्तला राजा को शाप की धमकी नहीं देती। उसकी बातें राजवधू और ऋषि-कन्या के गौरव के अनुकूल हैं। दुष्यन्त उत्तम नायक है, क्योंकि वह राजकर्त्तव्यों का समुचित पालन करनेवाला है। उसका निःस्वार्थ कर्त्तव्यमय जीवन राजर्षि की तपस्या का जीवन है। शकुन्तला का परित्याग उसके उज्ज्वल चरित्र को उज्ज्वलतर बनाने योग्य ही सिद्ध हुआ है; क्योंकि अनजाने परायी स्त्री को पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेना भी पाप है, और राजा असल में इस पाप से बचने की ही कोशिश कर रहा था। शकुन्तला का उसके प्रति जो प्रेम है वह दुःख की अग्नि से परिशुद्ध है। अन्तिम मिलन प्रेम-द्रविता बालिका का नहीं, बल्कि तपःशुद्धा, मातृत्व के गौरव से गौरवान्वित, विगतकल्मषा, साध्वी शकुन्तला का है।

विरोधी परिस्थितियों और व्यक्तियों की सृष्टि करके अपने पात्रों के चरित्र-गुण को उज्ज्वल करने में भी कवि ने कमाल की होशियारी से काम लिया है। लेकिन शकुन्तला की तुलना में किसी भी स्त्री-पात्र को रंगमंच पर दर्शक के सामने नहीं आने दिया है। विदूषक सदा राजा के साथ रहता है, परन्तु अगर वह शकुन्तला के प्रेम का साक्षी होता तो सारे नाटक का रस फीका हो जाता। ठीक मौके पर से नाटककार ने उसे कौशलपूर्वक हटा दिया है।

कण्व का बड़ा आकर्षक चित्र है। वे सन्तानहीन ऋषि हैं, पर सन्तान के अहेतुक प्रेम से उनका हृदय भरा है। मरीच और दुर्वासा इन दो ऋषियों को तुलना में खड़ा करके कवि ने उनके हृदय की गम्भीरता, उदारता और प्रेम-प्रवणता को अति उज्ज्वल कर दिया है। इसी प्रकार और चरित्रों के चित्रण में और घटनाओं के गति-विकास में उनका संयोजन करके 'शकुन्तला' को कालिदास ने विश्व-साहित्य की अमर विभूति बना दिया है। चरित्र-चित्रण इतना सूक्ष्म और कौशलपूर्ण है कि थोड़े समय में दिख जानेवाले अत्यन्त गौण चरित्र भी स्पष्ट हो उठे हैं। शार्ङ्गधर और शारद्वत बहुत थोड़े समय के लिए रंगमंच पर आते हैं, बातें भी कम ही करते हैं, पर उतने में ही स्पष्ट हो गया है कि शार्ङ्गधर उद्धत गर्वीला है, राजा को खरी-खरी सुना देता है और शारद्वत शान्त गम्भीर है, और कन्या-पक्ष के आदमी को जिस प्रकार बात करनी चाहिए वैसी बात करता है।

89. मतलब यह कि पात्रों के चरित्र और घटनाएँ एक-दूसरे से टकराकर जब नाटक को गतिशील बनाये रखें, तभी वे सफल होती हैं। यह बात उपन्यास के लिए भी सत्य है। कोई भी रचना तभी सफल हो सकती है, जब हम यह अनुभव करते रहें कि कुछ भिन्न-भिन्न स्वभाव के व्यक्ति विभिन्न उद्देश्यों को लेकर एकत्र हुए, और उनके स्वभावगत और उद्देश्यगत विरोधों के संघर्ष से कुछ परिस्थितियों में घटनाएँ अग्रसर होती गयीं। इसलिए पात्रों का स्वभाव और उनका उद्देश्य नाटकीय कथा-वस्तु के लिए परम आवश्यक है। उनकी उपेक्षा दोष है।

90. जैसा कि ऊपर बताया गया है, पात्रों के चरित्र-चित्रण का एक प्रधान अवलम्ब उनकी बातचीत है। बातचीत से हम उनके भीतरी मनोभावों का आभास पाते हैं और उनकी क्रियाओं के पीछे रहनेवाले उनके विचार समझ पाते हैं। इसीलिए भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में पात्रों की बातचीत को नाट्य का शरीर बताया गया है। उपन्यास में बातचीत के द्वारा लेखक अपने उद्देश्य को व्यक्त कर सकता है, अपने मान्य सिद्धान्तों के गुण-दोष की विवेचना कर सकता है, अन्य पात्रों के चरित्रों की व्याख्या कर सकता है, पर नाटककार को इतना अवकाश नहीं होता। नाटककार जो बातचीत कराता है, उसका उद्देश्य चरित्र के भीतरी मनोभावों और वास्तविक स्वभाव को व्यक्त करके उसके चरित्रगत वैशिष्ट्य को दिखाना होता है। नाटकीय वार्तालाप का औचित्य विचार करते समय यह देखना चाहिए कि इससे पात्र की चरित्रगत विशेषता पर क्या प्रकाश पड़ता है। इसी पर से उसकी सार्थकता का निर्णय होना चाहिए।

91. ऐसा सम्भव है कि पात्र एक ऐसी बात प्रकाश्य रूप में कहे जो उसका भीतरी मनोभाव न हो, किसी कारणवश वह झूठ बोल रहा हो। ऐसी हालत में नाटककार एक 'कौशल' अवलम्बन करता है। वह या तो पात्र से कोई 'स्वगत' उक्ति कराता है—अर्थात् पात्र अपने-आपसे ही बात-चीत करके असली रहस्य खोल देता है, या फिर, यदि पात्र का कोई विश्वसनीय साथी वहाँ मौजूद हो, तो उससे 'जनान्तिक' में बात करा देता है। यह 'जनान्तिक' वाली बात सिर्फ उसका विश्वासपात्र व्यक्ति ही सुनता है।

ये दोनों बातें अजीब-सी लगती हैं। रंगमंच से बहुत दूर बैठा हुआ श्रोता 'जनान्तिक' की बातें सुन लेता है, पर पास खड़ा आदमी नहीं सुन पाता, ऐसा मान लिया जाता है। 'स्वगत' उक्ति में तो कभी-कभी लम्बा व्याख्यान होता है। नाटक के रंगमंच के सिवा दुनिया में और कहीं भी दुरुस्त होशवाला आदमी इस प्रकार अपने-आपको व्याख्यान नहीं सुनाता। आलोचकों में इस प्रथा के औचित्य को लेकर काफी बहसें हुई हैं, पर ये दोनों बातें सारे संसार के नाटककारों की चिराचरित प्रथाएँ हैं।

वस्तुतः स्वगत-उक्ति पात्र का मानसिक सोच और चिन्तन है। नाटककार अपने श्रोताओं की सुविधा के लिए उस वितर्कों को जोर से बोलवाता है। जनान्ति से श्रोता भी उसके साथ इस प्रकार की रियायत करता आता है। भारतीय नाटकों

में इससे मिलती-जुलती एक और भी विधि है। इसे 'आकाशभाषित' कहते हैं। इसमें पात्र इस प्रकार बातचीत करता है मानो दुतल्ले पर से कोई उससे कुछ पूछ रहा है और वह उसका जवाब दे रहा है। प्रतिबार वह श्रोताओं के सुभीते के लिए स्वयं ही पूछ लेता है—'क्या कहा ?' —'अमुक बात ?' और फिर अमुक बात का जवाब देता है।

आजकल की यथार्थवादी प्रवृत्ति इस प्रकार की रूढ़ियों को भद्दी रूढ़ि के रूप में ही ग्रहण करने लगी है। आधुनिक नाटककार इस प्रथा को छोड़ने लगे हैं और साधारण बातचीत के भीतर से ही पात्र के भीतरी मनोभावों को चित्रित करने का प्रयत्न करने लगे है। यह कठिन कार्य और भी कठिन इसलिए हो गया है कि आजकल के नाटक अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक होते जा रहे हैं; फिर भी, आधुनिक नाटककार ने सफलतापूर्वक इन रूढ़ियों का परित्याग किया है।

92. 'रंगमंच' की सुविधा-असुविधा के अनुसार नाटक की कारीगरी में बराबर परिवर्तन होता आया है। आजकल 'रंगमच' को वास्तविक और यथार्थ रखने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी है। ऐसा करने से सब समय दर्शक के साथ न्याय नही किया जाता। दर्शक की कल्पना को भी पूरा अवकाश मिलना चाहिए। 'रंग-मच' के दृश्य की ओर इशारा-भर हो और बाकी दर्शक की कल्पना के ऊपर छोड़ दिया जाय तो ज्यादा सरसता आ सकती है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'रंगमच' को अति यथार्थवादी बनाने की प्रवृत्ति को 'लड़कपन' कहा था। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय 'रंगमंच' आधुनिक 'रंगमंचों' की अपेक्षा अधिक सरस और गम्भीर कहे जा सकते हैं, यद्यपि वे इतने सुसज्जित नही होते थे।

भारतीय आचार्यों ने अभिनय के चार अग माने हैं: 'आंगिक', 'वाचिक', 'आहार्य' और 'सात्त्विक'। 'आंगिक' अभिनय देह और मुख-सम्बन्धी अभिनय को कहते है। प्राचीन ग्रन्थों मे सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर आदि अगों के सैकड़ों प्रकार के अभिनय बताये गये हैं। इन अभिनयों का किस-किस कार्य मे प्रयोग होगा, यह भी विस्तृत रूप से बताया गया है। 'वाचिक' वचन-सम्बन्धी अभिनय को कहते हैं। पदों का स्पष्ट उच्चारण, उचित स्थान पर जोर (काकु) आदि की कला इसी मे गिनी जाती है। 'आहार्य' रंगमच की सजावट और पात्रों के वेश-विन्यास को कहते है। रगमंच मे यथार्थता की झलक ले आ देने के लिए उन दिनो तीन प्रकार के पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बाँस या सरकण्डे के बने होते थे जिन पर कपड़ा या चमड़ा मढ़ दिया जाता था, ताकि पहाड़, वन आदि की झलक दे सकें; या फिर तन्त्रादि की सहायता से फर्जी बना लिये जाते थे; या फिर अभिनेता इस प्रकार की चेष्टाओं का अभिनय करता था कि जिससे दर्शक को उन वस्तुओं का बोध अपने-आप हो जाता था। पुरुषों और स्त्रियों की वेश-रचना और उनका यथाविधि रंगमंच पर उतरना भी 'आहार्य' अभिनय के ही अग समझे जाते थे। परन्तु इन तीनों ही की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है 'सात्त्विक' अभिनय। भिन्न-भिन्न रसों और भावों के अभिनय में ही अभिनेता या अभिनेत्री

की वास्तविक परीक्षा होती है।

इस प्रकार रंगमच की सजावट, पात्रों का वेश-विन्यास, उनकी बात-चीत, उनकी आंगिक गति और उनका भावात्मक अभिनय भी भारतीय शास्त्रकार की दृष्टि मे अभिनय ही है। 'अभिनय' शब्द का अर्थ वह 'क्रिया' है जो दर्शक को रसानुभूति की ओर ले जाय। रंगमंच की सजावट, पात्रों की बात-चीत, उनका वेश-विन्यास आदि सभी बातें रसानुभूति की सहायिका है। परन्तु यदि ये ही प्रधान हो उठे और रसानुभूति गौण हो जाय तो वे दोष हो जायेंगी। रगमच को अत्यधिक यथार्थवादी बनाने के प्रयासी इस बात को भूल जाते है।

93. प्रत्येक नाटकीय कथा कुछ विरोधों को लेकर अग्रसर होती है। जो कथा सरल होती है उसमे यह विरोध दो व्यक्तियो मे होता है, परन्तु यह आवश्यक नही कि विरोध के लिए हर हालत में एक नायक और एक प्रतिनायक रहें ही। आधुनिक नाटको मे यह विरोध नाना भाव मे प्रदर्शित हुआ है। नायक का उसके भाग्य या परिस्थितियों के साथ विरोध हो सकता है, सामाजिक रूढियो के साथ विरोध हो सकता है और फिर अपने मत के परस्पर-विरोधी आदर्शों के संघर्ष के रूप मे भी हो सकता है। विरोध व्यक्तियों, मनोभावों और स्वार्थो को केन्द्र करके नाना रूप मे प्रकट हो सकता है। इस विरोध से ही नाटक की घटना मे गति या क्रिया आती है। विरोध के आरम्भ से ही वस्तुतः कथा-वस्तु का आरम्भ होता है और उसके अन्त से ही उसका अन्त हो जाता है। विरोध कथा-वस्तु को आश्रय करके अग्रसर होता हुआ चरमबिन्दु तक उठता है, जहाँ से एक पक्ष की हार शुरु होती है और एक पक्ष की जीत, और अन्त में जब हारनेवाला पक्ष एकदम हार जाता है तो विरोध की समाप्ति हो जाती है।

इन क्रियाओं को पश्चिम के पण्डितो ने पाँच भागों मे बाँट लिया है: (1) पहली 'आरम्भावस्था' है, जिसमें कुछ ऐसी घटनाओं की अवतारणा होती है जिनमें विरोध अंकुरित होता है। (2) दूसरी 'विकासावस्था' है, जहाँ विरोध का विकास होता है, वह अग्रसर होता जाता है। (3) तीसरी अवस्था का नाम 'चरमबिन्दु' है। यहाँ विरोध अपनी सर्वोच्च सीमा पर आ जाता है। (4) चौथी अवस्था 'ह्रासावस्था' कहलाती है, इसमें विरोध उतार की ओर होता है और एक पक्ष निश्चित रूप से हार की ओर अग्रसर होता रहता है। (5) पाँचवी अवस्था का नाम 'समाप्ति' है।

इन पाँच अवस्थाओं—'आरम्भ', 'विकास', 'चरमबिन्दु', 'ह्रासावस्था', 'समाप्ति', को लक्ष्य मे रखकर पाँच अंक के नाटक लिखे जाते थे। पर नाना कारणों से अंकों का विभाजन क्वचित्-कदाचित् ही इन पाँच अवस्थाओं के स्वाभाविक विकास के आधार पर होता है। कभी दो अंकों तक 'आरम्भ' चल रहा है, दो अकों तक 'विकास' चलता है, और फिर धड़ाधड़ अन्तिम अक में 'चरमबिन्दु', 'ह्रास' और 'समाप्ति' की योजना कर दी जाती है। यह दोष है। होना यह चाहिए कि कथा-वस्तु में इन पाँच अवस्थाओं के विकास मे सामंजस्य हो। सभी

का सूत्रपात हो जाता है। समस्त नाटक के भीतर राम का अन्तर्द्वन्द्व—उनके भीतरी प्रेम और बाहरी राजकर्त्तव्य का द्वन्द्व—बहुत चतुरता के साथ शुरू में ही दिखा दिया गया है।

राम के चरित्र में व्यक्ति की अपेक्षा राजा के बाह्य कर्त्तव्य का जो प्राधान्य है, उसी ने नाटक को एक अपूर्व करुण भाव से आर्द्र बना दिया है। परन्तु चूंकि सीता के चरित्र में एकरसता अधिक है, इसलिए नाटककार शुरू में ही उनकी ओर पाठक का ध्यान नहीं आकृष्ट कर सका है। परन्तु तृतीय अंक में जब सीता अपने प्रियतम को देखती और क्षमा करती है तो भवभूति का चित्रण अत्यन्त सुकुमार हुआ है। राम यद्यपि कर्त्तव्य-पालन में कठोर हैं, पर सीता के प्रति उनका प्रेम निस्सन्देह अत्यधिक है। राम के चरित्रगत इस भीतरी विरोध को जितना इस अंक की घटनाएँ स्पष्ट करती है, उतना और किसी अंक की नहीं। देशी और विदेशी सभी पण्डितों ने स्वीकार किया है कि इस अंक में सीता के शान्त, गम्भीर और उदार आत्मसमर्पण में एक ऐसी रस-वस्तु का साक्षात्कार होता है जो भवभूति की अपनी विशेषता है। सारे अंक में यद्यपि कुछ अप्राकृतिक अवस्थाओं का सहारा नाटककार ने लिया है, पर बड़ी चतुरता के साथ इस दैवी सहायता ने भावी मिलन और प्रेम को सान्द्ररूप में प्रकट करने का मार्ग प्रशस्त कर लिया है।

'उत्तर रामचरित' का तृतीय अंक कवित्व, कल्पना और रस-परिपाक की दृष्टि से बेजोड़ है। अन्तिम अंक में भवभूति की नाटकीय प्रतिभा सर्वोच्च स्थान पर उठी है। केवल भारतीय नाटकों की मिलनान्त होनेवाली रूढ़ि के पालन के लिए भवभूति ने अन्तिम अंक में मिलन नहीं कराया है। वस्तुतः नाटक जिस रास्ते अग्रसर हुआ है उसकी सर्वोत्तम परिणति यही है। ऐसा न होता तो, जैसा कि ए. बी. कीथ ने लिखा है, आधुनिक पश्चिमी आलोचक की दृष्टि में भी नाटक अपूर्ण ही रह जाता।

96. नाटक की क्रिया वस्तुतः दो प्रकार की होती है : 'साक्षात् प्रवर्त्तित' या 'प्रत्यक्ष' तथा 'असाक्षात् प्रवर्त्तित' या 'परोक्ष'। 'प्रत्यक्ष' और 'परोक्ष' शब्द अधिक सुगम है, इनके लिए 'साक्षात् प्रवर्त्तित' और 'असाक्षात् प्रवर्त्तित' ये दो शब्द शास्त्र में प्रयुक्त होते हैं। 'प्रत्यक्ष' क्रिया नाटक के रंगमंच पर दिखायी देती है। मारना, लड़ना आदि ऐसी ही क्रियाएँ है, परन्तु 'अप्रत्यक्ष' या 'परोक्ष' क्रियाएँ सात्विक अभिनय से दिखायी जाती है (दे. 92.)। दुःखी होना, आनन्दित होना आदि ऐसी ही क्रियाएँ है। शेक्सपियर के नाटकों में 'प्रत्यक्ष' क्रिया का बाहुल्य है और बर्नार्ड शा तथा रवीन्द्रनाथ के नाटकों में 'परोक्ष' क्रिया का। दोनों में सामंजस्य-विधान होना चाहिए। नाटककार को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि अकारण कोई क्रिया न दिखायी जाय। प्रत्येक क्रिया का उद्देश्य होना चाहिए। इसी उद्देश्य से नाटक की क्रिया रसोद्रेक में सहायता करती है।

97. भरत मुनि ने कहा कि नाटक अवस्थाओं के अनुकरण का नाम है।

करण केवल तीन तत्वों तक ही सीमित है : (1) घटना का, (2) पात्र का र (3) बातचीत का। तीनों के अनुकरण तीन-तीन तरह से हो सकते है। या उन्हें, जैसा वे होते हैं उससे अच्छा करके दिखाया जा सकता है, या बुरा करके खाया जा सकता है, या ज्यों-का-त्यों दिखाया जा सकता है। चाहे नाटक यथार्थवादी हो या आदर्शवादी, पहले दो तरीके भद्दी रुचि के परिचायक है। यथार्थ बुरा करके जो अनुकरण होगा उसमे खून-खच्चर, शराब-कबाब, हत्या-डकैती दि का प्राधान्य होगा। जो *यथार्थ से अच्छा होगा उसमे आकाशवाणी, देवत्वा-*, पुष्पवृष्टि आदि का प्राधान्य होगा।

वस्तुत: नाटक का अनुकरण वास्तविक होना चाहिए। केवल उसका प्रभाव होना चाहिए जो मनुष्य को पशु-सुलभ मनोवृत्तियों से ऊपर उठाये। मनुष्य प्रकार की दुर्बलताओं और शक्तियों का समन्वय है, उसका अनुकरण भी वैसा होना चाहिए। कुछ लोगों को यह भ्रम है कि पाश्चात्य देशों में जिसे 'ट्रेजेडी' ते हैं वह दु:खान्त या वियोगान्त घटना है। असल बात यह नहीं है। 'ट्रेजेडी' न्त नाटक है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु यदि चरित-नायक में ऐसी स्वाभाविक नता न हो, जो उसके दु:खमय अन्त को स्वाभाविक रूप में वहाँ ले चले, तो वह 'ट्रेजेडी' नहीं कही जायगी। यदि शुरू में ही मान लिया जाय कि चरितनायक *भी सत्पथ से विचलित नहीं होनेवाला व्यक्ति है तो 'ट्रेजेडी' का रस-परिपाक* आ नहीं होगा, क्योंकि 'ट्रेजेडी' के समस्त दु:खों का मूल उस चरितनायक की नता ही है। इसलिए नाटकीय चित्रण मे वास्तविकता आवश्यक है। इन तविकताओं के भीतर से ही उत्तम नाटककार महान् बनानेवाले नाटकीय व को पैदा करता है।

98. चरित्र-प्रधान नाटकों के प्रसंग में हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार श्री जयर 'प्रसाद' का नाम लिया जा सकता है। उनके नाटकों के प्रधान आकर्षण : (1) शक्तिशाली चरित्र और (2) कवित्वमय वातावरण। यद्यपि उनके ो मे अनेक श्रेणी के लोग नहीं है, तथापि वे इतने सजीव हैं कि पाठक उनको नहीं सकता। उनके आदर्श पात्रों में वीरता, प्रेम और देश-भक्ति आवश्यक *विद्यमान रहते है, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनमें बहुविधता नहीं* यी है।

उनके सभी आदर्श और आकर्षक पुरुष पात्रों को तीन मोटे विभागों में बाँट जा सकता है :

(1) तत्त्वचिन्तक, (2) कर्मठ वीर सैनिक, और (3) कुटिल राजनीतिज्ञ। ये सात्र प्रेमी होते है और प्रेम ही इनको दुर्बल या सबल बनाता है। उनके *ात्रों मे भी ये ही बातें लागू होती हैं। उन्हें भी तीन श्रेणियों में बाँट लिया* कता है : (1) कुटिल राजनीतिज्ञाएँ, (2) प्रेमिकाएँ, और (3) दुर्बल हृदय हत्याकांक्षिणी स्त्रियाँ।

इनके सभी नाटकों में कुछ घटा-बढ़ाकर ये छ: प्रकार के चरित्र खोजे

आगे बढ़ते गये हैं, और नाटककार बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह बड़ी सावधानी से चलता गया है। प्रेमचन्दजी के चरित्रों की तरह उनके मूल में ही क्रान्ति नहीं है, क्रान्ति है उनके अन्त में। यह सच है कि उन्होंने भी क्रान्ति की है, सामाजिक या राजनीतिक नियमों की अवहेलना की है; किन्तु कब?—विरोधी उपकरण जब जिन्दगी की राह रोककर खड़े हो जाते हैं। यही स्वाभाविक है। मिश्रजी की यह ईमानदारी उनके नाटकों में भारी आकर्षण ले आ देती है। उन्होंने पुरानी भावुकता के प्रति विद्रोह किया है। उनका कहना है कि "प्रतिभा यदि वास्तव में कहीं है तो वह उसी पुराने रास्ते में धूल के भीतर घसीटी नहीं जा सकती। उसकी इच्छा कानून है, वह जिधर नजर डालती है, नियम बनते जाते हैं। कलाकार का कम्पास है जो तूफान ठीक उत्तर की ओर इशारा—संकेत—करता है।" इस दृष्टि से उनके नाटकों में 'ठीक उत्तर की ओर संकेत' करना ही आदर्श है, फिर भी उन्होंने अपने नाटकों को जो 'समस्या नाटक' कहा है उसका कारण यह है कि वे पहले ही समाधान को दृष्टि में रखकर अपनी रचना नहीं करते। वे उस बात की ओर उन्मुख है, जो एक नयी दुनिया का निर्माण करेगी, "जिसका आधार संस्कार और सेवा होगा—रंगों की विषमता और घृणा नहीं।" इसीलिए वे बर्नार्ड शा की उस प्रवृत्ति का अनुकरण करना पसन्द नहीं करते जिसका काम उपहास करना है, सुधार करना नहीं।

मिश्रजी के नाटकों में नाटकीय कारीगरी निर्दोष नहीं कही जा सकती। दृश्यों के विधान में और समस्याओं की बेमेल योजना में त्रुटि खोजी जा सकती है, पर निस्सन्देह उनमें अपने प्रतिपाद्य के भीतर प्रवेश करने की पैनी दृष्टि वर्तमान है।

लेकिन हिन्दी में आज भी नाटकों में कवित्व पूरी मात्रा में है। तीन श्रेणी के नाटक ऐसे लिखे गये हैं जो काव्य के तत्त्वों से परिपूर्ण हैं :

(1) प्रथम है 'रूपक नाट्य', जिनमें या तो मानवीय मनोरागों—जैसे; कामना, विलास, सन्तोष, करुणा आदि—की मनुष्य-रूप में कल्पना करके नाटकीय रस-सृष्टि करने का प्रयास होता है, या प्रकृति के भिन्न-भिन्न उपादानों की मानव-रूप में अवतारणा की जाती है। प्रसादजी की 'कामना' प्रथम श्रेणी में और सुमित्रानन्दन पन्तजी की 'ज्योत्स्ना' दूसरी श्रेणी में आती है। इन रूपकों के माध्यम से नाटककार अपना अभिमत उद्देश्य व्यक्त करता है।

(2) 'गीति-नाट्य' पद्यात्मक बातचीत के रूप में लिखे जाते हैं। यह भी कवित्व की मात्रा लिये होते हैं। कवित्व से मतलब केवल पद्य-बद्धता से नहीं बल्कि भावावेग, कल्पना और झंकार के वातावरण से है। नाटकों की गद्यात्मक क्रिया का इसमें प्राधान्य नहीं होता, यद्यपि वह नाटकीय गुण इसमें रहना आवश्यक है, जो पात्रों और घटनाओं के घात-प्रतिघात से गति उत्पन्न करना है। हिन्दी में बहुत बड़ी प्रतिभावाला गीति-नाट्यकार कोई नहीं है।

(3) इन्हीं से मिलते-जुलते अर्थात् भावावेग, कल्पना और झंकार का कवित्वमय वातावरण लिए हुए एक और प्रकार के नाटक होते हैं, जो गद्य में

लिखे जाते है। उन्हे 'भावनाट्य' नाम दिया गया है। ऐसे नाटको मे सबसे प्रख्यात है गोविन्दवल्लभ पन्त का 'वरमाला'। श्री उदयशकर भट्ट ने भी अनेक गीति-नाट्यो और भावनाट्यो की रचना की है।

103. इधर 'एकाकी नाटकों' का भी प्रचलन बढ रहा है। पुराने जमाने मे भी एक अक मे समाप्त होनेवाले नाटक लिखे गये है, परन्तु इधर के प्रयत्न नये है। इनमे गद्यात्मकता, मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति और समस्याओ की ओर सकेत ही प्रनघा हो उठा है। ये कहानी की भाँति वैयक्तिक स्वाधीनता और गद्य-युग की उपज है। इनमे बड़े नाटको की भाँति चरित्र के विकास का ज्यादा अवकाश नही होता। कहानी के बाद एकाकी नाटक के चरित्र भी लेखक के उद्देश्य के साधन होकर आते है। स्थान, समय और वस्तु का सकलन एकांकी के कौशल की जान है। कहानी की भाँति एकाकी नाटक भी एक घटना, एक परि-स्थिति और एक उद्देश्य से बनता है। हिन्दी मे डॉ. रामकुमार वर्मा ने सबसे अधिक एकाकी नाटक लिखे है।

104. नाटककार का उद्देश्य समझना उपन्यासकार के उद्देश्य के समान सरल नही है। नाटक भिन्न-भिन्न स्वभाववाले पात्रो के मुख से बोलता है। प्रत्येक पात्र की उक्ति मे नाटककार का अपना मत व्यक्त नही होता, परन्तु दो बातो को ध्यान मे रखने से नाटककार का अपना उद्देश्य समझ मे आ जाता है। प्रथम यह लक्ष्य करना चाहिए कि नाटककार किस पात्र की ओर सबसे अधिक सहानुभूति उत्पन्न कर रहा है और किस पात्र की ओर घृणा या उपेक्षा का भाव दिखा रहा है। सहानुभूतिवाले पात्र के मुख से नाटककार प्राय अपना मत प्रकट किया करता है।

आजकल तो नाटककार दीर्घ भूमिकाएं लिखकर अपना मत प्रकट करने लगे है। नाटककार की गलतियो से भी उसके पक्षपात का अनुमान होता है, क्योकि कभी-कभी उत्तम नाटककारों को भी अपने सिद्धान्तो के प्रति अतिरिक्त मोह होने के कारण शिथिल और अनावश्यक दृश्यो का अवतरण करते देखा गया है। प्रसादजी प्राय: नाटको को गतिमान बनाने के बदले अपने ऐतिहासिक मतो और दार्शनिक विश्वासो को व्यक्त करने के फेर मे पड़ जाते है और इस प्रकार गति-हीन दृश्यो की योजना कर बैठते है।

परन्तु नाटक की परिसमाप्ति से भी नाटककार का उद्देश्य स्पष्ट होता है। 'शकुन्तला नाटक' के प्रथम अक मे कालिदास ने दुष्यन्त और शकुन्तला के आक-र्षण की योजना यौवन-लीला के भीतर से की है। परिस्थितियाँ इस उच्छृखल प्रेमाकर्षण को छिन्न-भिन्न कर देती है। अन्तिम अक मे मलिन धूसरवसना, नियमाचरण से शुष्कमुखी, शुद्धशीला शकुन्तला का दर्शन होता है। यहाँ कवि ने मिलन का माध्यम बालक को बनाया है। इस आदि और अन्त को देखकर सहृदय के हृदय पर यह प्रभाव पडता है कि "मोह मे जो अङ्कुरार्थ हुआ है वह मगल मे परिसमाप्त है। धर्म मे जो सौन्दर्य है वही ध्रुव है और प्रेम का जो शान्त, मगल

तथा कल्याणमय रूप है वही श्रेष्ठ है; बन्धन में ही यथार्थ शोभा है; और उच्छृंखलता में सौन्दर्य की ग्राशु विकृति। भारतवर्ष के प्राचीन कवि ने प्रेम को ही प्रेम का लक्ष्य नही माना, मंगल को ही प्रेम का अन्तिम लक्ष्य घोषित किया है। उनके मत मे नर-नारी का प्रेम तब तक सुन्दर नही होता जब तक वह वन्ध्य (निष्फल,निस्सन्तान) रहता है, कल्याण को नही ग्रपनाता और ससार मे पुत्र कन्या तथा अतिथि-प्रतिवेशियों में विचित्र सौभाग्य से व्याप्त नही हो जाता।" (रवीन्द्रनाथ)

105. और सही बात यह है कि अन्यान्य साहित्यांगों की भाँति नाटक का भी चरम लक्ष्य वही परम मंगलमय ऐक्यानुभूति है, जिससे वह पशु-सामान्य प्रवृत्तियों से ऊपर उठता है और प्राणिमात्र के सुख-दु:ख को अपना समझ सकता है। नाटक की आलोचना के नाम पर आजकल बहुत ऊल-जलूल भ्रामक बातें फैलायी जा रही है। सुप्रसिद्ध नाटककार बर्नार्ड शा ने एक जगह लिखा है :

"कोई ऐसी बात नही कहता कि 'मैं पूर्वकालीन सुखान्त और दु:खान्त नाटकों से उसी प्रकार घृणा करता हूँ जिस प्रकार धर्मोपदेश से या संगीत से। किन्तु मैं पुलिस-केस या विवाह विवाह-विच्छेद के समाचार को या किसी भी प्रकार के नृत्य और सजावट आदि को पसन्द करता हूँ, जो मुझ पर और मेरी पत्नी पर अच्छा प्रभाव डालते है। बड़े लोग चाहे जो कहें, मैं किसी प्रकार के बुद्धिमूलक कार्य से आनन्द नही उठा पाता और न यही विश्वास करता हूँ कि कोई दूसरा ही उससे आनन्द उठा सकता होगा।'—ऐसी बातें नही कही जातीं। फिर भी यूरोप और अमरीका के 90 फीसदी प्रसिद्ध पत्रों में नाटको की समालोचना के नाम पर इन्ही बातों का विस्तृत और पालिश किया हुआ अर्थान्तर प्रकाशित होता है। अगर इन समालोचनाओं का यह अर्थ नही तो उनका कुछ भी अर्थ नही है।"

साहित्यिक समालोचना और निबन्ध

106. 'समालोचना' शब्द का व्यवहार आजकल बहुत अस्त-व्यस्त अर्थ में हो रहा है। अंग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म', 'रिव्यू', 'ओपिनियन' आदि शब्दों के सिवा सस्कृत की 'टीका-व्याख्या' आदि सभी अर्थों में इसका व्यवहार होते देखा गया है। साधारणतः समालोचक का कर्त्तव्य यह समझा जाता रहा है कि वह कवि और काव्य के गुण-दोषों की परीक्षा करे, उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय बताये, और उपा-

देयता या अनुपादेयता के सम्बन्ध में परामर्श दे। सनातन काल से समस्त देशों में काव्य-समालोचक निम्नांकित बातों में से एक, दो, या तीनों का कार्य करते आये है : विश्लेषण, व्याख्या और उत्कर्पापकर्प-विधान। लेकिन बहुत हाल ही में समालोचक के इस सनातन-समर्थित कर्त्तव्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है।

सबसे पहला आक्रमण 'समालोचना' नामक विषय पर ही किया गया है। कवि और पाठक के बीच इस मध्यवर्ती बाधा की उपकारिता पर ही सन्देह प्रकट किया गया है। विभिन्न देश और काल के इतिहास से इस प्रकार के सैकड़ो प्रमाण एकत्रित किये जा सके है कि एक ही कवि या नाटककार को दो समालोचक एकदम विरुद्ध रूप मे देखते है। फ्रास के आलोचक बहुत दिनो तक शेक्सपियर को असभ्य, जगली और कला-शून्य समझते रहे और इगलैण्डवाले ससार का सर्वश्रेष्ठ कलाकार! मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' को एक पडित ने बहुत ही उत्तम और दूसरे ने अत्यन्त निकृष्ट कोटि का काव्य बताया था। हिन्दी मे कुछ दिन तक देव और बिहारी के काव्योत्कर्प के विपय मे परस्पर-विरोधी मतो का चख-चख चलता रहा। केवल कवियो की ही नही, आलोचको की भी समीक्षा करते समय परस्पर-विरोधी मतों की बातें सुनायी देती है। श्री रामनाथ लाल 'सुमन' को जिस महीने श्री नगेन्द्र ने 'इमेजिनेटिव' या कल्पनावादी 'स्कूल' का बताया, उसी महीने श्री वनमाली ने 'इम्प्रेशनिस्ट' या प्रभाववादी सम्प्रदाय का मान लिया! इस प्रकार प्रत्येक देश और प्रत्येक काल मे समालोचक के विश्लेषण, व्याख्या और उत्कर्पापकर्प विधानो मे गहरा मतभेद देखा जाता है। फिर भी इसके बिना काम भी नही चलता।

107. समस्त हिन्दी साहित्य को पढ़ना सम्भव नही है। उस पर अपना मत भी स्थिर करना सबके बूते का नही है। इस अज्ञान की अपेक्षा प. रामचन्द्र शुक्ल का विशेष दृष्टि से देखा हुआ साहित्यिक निष्कर्प पढ़ना कही अधिक अच्छा है। इस प्रकार पं. रामचन्द्र शुक्ल का मत एक-दो स्थानों पर भ्रामक होते हुए भी, सब मिलाकर काम की चीज सिद्ध हो सकता है; पर खतरा यह है कि प. रामचन्द्र शुक्ल को 'क', 'ख', 'ग' नामक समालोचको से विशेष कैसे मान ले? कौन-सा बाट है जिससे हम शुक्लजी के भारीपन और दूसरो के हल्केपन का निर्णय कर ले? स्पष्ट ही हमे फिर एक दूसरे आदमी की राय लेनी पड़ेगी और इस प्रकार मूल पुस्तक और अपने बीच हम एक और बाधा खड़ी कर लेंगे। सच पूछा जाय तो मूल पुस्तक और पाठकों के बीच इस प्रकार की बाधाओं की परम्परा बड़ी खतरनाक साबित हुई है। इस वैज्ञानिक युग मे इसीलिए इन उत्कर्पापकर्प-विधायिनी समालोचनाओं के प्रति एक तरह के विराग का वातावरण तैयार हुआ है! इसलिए कुछ पण्डितों ने समालोचना को बिल्कुल नये ढंग का शास्त्र बनाना चाहा है; क्योकि उसके बिना जब काम चल ही नही सकता और पुराना ढंग जब खतरनाक साबित हो ही चुका है, तो क्यो न इस शास्त्र का आमूल संस्कार कर लिया जाय?

108. इन नये पण्डितों का मत है कि समालोचना में उत्कर्ष या अपकर्ष का निर्णय नहीं होना चाहिए। वनस्पति-शास्त्री बबूल और गुलाब के सौन्दर्य या गुणों की मात्रा का विचार नहीं करता, वह केवल इनकी जाति का भेद बताता है। इसी प्रकार आलोचक को भी आलोच्य ग्रन्थकार की जाति का निर्णय करना चाहिए, गुण और दोष की मात्रा का नहीं।

प्राचीन निर्णयात्मिका समालोचना (जुडिशियल) के विरोध में इसका नाम दिया गया है 'अभ्यूहमूला समालोचना' (इंडक्टिव क्रिटिसिज्म)। इसमें कवियों के प्रकार— (काइन्ड) में भेद किया जाता है, मात्रा (डिग्री) में नहीं। समालोचक काव्य का विश्लेषण करते हैं, गुण-दोष का विवेचन नहीं। लेकिन वनस्पति-शास्त्र के बबूल और गुलाब का जाति-भेद बताने के बाद भी एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता रह जाती है जो बताये कि इन दोनों में से किसका नियोग मानव-जाति के किस कल्याण में किया जा सकता है। उसी प्रकार इस समालोचक के बाद भी इस बात की जरूरत रह जाती है कि, समालोचक नहीं तो कोई और ही बताये कि किस कवि से समाज को क्या लाभ या हानि है—अर्थात् समाज के लिए कौन कितना उत्कृष्ट या अपकृष्ट है? इस प्रकार समस्या जहाँ-की-तहाँ रह जाती है। असल में सवाल 'जुडिशियल' या 'इंडक्टिव' आलोचना का नहीं है, सवाल है एक सामान्य निर्णायक साधन का। भारतवर्ष के पण्डितों ने अनेक रगड़-झगड़ के बाद एक सामान्य मान (या 'कामन स्टैण्डर्ड') बनाने की चेष्टा की थी; पर हमने देखा है कि जमाने के परिवर्तन के साथ वह अब आदर्श व्यवस्था नहीं मानी जा सकती। फिर भी उनके सुझाये हुए मार्ग से नये 'स्टैण्डर्ड' का उद्भावन किया जा सकता है।

109. मनुष्य का मन हजारों अनुकूल और प्रतिकूल धाराओं के संघर्ष से रूप ग्रहण करता है, उसे अगर प्रमाण मान लें तो मूल्य-निर्धारण का कोई एक सामान्य मानदण्ड बन ही नहीं सकता। ग्राहक और विक्रेता को अपने-अपने मन के अनुसार 'सेर' बनाने दिया जाय तो बाजार बन्द हो जायेंगे। कवि का कारबार इसी मानसिक 'सेर' से चलता है, अन्ततः अब तक चलता रहा है। इधर समालोचक लोग अपने-अपने मन के गढ़े 'सेर' लेकर पहुँचे है। जब हम समालोचक की रुचि की बात कहते हैं तो उसके इसी मन-गढन्त 'सेर' की बात करते हैं! 'क' नामक समालोचक जिसको तीन सेर कहता है, 'ख' उसे पौन सेर मानने को भी तैयार नहीं। 'देव पुरस्कार' के एक निर्णायक ने एक पुस्तक पर 85 नम्बर दिये थे, दूसरे ने 20 और तीसरे ने शून्य!! अब, यह तय है कि अपनी-अपनी रुचि और अपने-अपने संस्कार लेकर वस्तु का याथार्थ्य-निर्णय नहीं हो सकता, कोई एक सामान्य मानदण्ड होना चाहिए।

प्रभाववादी समालोचकों ने इस सामान्य मानदण्ड के रास्ते में विघ्न खड़ा किया है। प. रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी समालोचना के सम्बन्ध में अपने इतिहास में कहा है कि "प्रभावाभिव्यंजक समालोचना कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही

नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिए नहीं कि सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे। यदि किसी रमणीय अर्थगर्भित पद्य की आलोचना इसी रूप में मिले कि 'एक बार इस कविता के प्रवाह में पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कवि को भी विवशता के साथ बहना पड़ा है, वह एकाधिक बार मयूर की भांति अपने सौन्दर्य पर आप ही नाच उठा है', तो उसे लेकर कोई क्या करेगा ?"

आचार्य शुक्ल का यह वक्तव्य जहाँ विशुद्ध बुद्धिमूलक चिन्तन को प्रधान मानकर समालोचना के प्रभाववादी रूप की उचित समीक्षा करता है, वहाँ यह भुला देता है कि काव्य की समीक्षा जितनी भी बुद्धिमूलक क्यों न हो, है वह भावावेग को समझने का प्रयत्न ही। सहृदय के हृदय में वासनारूप से स्थित भाव ही तो काव्य के अलौकिक चमत्कार का कारण है, रस सहृदय के स्वाकार से अभिन्न है (दे 29)। फिर वह निस्संग कैसे हो सकता है ? जब तक सहृदय का व्यक्तित्व कवि के साथ एकाकार नहीं हो जाता तब तक रस का अनुभव नहीं हो सकता। समीक्षक जब तक अपना अहंकार लेकर बैठा रहेगा तब तक रस नहीं पा सकेगा। स्वयं शुक्लजी ने कहा है कि "काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है।"

110. लेकिन किसी भी बात के निर्णय का सामान्य मानदण्ड मनुष्य के पास वर्त्तमान है। वह मानदण्ड है बुद्धि। किसी 'वस्तु', 'धर्म' या 'क्रिया' के वास्तविक रहस्य का पता लगाने के लिए उसे अपने अनुराग-विराग या ईर्ष्या-द्वेष के साथ सान नहीं देना चाहिए, बल्कि देखना चाहिए कि वस्तु-धर्म या क्रिया, देखनेवाले के बिना भी, अपने-आपमें क्या है। गीता में इस बात को नाना भाव से बताया गया है। समालोचना का जो ढर्रा प्रभाववादियों ने चला दिया है उसमें द्वन्द्वों द्वारा परिचालित होने के दोष को कारण तो माना ही नहीं जाता, उल्टे कभी-कभी उसके लिए गर्व किया जाता है।

111. सम्मतियों की इस बहुमुखी विरोधिता का कारण यह है कि आलोच्य वस्तु को आलोचक अपने मानसिक संस्कारों के भीतर से देखता है। कभी-कभी वह अपनी गलती खुद ही महसूस करता है और इसलिए अपनी सम्मति के समर्थन में वेदान्त से लेकर कामशास्त्र तक का हवाला पेश किया करता है। इसी प्रकार शुरू में ही अपनी रुचि-अरुचि के जाल से आलोच्य को आच्छादित करने-वाली समालोचना का भी नाम कभी-कभी 'निर्णयात्मिका' (जुडिशियल) बताया जाता है। परन्तु वस्तुतः यह समालोचना 'निर्णयात्मिका' नहीं होगी, क्योंकि निर्णायक होने के लिए ईर्ष्या-द्वेष से परे होना बहुत जरूरी है। परन्तु कहा जाता है कि समालोचना की दुनिया निराली होती है। अन्य वैज्ञानिक ठोस-ठोस वस्तुओं

की नाप-जोख करते रहते हैं, पर समालोचक अनिन्द्रिय-ग्राह्य अलौकिक रस-वस्तुओं की जाँच करता है। इसलिए पहले उसे अपने मनोभावों को ही प्रधानता देनी चाहिए। अर्थात् छूटते ही उसे जो काव्यादि 'अपील' कर जायँ, उसी को उसे बुद्धि-परक विवेचना का रूप देना चाहिए। परन्तु ऐसा करके आलोचक वस्तुतः कवि बनता है। अन्तर यही होता है कि कवि फूल-पत्ती को देखकर भावोन्मत्त होता है, और आलोचक उसकी कविता को, दोनों कब क्या कह जायँ, कुछ ठीक नहीं !

ऐसा स्वीकार करने मे किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कवि के चित्त के अन्तस्तल मे या उसके मन के अवचेतन स्तर में ऐसी बहुत-सी चीजें होती है जो अनजान मे उसकी कविता में आ जाती हैं, और आलोचक का दावा बिल्कुल ठीक है कि वह उन अनजान प्रवृत्तियों से पाठक का परिचय कराता है। परन्तु जब वह कहता है कि उससे किसी अनिर्वचनीय हेतु या कला का सन्धान मिलता है, तो मुझे ऐसा लगता है कि वह मानव-बुद्धि पर जितना विश्वास करना चाहिए उतना नही करता। कोई चीज हमें सौ-दो-सौ कारणों से प्रभावित करती है। आज मनुष्य की बुद्धि शायद उनमे से दस-पाँच का ही ज्ञान रखती है। बाकी अज्ञात हैं। किन्तु वैज्ञानिक का यह धर्म है कि उसे जितना मालूम है उतना कह-कर बाकी के लिए भावी पीढ़ियों में कुतूहल और उत्सुकता का भाव जगा जाय। यह नहीं कि कह दे कि बाकी किसी अज्ञात या अज्ञेय उत्स से आ रहे है। यही कारण है कि आज का समालोचक पुराने समालोचकों के रास्ते से हटता जा रहा है।

पुराना समालोचक आलोच्य काव्य और कविता को अपने-आपमे सम्पूर्ण मान लेता था, नया समालोचक ऐसा मानना नही चाहता; क्योकि ऐसा मान लेने से काव्यादि साहित्याग मानवता के साध्य हो जाते है, मानवता की अग्र गति मे साधन का कार्य करते हुए नही माने जाते। और अगर साध्य रूप से ही साहित्य को पढ़ना हो तो प्राचीन हिन्दी के अधिकाश साहित्य को याद रखने की कोई जरूरत नही। आधुनिक समालोचक की दृष्टि अपने सामने की समस्याओं पर रहती है। साहित्य उसके समझने मे और सुलझाने मे उसके लिए सहायक का काम करता है। कवि उसके लक्ष्य नही उपलक्ष्य होते है।

लेकिन समालोचना केवल साहित्यिक ग्रन्थ तक ही सीमित नही रहती, ससार के विविध पदार्थो को मनुष्य की बुद्धि से समझने का प्रयत्न करती है। यह प्रयत्न जब केवल सूक्ष्म तर्क और बौद्धिक विलास से आगे बढकर मनुष्य की भाव-नाओं और अनुभूतियो का आश्रय करके प्रकट होता है तो उसमें साहित्यिकता आ जाती है। साहित्यिक कृतियो की आलोचना मे भी हमने इस प्रकार का भाव-मिश्रण लक्ष्य किया है। प्राय. कविता को देखकर भाव-मदिर भाषा मे प्रकट किये गये उद्‌गार देखने को मिलते रहते है। वस्तुतः इनको 'साहित्यिक समालोचना' न कहकर समालोचना के रूप मे 'व्यक्तिगत निबन्ध' कहना उचित है।

111 क. समालोचना के क्षेत्र में सन्तुलित दृष्टि या कभी-कभी सिर्फ 'सन्तुलन' की ग्रावश्यकता ग्रनुभव की जाती है। यह क्या चीज है ? दो या कई ग्रतिवादिताग्रो से बचकर कोई मध्यम मार्ग निकालने को सन्तुलित दृष्टिकोण नही कहते, क्योकि ऐसी व्याख्या में एक प्रकार की समझौतावाली मनोवृत्ति का ग्राभास मिलता है जो सत्य-निर्णय मे सब समय सहायक नही होती। सन्तुलित दृष्टिकोण का मतलब बिल्कुल दूसरा है। भावावेगवश या पक्षपात या मोहवश कभी-कभी मनुष्य जीवन के किसी एक पक्ष पर ग्रावश्यकता से ग्रधिक बल देने लगता है ग्रौर इस प्रकार जीवन को देखने ग्रौर समझने की एकागी दृष्टि का विकास होता है। यदि इस प्रकार की दृष्टिवाला व्यक्ति बौद्धिक शक्ति से सम्पन्न हुग्रा तो वह साहित्य मे इस दृष्टि की प्रतिष्ठा बढा देता है। इस प्रकार समय-समय पर जीवन को देखने की एकागी दृष्टियों का प्रादुर्भाव होता रहता है। इन दृष्टियों मे सचाई के एक-एक पार्श्व को जरूरत से ज्यादा महत्त्व दे दिया जाता है। सन्तुलित दृष्टिकोण इन्ही एकागी दृष्टियो की ग्रतिवादिता से विनिर्मुक्त ग्रौर इन सबमे पायी जानेवाली सचाई पर ग्राधारित समग्र दृष्टि है। वह किसी पक्ष को ग्रावश्यकता से ग्रधिक महत्त्व नही देती ग्रौर किसी पक्ष की सचाई की उपेक्षा नही करती। जो शक्तिशाली विचारकों के ग्रावेग-तरल विचार-प्रवाह मे ग्रपने को बह जाने देने से रोक सकता है ग्रौर यथासम्भव ग्रधिक-से-ग्रधिक सावधानी से सत्य की खोज कर सकता है, वही सन्तुलित दृष्टि भी पा सकता है। इसलिए मेरा मत है कि सन्तुलित दृष्टि वह नही है जो ग्रादिवादिताग्रो के बीच एक मध्यम मार्ग खोजती फिरती है, बल्कि वह है जो ग्रतिवादियो की ग्रावेग-तरल विचारधारा का शिकार नही हो जाती ग्रौर किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने ग्रौर ग्रन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त ग्रतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढा है। सन्तुलित दृष्टि सत्यान्वेषी की दृष्टि है। एक ग्रोर जहाँ वह सत्य की समग्र मूर्त्ति को देखने का प्रयास करती है, वही दूसरी ग्रोर वह सदा ग्रपने को सुधारने ग्रौर शुद्ध करते रहने को प्रस्तुत रहती है। वह सभी प्रकार के दुराग्रह ग्रौर पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की ग्रौर सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है। हम लोग जो भी कार्य करते है, उसके मूल में हमारे जीवन का कोई-न-कोई तत्त्ववाद ग्रवश्य रहता है। सब समय वह तत्त्ववाद स्पष्ट नही होता। कभी-कभी हम उसे ठीक-ठीक जानते भी नही होते। परन्तु हर भले-बुरे कार्य के पीछे रहनेवाली मनोवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि करने वाले ने ग्रपने मन मे किसी विशेष ढंग से सोचकर ही कार्य किया है। उसके मन मे कुछ बातों का मूल्य दुनिया की ग्रन्यान्य बातो से ग्रधिक होता है ग्रौर जानकर या ग्रनजान मे वह इन्ही मूल्यो की बात सोचकर कोई कार्य कर डालता है। जाने मे या ग्रनजाने में हमारा तत्त्ववाद हमेशा हमारे क्रिया-कलाप का नियन्त्रण करता रहता है। विचार के क्षेत्र मे वह ग्रधिक स्पष्ट ग्रौर सुचिन्तित रूप में ग्राता है। साहित्य पर जब हम विचार करते है तो

भी हमारा अपना दृष्टिकोण उसमें अवश्य प्रधान हो उठता है।

इससे एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है। हमारे मन के अज्ञात कोने में जो हलचल होती रहती है, जो हमारे प्रत्यक्ष जीवन के मूल्यों को नियन्त्रित और निर्धारित करती रहती है, उस पर तत्कालीन चिन्तन-प्रणाली का बड़ा जोर होता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में युग-सत्य कहते है। एक देश और एक काल का मनुष्य जिस प्रकार सोचता है, उसी प्रकार से दूसरे देश और काल का मनुष्य नही सोचता। प्रत्येक युग मे मनुष्य के कुछ सामान्य निश्चित विश्वास होते हैं। उनके सोचने का ढंग कुछ अलग होता है। विचित्र सामाजिक परिस्थितियाँ कुछ-न-कुछ सामान्य विश्वासो को उत्पन्न करती हैं। हमारे देश के पुराने साहित्यकारों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियो से साहित्य को देखने का प्रयास किया है। परन्तु अन्तिम विश्लेषण से स्पष्ट हो जायेगा कि यद्यपि प्रत्येक विचारक की बातें कुछ अंशों में मिलती-जुलती है और कुछ ने खुले रूप में पूर्ववर्ती विचारक की बात के प्रचार करने का ही दावा किया है, तथापि युग और काल का प्रभाव उन पर पड़ा अवश्य है।

जिस युग में हम वास कर रहे है, वह विज्ञान और टेकनोलॉजी की अभूतपूर्व उन्नति के कारण अन्यान्य युगों से भिन्न हो गया है। ज्ञान के प्रसार का जैसा साधन हम लोगो के पास है, वैसा हमारे पूर्वजो के पास नही था। आज के विद्यार्थी को देश-विदेश के कवियो, विचारको और शिल्पियो को समझने का जैसा अवसर मिला है, वैसा पहले नही मिलता था। इन दिनो तरलमति विद्यार्थी के बहकने के भी जितने साधन विद्यमान है, उतने साधन पहले नही थे और आज के युग में प्रचार के भी इतने साधन बन गये है जो सब प्रकार से विपुल और विचित्र हैं। कोई आश्चर्य नही कि आजकल एकांगी, अधकचरा और अविचारित रमणीय विचारों का अम्बार लग गया है, इसीलिए आज सन्तुलित दृष्टिकोण दुर्लभ हो गया है। सर्वत्र ले उड़ने की प्रवृत्ति बल पकड़ रही है। जीवन को देखने की एकांगी दृष्टियों का जितना जोर इन दिनों है, उतना कभी नही था।

परन्तु फिर भी, इस युग में मनुष्य एक सामान्य सत्य को पकड़ने के लिए प्रयत्नशील अवश्य है। वह सत्य यदि उसकी पकड़ मे आ जाय तो साहित्य को देखने की उसकी दृष्टि भी सन्तुलित हो जाय। इस समय साहित्य के क्षेत्र मे दिखायी देनेवाले 'वाद' नामधारी अनेक दृष्टिकोण इसी सर्वमान्य सत्य को ढूँढ निकालने के प्रयत्न हैं। मेरी दृष्टि मे इनमें से कई सत्य के एक-एक पहलू पर अत्यधिक जोर देने के कारण अलग दीखते हैं। कोई जीवन के मानसिक पक्ष पर अधिक बल देता है, कोई आर्थिक पक्ष पर, कोई सामाजिक पक्ष पर, कोई वैयक्तिक पक्ष पर और कोई आध्यात्मिक पक्ष पर। ऊपर-ऊपर से ये एक-दूसरे से बहुत भिन्न प्रतीत होते है। इनकी व्याप्तियों-अतिव्याप्तियो से चिन्तित होकर कुछ लोग बहुत व्यग्र हो उठे है और घबड़ाकर यह नारा लगाने लगे हैं कि यह सब गलत है। साहित्य की मीमांसा की एक अपनी दृष्टि होनी चाहिए, जिस पर इन एक-पक्षीय

विचारों का कोई असर न हो। परन्तु अन्त तक व्याकुलता कुछ कार्य नहीं कर पाती, क्योंकि असर आजकल पड़ ही जाता है। मैं इनसे बिल्कुल चिन्तित नहीं हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि ये सब प्रयत्न सत्य को ढूँढने के प्रयत्न हैं। एक उदाहरण से इसे समझने का प्रयत्न किया जाय।

इन दिनों साहित्य की सबसे नयी प्रवृत्ति 'प्रगतिवाद' की है। 'प्रगतिवाद' वैसे तो सामान्य शब्द है और जिस-किसी भी आगे बढ़नेवाली प्रवृत्ति को इस नाम से पुकारा जा सकता है। किन्तु फिर भी इसका प्रयोग एक निश्चित अर्थ में होने लगा है। 'प्रगतिवादी साहित्य' मार्क्स के प्रचारित तत्त्वदर्शन पर आधारित है। इस विचार-धारा के अनुसार (1) संसार का स्वरूप भौतिक है। वह किसी चेतन सर्वसमर्थ सत्ता का विवर्त्त या परिणाम नहीं है। (2) उसकी प्रत्येक अवस्था रहस्यमयी या उलझनदार नहीं है। इस मत को माननेवाला साहित्यिक रहस्यवाद में विश्वास नहीं कर सकता, प्रकृति या ईश्वर के निष्ठुर परिहास की बात नहीं सोच सकता, भाग्यवाद के ढकोसले को बर्दाश्त नहीं कर सकता। (3) इस मत में समाज निरन्तर विकासशील संस्था है। आर्थिक विधानों के साथ-साथ समाज में भी परिवर्त्तन होता है। इस मत को स्वीकार करनेवाला साहित्यिक समाज की रूढ़ियों को सनातन से आया हुआ या ईश्वर की निर्भ्रान्त आज्ञाओं पर बना हुआ और उच्च-नीच मर्यादा को अपरिवर्त्तनीय सनातन विधान नहीं मान सकता।

इस प्रकार प्रगतिवादी समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नहीं मानता, किसी भी वस्तु को रहस्य और अज्ञेय नहीं समझता तथा किसी अज्ञेय-अलक्ष्य चिरन्तन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नहीं मानता। वह समाज को बदल देने में विश्वास करता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य प्रयत्न करके इस समाज को ऐसा बना सकता है जिसमें शोषकों और शोषितों के वर्ग न हों और मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन बिता सके। इसलिए उनके अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है। साहित्यकार को इसकी साधना इसी महान् संकल्प के लिए करनी चाहिए। आज के समाज का अगर विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि इसमें एक समूह उन लोगों का है जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है। उत्पादन के समस्त साधन उन्हीं लोगों के पास हैं। इन साधनों पर अधिकार होने के कारण उनके हाथ में धन पुंजित होता जा रहा है। पूंजीवाद इस वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में 'निगेटिव' या प्रतिगामी शक्ति है। यह अनन्त जनता के शोषण पर आधारित है और इस व्यवस्था को चालू रखने के लिए हर प्रकार का काम करना चाहता है। इन लोगों के मत से 'समाजवाद' प्रगतिशील विचारधारा है, क्योंकि वह वर्तमान समाज को वर्गहीन समाज में बदलने को कृतसंकल्प है।

साधारणतः समझा जाता है कि यह विचार-दर्शन आर्थिक दृष्टि की उपज है। परन्तु एक बार इसके महान् संकल्प और तितिक्षा की भूमि पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायेगा कि इसमें एक बहुत बड़ी बात है जो केवल आर्थिक दृष्टि की उपज नहीं कही जा सकती। यह मनुष्य-जीवन को कल्याणमार्ग की ओर ले जाने

के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित है। मैं ऐसे सकल्प को जड़वादी या भौतिक कहने मे हिचकता हूँ। साहित्य को महान् बनाने के मूल में साहित्यकार का महान् सकल्प होता है। वह सकल्प इस विचार-पद्धति के साथ है। मेरा विचार है कि अपने देश की विशाल आध्यात्मिक परम्परा मूलत: इसकी भावधारा से विरुद्ध नही पडती। यह और बात है कि इसका विनियोग सब समय ठीक रास्ते नही होता। मैं समझौते की दृष्टि से यह नही कह रहा हूँ। मैं शुरू में ही इसका प्रत्याख्यान कर चुका हूँ। नये और पुराने विचारो का अन्तर मैं जानता हूँ। संक्षेप मे उस अन्तर को इस प्रकार समझाया जा सकता है :

इस युग मे धीरे-धीरे शिक्षित जनता का चित्त मनुष्य पर केन्द्रित हुआ है। पहले सारे ससार के धर्म-कर्म, साहित्य-शिल्प आदि का उच्चतम उद्देश्य मनुष्य की मुक्ति और स्वर्ग आदि प्राप्त करने की प्रेरणा थी। इस संसार में जो कुछ त्याग, तप और कष्ट सहन किया जाता है, उसका उच्चतम उद्देश्य इस दुनिया से सम्बद्ध नही था, बल्कि इस दुनिया से परे के किसी बड़े उद्देश्य (मोक्ष, स्वर्ग, देवत्व प्राप्ति) के लिए होता था। बाद मे वैज्ञानिक उन्नति और नयी शिक्षा के प्रवर्त्तन के साथ इस युग के शिक्षित मनुष्य के सोचने का ढंग बदला है। वह अब परलोक मे मनुष्य के सुखी होने की बात नही सोचता, बल्कि इसी लोक मे, इसी मर्त्यकाया मे मनुष्य को सब प्रकार की दुरवस्थाओ और विपत्तियो से मुक्त करके सुखी बनाने की बात सोचता है। वह भी केवल व्यक्ति-मानव को दुरवस्थामुक्त करना ही उसका लक्ष्य नही है, बल्कि सामूहिक रूप से या समाजमानव को सुखी और स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न करना है। इस प्रकार जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलने के साथ ही साहित्य की आलोचना की भी दृष्टि बदली है। कला और शिल्प-विधान में आप्त वाक्यों को और मंगल-अमगल विधान को, नान्दी-सूत्रधार को, मगलाचरण-भरत-वाक्य को अब उतना आवश्यक नही माना जाता। साहित्य-विचार के समय आप इस बदली मनोवृत्ति को भुला नही सकते। किन्तु मनुष्य के सामूहिक कल्याण की दृष्टि प्रधान अवश्य हो गयी है, परन्तु यह नही समझना चाहिए कि यह कोई एकदम नवीन बात है। हमारी पुरानी काव्यालोचन-परम्परा मे भी यह दृष्टि कुछ भिन्न ढंग से पायी जाती है। उस पुरानी परम्परा को एकदम भुलाना अत्यन्त भयंकर भूल है। मुझे यह समझ मे नही आता कि आधुनिक समालोचना-पद्धति क्यो नही पुराने अनुभवो से अपने को समृद्ध कर सकती। नवीन परिस्थितियों के अनुसार पुराने अनुभवो का प्रयोग सर्वत्र हितकर होगा—जीवन मे भी और साहित्य में भी।

112. 'निबन्ध' क्या है? प्राचीन संस्कृत साहित्य मे 'निबन्ध' नाम का एक अलग साहित्यांग है। इन निबन्धों मे धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों की विवेचना है। विवेचना का ढग यह है कि पहले पूर्वपक्ष मे ऐसे बहुत-से प्रमाण उपस्थित किये जाते है जो लेखक के अभीष्ट सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ते है। इस पूर्वपक्षवाली शकाओं का एक-एक करके उत्तरपक्ष मे जवाब दिया जाता है। सभी शंकाओं का

समाधान हो जाने के बाद उत्तरपक्ष के सिद्धान्त की पुष्टि में कुछ और प्रमाण उपस्थित किये जाते है। चूँकि इन ग्रन्थों में प्रमाणों का निबन्धन होता है इसलिए इन्हे 'निबन्ध' कहते है।

इस शका-समाधान-मूलक पक्ष-स्थापन मे लेखक की रुचि-अरुचि का प्रश्न नही उठता। वह प्रमाणो और उनके पक्ष या विपक्ष में उठ सकनेवाले तर्कों से बँधा होता है। इसलिए इन निबन्धों मे बौद्धिक निस्सगता ही प्रधान रूप से वर्त्तमान रहती है।

113. निस्संग बुद्धि से विचार करने का आदर्श रूप यह है कि यह दिखाया जाय कि कोई वस्तु द्रष्टा बिना भी कैसी है। प्रत्येक वस्तु द्रष्टा की रुचि-अरुचि से सनकर थोड़ा भिन्न हो जाती है। एक सुन्दर फूल इसलिए सुन्दर लगता है कि वह द्रष्टा को सामंजस्य की ओर उन्मुख करता है। वैज्ञानिक विवेचना से सिद्ध हो सकता है कि फूल और कोयला दोनो ही वस्तुतः एक ही वस्तु है, क्योकि दोनों ही कुछ विद्युदणुओ के, जिन्हें 'इलेक्ट्रॉन' और 'प्रोटॉन' कहते है, समवाय है। यह निस्सग बुद्धि का विषय है और उसका रास्ता विश्लेषण और सामान्यीकरण का है। किन्तु जब कोई द्रष्टा वस्तु को अपनी रुचि-अरुचि के भीतर से देखता है तो वस्तुतः वह सश्लिष्ट और विशिष्ट वस्तु को देखता है। वह यह नही देखता कि फूल किन-किन उपादानों से बना है, बल्कि यह देखता है कि फूल बन-बना लेने के बाद कैसा है। और ससार की और सौ-पचास वस्तुओं से वह क्या वैशिष्ट्य रखता है?

निस्सग बुद्धि वैज्ञानिक विवेचन का सहारा है और आसक्त चित्त सौन्दर्य-मर्मज्ञ का। ससार के विविध पदार्थो को दोनो दृष्टि से देखा जाता है। साहित्य मे दूसरा मार्ग स्वीकार किया गया है, इसलिए उन्ही निबन्धो का इस प्रसग मे विवेचन होगा जो सश्लिष्ट रूप और विशिष्ट रूप मे वस्तुओं को देखते हैं।

114. हमने पहले ही लक्ष्य कर लिया है कि साहित्यिक समालोचना के सिवा और भी बहुत-से ऐसे निबन्ध है जो साहित्य के अन्दर माने जा सकते हैं। निबन्ध का प्रचलन भी कोई नया नही है। पुराने जमाने से ही निबन्धों का प्रचार है। हमने यह भी देखा है कि किसी प्रतिपाद्य सिद्धान्त के विरुद्ध जितने प्रमाण हो सकते थे, उनको एक-एक करके उठाना और उनकी समीक्षा करते हुए अपने सिद्धान्त पर पहुँचना, यही पुराने निबन्धों का कार्य था। परन्तु नये युग में जिन नवीन ढंग के निबन्धो का प्रचलन हुआ है वे 'तर्कमूलक' की अपेक्षा 'व्यक्तिगत' अधिक है। ये व्यक्ति की स्वाधीन चिन्ता की उपज हैं। जो निबन्ध किसी तत्त्ववाद के विचार के लिए लिखे जाते हैं उनमें थोड़ा-बहुत प्राचीन ढंग अब भी रह जाता है। साधारणतः जिन निबन्धो में निस्संग विचार का प्राधान्य होता है वे साहित्यिक आलोचना के प्रसंग में आलोचित नहीं होते।

115. निबन्धों की नाना कोटियाँ हैं। उनको साधारणतः [illegible] बाँट लिया जा सकता है: (1) [illegible]-मूलक, (2) [illegible]

अनियन्त्रित गप्प-मूलक, (4) स्वगत-चिन्तन-मूलक, (5) कलह-मूलक। इस प्रकार का विभाजन बहुत अच्छा नही है। इसमे साहित्यिक सूक्ष्मता नही है। आपात दृष्टि ही प्रधान है।

(1) 'वार्त्तालाप-मूलक' निबन्ध का लेखक मन-ही-मन एक ऐसे वातावरण की कल्पना करता है, जिसमें कुछ सच्चे जिज्ञासु लोग किसी तत्त्व का निर्णय करने बैठे हो और अपने-अपने विचार सत्य-निर्णय की आशा से सहज भाव से प्रकट करते जाते हो, (2) परन्तु 'व्याख्यान-मूलक' निबन्ध-लेखक व्याख्यान देता रहता है। वह अपनी युक्तियों और तर्कों को बिना इस बात की परवा किये उपस्थित करता जाता है कि कोई उसे टोक देगा। (3) 'अनियन्त्रित गप्प' मारते समय गप्प करनेवाला हल्के मन से बातें करता है, वह अपने विषय के उन सरस और हास्योद्रेचक पहलुओ पर बराबर घूम-फिरकर आता रहता है, जो उसके श्रोता के चित्त को प्रफुल्ल कर देगे। (4) 'स्वगत-चिन्तन-मूलक' लेखक अपने-आपसे ही बात करता रहता है। उसके मन मे जो युक्तियाँ उठती रहती हैं, उन्हें तन्मय होकर वह विचारता जाता है। पर-पक्ष की आशंका उसे नही रहती। (5) परन्तु 'कलह-मूलक' निबन्ध का लेखक अपने सामने मानो एक प्रतिपक्षी को रखकर उससे उत्तेजनापूर्ण बहस करता रहता है, प्रतिपक्षी की युक्तियो का निरास करना उसका उतना लक्ष्य नही होता जितना अपने मत को उत्तेजित होकर व्यक्त करना। इस अन्तिम श्रेणी के निबन्धों मे कभी-कभी अच्छी साहित्यिक रचना मिल जाती है, पर साधारणत: ये 'साहित्य' की श्रेणी के बाहर जा पडते हैं।

निबन्धो के व्यक्तिगत होने का अर्थ यह नही है कि उनमे विचार-शृंखला न हो। ऐसा होने से तो वे 'प्रलाप' कहे जायेगे। ससार में हम जो कुछ देखते है, वह द्रष्टा की विभिन्नता के कारण नाना भाव से प्रकट होता है। अपनी रुचि और सस्कार के कारण किसी द्रष्टा का ध्यान वस्तु के एक पहलू पर जाता है, तो दूसरे द्रष्टा का दूसरे पहलू पर। फिर वस्तुओ के जो पारस्परिक सम्बन्ध है, वे इतने तरह के है कि इन सम्बन्धों में से सब सबकी दृष्टि मे नही पडते। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति यदि ईमानदारी से अपने विचारो को व्यक्त कर ले तो हमें नवीन का परिचय-मूलक आनन्द मिल सकता है और साथ ही उस उद्देश्य की सिद्धि भी हो सकती है जो साहित्य का चरम प्रतिपाद्य है।

द्रष्टा के भेद से दृश्य का अभिनव रूप हमें दूसरे के हृदय मे प्रवेश करने की क्षमता देता है और हम केवल अपने व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के संकीर्ण दायरे से निकलकर दूसरो की अनुभूतियो के प्रति सवेदनशील होते है। वस्तुतः जो निबन्ध इस उद्देश्य की ओर उन्मुख करे वही साहित्यिक निबन्ध कहे जाने का अधिकारी है। जो लेख हमारे हृदय की अनुभूतियो को व्यापक और सवेदनाओ को तीक्ष्ण नही बनाता, वह अपने उद्देश्य से च्युत हो जाता है।

116. इस व्यक्तिगत अनुभूति के कारण ही साहित्यिक निबन्ध-लेखक नि:सग तत्त्वचिन्तक से भिन्न हो जाता है। "तत्त्वचिन्तक या वैज्ञानिक से निबन्ध-

लेखक की भिन्नता इस बात में भी है कि निबन्ध-लेखक जिधर चलता है उधर सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ—अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए। जो करुण प्रकृति के हैं उनका मन किसी बात को लेकर, अर्थ-सम्बन्ध-सूत्र पकड़े हुए, करुण स्थलों की ओर झुकता और गम्भीर वेदना का अनुभव करता चलता है, जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती हैं, जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता। पर सब अवस्थाओं में कोई एक बात अवश्य चाहिए। इस अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजना-प्रणाली की विशेषता—शैली की विशेषता—खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थ-सम्बन्धों का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परम्परा नहीं, वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी-खड़ी तरह-तरह की मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी।" (रामचन्द्र शुक्ल)

117. चूँकि व्यक्तिगत रुचि और संस्कार अनन्त प्रकार के हैं और भिन्न वस्तु के अर्थ-सम्बन्ध भी, जो इन रुचियों और संस्कारों को प्रभावित करते हैं, अनन्त प्रकार के हैं, इसलिए व्यक्तिगत अनुभूति-मूलक निबन्धों की केवल मोटी-मोटी श्रेणियाँ ही बतायी जा सकती हैं। इस क्षेत्र में अनुकरण नहीं चल सकता, क्योंकि कोई भी दो व्यक्ति हू-ब-हू एक ही रुचि और एक ही संस्कार के नहीं होते। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में ऐसे-ऐसे निबन्ध-लेखक हैं जिनकी समानता दूसरी भाषाओं में खोजी नहीं जा सकती। ये आधुनिक युग के अत्यन्त सजीव साहित्यांग हैं। उनमें नित्य नवीन तत्त्वों का समावेश और परिहार होता जा रहा है। निबन्ध-लेखक भी वस्तुतः एक समालोचक ही है। उसकी समालोचना पुस्तकों की नहीं होती, बल्कि उन वस्तुओं की होती है जो पुस्तकों का विषय है।

118. संक्षेप में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि वस्तु को—चाहे वह साहित्यिक ग्रन्थ हो या अन्य पदार्थ—देखने के दो रास्ते हैं: 'निर्वैयक्तिक' या अनासक्त रूप में और 'वैयक्तिक' या आसक्त रूप में। दूसरा रास्ता अनुभव करने का है, पर उसे प्रथम से विच्छिन्न कर देने पर दूसरों तक नहीं पहुँचाया जा सकता। विश्लेषण और सामान्यीकरण का रास्ता वैज्ञानिक रास्ता है। तत्त्व-निर्णय के लिए हमें इस रास्ते को अपनाना ही पड़ेगा। परन्तु साहित्य केवल तत्त्व-निर्णय से ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह कुछ नया निर्माण भी करना चाहता है। कोई भी व्यक्ति केवल भावावेगों का गट्ठर नहीं होता, वह वस्तु को देखते समय यथा-शक्य निस्संग बुद्धि से उसका याथार्थ्य भी निर्णय करता है। इसीलिए वैयक्तिक आसक्तिवाद से देखना वैज्ञानिक के देखने की क्रिया का विरोधी नहीं है, बल्कि उसी का भावावेगों से सना हुआ कार्य है।

119. इस प्रकार विश्लेषण के द्वारा समालोचक आलोच्य वस्तु के उपादानों को समझ सकता है, पर विश्लेषण चाहे जितना भी उत्तम हो उससे वस्तु का समग्रसत्य नहीं प्रकट होता। हमें साहित्य की उपादेयता की परीक्षा के लिए

अपने पूर्ववर्त्ती सिद्धान्त पर दृढ़ रहना चाहिए। जो साहित्य हमारी क्षुद्र सकीर्णताओ से हमें ऊपर उठा ले जाय और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव कराये, वही उपादेय है। उसके भाव-पक्ष के लिए किसी देश-विशेष या काल-विशेष की नैतिक आचार-परम्परा का मुंह जोहना आवश्यक नही है। हमें दृढता से केवल एक बात पर अटल रहना चाहिए, और वह यह कि जिसे काव्य, नाटक या उपन्यास-साहित्य कहकर हमे दिया जा रहा है वह हमे हमारी पशु-सामान्य मनोवृत्तियो से ऊपर उठाकर समस्त जगत् के दु.ख-सुख को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देता है या नही—हमे 'एक' की अनुभूति मे सहायता पहुँचा रहा है या नही। जो भी साहित्य इसके बाहर पड़े, अर्थात् हमारी पशु-सामान्य वृत्तियो को बडी करके दिखाये, हमे स्वार्थी और खण्ड-विच्छिन्न बनाये, उसे हम साहित्य नही कह सकते, चाहे जितने बड़े साहित्यिक दल या सम्प्रदाय का समर्थन उसे प्राप्त हो। इस विषय मे हमे साहित्यिक सिद्धान्त पर दृढ़ रहना चाहिए।

120. साहित्यिक सिद्धान्तो, की दृढ़ता क्या है? प्राचीन पण्डितों की पोथियो मे जब किसी नयी काव्य-परिभाषा की स्थापना करनी होती है तो उसके पूर्व-पक्ष उत्तर-पक्ष की कल्पना करके बहस की जाती है। पूर्व-पक्ष में यह प्रश्न उठाया जाता है अगर इस परिभाषा को मान लेंगे तो पुराने कवियो की लिखी हुई बहुत-सी कविताएँ इसके बाहर पड़ जायेंगी और उन्हे काव्य नही कहा जा सकेगा। उदाहरणार्थ :

यदि काव्य का लक्षण यह हो कि 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है' तो ऐसी बहुत-सी कविताएं—जैसे चित्रकाव्य, अलंकार-बहुल पद्य आदि—इस परिभाषा के बाहर पड जायेंगी; फिर इनको कविता नही कहा जा सकेगा। इसके उत्तर मे कहवाया जाता है, 'तुमने तो हमारा अभीष्ट ही कह दिया, यही तो हम चाहते थे!' शास्त्र की भाषा मे इसी को 'इष्टापत्ति' कहते है। फिर प्रश्न होता है कि 'तुम ऐसा कैसे कह सकते हो? तुम्हारी यह इष्टापत्ति असगत है, क्योकि ऐसा करने से शिष्ट-सम्प्रदाय का विरोध होगा।' प्राय: ही इस प्रश्न के साथ समझौता करने के लिए उन नीरस बातो को भी निचली श्रेणी की कविता मान लिया जाता है।

परन्तु आज के जमाने मे हमे अपने सिद्धान्त पर दृढता के साथ जमे रहने की जरूरत है। आजकल प्राचीन कवि-सम्प्रदाय (शिष्ट-सम्प्रदाय) के विरोध का तो डर नही रह गया है, पर छापे की मशीन ने जो अत्यधिक साहित्यिक उत्पादन करना शुरू किया है उसके फलस्वरूप नित्य नये-नये 'शिष्ट-सम्प्रदाय' पैदा होते जाते है और होते रहेंगे—डर इन्ही का है। हमें दृढता के साथ मानना चाहिए कि भाव और शैली आदि मे कितने भी परिवर्तन क्यों न होते रहे, जो साहित्य हमें एकत्व की अनुभूति की ओर उन्मुख करेगा, हमे पशु-सामान्य मनोवृत्तियो से ऊपर उठाकर प्रेम और मगलमय मनुष्य-धर्म प्रतिष्ठित करेगा वही वस्तुत: साहित्य कहलाने का अधिकारी होगा।

रस क्या है ?

121. सन् ईसवी की नवीं शताब्दी के मध्य भाग में आनन्दवर्धन का प्रादुर्भाव हुआ था। उनका ग्रन्थ ध्वन्यालोक है, जिसमें कुछ कारिकाएँ और उनके ऊपर वृत्तियाँ लिखी हुई है। पण्डितों में इस विषय में मतभेद है कि कारिका और वृत्ति दोनों के लेखक आनन्दवर्धन ही है या वे केवल वृत्तियों के लेखक है। साधारणत: विश्वास किया जाने लगा है कि केवल वृत्तियाँ ही आनन्दवर्धन की लिखी हुई हैं और कारिकाएँ किसी अन्य आचार्य—शायद उनका नाम सहृदय था—की लिखी हुई है। इस पुस्तक मे आनन्दवर्धन को जब मैं ध्वनि का प्रतिष्ठाता आचार्य कहता हूँ तो उससे यह नही समझना चाहिए कि 'सहृदय' नामक किसी सन्दिग्ध आचार्य के प्रति मैं किसी तरह का असम्मान दिखाना चाहता हूँ। यदि वे सचमुच ही कारिकाओं के लेखक है तो उन्हे ही ध्वनि का प्रतिष्ठाता मानना चाहिए। नाना कारणों से मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कारिकाएँ और वृत्तियाँ दोनों ही आनन्दवर्धन की लिखी हुई है। परन्तु वस्तुत. ध्वनि का सिद्धान्त कारिकाकार से भी प्राचीन है क्योंकि कारिकाओं के आरम्भ मे ही कहा गया है कि यह सिद्धान्त ('काव्य का आत्मा ध्वनि है') पूर्वाचार्यों का कहा हुआ है :

'काव्यस्यात्मा ध्वनितिबुधैर्यः समाम्नात पूर्वः'

फिर भी इसमें कोई सन्देह नही कि इस मत को इतने युक्तिपूर्ण ढग से उपस्थित करने का श्रेय आनन्दवर्धन को ही है। उससे भी अधिक इस ग्रन्थ के टीकाकार अभिनव गुप्त को। और वाग्देवता के अवतार कहे जानेवाले मम्मटाचार्य ने इन दोनों के मत का समर्थन करके इस सिद्धान्त को इतना सुदृढ बना दिया कि बाद मे किसी को इस सिद्धान्त के विषय में कोई सन्देह ही नहीं हुआ। निस्सन्देह ध्वनि-सम्प्रदाय का काव्य-विवेचन समस्त जगत् के सौकुमार्य-विवेचन-शास्त्र में अद्वितीय महिमा का अधिकारी है।

शब्द की तीन वृत्तियाँ या शक्तियाँ है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। 'अभिधा' शब्द के कोष-व्याकरण-सम्मत अर्थ को प्रकट करती है। इस अर्थ को अभिधेय या वाच्य अर्थ कहते है। जैसे 'गगा' शब्द का अर्थ जलप्रवाह-विशेष या एक नदी है। 'घोष' शब्द का अर्थ घर है। पर कभी-कभी ऐसा प्रयोग किया जाता है जबकि अभिधा-वृत्ति काम नहीं कर सकती। जैसे यदि कहा जाय कि 'वह पठान बैल है', तो स्पष्ट ही यहाँ पठान और बैल की एकता के समझने में बाधा पडेगी। पठान आदमी हो सकता है, बैल नही। फिर भी हम यह अर्थ समझ लेते है कि पठान बैल के समान मूर्ख है। इस अर्थ का ज्ञान शब्द की लक्षणावृत्ति मे होता है और इस अर्थ को लक्ष्य अर्थ कहते हैं। अब यह तो स्पष्ट ही है कि बैल का अर्थ मूर्ख किया गया है, क्योंकि बैल और मूर्खता में सम्बन्ध है। यदि सम्बन्ध

नहीं होता तो बैल का अर्थ कभी मूर्ख नहीं हो सकता था। 'पठान बैल है' का अर्थ कभी भी 'पठान तैराक है' नहीं हो सकता, क्योंकि बैल और तैराकपन का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए लक्ष्यार्थ सदा वाच्य से सम्बद्ध होता है। परन्तु मूर्ख न कहकर 'बैल' कहनेवाले का कोई-न-कोई प्रयोजन होता है। वह पठान को इतना अधिक मूर्ख कहना चाहता है कि उसको आदमी की श्रेणी में रखना ही नहीं चाहता। यह प्रयोजन अर्थात् 'पठान की अतिशय मूर्खता' कहकर नहीं बतायी जाती। वह ध्वनित होती है। ऐसा हो सकता है कि लक्षणा केवल रूढ़ि के पालनार्थ ही हो। जैसे किताब का पन्ना। 'पन्ना' शब्द का मूल अर्थ पर्ण या पत्ता है। जब किसी जमाने में पत्तों पर पुस्तकें लिखी जाती थीं तो उनके पन्ने ठीक ही पत्ते कहे जाते थे। अब वह 'पुस्तक के पृष्ठ' के अर्थ में रूढ़ हो गये हैं। फिर भी वाच्य अर्थ से लक्ष्य अर्थ का सम्बन्ध है ही। तो यह लक्षणा भी शब्द के सम्पूर्ण व्यवहारों के लिए काफी नहीं है। ऊपर जिस प्रयोजन की चर्चा की गयी है वह न तो लक्ष्य अर्थ है और न वाच्य ही। यह व्यंग्य अर्थ है और इस अर्थ को सिद्ध करने के लिए शब्द की एक तीसरी शक्ति व्यंजना की जरूरत है। काव्य-शास्त्रियों के सिवा और कोई भी शास्त्रकार इस तीसरी वृत्ति को नहीं स्वीकार करते। दीर्घ-व्यापारवादियों के मत से शब्द की केवल एक ही वृत्ति है—अभिधा। जैसे एक ही बाण योद्धा का कवच, चर्म और हड्डी बेधकर निकल जाता है, वैसे ही एक ही वृत्ति उन तीनों अर्थों का बोध करा देती है, जिसे ऊपर अनेक नाम दिये गये हैं। मीमांसकों के अभिहितान्वयवादी दार्शनिकों का सिद्धान्त था कि वाच्य शब्दों के गठन में ही एक तात्पर्य नामक शक्ति है जो सभी अर्थों को प्रकट कर देती है। अन्विताभिधानवादी इस तात्पर्य-वृत्ति की भी जरूरत नहीं समझते। वे शब्दों में ऐसी शक्ति को स्वीकार करते थे जो सम्पूर्ण अर्थ को प्रकट करने के लिए अन्य शब्दों के साथ स्वतः सम्बन्ध स्थापित करती है। कुछ न्याय-दर्शन के अनुयायी काव्य-शास्त्री अनुमान द्वारा ही सभी अर्थों को जान लेना सम्भव मानते थे। मम्मटाचार्य ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में इन एक-एक के मत का निपुण भाव से खण्डन करके 'ध्वनि' सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया है।

ध्वनिकार कहते हैं कि वाक्य के अर्थ दो प्रकार के होते हैं: वाच्य और प्रतीयमान। जिस प्रकार रमणी के शरीरावयवों के अतिरिक्त एक दूसरी ही कोई वस्तु लावण्यरूप से प्रकाशित होती है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में वाच्य अर्थ के अतिरिक्त एक दूसरा ही प्रतीयमान अर्थ होता है।* यह प्रतीयमान या ध्वनित अर्थ अनेक बार वाच्य अर्थ के एकदम उल्टा जा सकता है। एक उदाहरण लिया जाय। कोई नायिका किसी धार्मिक से, जो नित्य एकान्त कुंज में पुष्पचयन करने आकर उसके प्रिय से मिलन में विघ्न उपस्थित किया करते थे, कहती है,

*प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।

'हे धार्मिक, तुम अब निश्चिन्त होकर वहाँ घूम सकते हो। वह जो कुत्ता था उ
गोदावरी तटवासी दृप्त सिंह ने मार डाला'

मम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्जम मारिओ तेण ।
गालाणई कच्छ कुडग वासिणा दरि असीहेण ।।

श्लोक में जिस कुत्ते की चर्चा है वह इसी नायिका या इसके प्रिय का कुत्त
था। धार्मिक सज्जन को देखकर वह भोंका करता था और उनके पुष्पचयन मे
विघ्न उत्पन्न करता था। अब इस श्लोक में जो कहा गया है कि 'हे धार्मिक, तुम
अब निश्चिन्त होकर भ्रमण करो', उसका असली अर्थ यह है कि 'अब तुम उधर
हर्गिज न जाना' क्योंकि अब तक तो वहाँ कुत्ता था, अब सिंह है ! अब जहाँ तक
वाच्यार्थ का सम्बन्ध है, वह विधि को ही बताता है, निषेध को नही। 'घूमो'
का अर्थ घूमो है, 'मत घूमो' एकदम नही। फिर भी यहाँ अर्थ 'मत घूमो' ही है।
लक्षणा से यह अर्थ नही निकल सकता; क्योंकि लक्षणा के लिए मुख्य अर्थ मे
बाधा होना जरूरी है। 'पठान बैल है'—इस वाक्य मे बैल के मुख्य अर्थ में बाधा
पड़ी थी; क्योंकि पठान आदमी है, बैल नही। इसीलिए वहाँ लक्षणा सम्भव थी।
यहाँ कैसे सम्भव होगी? यह भी नही कहा जा सकता कि अभिधा नामक वृत्ति
से ही, दीर्घ-व्यापारवादियो की युक्ति के अनुसार, जिस प्रकार बाण पहले चर्म
और अस्थिछेदन करता है उसी प्रकार पहले 'घूमो' और फिर 'मत घूमो' दोनो
अर्थों का ज्ञान हो जायेगा। क्योंकि 'घूमो' और 'मत घूमो' बिलकुल विरुद्ध अर्थ
हैं, सम्बद्ध नही। जहाँ पर सभी अर्थ एक ही जाति के हों वहाँ तो यह व्याख्या मान
भी ली जा सकती है, पर यहाँ उससे काम नही चलेगा। फिर यह तो स्पष्ट ही है
कि यहाँ वाक्य के उच्चारण के साथ-ही-साथ समझदार आदमी के निकट 'मत
घूमो' यह वाच्यार्थ से एकदम विपरीत अर्थ उत्पन्न होता है। सारे श्लोक मे कोई
भी ऐसा शब्द नही है जिसके लिए किसी कोष या व्याकरण में ऐसा अर्थ लिखा
हो। कुछ लोग कहते है कि निमित्त जो शब्द है, उसी का संकेत अर्थात् कोष-
व्याकरण-परम्परा की प्रसिद्धि आवश्यक है। नैमित्तिक या कार्यरूप जो अर्थ है
उसके लिए किसी संकेत की जरूरत नही। यह स्पष्ट ही गलत बात है; क्योंकि
निमित्त के सिवा नैमित्तिक रह कहाँ सकता है? यदि यह कहा जाय कि पहले
प्रतीयमान अर्थ (मत घूमो) उपस्थित होता है, फिर शब्द में इस अर्थ का संकेत
आ जाता है तो यह और भी गलत बात है; क्योंकि कारण पहले होना चाहिए,
कार्य के बाद नही। इसी तरह अन्यान्य मतो के खण्डन के बाद ध्वनिकार इस
नतीजे पर पहुँचते है कि शब्द को एक ध्वनि नामक विशेष शक्ति स्वीकार की
जानी चाहिए।

अब काव्यत्व वही हो सकता है जहाँ व्यंग्यार्थ या ध्वनि—जो वस्तुतः काव्य
का आत्मा है, हो। अगर यह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ, या लक्ष्यार्थ से अधिक स्पष्ट और
उन्हें दबा देने लायक हो तो काव्य उत्तम है और उसे ध्वनि-काव्य कहा ज
यदि दोनों के बराबर है या उनसे कम शक्तिशाली है तो मध्यम है, औ

अत्यन्त कम है तो अवर या चित्र है। जिन दिनों ध्वनि का सिद्धान्त प्रतिष्ठा लाभ करने लगा था, उसके पहले 'काव्य' नाम से कहे जानेवाले साहित्य में ऐसी बहुत-सी बातें स्वीकृत हो चुकी थीं जिनको इस सिद्धान्त के माननेवालों को छोड़ देना पड़ता। ऊपर राजशेखर के काव्यांगों को भी यदि एक बार सरसरी निगाह से भी देखा जाय तो उसमे अलंकार की प्रधानता स्पष्ट हो जायगी। अठारह काव्यागों मे से आधे तो विशुद्ध अलकार ही हैं। फिर दण्डी और भामह आदि के ग्रन्थो मे अलंकारो की विशद व्याख्या है और शब्दालंकार के सम्बन्ध में तो महज शाब्दिक चमत्कार को बहुत अधिक तूल दिया गया है। मम्मट के लिए अलंकारों का काव्य में रहना कोई जरूरी बात नही थी। वे मानते थे कि रस-ध्वनि काव्य का आत्मा है; शब्द, अर्थ शरीर है; गुण शौर्य-औदार्य आदि की भाँति है; दोष काना-लंगड़ा-लूला होने के समान है और अलकार गहने के समान बाहरी चीज है। अपने काव्य की परिभाषा मे उन्होने स्पष्ट ही कहा है कि शब्द और अर्थ गुण-युक्त होने पर काव्य है, कभी-कभी उनमे अलकार रह भी सकते है, नही भी रह सकते है। रस और अलंकारो के एक साथ रहने न रहने से काव्य के 6 भेद टीकाकारों ने गिनाये है: (1) सरस और स्पष्ट अलंकार सहित, (2) सरस और अस्पष्ट अलंकार सहित, (3) सरस और अलंकार शून्य, (4) नीरस और स्पष्ट अलकार सहित, (5) नीरस और अस्पष्ट अलकार सहित, (7) नीरस और अलकार रहित। इनमे अन्तिम तीन ध्वनिवादियो के सम्मत नही हो सकते। परन्तु पूर्ववर्ती आलंकारिक ऐसे पद्यो को भी काव्य की मर्यादा दे सकते थे जो अन्तिम को छोड़कर बाकी किसी भी श्रेणी में आ जायं। इस प्रकार यद्यपि ध्वनिवादियो ने बहुत-कुछ स्वीकृत काव्य मे से अस्वीकार कर दिया, तथापि बहुत-कुछ उन्हे स्वीकार भी करना पड़ा। इसीलिए उन्होने ध्वनि को तीन प्रकार का बताया: वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनि। जहाँ कोई वस्तु या अर्थ ध्वनित हो वहाँ वस्तु-ध्वनि, जहाँ कोई अलंकार ध्वनित हो वहाँ अलंकार-ध्वनि और जहाँ रस ध्वनित हो वहाँ रस-ध्वनि होती है। इनके भेद-उपभेदो का एक विशाल महल खड़ा किया गया है। यद्यपि सभी ध्वनि उत्तम काव्य है, पर रस सबसे श्रेष्ठ है। मम्मट ने रस के सिलसिले में जिस एकमात्र आचार्य का नाम श्रद्धा के साथ लिया है, वे अभिनवगुप्त-पाद स्पष्ट ही कहते है कि रस के बिना काव्य हो ही नही सकता। नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते—यह वाक्य नाट्य-शास्त्र से ही लिया गया है (देखिए नाट्य-शास्त्र, पृ. 71)। विश्वनाथ तो रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानते है। (लोचन, पृ. 62)। इस प्रकार इस जटिलध्वनिवाद के भीतर रस को गूँथा गया है। अब भी यह विचार करना बाकी है कि 'रस' जो इतने प्राचीनकाल से नाट्यशास्त्र मे प्रसिद्ध था और उससे भी प्राचीनकाल मे 'आदिरस' के रूप मे परिचित होने का श्रेय पा सकता है, वह ध्वनि के रूप में कैसे आ गया? भरत ने कहा है कि विभाव, अनुभाव, संचारी के योग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव दो है: आलम्बन और उद्दीपन; आलम्बन जैसे नायक और नायिका; उद्दीपन जैसे चाँदनी, उद्यान,

मलय-पवन इत्यादि। अनुभाव शरीर-विकार कोकहते हैं, जैसे कटाक्षपात, रोमाच इत्यादि। संचारी या व्यभिचारी भाव तैंतीस हैं। इसके अतिरिक्त आठ रसो के आठ स्थायी भाव है। शृगार का स्थायी भाव रति या लगन है, हास्य का हास, करुण का शोक, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, भयानक का भय, बीभत्स का जुगुप्सा, अद्भुत का विस्मय। भरत मुनि का कथन है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस 'निष्पत्ति' शब्द के अर्थ को लेकर आचार्यों में बहुत बहस हुई है। एक स्थायी भाव शुरू से आख़िर तक काव्य या नाटक में रहता है। यह भाव आश्रय के चित्त मे आलम्बन के सहारे प्रवृत्त होता है और उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त किया जाता है, जिसके कारण आलम्बन के अंग मे विकार होते है जो अनुभाव कहलाते है। स्थायी भाव यद्यपि आदि से अन्त तक स्थिर रहता है तथापि बीच मे शका, असूया, भय आदि सचारी भाव आते और जाते रहते है। इनकी निष्पत्ति का क्या अर्थ हो सकता है? 'नाट्यशास्त्र' कहता है कि स्थायी भाव ही राजा है और अन्य भाव उसके सेवक। 'नाट्यशास्त्र' में लिखा है कि जिस प्रकार नाना व्यजन, औषध, द्रव्यादि के सयोग से 'रस' या स्वाद की निष्पत्ति होती है या जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्य, व्यजन और औषध से 6 रस निष्पन्न होते है उसी प्रकार नाना भावों से उपहित स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है। भरत मुनि से भी प्राचीनतर दो परम्पराप्राप्त श्लोको मे कहा गया है कि जिस प्रकार बहुत द्रव्यों ओर व्यजनो से युक्त खाद्य-वस्तु का खाद्य-रस के जानकर लोग आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार भाव और अभिनय से युक्त स्थायी भावों का चतुर लोग मन-ही-मन आस्वादन करते है। इसीलिए (जिस प्रकार पूर्वोक्त वस्तु को अन्न का रस कहते है, उसी प्रकार) इन्हें नाट्य-रस कहते है (न. शा., 6-31-32)। भट्टलोल्लट प्रभृति पण्डितो का मत था कि निष्पत्ति का अर्थ यह है कि (1) आलम्बन और उद्दीपन आदि विभावों से रस पहले उत्पन्न होता है, (2) कटाक्ष, भुजक्षेप आदि अनुभावों से फिर वह प्रतीति योग्य किया जाता है और (3) फिर निर्वेदादि व्यभिचारी तथा सयोग रूप सहकारी भावों से पुष्ट होता है। इस प्रकार प्रथम का रस के साथ उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध है, द्वितीय का गम्य-गमक सम्बन्ध है और तृतीय का पोष्य-पोषक सम्बन्ध है। इस प्रकार रस क्रमशः उत्पन्न, अभिव्यक्त और पुष्ट होता है। यद्यपि रति आदि भाव अनुकार्य रामादि मे होते है, अनुकर्त्ता नट आदि में नही, तथापि नाट्य की निपुणता से नर्त्तक मे प्रतीयमान होते है। और इस प्रकार सहृदय के हृदय मे चमत्कार पैदा करके रस की पदवी प्राप्त करते है। इस मत मे स्पष्ट ही यह शंका हो सकती है कि यदि रति आदि भाव अनुकार्य में हैं और अनुकर्त्ता अर्थात् नट मे केवल प्रतीयमान होते है—जैसे रज्जु में भ्रमवश, या नकली खिलौने में नैपुण्यवश सांप की प्रतीति होती है— तो इससे नाटक देखनेवाले का क्या? उसे क्यो आनन्द आये? श्री शकुक का मत इस मत के विरुद्ध था। वे रस का उत्पन्न होना स्वीकार नही करते थे। वे नैयायिको के ढंग पर रस को अनुमान

का विषय मानते थे। जिस प्रकार धुआँ देखकर आग का अनुमान होता है, वैसे ही विभावानुभावादि से रस का अनुमान होता है। निष्पत्ति शब्द का अर्थ अनुमान है। अब लोक-प्रसिद्धि यह है कि 'प्रत्यक्षमेव ज्ञान चमत्कारजनकं नानुमित्यादि' अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान ही (अनुभूत) चमत्कारजनक होता है, अनुमान द्वारा प्राप्त नहीं। इस लोक-प्रसिद्धि के साथ इस मत का स्पष्ट ही विरोध है। काव्य-रस का अनुमान करके आनन्द पाना कष्ट-कल्पना ही है। इसीलिए इस मत का भी विरोध किया गया है। इस तीसरे मत के प्रतिष्ठाता भट्टनायक है। ये निष्पत्ति शब्द का अर्थ 'भुक्ति' करते है। रस के साथ विभावादि का सम्बन्ध इनके मत से भोज्य-भोजक सम्बन्ध है। उनका मत है कि रस न तो उत्पन्न होता है, न प्रतीत होता है और न अभिव्यक्त होता है। काव्य और नाटक मे अभिधा के अतिरिक्त दो और विलक्षण व्यापार होते है जिन्हें भावकत्व और भोजकत्व व्यापार कहते है। भावकत्व व्यापार राम मे से रामत्व, सीता में से सीतात्व आदि को हटाकर साधारणीकरण के द्वारा साधारण स्त्री और पुरुष के रूप में उपस्थित करता है और भोजकत्व व्यापार के द्वारा उक्त रूप से साधारण किये हुए विभावादि के संयोग से रति आदि स्थायी भाव सहृदय द्वारा आस्वादित या भुक्त होते हैं। यह जो भोजकत्व व्यापार है वह सहृदय के चित्त को सत्वस्थ कर देता है, उसमें से इच्छा-द्वेष को दूर कर देता है, रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव हटा देता है और इस प्रकार उसे प्रकाशरूप आनन्दमय अलौकिक-संवित् या ज्ञान मे प्रतिष्ठित कर देता है और अन्यान्य ज्ञेय वस्तुओं के सम्पर्क से हटा देता है। इस प्रकार रति का आस्वाद ही रस-निष्पत्ति है। इस मत मे जो दो नये व्यापार कल्पित किये गये हैं, उनके लिए कोई प्रमाण नही है। यदि यह कहा जाय कि व्यंजना के स्थान मे ही भोजकत्व व्यापार की कल्पना है, तो भी भावकत्व तो अधिक ही हुआ। इस प्रकार इस मत मे बहुत अधिक कष्ट-कल्पना की जरूरत है। चौथा और सर्व-स्वीकृत मत अभिनवगुप्त का है। वे निष्पत्ति का अर्थ व्यंग्य होना समझते है। रस के साथ स्थायी भाव का विभावादि के संयोग के साथ व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है। नाटक के देखनेवाले या काव्य के सुननेवाले सहृदय के चित्त मे ही वासनारूप से स्थायी भाव स्थित होता है। काव्य द्वारा और नाटक के अभिनय द्वारा वही रति उद्बुद्ध होकर आस्वादित होती है। यह ठीक है कि काव्य मे एक ऐसी शक्ति होती है जो राम मे से रामत्व और सीता में से सीतात्व आदि हटाकर उन्हे साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में उपस्थित करती है। इस साधारणी वृत्तिरूप से, जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है, जब काव्यार्थ उपस्थित होता है तो उसके फलस्वरूप सत्वगुण का उद्रेक होता है और चित्त स्वप्रकाश और आनन्दमय हो जाता है; क्योंकि प्रकाश और आनन्द दोनो ही सत्वगुण के धर्म है। इस प्रकार जो रस अभिव्यक्त होता है, वह विश्वजनीन होता है। उसमें कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नही होता। लौकिक भय-प्रीतिजनक व्यापारो से यह भिन्न होता है; क्योकि उसमे व्यक्तिगत सुख-दुःख का स्पर्श नही होता। लोक में एक स्त्री एक पुरुष के प्रति जब अभिलाषा

प्रकट करती है तो उसमे व्यक्तिगत सुख-दुःख का भाव रहता है, पर काव्य और नाटक मे जब यही बात होती है तो उसमे वह व्यक्तिगत रागद्वेष नही होता। उसमे सहृदय एक निर्वयक्तिक अलौकिक आनन्द का उपभोग करता रहता है। यह आनन्द उस आनन्द के समान है जो योगियो को प्राप्त होता है। यद्यपि अपने ही चित्त का पुनः-पुनः अनुभूत वह स्थायी भाव अपने आकार के समान ही अभिन्न है तथापि काव्य-नैपुण्य से उसे गोचर किया जाता है। आस्वादन ही इसका प्राण है, विभावादिक के रहने पर ही यह रहता है, नाना प्रकार के मीठे-खट्टे पदार्थों के सयोग से बने हुए शरबत की भाँति यह आस्वादित होता है, मानो सामने परिस्फुरित होता हुआ, हृदय मे प्रवेश करता हुआ, सर्वांग को आलिंगन करता है। अन्य सबकुछ को तिरोहित करता हुआ ब्रह्मानन्द को अनुभव करानेवाला यह रस अलौकिक चमत्कार का कारण है। वह कार्य नही है, क्योकि कारण के नाश होने पर कार्य नष्ट नही होता और वह विभावादि के अभाव मे नही रह सकता। वह ज्ञाप्य भी नही है, अर्थात् जिस प्रकार अन्धकार मे रखी हुई वस्तु दीपक आदि से प्रकाशित होकर ज्ञाप्य बनती है, उस प्रकार वह नहीं होता, क्योंकि वह स्वयसिद्ध है। बल्कि वह विभावादि से व्यजित होकर आस्वादित होता है। जो कारक द्वारा कार्य नही, ज्ञापक द्वारा ज्ञाप्य भी नही, ऐसी कोई वस्तु दुनिया मे नही हो सकती, इसीलिए रस अलौकिक है। अभिनवगुप्त के इस मत मे जो सबसे बडी विशेषता है वह यह है कि वे स्थायी भाव को पहले ही सहृदय के चित्त मे स्थित मानते है, जबकि अन्यान्य व्याख्याकार उसे सहृदय के चित्त से बाहर मानते है। निस्सन्देह अभिनव गुप्त का सिद्धान्त मनोविज्ञान-सम्मत है और रसानुभूति का सर्वोत्तम मार्ग बताता है।

'नाट्य-शास्त्र' मे रस के विषय मे जो कुछ कहा गया है, उससे अनुमान होता है कि भरतमुनि भी निष्पत्ति का अर्थ आस्वाद ही समझते थे। उन्होने अनेक बार भोज्य-वस्तु के रस के साथ इसकी तुलना की है। नीबू और चीनी आदि के सयोग से जो एक विशेष प्रकार का रस बनता है वह न तो नीबू है, न चीनी है, न जल है, न इन सबका मिश्रित रूप है और न इनके बिना ही रह सकता है। ठीक इसी प्रकार विभावादि से जो रस निष्पन्न होता है वह न तो नायक है, न नायिका, न पुष्पोद्यान-विहार है, न स्थायी भाव है, न अनुभाव है, न व्यभिचारी भाव है और न इन सबका मिश्रण है, न इनके बिना रह सकता है। वह इन सबसे भिन्न है, और फिर भी इन्ही चीजो से निष्पन्न या अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए कवि का उद्देश्य इन वस्तुओं को सूक्ष्म भाव से प्रकट करना नही है, बल्कि इनको साधन बनाकर उस अलौकिक चमत्कार-स्वरूप रस को व्यग्य करना है। यह भारतीय कवि का विशेष दृष्टिकोण है। उसका प्रयत्न भावनाओं का चित्रण नही है, बल्कि उनके द्वारा उनके उचित संयोग से अलौकिक ब्रह्मानन्द-तुल्य रस को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न है। ठीक जिस प्रकार ससार आपाततः असत् होकर भी उसके निकट किसी अन्य व्यापक सत्ता की ओर इशारा करता रहता है, उसी प्रकार

साहित्य का नया रास्ता

122. साहित्य में बड़ी तेजी से परिवर्त्तन हो रहा है। हमारा तरुण साहित्यकार यह विश्वास करने लगा है कि अब तक के साहित्यकार जिस मार्ग पर चलते रहे वह मार्ग चरम गन्तव्य तक पहुँच चुका है, अब अगर उसी पर रहना है तो धीरे-धीरे पीछे लौटना होगा या फिर दौड़कर एक बार आगे से पीछे और एक बार पीछे से आगे की ओर आने की कसरत करनी होगी। इस क्रिया से दौड़नेवाले की फुर्ती, ताकत और हिम्मत की तारीफ कर ली जा सकती है, पर इतना निश्चित है कि इससे आगे बढने की आशा नही की जा सकती। आगे बढना हो तो इसे सडक के अन्तिम किनारे से मुड जाना होगा। सब लोग उस रास्ते को नही देख पाते; क्योंकि वह अब भी अच्छी तरह से बना नहीं है, काँटे और कंकड के ढेर मे से एक अस्पष्ट पगडण्डी उस रास्ते की ओर इशारा कर रही है, लहूलुहान हो जाने का खतरा भी बहुत है, पर अगर मनुष्य-जाति को वर्त्तमान दुर्गति से बचना है तो इस मार्ग पर चलने के सिवा और कोई उपाय नही है।

यह जो मनुष्य-जाति को दुर्गति के पंक से बचाने का सकल्प है, यह एक बहुत बड़ा उपादान है जो आज के साहित्य को नये रास्ते की ओर ठेल रहा है। मैंने *मार्क्स-लिखित एक वाक्य किसी* पुस्तक में उद्धृत देखा था। पुस्तक चूँकि मार्क्स के बहुत बड़े प्रशसक की लिखी हुई है, इसलिए उसके उद्धरण को प्रमाणित मान लेने मे कोई आपत्ति नही है। उस छोटे-से किन्तु सारगर्भित वाक्य का भावार्थ हिन्दी मे इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है, "अब तक तत्त्वज्ञानियों ने विश्व की नाना भाव से व्याख्या-मात्र की है, लेकिन असली प्रश्न व्याख्या करने का नही है, बल्कि परिवर्त्तन करने का है।" इसका मतलब यह हुआ कि मार्क्स का प्रचारित तत्त्वज्ञान कोई शास्त्रीय मतवाद नही है बल्कि दुनिया को बदलकर मनुष्य के सुख-सौविध्य के अनुकूल निर्माण करने का विज्ञान है। वह केवल बहस की चीज नही है। उसने दुनिया को ही नही, दुनिया के इतिहास को भी एक खास दृष्टि से देखा है और सब देख-सुन लेने के बाद जिस नतीजे पर पहुँचा है उस तक मनुष्य को पहुँचा देने को वह एक कर्त्तव्य मानता है। इस मत का माननेवाला उसी लक्ष्य तक मानव-जाति को पहुँच देने के उद्देश्य से ही काव्य लिखता है, नाटक खेलता है, पार्लियामेंट की सीटें दखल करता है और सेना के सचालन मे अपना हक खोजता है। यह नहीं है कि साहित्य के मैदान मे वह सौन्दर्य के निरीह मृग का शिकार करता हो, राजनीति में झूठ-सच की आँख-मिचौनी खेलता हो। और धर्म के क्षेत्र मे आत्मोद्धार के लिए सपाद लक्ष मन्त्र का जप करता हो। वह सब क्षेत्रो मे केवल एक ही लक्ष्य को सामने रखकर काम करता है—मनुष्य-जाति को उस लक्ष्य तक पहुँचा देना जो उसके अभीष्ट मतवाद के आचार्यों द्वारा अनुमोदित

है और जिस लक्ष्य तक पहुँचकर उसके विश्वास के अनुसार मनुष्य-जाति का अभ्युदय निश्चित है।

दो बातें इस प्रसंग मे स्मरण कर ली जानी चाहिए। भारतवर्ष में तटस्थ पर्यालोचक द्वारा की गयी दुनिया की व्याख्या को दर्शन नही कहा गया। इस देश मे प्रत्येक दार्शनिक विचार का विकास किसी धार्मिक साधना के कारण हुआ है। इसीलिए साधना का जो उद्देश्य हुआ करता है वह उद्देश्य दार्शनिक विचारधारा के साथ बराबर अनुस्यूत रहा है। धार्मिक साधना का एक उद्देश्य यह अवश्य होता है कि वह साधक को बदलकर एक विशेष कोटि का बना दे। अर्थात् धार्मिक साधना भी विश्व की व्याख्या मात्र नहीं है, बल्कि साधक को परिवर्तित कर देने की चेष्टा है। इसलिए अन्यान्य देशों के तत्त्वज्ञानियों की भाँति इस देश के दार्शनिक केवल तटस्थ व्याख्याता नही कहे जा सकते। यह अवश्य है कि वे साधना से और दर्शन से व्यक्ति को बदलने का प्रयास करते थे, सारी दुनिया को नही। दूसरी बात यह कि यद्यपि प्राचीनतर तत्त्ववाद जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में व्याहारिक को भिन्न-भिन्न रूप मे मानते थे, तथापि सर्वत्र एक-रस सत्य को खोजने और आचरण करने का प्रयास बहुत नयी बात नही है। व्यावसायिक क्रान्ति के बाद से नाना मनीषियो ने नाना भाव से इस बात को प्रमाणित किया है। इन दो बातो के होते हुए भी यह सत्य मालूम होता है कि जितने व्यापक और वैज्ञानिक रूप मे मार्क्स के अनुयायियों ने ऊपर बतायी हुई विशेषता को अपनाया है, उतना अब तक कभी नही हुआ था।

अपने को प्रगतिशील घोषित करनेवाली रचनाओं ने ऐसे लोगो को एक अजीब भ्रम में डाल रखा है जो मेरे समान जिज्ञासु तो है पर अर्थशास्त्र की पुरानी, आधुनिक (पूँजीवादी) और मार्क्सवादी व्याख्याओं को समझने का सुयोग नही पा सके है और इसीलिए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे उसके व्यापक प्रयोग को ठीक-ठीक समझ नही पाते। पर इधर हाल ही मे प्रगतिशीलता-आन्दोलन के नेताओ ने उत्तम कोटि की प्रगतिशील कविताओं का संग्रह करना शुरू किया है। इन रचनाओ के पढने से मेरे मन मे जो बात लगी है वह यह कि जिन रचनाओं को प्रगतिशील कहा गया है उनकी आधारभूत तत्त्व-चिन्ता कोई आर्थिक या राजनीतिक वाद नही है। सम्पूर्ण मानव-जाति ने अनादिकाल से जो ज्ञान-राशि संचय की है, उस सम्पूर्ण का रस निचोड़कर ही वह तत्त्वज्ञान अपनी सत्ता बनाता है! कम-से-कम उसकी इच्छा ऐसी ही है। इस तत्त्ववाद को चार सूत्रों मे जो बाँट लिया जा सका है, सो केवल सुविधा के लिए : (1) दुनिया या प्रकृति (जिसमे मानव-समाज भी शामिल है) परस्पर सापेक्ष-वस्तुओ से बनी है, कोई भी वस्तु अपने-आपमें निरपेक्ष नही; (2) कुछ भी स्थिर नही है, प्रत्येक वस्तु गतिशील है और परिवर्तनशील है, या तो वह विकासोन्मुख है या पतनोन्मुख, पर है गतिशील; (3) वस्तुओ का विकास आसानी से नही हो जाता—थोड़ी देर तक वह जरूर आसानी से ही चलता रहता है, पर एक ऐसे स्थल पर पहुँचता है जब वह

एकाएक तेजी से विलट जाता है। पानी मे गर्मी का सचार करते रहिए। निश्चित है कि थोड़ी देर तक कुछ परिवर्त्तन नहीं दिखेगा। एकाएक एक खास सीमा तक ग्राने पर पानी खौलने लगेगा, उसमे उथल-पुथल मच जायेगी और वह बाष्पवनकर उड़ने लगेगा। पतनोन्मुख पानी और विकासोन्मुख वाष्प की यह सादी कहानी अत्यन्त जटिल मानव-समाज मे भी इसी प्रकार दिखाई देती है; (4) प्रत्येक वस्तु मे दो तत्त्व होते है: विकासोन्मुख और ह्रासोन्मुख। जो विकसित हो रहा है उसे दूसरा तत्त्व वाधा देता है, अभिभूत करने की चेष्टा करता है; जब विकसनशील तत्त्व काफी सवल हो जाता है तो द्वन्द्व तीव्रतम हो उठता है और फिर धीरे-धीरे बाधा देनेवाला या प्रतिकर्त्ता तत्त्व ठप्प हो जाता है। ये चार सूत्र प्रकृति के कण-कण में लागू हैं। इनको ग्रावश्यकतानुसार अपने उद्देश्य-साधन मे लगाया जा सकता है ; ज्ञान-विज्ञान की चर्चा का फल वही उद्देश्य साधन है, राजनीति और अर्थनीति का लक्ष्य इन्हीं नियमो के अनुकूल विश्व-निर्माण मे लगाना है और साहित्य और कला का उद्देश्य भी ऐसा ही है। अलौकिक आनन्द का अनुभव हो जाय तो उसे ग्रानुषंगिक फल मान लेना चाहिए। वही साहित्य का वास्तव फल नही है।

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है वह आधुनिक प्रगतिशीलता का ठीक-ठीक विश्लेषण है या नही, यह मैं नही कह सकता। इसमें ईमानदारी के साथ समझने की चेष्टा के सिवा और किसी सद्गुण की बात का दावा मैं नही पेश कर सकता। पर यह अगर सत्य के नजदीक है तो मुझे ऐसी कोई बात नही दिखती जिससे वे लोग चिढ़े या घबरायें जो अपने को प्राचीन-पन्थी कहते है। ऊपर मैंने जो कुछ लिखा है वह न तो हमारी प्राचीन काव्य-परम्परा के स्वाभाविक विकास का परिपन्थी है न आधुनिक सहृदय के मानस-सस्कारों का प्रतिगामी। प्राचीन कवि अपने काव्य का उद्देश्य 'रामादिवदाचरितव्यं न तु रावणादिवत्' समझता था। इसका अन्तर्निहित अर्थ यह था कि काव्य दुनिया के आचरण को अच्छे मार्ग की ओर मोड़ देने के सकल्प से लिखा जाता था। उस समय सत् और असत् की सीमाएँ निर्धारित थीं, धर्म और अधर्म की मर्यादाएँ स्थिर मान ली गयी थी, ऐसा विचार केवल बाह्य सतह पर चढ़कर काटनेवालो के लिए ही ठीक है। कभी भी प्राचीन विचारको ने कर्म-विशेष को सदा के लिए सत् या असत् नहीं बताया। कर्म की गति सदा गहन समझी जाती रही है, इसीलिए गीता मे कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों को ठीक-ठीक समझने पर जोर दिया गया है :

कर्मणोह्यपि वोद्धव्य वोद्धव्यं चविकर्मण.
अकर्मणश्च वोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।

सत्य बोलना धर्म है, यह मोटी-सी बात है। पर सत्य बोलना क्या चीज है, यह अवस्था के विचार के बिना नही समझा जा सकता। शुकदेव से नारद ने कहा था कि सच बोलना ठीक है, पर हित की बात बोलना और भी ठीक है। सत्य की अपेक्षा हित श्रेष्ठ है, ! क्योकि मेरा विचार यह है कि सत्य वह नहीं है जो मुंह मे

बोला जाता है, सत्य वह है जो समस्त जगत् का ज्यादा-से-ज्यादा उपकार करता है, आपाततः वह चाहे झूठ जैसा ही क्यों न सुनायी देता हो :

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥

—म. भा., शान्तिपर्व, 329-13

'महाभारत' में अन्यत्र बताया गया है कि अवस्था-विशेष में सत्य के बदले असत्य बोलना ही विहित है (शान्ति., 109-16), सो यह समझना कि कर्म की सत् और असत् की मर्यादा प्राचीन विचारकों ने लोहे की मोटी दीवार से बाँध दी थी सत्य का अपलाप-मात्र है। यह अवश्य है कि साधारण जनता को उन्होंने इतनी गहराई में उतरने की शिक्षा नहीं दी और उनके लिए पाप-पुण्य की मर्यादा बाँध दी। यहाँ वे गलती कर सकते हैं, पर प्राचीन तत्त्ववादियों की गलतियों को अपना खुराक बनाकर प्रगतिशीलता का आन्दोलन अपनी गति को कुण्ठित-भर कर सकता है, किसी का कोई उपकार नहीं कर सकता।

प्रगति-आन्दोलन के नेताओं ने हरदम क्लास, वर्ग और श्रेणी का नाम लेकर भी अपना वक्तव्य धूमिल बना दिया है। वे ऐसी बहुत-सी बातें कहते हैं जो वर्ग-भावना के बिना भी समझायी जा सकती थीं, परन्तु उनका उद्देश्य उस बात को समझाना शायद कम होता है और वर्ग-संघर्ष की भावना को परिचित बनाना अधिक। 'संस्कृति' शब्द बड़ा अस्पष्ट है, इसलिए उसे छोड़कर 'ज्ञान' शब्द को लेकर विचार किया जाय। मानव-समाज ने प्रत्येक काल में किसी-न-किसी रूप में ज्ञान-धारा को आगे बढ़ाया है। प्रत्येक काल में ज्ञान की साधना एक खास वर्ग या श्रेणी ने की है। समय ने उस वर्ग को दुनिया की सतह से पोंछ दिया है, पर उनका आविष्कृत ज्ञान मानवमात्र की सम्पत्ति होकर उपकार कर रहा है। शुल्व-सूत्रों के जिन ब्राह्मण पुरोहितों ने प्रथम रेखागणित के विश्वव्यापक नियमों का आविष्कार किया था वे मिट गये, पर जो ज्ञान वे दे गये वह सारे जगत् की अपनी चीज है। इसलिए यद्यपि प्रत्येक ज्ञान का एक ऐसा व्यावहारिक रूप रहा है जो वर्ग-विशेष के अर्थार्जन का मूल रहा है, पर यह उसका शाश्वत रूप नहीं है। उसका एक स्थिर रूप भी है जो अपने उद्भावक वर्ग के नष्ट हो जाने पर भी बना रहता है। मैं ठीक नहीं कह सकता कि ज्ञान के उस रूप को प्रगतिवादी नेता क्या कहेंगे, पर जो कुछ भी कहें, उस शब्द का अर्थ शाश्वत या स्थिर जैसा ही कुछ होगा। ज्ञान का जिस प्रकार एक स्थिर या शाश्वत रूप है जो वर्ग-स्वार्थ के परे है, उसी प्रकार काव्य-सौन्दर्य का भी है। उसको 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहकर, समझने की चेष्टा किये बिना ही मजाक उड़ा देना आसान है, पर उससे मिलते-जुलते शब्द का व्यवहार किये बिना उसे समझाया नहीं जा सकता।

हम लोग यह समझने के अभ्यस्त हैं कि काव्य के पढ़ने-सुननेवाले या नाटक के देखनेवाले सहृदय के चित्त में ही वासना रूप से स्थायी भाव स्थित होता है। काव्य के श्रवण-द्वारा या अभिनय के दर्शन द्वारा वही रति उद्बुद्ध होकर आस्वा-

दित होती है। काव्य में एक ऐसी शक्ति होती है जो राम में से रामत्व और सीता मे से सीतात्व आदि हटाकर उन्हें साधारण स्त्री-पुरुष के रूप मे उपस्थित करती है। इस साधारणी वृत्ति रूप से, जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है, जब काव्यार्थ उपस्थित होता है तो उसके फलस्वरूप सत्वगुण का उद्रेक होता है, और चित्त स्वप्रकाश और आनन्दमय हो जाता है, क्योंकि प्रकाश और आनन्द दोनों ही सत्वगुण के धर्म है। इस प्रकार जो रस अभिव्यक्त होता है वह विश्वजनीन होता है। उसमे कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नही होता। लौकिक भय-प्रीतिजनक व्यापारो से यह भिन्न होता है क्योंकि इसमें व्यक्तिगत सुख-दु:ख का स्पर्श नही होता। लोक मे एक स्त्री एक पुरुष के प्रति अभिलाषा प्रकट करती है तो उसमे व्यक्तिगत सुख-दु:ख का भाव रहता है, पर काव्य और नाटक मे जब यही बात होती है तो उसमे वह व्यक्तिगत राग-द्वेष नही होता। इसमें सहृदय एक निर्वैयक्तिक अलौकिक आनन्द का उपभोग करता रहता है। यद्यपि अपने ही चित्त का पुनः-पुनः अनुभूत वह स्थायी भाव अपने आकार के समान ही अभिन्न है तथापि काव्य-नैपुण्य से उसे गोचर किया जाता है। आस्वादन ही इसका प्राण है, विभावादिक के रहने पर ही यह रहता है, नाना प्रकार के मीठे-खट्टे पदार्थो के संयोग से बने हुए शरबत की भाँति यह आस्वादित होता है, मानो सामने परिस्फुरित होता हुआ, हृदय मे प्रवेश करता हुआ, सर्वांग को आलिंगन करता है। अन्य सबकुछ को तिरोहित करता हुआ ब्रह्मानन्द को अनुभव करनेवाला यह रस अलौकिक चमत्कार का कारण है। यह कार्य नही है, क्योंकि कारण के नाश होने पर कार्य नष्ट नही होता और यह विभावादि के अभाव मे नही रह सकता। वह ज्ञाप्य भी नही है, अर्थात् जिस प्रकार अन्धकार मे रखी हुई वस्तु दीपक आदि से प्रकाशित होकर ज्ञाप्य बनती है, उस प्रकार यह नही होता; क्योंकि वह स्वयसिद्ध है। बल्कि वह विभावादि से व्यंजित होकर आस्वादित होता है। जो कारक द्वारा कार्य नही, ज्ञापक द्वारा ज्ञाप्य भी नहीं ऐसी कोई वस्तु दुनिया में नही हो सकती, इसीलिए रस अलौकिक है। अभिनवगुप्त के इस मत में जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह है कि वे स्थायी भाव को पहले से ही सहृदय के चित्त मे स्थित मानते है, जब कि अन्यान्य व्याख्याकार रस को सहृदय से बाहर मानते हैं। निस्सन्देह अभिनवगुप्त का सिद्धान्त मनोविज्ञान-सम्मत है और रसानुभूति का सर्वोत्तम मार्ग बताता है। वही हमारा अब तक का सर्वोत्तम समझा जानेवाला मत है। यह मत भारतीय सहृदय के रोम-रोम में रमा है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद काव्यास्वादन के इस नियम को स्वीकार नही कर सकता। परन्तु इन भौतिकवादियों की भी कई श्रेणियाँ हैं। यदि वह साधारण राजनीतिक प्रचारक होगा तो अभिनवगुप्त या आनन्दवर्धन को किसी वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि मानकर उनकी नीयत पर ही आलोचना की कैंची चला देगा। परन्तु यदि वह गम्भीर तत्त्व-चिन्तक होगा तो मानेगा कि ये विचार चाहे जिस क्लास की उपज हों ज्ञान-धारा को आगे बढ़ाने मे सहायक हैं, वह इन विचारों को तटस्थ

तत्त्ववादी की भाँति विश्लेषण करके और विचार करके दूर नही फेक देगा, बल्कि अपने अनुध्यात भविष्य के निर्माण मे इनसे किस प्रकार सहायता ली जा सकती है यही सोचेगा। मार्क्सवादी के लिए कोई सत्य लोहे की मोटी दीवारो से घिरा नही है और इसीलिए वह संसार के प्रत्येक स्टेज में अर्जित ज्ञान को अपने काम मे लाने से नही हिचकता। नीति को अवस्थाएँ रूप देती है। जो लोग इस देश में प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे है, उन्हें अपने देश के सचित ज्ञान की उपेक्षा नही करनी चाहिए। आज नही तो कल उन्हे उस विशाल ज्ञानराशि के संरक्षण और आलोचन का भार अपने कन्धे पर लेना होगा। हजारों वर्ष की समृद्ध ज्ञानराशि को फेंक देना बुद्धिमानी नही है। दुनिया की अन्य सभी वस्तुओ को फेंक देने से भार हल्का हो सकता है, पर ज्ञान के फेंकने से भार बढ जाता है।

प्रगतिशील कही जानेवाली सब रचनाओ की तो मैं नही कहता—उनमे बहुतेरी ग्राम्य, अश्लील, जुगुप्सित और रसाभासमूलक है—पर चुने नमूने के तौर पर संगृहीत कविताओ और कहानियों तथा नाटको को देखकर मैं कह सकता हूँ कि वे अपनी प्राचीन परम्परा के स्वाभाविक विकास के रूप मे समझायी जा सकती है। दो बातें मान लेने से वे इस देश के लिए भी ग्राह्य बनायी जा सकती है—ज्ञान और सौन्दर्य का चिरन्तन रूप और सहृदय के वासनारूप में स्थित रस का उद्बोध। मै ठीक नही जानता कि आधुनिक साहित्य-मीमासक इन बातो को स्वीकार करेगे या नही, पर मेरा अपना विश्वास है कि एक समय आयेगा जब भारतवर्ष के सभी क्षेत्रो पर समाजवाद के किसी-न-किसी रूप का आधिपत्य होगा। उस दिन के लिए हमें अभी से तैयारी करनी होगी। आज से ही हमारे प्रगतिशील तरुण साहित्यकारो को यह याद रखना होगा कि किसी दिन ऐसे सैकड़ो मतवादों और तत्त्वचिन्ताओ का उन्हें आत्मनिरपेक्ष भाव से अध्ययन, मनन, सम्पादन और विवेचन करना होगा जो उनके आज के प्रचारित मत के विरुद्ध पड़ेगी। आज का तरुण आलोचक जिस मत को बिना समझे ही मजाक का विषय बना रहा है, कल उसी मत की सरक्षा का भार उसी पर आनेवाला है। दुनिया जैसी आज है वैसी ही नही बनी रहेगी, शास्त्रो की जो ढीलम-ढाल संरक्षण-व्यवस्था आज जारी है वह शीघ्र ही खत्म हो जायगी और तरुण साहित्यकार की गैर-जवाबदेह मस्ती भी कपूर की भाँति उड़ जायगी। उस दिन जो प्राचीन सचित ज्ञाननिधि प्रकट होगी वह थोड़े-से बुद्धि-विलासियो के मनोविनोद का साधन नही होगी, वह वृहत्तर मानव-जीवन की कर्मविधि को रूप देगी। उस दिन निश्चित है कि नया तत्त्वज्ञान उससे समृद्ध होगा और कुछ आश्चर्य नही यदि वह थोड़ा परिवर्त्तित भी हो जाय। यदि संसार की कोई वस्तु स्थितिशील नही है, सभी परिवर्त्तनशील हैं, तो ऊपर लिखे हुए प्रगतिसूत्र ही क्यों स्थिर होंगे? मार्क्स का तत्त्वज्ञान भी तो कोई स्थिर और शाश्वत चीज नही है। यदि इतनी-सी बात हमारे तरुण साहित्यकार याद रखें तो उनकी रचनाएँ अधिक गम्भीर, अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण और अधिक प्रभावोत्पादक होंगी। नवीन रचनाओं मे

जो प्राण है सो कोई अस्वीकार नही कर सकता, परन्तु मेरा अनुमान है कि यदि किसी दिन इस देश में इन कविताओं ने गहरे तक जड़ जमायी तो दो शर्तें वे किसी-न-किसी रूप मे अवश्य मान लेगी। वे ज्ञान, सौन्दर्य और कल्याण के अस्थायी परिवर्त्तनशील रूप के साथ स्थायी शाश्वत रूप को अस्वीकार नही कर सकेगी और न यही अस्वीकार कर सकेंगी कि उनका काम सहृदय के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान भावो का उद्‌बोध है। इन दो वातो को मान कर ही वे इस देश में अपना प्रभाव विस्तार कर सकेंगी। मेरा दृढ विश्वास है कि वे शीघ्र ही ऐसा प्रभाव प्रसार कर सकेंगी, इसलिए मेरा यह भी विश्वास है कि एक-न-एक रूप में वे इन दोनों वातों को भी मान लेगी। अपने देश की चिन्ता-परम्परा न तो उथली है न संकीर्ण, इसलिए इस नये तत्त्ववाद को उसमे आसानी से खपाया जा सकता है, समृद्ध वनाया जा सकता है और अपने ढग पर अपनाया जा सकता है।

कथा-आख्यायिका और उपन्यास

[एक व्याख्या]

123. लाखों वर्गमील में फैले हुए हजारों वर्ष के वृद्ध इस भारतवर्ष की साहित्यिक साधना इतनी विराट, इतनी जटिल और इतनी गम्भीर है कि उसकी प्राचीन और नवीन चिन्ताओं पर संक्षेप में फैसला सुना देना हिमाक़त-भर है। फिर भी मैं आपके सामने जो यह साहस करने के लिए खड़ा हूँ, इसके लिए क्षमा माँगने की जरूरत नहीं समझता। हम जिस भीड़-भम्भड़ और वैयक्तिक स्वाधीनता के युग मे पैदा हुए है, उसमे इससे कही अधिक हिमाकत की वातें क्षम्य ही समझ ली जाती है। प्राचीन और नवीन चिन्ता की तुलना, या एक साथ एक आसन पर बैठाना भी कुछ अजीव-सा लगता है। एक तरफ लगभग 6 हजार वर्षों की सुचिन्तित साधना और दूसरी तरफ हर साल रंग वदलनेवाली 100 वर्ष की आधुनिक जिज्ञासा—दोनों में कुछ ऐसा असादृश्य, ऐसा अनैक्य और ऐसा प्रकृति-वयोऽनुभूतिभेद है कि दोनो को एक साथ वैठाना नितान्त अनुचित जान पड़ता है। फिर भी यह असादृश्य-अनैक्य और प्रकृति-भेद वास्तविक है, और वह वास्तविकता उपेक्षणीय नही है। नवीन चिन्ता जितनी भी कच्ची, जितनी भी अल्पवयस्क और जितनी भी अस्थिर स्वभाववाली क्यों न हो, उसमे नवीन प्राण है, और प्राणवत्ता सवसे वड़ा गुण है। और केवल इसी एक कारण से हम प्राचीन और नवीन को

एक नजर से देख लेने का प्रयास करते है। यह तो मेरे लिए असम्भव ही है कि भारतवर्ष की विराट् चिन्ताराशि के सभी अंशों की आलोचना करूँ—वह किसी के लिए भी असम्भव ही है—परन्तु अपनी सुविधा के लिए मैंने निश्चय किया है कि सारे भारतीय इतिहास की ओर न देखकर आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व तक के इतिहास को ही सामने रखके काम चलाऊँ। परन्तु यह भी असम्भव कार्य है। इसलिए इसमे से भी एक ही अंश हमने लिया है—गद्य-काव्य—तत्रापि कथा-आख्यायिका और उपन्यास। इतनी परिमिति पर भी मुझे भरोसा नही है। इसलिए भगवान् की ओर से सयोगवश प्राप्त दो और परिमिति सीमाओ पर मैं भरोसा करके अपना कार्य नि.संकोच शुरू कर देता हूँ। पहली सीमा स्वयं मेरी विद्याबुद्धि है, और दूसरी आपका दिया हुआ घण्टे-भर का समय। इसके वाद मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि प्राचीन भारत की वात कहते समय मै यथासम्भव एक भी वाक्य अपनी ओर से नही कहूँगा। सभी प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थो से उद्धृत वाक्यो के अनुवाद होगे। बीच-बीच मे फाँकों या गैपो को भरने की कोशिश करने की छूट ले लेता हूँ।

सबसे पहले मैं आपके सामने यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैंने भारतवर्ष की हजारो वर्ष की पुरानी साधना को एकदम छोड़कर आज से 15 सौ वर्ष पूर्व तक की साहित्यिक साधना को ही क्यो आलोचना के लिए चुना है। सन् ईसवी की पहली शताब्दी मे मथुरा के कुषाण सम्राटो के शासन सम्वन्धी ऐतिहासिक चिह्नों का मिलना एकाएक वन्द हो जाता है। इसके वाद के दो तीन सौ वर्षों का काल भारतीय इतिहास का अन्धकार-युग कहा जाता है। आये दिन विद्वान् इस युग के इतिहास सम्बन्धी नये-नये सिद्धान्त उपस्थित करते रहते है, और पुराने सिद्धान्तों का खण्डन करते है। अव तक इस काल का इतिहास लिखने योग्य पर्याप्त सामग्री नही उपलब्ध हुई है। किन्तु 220 ई. मे मगध का प्रसिद्ध पाटलिपुत्र 400 वर्षों की गाढ निद्रा के वाद अचानक जाग उठता है। इसी वर्ष चन्द्रगुप्त नामधारी एक साधारण राजकुमार, जिसका विवाह सुप्रसिद्ध लिच्छविवंश मे हुआ था और इसीलिए जिसकी ताकत बढ़ गयी थी, अचानक प्रबल पराक्रम से उत्तर भारत में स्थित विदेशियो को उखाड़ फेंकता है। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने, जो अपने योग्य पिता का योग्य पुत्र था, इस उन्मूलन-कार्य को और भी आगे बढ़ाया और उसके योग्यतर प्रतापी पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त या सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य ने अपने रास्ते मे एक भी काँटा नही रहने दिया। उसका सुव्यवस्थित साम्राज्य ब्रह्मदेश से पश्चिम समुद्र तक और हिमालय से नर्मदा तक फैला हुआ था। गुप्त-सम्राटो के इस सुदृढ़ साम्राज्य ने भारतीय जनसमूह में नवीन राष्ट्रीयता और विद्या-प्रेम का सचार किया। इस युग मे राजकार्य से लेकर समाज, धर्म और साहित्य तक में एक अद्भुत क्रान्ति का परिचय मिलता है। ब्राह्मण धर्म और सस्कृत भाषा एकदम नवीन प्राण लेकर जाग उठे। पुराने क्षत्रपो द्वारा व्यवहृत प्रत्येक शब्द मानो उद्देश्य के साथ वहिष्कार कर दिये गये। कुषाणो द्वारा समर्थित गान्धारशैली की

कला एकाएक बन्द हो गयी और सम्पूर्णत. स्वदेशी मूर्त्तिशिल्प और वास्तुशिल्प की प्रतिष्ठा हुई। राजकीय पदों के नाम नये सिरे से एकदम बदल दिये गये। समाज और जाति की व्यवस्था मे भी परिवर्त्तन किया गया था—इस बात का सबूत मिल जाता है। सारा उत्तरी भारत जैसे एक नया जीवन लेकर नयी उमग के साथ प्रकट हुआ। इस काल से भारतीय चिन्तास्रोत एकदम नयी दिशा की ओर मुडता है। साहित्य की चर्चा करनेवाला कोई भी व्यक्ति इस नये घुमाव की उपेक्षा नही कर सकता। जिन दो-तीन सौ वर्षो की ओर शुरू मे इशारा किया गया है उनमें भारतवर्ष मे शायद विदेशी जातियो के एकाधिक आक्रमण हुए थे, प्रजा सन्त्रस्त थी, नगरियाँ विध्वस्त हो गयी थी, जनपद आग की लपटों के शिकार हुए थे। कालिदास ने अयोध्या की दारुण दीनावस्था दिखाने के बहाने मानो गुप्त सम्राटों के पूर्ववर्त्ती काल के समृद्ध नागरिको की जो दुर्दशा हुई थी, उसका अत्यन्त हृदयविदारी चित्र खीचा है। शक्तिशाली राजा के अभाव में नगरियों की असख्य अट्टालिकाएँ भग्न, जीर्ण और पतित हो चुकी थी, उनके प्राचीर गिर चुके थे, दिनान्तकालीन प्रचण्ड आँधी से छिन्न-भिन्न मेघपटल की भाँति वे श्रीहीन हो गयी थी। नागरिकों को जिन राजपथों पर घनी रात में भी निर्भय विचरण करनेवाली अभिसारिकाओ के नूपुरशिजन का स्वर सुनायी देता था, वे राजपथ शृगालों के विकट नाद से भयंकर हो उठे थे। जिन पुष्करिणियो में जलक्रीड़ा-कालीन मृदङ्गो की मधुर ध्वनि उठा करती थी, उनमे जंगली भैंसे लोटा करते थे और अपने शृङ्ग-प्रहार से उन्हे गँदला कर रहे थे। मृदङ्ग के ताल पर नाचने के अभ्यस्त सुवर्णयष्टि पर विश्राम करनेवाले क्रीड़ा-मयूर अब जङ्गली हो चुके थे, उनके मुलायम वर्हभार दावाग्नि से दग्ध हो चुके थे। अट्टालिकाओं की जिन सीढियो पर रमणियो के सराग पद संचरण करते थे उन पर व्याघ्रो के लहू-लुहान पैर दौड़ा करते थे, वडे-वड़े राजकीय हाथी जो पद्मवन मे अवतीर्ण होकर मृणालनालों द्वारा करेणुओ की संवर्धना किया करते थे, सिंहों से आक्रान्त हो रहे थे। सौधस्तम्भो पर लकड़ी की वनी स्त्री-मूर्त्तियों का रंग धूसर हो गया था और उन पर साँपों की लटकती हुई कैंचुलें ही उत्तरीय का कार्य कर रही थी। हर्म्यों के अमल-धवल प्राचीर काले पड़ गये थे, दीवारो के फाँक में से तृणावलियाँ निकल पड़ी थी, चन्द्र-किरणें भी उन्हें पूर्ववत् उद्भासित नही कर सकती थीं। जिन उद्यान लताओं से विलासिनियाँ अति सदय भाव से पुष्प चयन करती थी, उन्ही को वानरों ने बुरी तरह से छिन्न-भिन्न कर डाला था; अट्टालिकाओं के गवाक्ष रात में न तो मागल्य प्रदीप से और न दिन में गृहलक्ष्मियों की मुखकान्ति से ही उद्भासित हो रहे थे, मानो उनकी लज्जा ढकने के लिए ही मकड़ियों ने उन पर जाल तान दिया था। नदियों के सैकतो पर पूजनसामग्री नही पडती थी, स्थान की चहल-पहल जाती रही थी, उपान्त देश के वेतसलता-कुन्ज सूने पड़ गये थे (रघुवश, 16-11-21)! ऐसे ही विध्वस्त भारतवर्ष को गुप्त-सम्राटों ने नया जीवन दिया। कालिदास के ही शब्दों में कहा जाय तो "सम्राट के नियुक्त शिल्पियों ने प्रचुर उपकरणों

से उस दुर्दशाग्रस्त नगरी को इस प्रकार नयी बना दिया जैसे निदाघग्लपिता धरित्री को प्रचुर जलवर्षण से मेघगण !"

ता शिल्पिसंघा प्रभुणा नियुक्तास्तथागता सभृतसाधनात्वात्
पुरी नवीचक्रुरपा विसर्गात् मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ।
(रघुवंश 16-38)

गुप्त-सम्राटों के इस पराक्रम को भारतीय जनता ने भक्ति और प्रेम से देखा। शताब्दियाँ और सहस्राब्दक बीत गये, पर आज भी भारतीय जीवन में गुप्त-सम्राट् घुले हुए है। केवल इसलिए नही कि विक्रमादित्य और कालिदास की कहानियाँ भारतीय लोक-जीवन का अविच्छेद्य अंग बन गयी है, बल्कि इसलिए कि आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार, विचार, क्रिया, काण्ड आदि में सर्वत्र गुप्तकालीन साहित्य की अमिट छाप है। जो पुराण और स्मृतियाँ निस्सन्दिग्ध रूप से आज प्रमाण मानी जाती है वे अन्तिम तौर पर गुप्त-काल मे रचित हुए थे, वे आज भी भारतवर्ष का चित्त हरण किये हुए है; जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए थे वे आज भी भारतीय चिन्तास्रोत को बहुत-कुछ गति दे रहे है। आज गुप्त-काल के पूर्ववर्त्ती शास्त्र और साहित्य को भारतवर्ष केवल श्रद्धा और भक्ति से पूजा-भर करता है, व्यवहार के लिए उसने इस काल के निर्धारित ग्रन्थों को ही स्वीकार किया है। गुप्तयुग के बाद भारतीय मनीषा की मौलिकता थोथी हो गयी। टीकाओं और निबन्धों का युग शुरू हो गया। टीकाओं की टीका, उसकी भी टीका, इस प्रकार मूलग्रन्थ की टीकाओं की छः-छः, आठ-आठ पुस्त तक चलती रही। आज जब हम किसी विषय की आलोचना करते समय 'हमारे यहाँ' के शास्त्रों की दुहाई देते हैं, तो अधिकतर इसी काल के बने ग्रन्थो की ओर इशारा करते है। यद्यपि गुप्त-सम्राटो का प्रबल पराक्रम छठी शताब्दी में ढल पड़ा था, पर साहित्य के क्षेत्र मे उस युग के स्थापित आदर्शों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप मे ईसा की नवी शताब्दी तक चलता रहा। मोटे तौर पर इस काल तक को हम गुप्त-काल-ही कहते जायेंगे।

सन् 1883 ई. मे मैक्समूलर ने अपना वह प्रसिद्ध मत उपस्थित किया था जिसमें कहा गया था कि यवनो, पार्थियनों और शको आदि के द्वारा उत्तर-पश्चिम भारत पर बार-बार आक्रमण होते रहने के कारण कुछ काल के लिए सस्कृत में साहित्य बनना बन्द हो गया था। कालिदास के युग से नये सिरे से सस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठा हुई और उसमे एक अभिनव ऐहिकतापरक (सेक्यूलर) स्वर सुनायी देने लगा ('इण्डिया', 1883, पृ. 281)। यह मत बहुत दिनों तक विद्वन मण्डली मे समादृत रहा, पर हाल ही मे इसमे परिवर्तन हुआ। आजकल यद्यपि यह मूल रूप मे नही माना जाता है कि उक्त पुनःप्रतिष्ठा के युग के पहले तक संस्कृत भाषा ऐहिकतापरक भावो के लिए बहुत कम प्रयुक्त होती थी। ऐसे भावो का प्रधान वाहक प्राकृत भाषा थी। प्राकृत की ही पुस्तकें बाद मे चलकर ब्राह्मणो द्वारा संस्कृत मे अनूदित हुई ('हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर', 1828, पृ. 39)।

स्वय कीथ साहब इस मत को नही मानते। उन्होने वैदिक साहित्य के प्रमाणो से यह सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न किया है कि ऐहिकता-परक काव्य का बीज बहुत प्राचीन काल के सस्कृत साहित्य मे भी वर्त्तमान था। राजाग्रो की प्रशसा या स्तुति गानेवाले कवि उन दिनो भी थे ग्रौर इन स्तुति सम्बन्धी गानो को अधिकाधिक परिमार्जित रूप देने की चेष्टा भी की गयी होगी, इस कल्पना मे बिल्कुल ही ग्रतिरजना नही है। परन्तु संस्कृत में ऐहिकतापरक रचना होती रही हो या नही, निर्विवाद बात यह है कि सन् ईसवी के ग्रासपास ऐहिकतापरक रचनाग्रो का बहुत प्राचुर्य हो गया था। इनका ग्रारम्भ भी निश्चय ही प्राकृत से हुग्रा था। इस प्रकार की रचनाग्रों का सबसे प्राचीन ग्रौर साथ ही सबसे प्रौढ संकलन 'हाल की सत्तसई' मे हुग्रा है। इस ग्रन्थ का काल कुछ लोग सन् ईसवी के ग्रासपास मानते है ग्रौर कुछ लोग चार-पाँच सौ वर्ष बाद। कुछ पण्डितो का मत है कि 'हाल की सत्तसई' मे जो ऐहिकतापरक रचनाएँ है, उनके भावो का प्रवेश भारतीय साहित्य मे किसी विजातीय मूल से हुग्रा है। यह मूल ग्राभीरो या ग्रहीरो की लोकगाथाएँ है। यहाँ इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार नही किया जा सकता; क्योंकि यह हमारे वक्तव्य के बाहर चला जाता है। हमने ग्रपनी नयी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मे इस प्रश्न पर कुछ ज्यादा विस्तार के साथ ग्रालोचना की है। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि सन् ईसवी के बाद लगभग तीन सौ वर्ष तक सस्कृत मे एक जड़िमा की ग्रवस्था ग्रा गयी है ग्रौर इसके बाद गुप्त-सम्राटो की छत्रछाया मे उसमे एकाएक नवीन ग्रज्ञातपूर्व स्फूर्ति का परिचय मिलता है। इतनी भूमिका के बाद हम ग्रब मूल विषय पर ग्रा सकते है।

यद्यपि वैदिक साहित्य मे गद्य-पद्य में लिखी हुई कहानियो की कमी नही है पर जिसे हम ग्रलंकृत गद्यकाव्य कहते है, जिसका प्रधान उद्देश्य रससृष्टि है, निश्चित रूप से उसका प्रचार गुप्त-सम्राटो की छत्रछाया मे ही हुग्रा। यद्यपि यह निश्चित है कि जिस रूप मे सुविकसित गद्य का प्रचार इस युग मे दिखायी देता है, उस रूप को प्राप्त होने मे उसे कई शताब्दियाँ लग गयी होगी। सौभाग्यवश हमारे पास कुछ ऐसी प्रशस्तियाँ प्राप्त है जिन पर से ग्रलंकृत गद्य के प्राचीन ग्रस्तित्व मे कोई सन्देह नही रह जाता। गिरनार मे महाक्षत्रप रुद्रदामा (साधारणतः 'रुद्रदामन्' नाम से परिचित) का खुदवाया हुग्रा जो लेख मिला है, उससे निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित होता है कि 150 ई. के पूर्व संस्कृत मे सुन्दर गद्यकाव्य लिखे जाते थे। यह सारा लेख गद्यकाव्य का एक नमूना है। इसमे महाक्षत्रप ने ग्रपने को 'स्फुटलघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द-समयोदारालकृत-गद्य-पद्य' का मर्मज्ञ बताया है, जिससे ग्रलकृत गद्यो के ही नही ग्रलकारशास्त्र के ग्रस्तित्व का भी प्रमाण पाया जाता है। यह गद्यकाव्य क्या थे, यह तो हमे नही मालूम, पर उनकी रचना प्रौढ़ ग्रौर गुम्फ ग्राकर्षक होती होंगी, इस विषय में सन्देह की जगह नही है। सम्राट् समुद्रगुप्त ने प्रयाग के स्तम्भ पर हरिषेण कवि द्वारा रचित जो प्रशस्ति खुदवायी थी वह एक दूसरा सबूत है। हरिषेण ने यह प्रशस्ति सम्भवतः 530 ई. मे लिखी

होगी। इसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश है और रचना में काव्य के सभी गुण उपस्थित है। सुबन्धु और बाण ने अपने रोमांसो के लिए जिस जाति का गद्य लिखा है, इस प्रशस्ति का गद्य उसी जाति का है। हरिषेण के इस काव्य से निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि इसके पहले भी गद्य-काव्य का अस्तित्व था।

यह गद्य-काव्य क्या है ? संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में इसके लक्षण बताये गये है। सबसे पहली बात तो यह है कि यह कहानी या उपन्यास जरूर है; क्योंकि जब तक कहानी नही है तब तक उसमें आलम्बन आदि विभाव हो ही नही सकते। फलतः रस-सृष्टि असम्भव हो जायगी। क्योंकि आखिर रस विभाव-अनुभाव-संचारी आदि भावों से ही तो होता है, इसलिए सभी आलंकारिकों ने तो मान ही लिया है कि गद्यकाव्य एक कहानी है। इसके बाद उसके भेद बताये गये है। यह दो प्रकार का होता है, कथा और आख्यायिका। कहा गया है कि एक का वक्ता स्वयं नायक होगा और दूसरी का वक्ता नायक भी हो सकता है, और कोई और भी हो सकता है। 'साहित्यदर्पण' मे कहा गया है कि कथा में सरस वस्तु गद्य में कही जायगी, उसमे कही आर्या छन्द भी होगे कही वक्त्र और अपवक्त्र भी होगे और शुरू मे पद्यबद्ध नमस्कार होगा और फिर साधु-प्रशसा और दुर्जन-निन्दा होगी।

दण्डी, किन्तु, इस प्रकार के भेद को नही मानते। उन्होने ठीक ही कहा है कि यह भेद व्यर्थ का है; क्योकि कहानी नायक कहे या दूसरा कहे, इसमे क्या बन या बिगड़ गया ? फिर वक्त्र और अपवक्त्र छन्द हो या न हो, किसी में उच्छ्वास नाम देकर और किसी मे लम्भ नाम देकर अध्यायभेद किये गये हो तो इन बातों से कहानी का क्या बनता-बिगड़ता है ? ये तो नितान्त ऊपरी बातें है। इसलिए वस्तुतः कथा और आख्यायिका ये दो नाम ही भर है, दोनों एक ही जाति की चीजे हैं।* दण्डी का कहना ठीक है। परन्तु आख्यायिका नाम से प्रचलित ग्रन्थों को देखकर विचार किया जाय तो ऐसा जान पडता है कि कथा की कहानी कल्पित हुआ करती थी और आख्यायिका की ऐतिहासिक। 'कादम्बरी' कथा है और

*अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल।
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः।
अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम्।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम्।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसगेन कथास्वपि।
आर्यादिवत्प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः ?
भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासोवास्तु किं ततः।
तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।

'हर्षचरित' आख्यायिका। इन दो जाति के अतिरिक्त एक और तरह की रचनाएँ संस्कृत में पायी जाती हैं जो हमारे आलोच्य विषय के अन्तर्गत हैं। इन्हें चम्पू कहते है। 'चम्पू' शब्द का मूल क्या है, यह नही मालूम। इसमें गद्य और पद्य दोनों ही मिले होते हैं। प्राय: ऐसे स्थलों पर इनमें पद्य का प्रयोग होता है जहाँ कवि कोई आकर्षक दृश्य अंकित करना चाहता हो, या वक्ता के मुख से कोई मार्मिक उक्ति कहलवाना चाहता हो। चम्पुओं में कई ऐसे है जिन्हे हम 'रोमांस' कह सकते हैं।

कथा-साहित्य की चर्चा करते समय 'बृहत्कथा' को नही भूला जा सकता। 'रामायण', 'महाभारत' और 'बृहत्कथा'—ये तीन ग्रन्थ समस्त संस्कृत काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका और चम्पू के मूल उत्स हैं। भारतवर्ष के तीनों बड़े-बड़े गद्य-काव्यकार दण्डी, सुबन्धु और बाण भट्ट 'बृहत्कथा' के ऋणी हैं। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि यह अमूल्य निधि आज अपने मूल रूप मे प्राप्त नही है। सन् ईसवी की आठवीं-नवीं शताब्दी तक के भारतीय साहित्य मे 'बृहत्कथा' और उसके लेखक गुणाढ्य पण्डित की चर्चा प्राय: ही आती रहती है। यहाँ तक कि लगभग 875 ई. मे कम्बोडिया की एक संस्कृत प्रशस्ति मे गुणाढ्य और उनकी 'बृहत्कथा' की चर्चा आती है। परन्तु आज वह नही मिलती। यह ग्रन्थ संस्कृत में नहीं बल्कि प्राकृत मे लिखा गया था और प्राकृत भी पैशाची प्राकृत। इसके निर्माण की कहानी बड़ी ही मनोरंजक है। गुणाढ्य पण्डित महाराज सातवाहन के सभा पण्डित थे। एक बार राजा सातवाहन अपनी प्रियाओं के साथ जल-क्रीड़ा करते समय संस्कृत की कम जानकारी के कारण लज्जित हुए और यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि जब तक संस्कृत धारावाहिक रूप से लिखने-बोलने नही लगेंगे तब तक बाहर मुँह नही दिखायेंगे। राज-काज बन्द हो गया। गुणाढ्य एक पण्डित बुलाये गये। उन्होंने 1 वर्ष में संस्कृत सिखा देने की प्रतिज्ञा की, पर एक अन्य पण्डित ने 6 महीने में ही इस असाध्य साधन का संकल्प किया। गुणाढ्य इस पर प्रतिज्ञा की कि कोई 6 महीने मे संस्कृत सिखा देगा तो वे संस्कृत मे लिखना-बोलना ही बन्द कर देंगे। 6 महीने बाद राजा तो सचमुच ही धारावाहिक रूप से संस्कृत बोलने लगे, पर गुणाढ्य को मौन होकर नगर से बाहर पिशाचों से अध्युषित विन्ध्याटवी में वास करना पड़ा। उनके दो शिष्य उनके साथ हो लिये। वहीं किसी शापग्रस्त पिशाचयोनिप्राप्त गन्धर्व से कहानी सुनकर गुणाढ्य पण्डित ने इस विशाल ग्रन्थ को पैशाची भाषा में लिखा। कागज का काम सूखे चमड़ों से और स्याही का काम रक्त से लिया गया। पिशाचों की बस्ती में और मिल ही क्या सकता था? कथा सम्पूर्ण करके गुणाढ्य अपने शिष्यों सहित राजधानी को लौट आये। स्वयं नगर के उपान्त भाग में ठहरे और शिष्यों से ग्रन्थ राजा के पास स्वीकारार्थ भिजवा दिया। राजा ने अवहेलनापूर्वक इस मौनोन्मत्त लेखक द्वारा रक्त से चमड़े पर लिखे हुए पैशाची ग्रन्थ का तिरस्कार किया। राजा ने कहा कि भला ऐसे ग्रन्थ के वक्तव्य वस्तु में विचार योग्य हो ही क्या सकता है!

पैशाची वाग् मसी रक्तं मौनोन्मत्तश्च लेखकः।
इति राजाऽब्रवीत् का वा वस्तुसारविचारणा।

—'बृहत्कथामंजरी', 1|87

शिष्यों से यह समाचार सुनकर गुणाढ्य बड़े व्यथित हुए। चिता में ग्रन्थ को फेंकने ही जा रहे थे कि शिष्यों ने फिर एक बार सुनने का आग्रह किया। आग जला दी गयी, पण्डित आसन बाँधकर बैठ गये। एक-एक पन्ना पढ़कर सुनाया जाने लगा और समाप्त होते ही आग में डाल दिया जाने लगा। कथा इतनी मधुर और इतनी मनोरंजक थी कि पशु, पक्षी, मृग, व्याघ्र आदि सभी खाना-पीना छोड़कर तन्मय भाव से सुनने लगे। उनके मांस सूख गये। जब राजा की रन्धन-शाला में ऐसे ही पशुओं का मांस पहुँचा तो शुष्क मांस के भक्षण से राजा के पेट में दर्द हुआ। वैद्य ने नाड़ी देखकर रोग का निदान किया। कसाइयों से कैफियत तलब की गयी और इस प्रकार अज्ञात पण्डित से कथावचन की मनोहारिता राजा के कानों तक पहुँची। राजा आश्चर्यचकित होकर स्वयं उपस्थित हुए, लेकिन तब तक ग्रन्थ के सात भागों में से छः जल चुके थे। राजा पण्डित के पैरों पर गिरकर सिर्फ एक ही भाग बचा सके। उस भाग की कथा हमारे पास मूल रूप में तो नहीं, पर संस्कृत अनुवाद के रूप में अब भी उपलब्ध है।

बुद्धस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोक संग्रह', क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेव के 'कथासरित्सागर' में 'बृहत्कथा' (या वस्तुतः 'वड्डकहा', क्योंकि यही उसका मूल नाम था) के उस अवशिष्ट अंश की कहानियाँ संगृहीत हैं। इनमें पहला ग्रन्थ नेपाल और बाकी कश्मीर के पण्डितों की रचना है। पण्डितों में गुणाढ्य के विषय में और उनकी लिखी 'बृहत्कथा' के विषय में कई प्रश्नों को लेकर काफी मतभेद रहा है। पहली बात है कि गुणाढ्य कहाँ के रहनेवाले थे। कश्मीरी कथाओं के अनुसार वे प्रतिष्ठान में उत्पन्न हुए थे और नेपाली कथा के अनुसार कौशाम्बी में। फिर काल को लेकर मतभेद है। कुछ लोग सातवाहन को और उसके साथ ही गुणाढ्य को सन् ईसवी के पूर्व की पहली शताब्दी में रखते हैं और कुछ बहुत बाद में। दुर्भाग्यवश यह काल-सम्बन्धी झगड़ा भारतवर्ष के सभी प्राचीन आचार्यों के साथ अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है। हमारे साहित्यालोचकों का अधिकांश श्रम इन कालनिर्णय-सम्बन्धी कसरतों में ही चला जाता है। ग्रन्थ के मूल वक्तव्य तक पहुँचने के पहले सर्वत्र एक तर्क का दुस्तर फेनिल समुद्र पार करना पड़ता है। एक तीसरा प्रश्न भी 'बृहत्कथा' के सम्बन्ध में उठता है। वह यह कि पैशाची किस प्रदेश की भाषा है। इधर ग्रियर्सन-जैसे भाषा-विशेषज्ञ ने अपना यह फैसला सुना दिया है कि पैशाची भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम सीमान्त की बर्बर जातियों की भाषा थी। ये कच्चा मांस खाते थे, इसीलिए इन्हें पिशाच कहा जाता था। गुणाढ्य की पुस्तकों के सभी संस्कृत संस्करण कश्मीर में (सिर्फ एक नेपाल में) पाये जाते हैं। इस पर से ग्रियर्सन का तर्क प्रबल ही होता है, क्योंकि कश्मीर इन सीमान्त प्रदेशों से सटा हुआ है। परन्तु अन्यान्य प्रमाण ग्रियर्सन के विरुद्ध जाते हैं। पाली में

पैशाची के बहुत-से लक्षण मिल जाते है और दर्दिस्तान आदि की वर्त्तमान भाषाओ मे वे विशेषताएँ कभी-कभी नही पायी जाती जिन्हे प्राकृत वैयाकरणों ने पैशाची के लक्षण माना है। बहुत पहले होर्नेल ने इशारा किया था कि पैशाची वस्तुतः किसी एक प्रदेश की भाषा नही थी। वह अनार्य जातियो द्वारा आर्यभाषा बोलने के प्रयत्नस्वरूप उत्पन्न एक विकृत आर्यभाषा थी। भिन्न-भिन्न स्थानो के अनार्य अपनी सुविधा के अनुसार उसे भिन्न ढांचो मे मोड़ लिया करते थे। मुझे होर्नेल का यह मत सही जान पडता है; क्योंकि इस मत को स्वीकार करने से पैशाची-सम्बन्धी नाना प्रकार की पुरानी उक्तियों का समाधान हो जाता है।

एक और प्रश्न यह उठाया गया है कि गुणाढ्य ने मूल कहानी गद्य मे लिखी थी या पद्य मे। श्लोक-संग्रह से तो जान पडता है कि वह पद्य मे ही लिखी गयी होगी, पर 'कथा' की परवर्त्ती परिभाषाओ को देखकर बहुतेरे पण्डित उसे गद्य मे लिखा ही बताते है। ये सभी विवाद तब तक चलते रहेंगे जब तक भारतवर्ष का सौभाग्य उस खोये हुए ग्रन्थ को फिर से न पा ले।

गुणाढ्य की कहानियो का जो रूप संस्कृत की उपर्युक्त पुस्तकों मे प्राप्त है, उस पर से स्पष्ट ही मालूम होता है कि उनमे भाषागत अलकरण की ओर उतना ध्यान नही है जितना कहानी के वक्तव्य वस्तु की ओर। इन कहानियों में 'कहानी-पन' इतनी अधिक मात्रा मे है कि किसी-किसी यूरोपीय पण्डित को यह स्वीकार करने मे हिचक हुई है कि इसी ग्रन्थ की शैली का उत्तरकालीन विकास सुबन्धु की 'वासवदत्ता' और बाणभट्ट की 'कादम्बरी' है, जहाँ रूपक और उपमा पक्तिबद्ध होकर चलते है, दीपक और उत्प्रेक्षा उतराये रहते है और शब्दश्लेष और अर्थश्लेष हमेशा पाठक के चित्त को ले भागने के लिए आँख फाड़े बैठे रहते है; घटनाओ की योजना, पात्रो की कल्पना और रस का परिपाक इतने कौशल के साथ एक-दूसरे से उपगूहित है कि एक को दूसरे से अलग करके देखना असम्भव है। यद्यपि कश्मीरी और नेपाली सस्करणो के देखने से स्पष्ट है कि मूल कहानी को संग्रहकारो ने अपनी रुचि-अरुचि के अनुसार बहुत-कुछ काट-छाँट और घटा-बढाकर हमारे सामने रखा है, फिर भी—इतने हाथों से कट-छँट जाने के बाद भी—कहानियो के 'कहानी-रस' मे कही भी शैथिल्य नही आया। केवल शब्द-परिवृत्ति-सहत्व ही कविता का एक बड़ा भारी गुण है, परन्तु अर्थ और गुण और शैली सबकुछ के परिवर्त्तन को सहकर भी जिस रचना का रस तिलमात्र भी खण्डित नहीं हुआ, उसकी प्रशसा के लिए क्या कहा जाय? कोई आश्चर्य नही कि यह ग्रन्थ दो हजार वर्षों तक भारतीय कल्पना को अभिभूत किये रहा है और इसमें कोई सन्देह नही कि यह उत्तरोत्तर और भी आदर और सम्मान प्राप्त करेगा। आज ससार की कई सभ्य भाषाओं मे इस ग्रन्थ की कहानियो का अनुवाद हो चुका है और वह जर्मन, अंग्रेजी तथा अन्य साहित्यों के कहानी साहित्य को प्रभावित करने मे समर्थ हुआ है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्राचीन आलकारिक ग्रन्थों में आख्या-

यिका ग्रौर कथा के जो लक्षण दिये हुए है, वे वाह्य है ग्रौर उनसे कथा के वक्तव्य वस्तु का कोई सीधा सम्बन्ध नही है। परवर्त्ती गद्यकाव्यों में नाना भांति से ग्रलंकृत करके सुललित गद्यों में कहानी लिखना ही प्रधान हो उठा था। इन काव्यो में कवि को कहानी करने की जल्दी नही है। वह रूपक ग्रौर दीपक ग्रौर श्लेप ग्रादि को ग्रपना प्रधान कृतित्व मान लेता है। उसे कहना है कि विन्ध्याचल पहाड़ पर एक जगल था, ग्रौर वह बड़े ठाट-बाट से शुरू करेगा—"पूर्व समुद्र के तट से पश्चिम सागर के तीर तक विस्तीर्ण, मध्यदेश का ग्रलकारस्वरूप, पृथ्वी की मेखला के समान विन्ध्याटवी नामक, एक वन है, जिसमे जंगली हाथियो के मदजल से सिक्त होकर सवर्द्धित ग्रौर ग्रत्यन्त ऊँचे होने के कारण मस्तक-संलग्न नक्षत्र-समूह के समान श्वेत कुसुमधारी नाना प्रकार के वृक्ष सुशोभित है; जिसमे कही मदमत्त कुरर पक्षी ग्रपने चंचुग्रो से मरीच-पल्लव कुतर रहे है, कही गजशावकों के शुण्ड से तमालवृक्ष के किसलय टूट रहे हैं ग्रौर इसीलिए उनकी सुगन्धि से सारा वन ग्रामोदित हो रहा है, मधुमद के कारण लाल हो गये हुए केरलकामिनियो के कोमल कपोल की-सी शोभावाले लाल-लाल पल्लव-समूह विकसित हो रहे है, मानो वन-देवताग्रो के चरणों के ग्रलक्तकरस या महावर से ही रँगकर लाल हो गये हों, जिसमें ग्रनेकानेक ऐसे लतामण्डप विराज रहे है जिनके तलदेश शुक पक्षियो के कुतरे हुए दाड़िम फल के रस से भीग गये है; जिनके भीतर चपल वानरों द्वारा कम्पित कम्पिल्ल या नारगी के वृक्ष से फल ग्रौर पल्लव गिरे हुए हैं,

भीतर पथिकों ने

न, केतकी ग्रौर

वकुल वृक्ष घिरे हुए है, जिनकी शोभा ताम्बूली लता से वेष्ठित पूग वृक्षो के समूह बढ़ा रहे है—जो साक्षात् वन-देवताग्रों के ही मानो ग्रावास-भवन है; कही मदमत्त हाथियो की गण्डस्थल-क्षरित मदधारा से सिक्त होकर ही मानो इलाइची-लता का मदगन्धी वन घनभाव से वनभूमि को ग्राच्छादन करके ग्रन्धकार किये हुए है; कही शवर सेनापतिगण इस लोभ से सौ-सौ केशरियो का निपात कर रहे हैं कि उनके नखो मे लग्न गजमुक्ताएँ पा सकेंगे, " इत्यादि-इत्यादि, ग्रौर फिर भी उसे सन्तोष नही होगा। वह ग्रब श्लेषों की झड़ी बाँध देगा, विरोधाभासों का ठाठ खड़ा कर देगा, श्लेपपरिपुष्ट उपमाग्रों का जंगल लगा देगा, तब जाकर कहेगा कि यह विन्ध्याटवी है। वह किसी भी ऐसे ग्रवसर की उपेक्षा नही करेगा जहाँ उसे एक उत्प्रेक्षा या दीपक या रूपक या विरोधाभास या श्लेप करने का ग्रवसर मिल जाय। सुवन्धु ने तो ग्रन्थ के ग्रारम्भ में प्रतिज्ञा ही कर ली थी कि ग्रादि से ग्रन्त तक श्लेप का निर्वाह करेंगे। इन कथाकारो मे सबसे श्रेष्ठ बाणभट्ट हैं। इन्होंने कथा की प्रशसा करते हुए मानो ग्रपनी ही रचना के लिए कहा था कि सुस्पष्ट मधुरालाप मे ग्रौर भाव से नितान्त मनोहरा तथा ग्रनुरागवश स्वयमेव शय्या पर उपस्थित ग्रभिनवा वधू के समान सुगम कलाविद्या सम्बन्धी वाक्यविन्यास के कारण सुभव्य ग्रौर रस के ग्रनुकरण के कारण विना प्रयास शब्द गुम्फ करनेवाली कथा

किसके हृदय में कौतुक-युक्त प्रेम नही उत्पन्न करती ? सहजबोध्य दीपक और उपमा अलंकार से सम्पन्न अपूर्व पदार्थ के समावेश से विरचित और अनवरत श्लेषालकार से किञ्जिद् दुर्बोध्य कथा-काव्य, उज्ज्वल प्रदीप के समान उपादेय चम्पक-पुष्प की कली से गूँथे हुए और बीच-बीच में चमेली के पुष्पो से अलकृत घनसन्निविष्ट मोहनमाला की भाँति किसे आकृष्ट नही करता ?

स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति राग हृदि कौतुकाधिकम्
रसेन शय्या स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव।
हरति क नोज्जवलदीपकोपमैर्नवै:; पदार्थैरुपपादिता कथा।
निरन्तरश्लेषघना सुजातयो महास्रजश्चपककुड्मलैरिव ॥

—'कादम्बरी'

सच पूछा जाय तो बाणभट्ट ने इन पक्तियों मे कथा-काव्य का ठीक-ठीक लक्षण दिया है। कथा कलालाप-विलास से कोमल होगी, कृत्रिम पद-सघट्टना और अलकारप्रियता के कारण नही बल्कि बिना प्रयास के रस के अनुकूल गुम्फवाली होगी, उज्ज्वल दीपक और उपमाओं से सुसज्जित रहेगी और निरन्तर श्लेष अलकार के आते रहने के कारण जरा दुर्बोध्य भी होगी—परन्तु सारी बाते रस की अनुवर्त्तिनी होगी। अर्थात् संस्कृत के आलंकारिक जिस रस को काव्य का आत्मा कहते है, जो अंगी है, वही कथा और आख्यायिका का भी प्राण है। काव्य में कहानी गौण है, अलकारयोजना गौण है, पद-संघट्टना भी गौण है, मुख्य है केवल 'रस'। यह रस अभिव्यक्त नही किया जा सकता, शब्द से वह अप्रकाश्य है। उसे केवल व्यंग्य या ध्वनित किया जा सकता है। इस बात मे काव्य और कथा-आख्यायिका समान है। विशेषता यह है कि कथा-आख्यायिका मे इस रस के अनुकूल कहानी, अलंकार-योजना और पद-सघट्टना सभी महत्त्वपूर्ण है, किसी की उपेक्षा नही की जा सकती। एक पद्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण ही गद्य-कवि की जवाबदेही बढ़ जाती है। वह अलंकारों की पद-सघट्टना की उपेक्षा नही कर सकता। कहानी तो उसका प्रधान वक्तव्य ही है। कहानी के रस को अनुकूल रखकर इन शर्तों का पालन करना सचमुच कठिन है और इसलिए संस्कृत के आलोचक ने गद्य को कवित्व की कसौटी कहा है—'गद्य कवीना निकषं वदन्ति'।

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि रस सचमुच ही इन कथा-आख्यायिकाओं की आत्मा है तो अलकारो की इतनी योजना क्यो जरूरी समझी गयी। आज के युग मे यह बात समझ में नही आ सकती। जिन दिनों ये काव्य लिखे गये थे, उन दिनों भारतवर्ष की समृद्ध अतुलनीय थी। उन दिनों के समाज की अवस्था और सहृदय की मनोवृत्ति जाने बिना इसका ठीक-ठीक समझना असम्भव है। उन दिनों के सहृदयों की शिक्षा आज से बहुत भिन्न थी। उनके मनोविनोदों में काव्यचर्चा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उन दिनों जो राजसभा और सहृदय-गोष्ठियों मे प्रवेश करता था उसे अपनी विविध कला-मर्मज्ञता प्रमाणित करनी होती थी। 'कादम्बरी' मे वैशम्पायन नामक तोते को लेकर जब चाण्डाल-कन्या राजा शूद्रक के पास गयी

तो उसके साथी ने तोते के उन सभी गुणों का उल्लेख किया जो राजसभा में सदस्य होने की योग्यता प्रमाणित करते थे। उसने कहा कि यह तोता सभी शास्त्रार्थों को जानता है, राजनीति-प्रयोग में कुशल है; पुराण-इतिहास का जानकार है; संगीत, काव्य, नाटक, आख्यानक इत्यादि अनेकानेक सुभाषितों का पाठक और कर्त्ता है; परिहासालाप में चतुर है, वीणा, वेणु, मुरज आदि का अतुलनीय श्रोता है; नृत्य-प्रयोग और चित्र-कर्म में प्रवीण है; द्यूतव्यापार से प्रगल्भ है; प्रणयकलह में कोप की हुई मानिनी प्रिया को प्रसन्न करने में निपुण है; और हाथी, घोड़ा, पुरुष और स्त्री के लक्षणों का जानकार है। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में जिन 64 कलाओं के नाम गिनाये हैं उनमें काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका, कथा आदि तो है ही, अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, प्रहेलिका आदि और इन्हीं की जाति के अन्यान्य अलंकारों को भी कलाओं में भी गिना जाता था। उन दिनों सरस्वती-भवन या कामदेव-भवन में नियमित समय पर काव्य-समाज बैठा करते थे और गणिकाओं या नागरिकों के गृह पर काव्य-गोष्ठियाँ बैठा करती थी, जिनमें नागरिकगण भिन्न-भिन्न काव्यों के पाठ और काव्यगत अलंकारों में नैपुण्य दिखाकर मनोविनोद किया करते थे। वात्स्यायन की गवाही से हम यह भी जान सकते हैं कि उन दिनों नगरों की जो उद्यान-यात्राएँ या पिकनिक पार्टियाँ हुआ करती थीं, उनमें काव्य-प्रहेलिकाओं का विशिष्ट स्थान होता था। निश्चित तिथि को सूर्योदय होते ही नागरिकजन स्नानादि से निवृत्त हो घोड़ों पर सवार होकर निश्चित उद्यान या नगर के उपान्तवर्ती वन के लिए रवाना हो जाते थे। साधारणतः उद्यान ऐसे चुने जाते थे जहाँ से एक दिन के भीतर लौट आया जा सके। नागरिकों के साथ पालकियों में या बहलियों में गणिकाएँ रहा करती थीं जो उन दिनों अपनी शिक्षा, कवित्व और दक्षता के कारण समाज में काफी सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थीं। नगर के बाहर निश्चित स्थान पर पहुँचने पर काफी धूम मच जाती थी। भेड़ों-मुर्गों और तित्तरों की लड़ाई होती थी, झूले लग जाते थे और काव्य-सम्बन्धी बहुविध क्रीड़ाएँ आरम्भ होती थीं (कामसूत्र प्रथमाधिकरण)। इन क्रीड़ाओं में कई बड़ी मजेदार होती थीं। कमल के फूल दिये जाते थे और उनमें मात्राएँ (इकार, उकार आदि) लगा दी जाती थीं और सहृदय ना[illegible]रिकों से पूरा श्लोक उद्धार कराने का प्रयत्न कराया [illegible] कभी-[illegible] [illegible]ाएँ और अनु-स्वार-विसर्ग सुना दिये जाते [illegible] [illegible] बैठाकर सार्थक श्लोक तैयार कर लेने [illegible] काव्य-क्रीड़ाएँ की जाती थीं जिनका [illegible]
की उद्यान-यात्राएँ [illegible]
हिता कन्या[illegible] में
पर्याप्त प्रमा[illegible]
वहाँ अन्तःपु[illegible]
के कला-विला[illegible]

नाटिकाओं में और आख्यायिकाओं मे प्रायः ही राजाओं के राजमहिषियों के निकट कला-विलास मे पराजित होने की कथा पायी जाती है। परन्तु 'कामसूत्र' की गवाही से स्पष्ट है कि रमणियों की उद्यान-यात्राएँ सब समय निरापद नही हुआ करती थी। गुण्डे आये दिन इन उद्यान-गोष्ठियो पर छापा मारा करते थे और कुमारिकाओं का हरण कर ले जाया करते थे! ऐसे कलामय और काव्यमय वातावरण की कल्पना करने के बाद 'कादम्बरी' आदि कथाओं को पढ़िए तो आपको इसमें कुछ भी अद्भुत नही जँचेगा। आज विदेशी शिक्षा के प्रभाव से जो बात हमे दुरूह जान पड़ती है वह उन दिनों नितान्त स्वाभाविक थी। परन्तु फिर भी मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि हमारी इन बातों का अर्थ आप यह न लगायें कि इन महान् काव्यों में ये ही बातें प्रधान है। कथा में, यह ठीक है कि, अलंकार-योजना और पद-संघट्टना काफी महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी है, पर उनमें रस सर्वत्र प्रधान है। प्रत्येक उपमा और प्रत्येक रूपक रस को अधिक परिपुष्ट और अलंकृत करने के उद्देश्य से व्यवहृत हुए हैं। यह जरूर है कि ग्रन्थकार कभी सफल और कभी असफल भी हुआ। इनमें सबसे सफल कथा-काव्य 'कादम्बरी' है। इसके विषय मे कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा है कि "एक काल का मधुलोभी यदि अन्य काल से मधुसंग्रह करने की चाह रखता हो तो वह अपने युग के आँगन मे बैठकर उसे नही पायेगा, उसे भी उसी काल मे प्रवेश करना पड़ेगा। जो सहृदय 'कादम्बरी' का रसास्वादन करना चाहते है उन्हे भूल जाना होगा कि दफ्तर जाने का समय हो गया है, उन्हे समझ लेना होगा कि वे काव्य-रस-विलासी कोई राजेश्वर है और राजसभा मे बैठे हुए है और 'समान-विद्या-वयोऽलकारैः, अखिल-कला-कलापालोचन-कठोरमतिभिः अतिप्रगल्भैः अग्राम्य-परिहास कशलैः, काव्य-नाटकाख्यायिका लेख्य-व्याख्यानादि-क्रिया-निपुणैः, विनय-व्यवहारिभिः आत्मनः प्रतिबिम्बैरिव राजकुमारैः सह रममाण' है। इस प्रकार की रसचर्चा मे रसिक-परिवृत होकर हम प्रतिदिन के सुख-दुःख से व्याकुलधर्मसिक्त, कर्मनिरत युध्यमान संसार से विच्छिन्न हो जाते हैं।"

एक तरफ जहाँ 'बृहत्कथा' की सन्तान ये अलकृत गद्यकाव्य है, वहाँ दूसरी तरफ 'वेतालपंचविंशति', 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका', 'शुकसप्तति' आदि रोमाण्टिक कहानियाँ है जिनमें अलकरण की अपेक्षा कहानीपन की ओर ही ज्यादा ध्यान दिया गया है। ये कहानियाँ बहुत ही मनोरंजक और आकर्षक है। नीति और उपदेश-सम्बन्धी कहानियों की चर्चा न करने का तो हमने पहले ही सकल्प कर लिया है। इसलिए यहीं हम इस चर्चा को बन्द करते है।

सज्जनो, बड़ी देर तक मैंने आपको प्राचीन युग के खँडहरो मे भटका रखा। मुझे अफसोस है कि मै आपको प्राचीन साहित्य के रसलोक मे नही ले जा सका, जहाँ-कही सूर्योदय होते ही अभिसारिकाओं की जल्दबाजी से गिरे हुए केशों के मन्दारपुष्पो, कान के स्वर्णकमलों और पत्रच्छेदो औरवक्षः स्थल विराजित हार के मोतियों से रमण-मार्ग का पता आसानी से लग जाता था :

शरीर स्पर्श करती थी तो उनकी उनींदी आँखों की तारायें दुनमुला जाती थीं और बरौनियाँ इस प्रकार सटी होती थीं मानो उत्तप्त जतुरस सटा दी गयी हो, वनचर पशु इतस्ततः विचरण करने लगते थे, सरोवर में कलहंसों का श्रुतिमधुर कोलाहल सुनायी देने लगता था, मयूरगण नाच उठते थे और सारी वनस्थली एक अपूर्व महिमा से उद्भासित हो उठती थी ('कादम्बरी' के प्रभातवर्णन से)। मैं उस जादू-भरे रसलोक में आपको नहीं ले गया जहाँ प्रिया के पदाघात से अशोक पुष्पित हो जाता है, क्रीड़ा-पर्वत पर की चूड़ियों की झनकार से मयूर नाच उठता है, प्रथम आषाढ़ के मेघगर्जन से हंस उत्कण्ठित हो जाता है, कपोल देश की पत्रालो आँकते समय प्रियतम के हाथ काँप जाते हैं, चूत मंजरी के स्वाद से कषायित कण्ठ कोकिल अकारण ही हृदय कुरेद देते हैं, क्रौंच-निनाद से वनस्थली की शस्यराशि अचानक कम्पमान हो उठती है और मलयानिल के झोंके अनिर्वचनीय रसलोक को जगा देते हैं। इस मनोहर लोक की बात छोड़कर मैंने शुष्क वाग्जाल में आपको फँसा रखने का अपराध किया है। मैं उसका प्रायश्चित करने का मौका नहीं पा सकूँगा, परन्तु मित्रो, वह दुनिया जितनी भी रमणीय क्यों न रही हो, जितनी भी आकर्षक क्यों न रही हो उसे हमें छोड़ना ही पड़ेगा। आज न समुद्रगुप्त का साम्राज्य है और न कालिदास का वाग्वैदग्ध्य। यन्त्रों के नितान्त गद्यात्मक युग में हम वास कर रहे हैं। यहाँ कल्पना पद-पद पर वास्तविकता से टकराकर भोथी हो जाती है। दुनिया बदल गयी है, दुनिया का विश्वास बदल गया है। यन्त्रों के आविष्कार ने हमारे अन्दर नयी आशा और नयी आशकाएँ पैदा कर दी हैं। यह बेकार की बात है कि हम इस बहस में पड़े रहें कि उस मनोहर युग में हम फिर से लौटकर जा सकते हैं या नहीं। जमाने की अनिवार्य तरंगों ने हमें जिस किनारे ला पटका है, वहीं से हमें यात्रा शुरू करनी होगी। पीछे लौट जाने के प्रयत्न में बहादुरी और उद्भटता जितनी भी हो बुद्धिमानी बिल्कुल नहीं है। आज जब हमारे सामने नयी समस्याएँ उपस्थित हैं तो पुरानी कलाओं के लिए 'हाय-हाय' करना बेकार है। नये युग को अत्यन्त संक्षेप में बताना हो तो कहेंगे कि यह युग मानवता का युग है। पुराने काल में लोगों का विश्वास एक अदृश्य नियन्त्री शक्ति के ऊपर था। मनुष्य ने आज अपने-आपको ही अपने भाग्य का नियन्ता मान लिया है। उसने शास्त्रों और महापुरुषों के उपदेशों को नमस्कार कर दिया है और ईश्वर के हाथ से जगत् की व्यवस्था का चार्ज ले लिया है। उसके अन्दर दोष हैं, गुण हैं, शक्ति है, कमजोरी है। उसने इन सबको स्वीकार कर लिया है। अपनी इसी पूँजी पर उसने व्यापार शुरू किया है। उसने समस्त गुण-दोषों को शिरसा स्वीकार करके अपने लिए नयी दुनिया बनाने की ठानी है। उसके सभी प्रयत्न धीरे-धीरे इसी दिशा की ओर नियोजित हो रहे हैं। साहित्य और कला सम्बन्धी प्रयत्नों का उस तरफ न जाना ही आश्चर्य होता है। इसीलिए आज वह काव्य और कथा के क्षेत्र में भी—उसी ओर अग्रसर हुआ है। मैं इन प्रयत्नों के सम्बन्ध में आलोचना करने का प्रयास नहीं करूँगा।

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मंदारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तन परिचितच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः
नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥

कहीं, जल-क्रीड़ा के समय पानी के भीतर से बजता हुआ मृदंग—जो तीर पर चक्कर काटनेवाले उत्कलाप मयूरों की केका से अभिनन्दित होता रहता था—विलासिनियों के श्रवण और कपोल दोनों को लाल कर देता था :

तीरस्थलीभिर्बर्हिभिरुत्कलापैः प्रास्निग्धकेकैरभिनंद्यमानम्।
श्रोत्रेषु समूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम्॥

कहीं, कन्दुक-क्रीड़ा के समय अन्तःपुरिकाओं के चरणों में अमन्द मणि-नूपुर क्वणित होते रहते थे, मेखला झनझनाती रहती थी, हार के तार टूट जाते थे और सोने की चूड़ियाँ चंचल होकर वाचाल हो उठती थीं :

अमन्दमणिनुपुरक्वणनचारुचारिक्रमं
झणज्झणितमेखलास्खलितताररहारच्छटम्
इदं तरलकंकणावलिविशेषवाचालितं
मनोहरित सुभ्रुवः किमपि कंदुकक्रीड़नम्।

और कहीं, प्रभात होते ही पद्म-मधु से रँगे हुए वृद्ध कलहंस की भाँति चन्द्रमा आकाशगंगा के पुलिन से उदास-से होकर पश्चिम जलधि के तट पर उतर आते थे, दिङ्मण्डल वृद्ध रंकु मृग की रोमराजि के समान पाण्डुर हो उठता था, हाथी के रक्त से रंजित सिंह के सटाभार के समान या लोहित वर्ण लाक्षारस के सूत्र के समान सूर्य की किरणें, आकाशरूपी वनभूमि से नक्षत्रों के फूलों को इस प्रकार झाड़ देती थीं मानो वे पद्मराग मणि की शलाकाओं की बनी हुई झाड़ू हों, उत्तर और अवस्थित सप्तर्षिमण्डल सन्ध्योपासन के लिए मानसरोवर के तट पर उतर जाते थे, पश्चिमी समुद्र के तीर पर सीपियों के उन्मुक्त मुख से बिखरे हुए मुक्तापटल जैसे लगते थे, मोर जाग पड़ते थे, सिंह जमुहाई लेने लगते थे, करेणुबालाएँ मदस्रावी प्रियतम गजों को जगाने लगती थीं, वृक्षगण पल्लवांजलि से भगवान् सूर्य को शिशिरसिक्त कुसुमांजलि समर्पण करने लगते थे, वन-देवताओं की अट्टालिकाओं और उन्नत वृक्षों की चोटी पर गर्दभलोमधूसर अग्निहोत्र का धूम इस प्रकार सट जाता था मानो कर्बुरवर्ण कपोतों की पंक्ति हो, शिशिर बिन्दु को वहन करके, पद्मवन को प्रकम्पित करके परिश्रान्त शबर-रमणियों के घर्मबिन्दु को विलुप्त करके वन्य महिष के फेनबिन्दु से सिंच के, कम्पित पल्लव और लतासमूह को नृत्य की शिक्षा दे करके, प्रस्फुटित पद्मों का मधु बरसा के, पुष्पसौरभ से भ्रमरों को सन्तुष्ट करके मन्द-मन्द संचारी प्रभात वायु बहने लगती थी; कमल-वन में मत्त गज के गण्डस्थलीय-मद के लोभ से स्तुति-पाठक भ्रमररूपी वैतालिक गुंजार करने लगते थे, ऊपर में शयन करने के कारण वन्यमृगों के निचले रोम धूसरवर्ण हो उठते थे और जब प्राभातिक वायु उनका

शरीर स्पर्श करती थी तो उनकी उनींदी आँखों की ताराएँ ढुलमुला जाती थी और बरौनियाँ इस प्रकार सटी होती थी मानो उत्तप्त जतुरस सटा दी गयी हो, वनचर पशु इतस्ततः विचरण करने लगते थे, सरोवर में कलहंसों का श्रुतिमधुर कोलाहल सुनायी देने लगता था, मयूरगण नाच उठते थे और सारी वनस्थली एक *अपूर्व महिमा से उद्भासित हो उठती थी* ('*कादम्बरी*' के प्रभातवर्णन से)। मैं उस जादू-भरे रसलोक में आपको नहीं ले गया जहाँ प्रिया के पदाघात से अशोक पुष्पित हो जाता है, क्रीड़ा-पर्वत पर की चूड़ियों की झनकार से मयूर नाच उठता है, प्रथम आषाढ़ के मेघगर्जन से हंस उत्कण्ठित हो जाता है, कपोल देश की पत्रावली आँकते समय प्रियतम के हाथ काँप जाते हैं, चूत मंजरी के स्वाद से कषायित कण्ठ कोकिल अकारण ही हृदय कुरेद देते है, क्रौंच-निनाद से वनस्थली की शस्यराशि अचानक कम्पमान हो उठती है और मलयानिल के झोंके अनिर्वचनीय रसलोक को जगा देते है। इस मनोहर लोक की बात छोड़कर मैंने शुष्क वाग्जाल में आपको फँसा रखने का अपराध किया है। मैं उसका प्रायश्चित करने का मौका नहीं पा सकूँगा, परन्तु मित्रो, वह दुनिया जितनी भी रमणीय क्यों न रही हो, जितनी भी आकर्षक क्यों न रही हो उसे हमें छोड़ना ही पड़ेगा। आज न समुद्रगुप्त का साम्राज्य है और न कालिदास का वाग्वैदग्ध्य। यन्त्रों के नितान्त गद्यात्मक युग में हम वास कर रहे है। यहाँ कल्पना पद-पद पर वास्तविकता से टकराकर भोथी हो जाती है। दुनिया बदल गयी है, दुनिया का विश्वास बदल गया है। यन्त्रो के आविष्कार ने हमारे अन्दर नयी आशा और नयी आशकाएँ पैदा कर दी हैं। यह बेकार की बात है कि हम इस बहस में पड़ें रहें कि उस मनोहर युग में हम फिर से लौटकर जा सकते है या नहीं। जमाने की अनिवार्य तरंगों ने हमें जिस किनारे ला पटका है, वहीं से हमें यात्रा शुरू करनी होगी। पीछे लौट जाने के प्रयत्न में बहादुरी और उद्भटता जितनी भी हो बुद्धिमानी बिल्कुल नहीं है। आज जब हमारे सामने नयी समस्याएँ उपस्थित है तो पुरानी कलाओं के लिए 'हाय-हाय' करना बेकार है। नये युग को अत्यन्त सक्षेप में बताना हो तो कहेंगे कि यह युग मानवता का युग है। पुराने काल में लोगो का विश्वास एक अदृश्य नियन्त्री शक्ति के ऊपर था। मनुष्य ने आज अपने-आपको ही अपने भाग्य का नियन्ता मान लिया है। उसने शास्त्रों और महापुरुषों के उपदेशों को नमस्कार कर दिया है और ईश्वर के हाथ से जगत् की व्यवस्था का चार्ज ले लिया है। उसके अन्दर दोष है, गुण है, शक्ति है, कमजोरी है। उसने इन सबको स्वीकार कर लिया है। अपनी इसी पूँजी पर उसने व्यापार शुरू किया है। उसने समस्त गुण-दोषों को शिरसा स्वीकार करके अपने लिए नयी दुनिया बनाने की ठानी है। उसके सभी प्रयत्न धीरे-धीरे इसी दिशा की ओर नियोजित हो रहे है। साहित्य और कला सम्बन्धी प्रयत्नों का उस तरफ न जाना ही आश्चर्य होता है। इसीलिए आज वह काव्य और कथा के क्षेत्र में भी—उसी ओर अग्रसर हुआ है। मैं इन प्रयत्नों के सम्बन्ध में आलोचना करने का प्रयास नहीं करूँगा।

परन्तु हमारा आज का वक्तव्य बिल्कुल अधूरा रह जायगा यदि यन्त्रों के प्रवेश से जो परिवर्त्तन हुए है, उनकी ओर संक्षेप में इशारा न कर दूँ।

नये यन्त्रयुग ने जिन गुण-दोषों को उत्पन्न किया है, उन सबको लेकर उपन्यास और कहानियाँ अवतीर्ण हुई हैं। छापे के कल ने ही इनकी माँग बढ़ायी है और छापे के कल ने ही उनकी पूर्ति का साधन बनाया है। यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा और आख्यायिकाओं की सीधी सन्तान है। एक युग गया है जब 'कादम्बरी' और 'दशकुमारचरित' की रीति पर सभी प्रान्तीय भाषाओं मे उपन्यास लिखे गये थे। कही-कही तो उपन्यास का पर्यायवाची शब्द ही कादम्बरी है। हिन्दी में श्री शिवनन्दन सहाय के उपन्यास और 'हृदयेश' की कहानियाँ उसी रीति पर अर्थात् शब्दो मे झंकार देकर गद्य-काव्य बनाने का उद्देश्य लेकर लिखी गयी थी, पर शीघ्र ही सर्वत्र भ्रम टूट गया। झंकार कविता का प्राण हो सकता है, पर वह उपन्यास का प्राण नही हो सकता; क्योंकि वह विशुद्ध गद्ययुग की उपज है और उसकी प्रकृति में गद्य का सहज स्वाभाविक प्रवाह है। इस नवीन साहित्यांग का कथा-आख्यायिका आदि से जो मौलिक अन्तर है वह आदर्शगत है। यन्त्रयुग की विशेष देन वैयक्तिक स्वाधीनता उपन्यास का आदर्श है और काव्यकाल का पूर्वनिर्धारित और परम्परासमर्थित सदाचार कथा-आख्यायिका का आदर्श है। उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी चित्रित करने का प्रयास रहता है। कुछ थोडे-से ऐतिहासिक और जासूसी आदि श्रेणियों के उपन्यास समाज की वर्त्तमान अवस्था से दूर हट जाते हैं सही, परन्तु वे भी इतिहास और जासूसी की वर्त्तमान पहुँच के आधार पर ही अपनी कल्पना दौड़ाया करते हैं। कथा और आख्यायिका में कवि कल्पना के बल पर अपनी वास्तविक दुनिया से भिन्न एकदम नयी दुनिया बना सकता है। उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अन्तर है कि उपन्यास मौजूदा को भुलाकर भविष्य की कल्पना नही कर सकता, जबकि काव्य वर्त्तमान परिस्थिति की सम्पूर्णतः उपेक्षा करके अपने आदर्श गढ सकता है। यही कारण है कि उपन्यासकार वर्त्तमान पर जमा रहता है, वह कवि की भाँति जमाने के आगे रहने का दावा नही करता; फिर उपन्यासकार का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य भी यही है कि वह समाज की स्थिति और गति को ठीक-ठीक चित्रित करता है। प्रेमचन्द को पढ़ने का अर्थ है भारतवर्ष के गाँवों को सच्चे रूप मे देखना।

फिर भी उपन्यास एक स्थायी साहित्य है, यन्त्रयुग की प्रधान साहित्यिक देन समाचारपत्रों की तरह घण्टे-भर में बासी होनेवाला साहित्य नही, तथापि इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अधिकांश छपे हुए उपन्यासों का मूल्य किसी बासी दैनिक पत्र से किसी प्रकार कम नही है। यह विचित्र बात है कि उपन्यासों का वह गुण जो उनके बारे में बार-बार दुहराया जाता है—अर्थात् समाज को ठीक-ठीक उपस्थापित करना—बड़ी आसानी से दैनिक पत्रों से भी सिद्ध हो जाता है। एक अमरीकी लेखक ने लिखा है कि अगर अमरीका को ठीक-ठीक

समझना चाहते हो तो किसी लोकप्रिय दैनिक के किसी अंक को देख लो, अमरीका अपने सब गुण-दोषों के साथ सामने खड़ा हो जायगा ! उसके स्त्री-पुरुष क्या खाते है, क्या पहनते है, कैसी बातों में रुचि रखते है, किन रोगों के शिकार है, आदि कोई भी बात अप्रगट नही रह जायगी। यह ठीक है। हिन्दी में जो विज्ञापन छपा करते है वे उनमे छपी हुई काम-काजी बातो से अधिक नही होते है, क्योकि लेखक और सम्पादक लोग जो काम-काज की बातें छापते रहते है उनमे उनका कुछ खर्च नही होता परन्तु विज्ञापनदाता जो बातें छापते है उनके लिए उन्हें काफी पैसे खर्च करने होते है ! इसीलिए उनके अध्ययन से समाज को बडी आसानी से समझा जा सकता है। अच्छी साहित्यिक पुस्तको के विज्ञापनो की अपेक्षा शास्त्र-विशेष की पुस्तकों के विज्ञापन न जाने क्यों हिन्दी पत्रों में अधिक छपा करते है। तो फिर स्वभावतः ही प्रश्न होता है कि उपन्यास का कार्य यदि समाज को सही ढग से पाठक के सामने उपस्थित करना है तो दैनिक पत्र क्या बुरे है। प्रश्न ठीक है, पर उत्तर भी बहुत कठिन नही है।

उपन्यास इसलिए स्थायी साहित्य नही है कि वह उपन्यास है। बल्कि इसलिए कि उसके लेखक का एक अपना जबर्दस्त मत है जिसकी सचाई के विषय मे उसे पूरा विश्वास है। वैयक्तिक स्वाधीनता का यह सर्वोत्तम रूप है। घासलेटी उपन्यास के लेखक का कोई अपना मत नही होता जो एक ही साथ उसका अपना भी हो और जिस पर उसका अखण्ड विश्वास भी हो। इसीलिए घासलेटी लेखक ललकारे जाने पर या तो भाग खडा होता है या विक्षुब्ध होकर गाली-गलौज पर उतर आता है। वह भीड के आदमियों को अपनी नजरो के सामने रखकर लिखता है। अपने प्रचारित मत पर उसे खुद विश्वास नही होता। प्रेमचन्द का अपना मत है जिस पर वे पहाड़ के समान अविचलित खड़े है। इस एक महागुण के कारण ही हिन्दी में अनेकानेक विरोधों के होते हुए भी जैनेन्द्र ने अपना स्थान बना लिया है। जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, उपन्यास यन्त्रयुग के समस्त गुण-दोषो को साथ ही लेकर उत्पन्न हुआ है। वैयक्तिक स्वाधीनता की जैसी अधोगति इस क्षेत्र में हुई है वैसी और कही नही हुई और साथ ही उसकी जैसी सुन्दर परिणति इस क्षेत्र मे हुई है वैसी अन्यत्र नही हो सकी। उपन्यासकार है ही नही यदि उसमें वैयक्तिक दृष्टिकोण न हो और अपनी विशेष दृष्टि पर उसे पूरा विश्वास न हो। और सभी चीजे उसके लिए गौण है।

उपन्यास ने मनोरजन के लिए लिखी जानेवाली कविताओं की ही नही; नाटको की भी कमर तोड़ दी है, क्योकि पाँच मील दौड़कर रंगशाला मे जाने की अपेक्षा 5 सौ मील से किताब मँगा लेना आज के जमाने मे अधिक सहज है। साथ ही उपन्यास ने उन सब टण्टो को हटा दिया है जो नाटक के लिए रंगमच सजाने में होते है। किसी ने ठीक ही कहा है कि इस युग में उपन्यास एक ही साथ शिष्टाचार सम्प्रदाय, बहस का विषय, इतिहास का चित्र और पाकेट का थियेटर हो गया है। इसने कल्पना-प्रसूत साहित्य को अन्य किसी भी साहित्यांग की अपेक्षा अधिक

नजदीक ला दिया है। इस साहित्यांग मे मशीन की विजय-ध्वजा है।

नाटक निश्चय ही उपन्यास से प्राचीन वस्तु है। बहुत प्राचीन युग में यह अभिनय प्रधान था। पर साहित्य में घुसते ही यह साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग हो गया। ऐसे नाटक भी संस्कृत मे लिखे गये जो कभी खेले नही गये। हिन्दी साहित्य के आधुनिक अभ्युत्थान का आरम्भ नाटकों से होता है। ये नाटक अधिकतर संस्कृत से अनुवादित थे। प्रधान मार्गदर्शक बाबू हरिश्चन्द्र थे। वे आधुनिकता से परिचित जरूर थे, पर नख से शिख तक हिन्दुस्तानी थे। उन्होंने उपन्यास लिखने का प्रयत्न नही के बराबर किया।

शायद वे उपन्यासो की अभारतीय प्रकृति को पहचान गये थे। जो हो, भारतेन्दु ने नाटकों से ही हिन्दी साहित्य का आरम्भ किया, पर यह विडम्बना ही है कि हिन्दी भाषा—जिसके आधुनिक युग का आरम्भ ही नाटकों से होता है—अन्यान्य गिनी जाने योग्य भारतीय भाषाओं की तुलना में आज भी नाटक-निर्माण के क्षेत्र में पिछड़ी हुई है। इसका कारण क्या है? आये दिन नाटकीय अभाव के कारण उद्विग्न साहित्यिक प्रायः ही इस प्रश्न पर विचार करते रहते है, पर इन विचारों का कोई अच्छा परिणाम नही निकलता। कभी-कभी अखिल भारतीय सम्मेलनो के मौके पर उत्साहशील साहित्यिक जो नाटकाभिनय का उपहासास्पद अभिनय किया करते है, वह निश्चय ही बहुत आशाजनक नही है।

असल मे जिन दिनों हिन्दी मे मौलिक साहित्य उत्पन्न करने की प्रेरणा आने लगी थी, उन दिनों मशीन ने नाटक के विभाग पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया था। बिजलीबत्ती के आविष्कार ने नाटक के सब टेकनिक बदल डाले थे। पात्रो के प्रवेश और प्रस्थान की विधि मे बहुत परिवर्त्तन हो गया था। पर यह सब हो ही रहा था कि कैमरे का इस क्षेत्र मे प्रवेश हुआ। किताबो के लिए जो काम छापे की मशीन ने किया, वही काम नाटको के लिए कैमरे ने किया। इसने नाटकों का प्रचार ही नही किया, उनकी माँग भी बढ़ा दी। आकाश, पाताल, समुद्र, जगल कोई ऐसी जगह नही बच रही जहाँ से कैमरा दृश्य न ले आ दे सके। नतीजा यह हुआ कि नाटकों की पुरानी रूढ़ियाँ तड़ातड़ टूट गयी। अमुक दृश्य रगमंच पर दिखाया जाय और अमुक न दिखाया जाय, इस प्रकार की पुरानी रुढ़ियों मे कोई दम नही रह गया। सूत्रधार और नटी के सवाद, विष्कम्भक और प्रवेशकों की कल्पना सभी भोथी सिद्ध हुई। चलती हुई तस्वीरें सबकुछ करने लगी। पर अभी तक भी उसमें भाषागत माधुर्य नही दिया जा सका था। ऐसी हालत मे भी अगर अपने साहित्य मे रगशाला की स्थापना का उद्योग होता तो कुछ आशा थी, पर हम तब भी सोते रहे। अचानक विज्ञान ने एक और भी अध्याय जोड़ दिया और नाटक को विशुद्ध साहित्य की गोद से एकदम छीन लिया। चलती हुई तस्वीरें बोलने लगी। जहाँ एक तरफ उसने मशीन को प्राधान्य दे दिया, वहाँ सुष्ठुभाषी मनुष्य की सहायता भी उसके लिए आवश्यक हो गयी।

अब निश्चित है कि हिन्दी नाटकों की प्राण-प्रतिष्ठा का एकमात्र मार्ग बड़ी पूंजी लगाकर मशीन को अपने वश में करना है। उपन्यासो की भाँति सवाक् चित्रपटों ने भी भीड़ की रुचि को सामने रखा, पर साहित्यिक सहायता की उसे जरूरत थी। ऐसा नही होने से प्रचार नही हो पाता। इस तरह नाटक मशीन के घर चला गया है तथा समालोचना नामधारी साहित्याग ने उसकी नकेल एकदम छोड नही दी है। अब जबकि मशीन ने नाटक पर कब्जा जमा लिया है, विशुद्ध नाटक और उपन्यास की प्रतिद्वन्दिता भी कम हो गयी है, तो धीरे-धीरे उपन्यास भी मशीन की गोद मे जा रहा है। यद्यपि उसकी अपनी कुछ ऐसी विशेषता है जो उसे अन्त तक अभिभूत नही होने देगी।
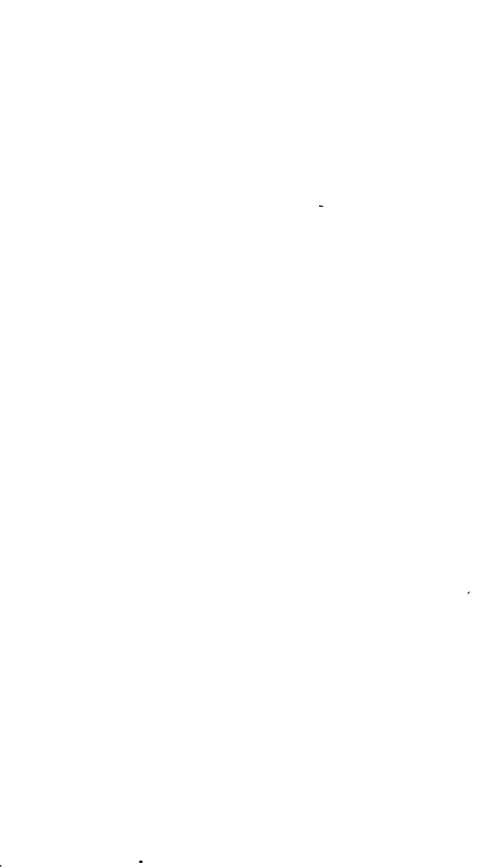
नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा

बाद भरत मुनि को बुलाकर आज्ञा दी कि "तुम अपने सौ पुत्रों के साथ इस 'नाट्य-वेद' के प्रयोक्ता बनो !" पितामह की आज्ञा पाकर भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों को इस 'नाट्य-वेद' का उपदेश दिया। इस प्रकार यह 'नाट्य-वेद' पृथ्वी-तल पर आया।

यह कहानी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि वेदों से भिन्न पाँचवाँ वेद होते हुए भी 'नाट्य-वेद' के मुख्य अंश चारों वेदों से ही लिये गये हैं। दूसरा यह है कि यद्यपि इसके मूल तत्त्व वेदों से गृहीत हैं, तथापि यह स्वतन्त्र वेद है और अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी दूसरे का मुखापेक्षी नहीं। तीसरा यह कि यह वेद अन्य वेदों की तरह केवल ऊँची जातियों के लिए नहीं है बल्कि सार्ववर्णिक है, और चौथी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक आचार और क्रिया-परम्परा के प्रवर्तित होने के बहुत बाद त्रेतायुग में इस शास्त्र का निर्माण हुआ। उस समय जम्बूद्वीप देवता, दानव, यक्ष, राक्षस और नागों से समाक्रान्त हो चुका था; यानी भारतवर्ष में बहुत-सी नयी जातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था।

भारतीय परम्परा यह है कि किसी भी नये शास्त्र के प्रवर्तन के समय उसका मूल वेदों में अवश्य खोजा जाता है। वेद ज्ञान-स्वरूप है, उनमें त्रिकाल का ज्ञान बीज रूप में सुरक्षित है। भारतीय मनीषी अपने किसी ज्ञान को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना नहीं मानते। 'नाट्य-वेद' की उत्पत्ति की कथा में भी यह प्रवृत्ति दिखायी देती है, परन्तु इस शास्त्र को वेद की मर्यादा देने का एक और अर्थ भी है। इसमें कुछ ऐसी बातें हैं जो प्रसिद्ध चार वेदों में नहीं हैं और उनके लिए यह 'नाट्य-वेद' ही 'स्वतः प्रमाण' वाक्य है। किसी शास्त्र को वेद कहने का मतलब यह है कि वह स्वयं अपना प्रमाण है, उसके लिए किसी अन्य आप्त वाक्य की अपेक्षा नहीं। मनु ने साक्षात् धर्म के कारण को चतुर्विध बताया है—श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने-आपको प्रिय लगनेवाली बात। परन्तु ये चारों समान रूप से स्वतन्त्र नहीं। 'स्मृति' उतनी ही ग्रहणीय है जितनी कि 'श्रुति' से समर्थित है; सदाचार उतना ही ग्रहणीय है जितना कि 'श्रुति' और 'स्मृति' से समर्थित है और अपनी प्रिय बात उतनी ही दूर तक स्वीकार्य है जितनी दूर तक वह 'श्रुति', 'स्मृति' और सदाचार के अविरुद्ध हो। धर्म के अन्तिम तीन कारण 'श्रुति' से मर्यादित है, मनु जिसे 'श्रुति' समझते हैं, उसमें ऐसी बहुत-सी बातों का समावेश नहीं रहा होगा जो नाट्य-वेद में गृहीत हैं। इसलिए 'नाट्यशास्त्र' के आरम्भ में इसे 'श्रुति' की मर्यादा दी गयी है।

जब से नये ढंग की शोध-प्रथा प्रचलित हुई है तब से 'नाट्य-वेद' के विषय में आधुनिक ढंग के पण्डितों में अनेक प्रकार की जल्पना-कल्पना चल पड़ी है। यह भी विचार का विषय बना हुआ है कि 'नाट्यशास्त्र' को पाँचवाँ वेद क्यों कहा गया। वे कौन-सी ऐसी बातें थीं जो इस शास्त्र के प्रवर्तित होने के पहले वैदिक आर्यों में प्रचलित थीं और कौन-सी ऐसी बातें हैं जो नयी हैं? फिर जो नयी हैं उनकी प्रेरणा कहाँ से मिली? क्या यवन आदि विदेशी जातियों से भी कुछ लिया गया, या यहाँ की आर्येतर जातियों में प्रचलित प्रथाओं से उन्हें ग्रहण किया गया?

इन जलपना-कल्पनाओं का साहित्य काफी बड़ा और जटिल है। सबकी पुनरावृत्ति करना न तो यहाँ आवश्यक ही है और न उपयोगी ही। 'नाट्यशास्त्र' की कथा से इतना तो स्पष्ट ही है कि नाटकों में जो पाठ्य अंश होता है उसका मूल रूप 'ऋग्वेद' में मिल जाता है, जो गेय अंश है वह भी 'सामवेद' मे प्राप्त हो जाता है और जो रस है उसका मूल रूप 'अथर्ववेद' में प्राप्त हो जाता है। कम-से-कम 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता को इसमें कोई सन्देह नही था।

आधुनिक पण्डितों को भी इस विषय मे कोई सन्देह नही है कि 'ऋग्वेद' मे अनेक स्थल हैं जो निर्विवाद रूप से सवाद या 'डायलॉग' है। कम-से-कम पन्द्रह ऐसे स्थल तो खोजे ही जा सकते है जिनमे स्पष्ट रूप से संवाद या संवाद का आभास मिल जाता है। 'ऋग्वेद' (10।10) मे यम और यमी का प्रसिद्ध सवाद है तथा (10।95) पुरूरवा और उर्वशी की बातचीत है। आठवें मण्डल के 100वे सूक्त में नेम भार्गव ने इन्द्र से प्रार्थना की और इन्द्र ने उसका उत्तर दिया। कही-कही तीन व्यक्तियों के भी संवाद मिलते है। प्रथम मण्डल के 179वें सूक्त मे इन्द्र, अदिति और वामदेव का संवाद है। दसवें मण्डल के 108वे सूक्त मे इन्द्र-दूती सरमा अपने सारमेय पुत्रो के लिए पणियो के पास जाती है और उनसे जमकर बात करती है। कुछ ऐतिहासिक-जैसे लगनेवाले संवाद भी है। विश्वामित्र की नदियों से बातचीत तीसरे मण्डल के 33वें सूक्त में पायी जाती है और वशिष्ठ की अपने पुत्रो के साथ बातचीत सातवे मण्डल के 33वे सूक्त में सुरक्षित है। ऐसे ही और भी बहुत-से सूक्त है जिनमे देवताओं की बातचीत है। यद्यपि कभी-कभी आधुनिक पण्डित सूक्तो के अर्थ के सम्बन्ध मे एकमत नही हो पाते; एक पण्डित जिसे सवाद समझता है, दूसरा पण्डित उसे संवाद मानने को प्रस्तुत नही। इस प्रकार का झगड़ा कोई नया नही है। दशम मण्डल के 95वें सूक्त को, जिसमे पुरूरवा और उर्वशी का सवाद है, यास्क संवाद ही मानते थे; परन्तु शौनक उसे कहानी-मात्र मानते थे।

वेदो मे संवाद क्यों आये ? सन् 1869 ई. में सुप्रसिद्ध पण्डित मैक्समूलर ने प्रथम मण्डल के 165वें सूक्त के सम्बन्ध मे, जिसमें इन्द्र और मरुतो की बातचीत है, अनुमान किया था कि यज्ञ मे यह संवाद अभिनीत किया जाता था। सम्भवत: दो दल होते थे; एक इन्द्र का प्रतिनिधि होता था, दूसरा मरुतों का। सन् 1890 ई. मे प्रो. लेवी ने भी इस बात का समर्थन किया था। प्रो. लेवी ने यह भी बताया था कि वैदिक काल में गाने की प्रथा काफी प्रौढ़ हो चुकी थी। इतना ही नही, 'ऋग्वेद' (1।92।4) में ऐसी स्त्रियो का उल्लेख है जो उत्तम वस्त्र पहनकर नाचती थी और प्रेमियों को आकृष्ट करती थी। 'अथर्ववेद' (7।1।41) मे पुरुषों के भी नाचने और गाने का उल्लेख है। श्री ए. बी. कीथ ने कार्य-कारण-सम्बन्ध को देखते हुए इस बात मे कोई कठिन आपत्ति उपस्थित होने की सम्भावना नही देखी कि ऋग्वेद-काल मे लोग ऐसे नाटकीय दृश्यो को जानते थे जो धार्मिक हुआ करते थे और जिनमे ऋत्विक् लोग स्वर्गीय घटनाओ का पृथ्वी पर अनुकरण करने के

लिए देवताओं और मुनियों की भूमिका ग्रहण करते थे।

नाटक में जो अंश पाठ्य होता है वह पात्रों का संवाद ही है। 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता ने जब यह संकेत किया था कि ब्रह्मा ने 'नाट्यवेद' की रचना के समय 'पाठ्य अंश' 'ऋग्वेद' से लिया था तो उनका तात्पर्य यही रहा होगा कि ऋग्वेद में पाये जानेवाले काव्यात्मक संवाद वस्तुतः नाटक के अंश ही हैं। ऐसा निष्कर्ष उन दिनों यज्ञादि में प्रचलित नाटकीय दृश्यों को देखकर ही निकाला जा सकता है। आधुनिक काल के कई विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद-कालीन यज्ञों में वस्तुतः कुछ अभिनय हुआ करता था। सारे संसार की प्राचीन जातियों में नाच-गान और अभिनय का अस्तित्व पाया जाता है। प्रो. फान श्रेडर ने बताया था कि 'ऋग्वेद' में आये हुए संवाद प्राचीनतर भारोपीय काल के आर्यों में प्रचलित नाच, गान और अभिनय के उत्तरकालीन रूप होंगे। सारे संसार में सृष्टि-प्रक्रिया के रहस्य को प्रतीक-रूप में अभिनीत करने के लिए अनेक प्रकार के मैथुनिक अभिनय प्रचलित थे। प्राचीन ग्रीक लोगों में भी एक प्रकार का शिश्न-नृत्य प्रचलित था, परन्तु इस प्रकार के अनुमान के लिए न तो मूल संहिताओं में ही कोई निश्चित सबूत पाया जाता है और न हजारों वर्षों की भारतीय परम्परा में ही कोई संकेत मिलता है। लुडविक, पिशेल और ओल्डेनबर्ग-जैसे विद्वानों ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि इन संवाद-मूलक पद्यों के बीच-बीच गद्य का भी समावेश हुआ करता था, जिसका कोई निश्चित रूप नहीं था। पद्य केवल उन स्थलों पर व्यवहृत होते थे जहाँ वक्ता का भावावेग तीव्र होता था। इन तीव्र भावावेगवाले स्थलों को ही इन संवाद-मूलक सूक्तों में संगृहीत कर लिया गया है। 'शकुन्तला' नाटक से गद्यवाले सभी अंश हटा दिये जायें और केवल पद्य-अंश ही सुरक्षित रखे जायें तो उसकी वही स्थिति होगी जो बहुत-कुछ इन संवाद-मूलक सूक्तों की है। प्रो. पिशेल ने इस अनुमान को और भी आगे बढ़ाया है। उनका अनुमान है कि संस्कृत-नाटकों में जो गद्य और पद्य का विचित्र सम्मिश्रण मिलता है, वह उसी पुरानी यज्ञ-क्रिया से सम्बद्ध नाटकीय तत्त्वों का परवर्ती रूप है। संस्कृत-नाटक में पात्र गद्य बोलते-बोलते जब भावावेश की स्थिति में आता है तब पद्य बोलने लगता है। परन्तु इस विषय में भी विशाल भारतीय परम्परा एकदम मौन है। जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता के मन में 'ऋग्वेद' में नाटकों में पाये जानेवाले पाठ्य-तत्त्व के अस्तित्व के बारे में कोई सन्देह नहीं था। या तो, परम्परया यह प्रचलित था कि 'ऋ[illegible] पाठ्य-अंश किसी प्रकार के नाटकीय प्र[illegible] हैं, या उ[illegible] उत्सव के अवसर पर इन नाट्य[illegible] रूप [illegible] था। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के [illegible] सम्मत' कहा है'''यज्ञेन सम्मत [illegible] शास्त्र' के इस उल्लेख को पर[illegible] अनुमान सत्य सि[illegible] है।

का विश्वास है कि रावण-कृत वेद-भाष्य इसमें मिल गया है, इसलिए इसे कृष्ण या काला कहा गया है। 'शुक्ल यजुर्वेद' की 'माध्यन्दिनीय शाखा' ही सम्भवतः पुराना और प्रामाणिक यजुर्वेद है। इसकी उक्त दोनों शाखाओं में अन्तर बहुत कम है। माध्यन्दिनीय शाखा पुरानी मानी जाती है, उसी का प्रचार भी अधिक है। आधुनिक पण्डितों का विश्वास है कि इसके 40 अध्यायों मे अन्तिम 15 (या 22) परवर्ती हैं, प्रथम भाग पुराना।

'यजुर्वेद' में कुछ अंश ऐसे अवश्य मिल जाते है जो यज्ञ-क्रिया की विधियों को बताते है, जिनमे थोड़े-बहुत ऐसे कार्य होते है जो अभिनय की कोटि में आ सकते हैं। आधुनिक ढग के विद्वानों ने यज्ञ के सोम-विक्रय प्रकरण को और महाव्रत के विविध अनुष्ठानों को एक प्रकार का नाटकीय अभिनय ही माना है। इसी प्रकार अन्य याज्ञिक अनुष्ठानों में भी कुछ ऐसे अनुष्ठान मिल जाते है जो नाटकीय अभिनय की कोटि में आ जाते है। यह सत्य है कि इन अनुष्ठानों को नाटक नही कहा जा सकता। विशुद्ध नाटक वह है जहाँ अभिनेता जान-बूझकर किसी दूसरे व्यक्ति की भूमिका मे उतरता है, स्वय आनन्दित होता और दूसरों को आनन्द देता है। 'यजुर्वेद' मे इस श्रेणी का नाटक खोजना व्यर्थ का परिश्रम-मात्र है। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि याज्ञिक क्रिया के अनुष्ठान में ऐसी कुछ बातें आ मिली हैं जो उन दिनों के साधारण जन-समाज में प्रचलित नाच-गान और तमाशों से ली गयी होगी। इसमे कोई सन्देह नही कि ऐसे लोक-नृत्य और लोक-नाट्य उन दिनो प्रचलित अवश्य थे। 'कौशीतकी ब्राह्मण' (24।5) मे नृत्य-गीत आदि को कलाओ मे गिनाया गया है। 'पारस्कर गृह्य-सूत्र' (2-7-3) में द्विजातियों को यह सब करने की मनाही है। इसलिए यह सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों लोक मे बहुत-से नृत्य, गीत, नाट्य प्रचलित थे। लोग उनकी कद्र भी करते थे, परन्तु अत्यन्त नैतिकतावादी ब्राह्मण उनसे बचने का भी प्रयत्न करते थे। वेदो का वातावरण पवित्रता का वातावरण है, और ब्राह्मण-विश्वास के अनुसार ऐसा कोई काम द्विजों को नही करना चाहिए जिससे चरित्रगत पतन की सम्भावना हो। इसलिए यद्यपि नृत्य, नाट्य आदि की मनोरजकता उन्होंने अस्वीकार नही की, किन्तु उन्हे भले आदमियो के योग्य भी नही माना। जो हो, शास्त्र मे यह बताया गया है कि नाटकों मे जो अभिनय-तत्त्व है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। इस वक्तव्य को समझने के लिए जिस प्रकार यह आवश्यक है कि हम समझें कि यजुर्वेद क्या है, उसी प्रकार हम यह भी समझें कि नाट्यशास्त्र ने 'अभिनय' किस वस्तु को कहा है।

'नाट्यशास्त्र' मे अभिनय शब्द बहुत व्यापक अर्थों मे व्यवहृत हुआ है। इसमे नाटक के प्रायः सभी तत्त्व आ जाते हैं। वेश-विन्यास भी इससे अलग वस्तु नही और रगमंच की सजावट भी उसके अन्तर्गत आ जाती है। वस्तुतः पाठ्यगान और रस के अतिरिक्त जो-कुछ भी नाटक मे किया जा सकता है वह सब अभिनय के अन्तर्गत आता है और पाठ्यगान और रस के भी सभी आश्रय और उपादान

बताये गये अनेक तत्त्व मिल जायेंगे। इसलिए शास्त्रकार ने अभिनय को 'यजुर्वेद' से गृहीत बताया है, क्योंकि अथर्ववेद में मारण, मोहन, वशीकरण आदि अभिचार पाये जाते हैं। इसमें जिन लोगों पर ये प्रयोग किये जाते हैं उनके स्थानापन्न किसी का अवधारण होता है जो नाटक के विभावादि के समान ही है और साथ ही इसमें मारणादि अभिचारों के समय सिहरन, कम्पन आदि अनुभाव तथा धृति, प्रमोद आदि सचारी भाव भी विद्यमान होते हैं। इस प्रकार विभाव-अनुभाव-सचारी भाव का योग, जिससे रस-निष्पत्ति हुआ करती है, इसमें मिल जाता है। अभिनवगुप्त का मत है कि इसीलिए इसको 'अथर्ववेद' से ग्रहण किया हुआ बताया गया है। 'अथर्ववेद' से रसों के ग्रहण करने का अनुमान भी उचित और संगत है।

2. विधि और शास्त्र

'नाट्य-वेद' के दो अंग है—विधि और शास्त्र। भरत मुनि ने प्रथम अध्याय के 125 वें श्लोक मे स्पष्ट कहा है कि जो व्यक्ति 'यथाविधि' और 'यथाशास्त्र' पूजा करेगा, वह शुभ फल प्राप्त करेगा और अन्त में स्वर्ग-लोक मे जायेगा :

यथाविधि यथाशास्त्रं यस्तु पूजां करिष्यति।
स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोकं गमिष्यति॥ (1-125)

दूसरे से पाँचवें अध्याय तक विधि पर बड़ा जोर है। विधि-दृष्ट कर्म (2-69) से सभी कार्यों को करने को कहा गया है। काष्ठ-विधि (2-79), भित्ति-कर्म-विधि (2-83), द्वार-विधि (3-22), मन्त्र-विधान (3-46), आसारित विधि (4-282), वृत्ताभिनय-विधि (4-292), नृत्याभिनय-वादित सम्बन्धी वस्तुक-विधि (4-294), ताण्डव-प्रयोग-विधि (4-321), गीतक-विधि (5-60), रंग-सिद्धि के पश्चात् काव्य-निरूपण-विधि (5-140), पूर्व-रंग-विधि (5-172 और 176), इत्यादि अनेक विधियों का उल्लेख है। दर्जनों स्थानों पर विधि-लिङ् की क्रिया का प्रयोग है। मीमासकों के अनुसार श्रुति का तात्पर्य केवल विधि से है। जहाँ विधि-लिङ् का प्रयोग होता है वही श्रुति होती है। नाट्यशास्त्र इन विधियों पर बहुत जोर देता है और स्थान-स्थान पर स्पष्ट रूप से निर्देश देता है कि यह विधि अवश्य करणीय है। जो इस विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से इसका प्रयोग करता है वह तिर्यग् योनि को प्राप्त होता है और विनाश (अपचय) का शिकार होता है :

यश्चेमं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत्।
प्राप्नोत्यपचय घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति॥ (5-173)

और,

यस्त्वेवं विधिमुत्सृज्य यथेष्ट सम्प्रयोजयेत्।
प्राप्नोत्यपचय शीघ्रं तिर्यग्योनिं च गच्छति॥ (3-98)

पाँचवें अध्याय के बाद 'विधि' शब्द कम आता है। अन्तिम अध्यायों में वह फिर बहुलता से आने लगता है। स्पष्ट ही 'नाट्य-वेद' का श्रुतित्व इन विधियों में

है। कई स्थानों पर 'अनेनैव विधानेन'-जैसे वाक्यांशो का प्रयोग आता है, जिसमें शास्त्रकार 'एव' पद देकर अन्य विधियों का तिरस्कार करते है।

विधि के बाद जो बचता है, वह शास्त्र है। साधारणत. इसके लिए 'नाट्यम्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें युक्ति-तर्क और प्रयोग-पाठ्य का निर्देश है। छठे और सातवें अध्याय में रस और भावो को समझाया गया है। इन अध्यायों मे 'विधि' शब्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है। यह दावा तो नही किया जा सकता कि विधि और शास्त्र बिल्कुल अलग करके दिखाये जा सकते है, पर इतना निश्चित जान पड़ता है कि विधि साधारणतः अभिनेताओ को दृष्टि मे रखकर निर्दिष्ट हुए हैं और शास्त्र अभिनेता, सामाजिक और कवि या नाटककार सबको ध्यान मे रख-कर रचित हुआ है।

3. नाट्य-वेद में विस्तार

ब्रह्मा ने जब नाट्य-वेद की सृष्टि की तो उसमें स्वय ही इतिहास को जोड़ दिया और इन्द्र को आज्ञा दी कि इसका प्रयोग देवताओ से कराओ, लेकिन इन्द्र ने कहा कि इसके ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग की शक्ति देवताओ मे नही है; केवल मुनि लोग ही ऐसा कर सकते है। इन्द्र के कथन का तात्पर्य यह था कि देवता भोग-योनि है, उस योनि मे क्रिया-शक्ति नही होती जबकि मनुष्य मे ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग की शक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि नाटक केवल अनुकरण-मात्र नही है, वह उससे अधिक है। उसमें मनुष्य की इच्छा, ज्ञान और कर्म-शक्ति की आवश्यकता होती है। ग्रहण की हुई वस्तु को धारण करना साधना से सम्भव होता है। देवता का शरीर और मन सिद्ध होता है, साधक नही। उसमे इच्छा-शक्ति का अभाव होता है, नाटक मे संकल्प होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया से मनुष्य-शरीर त्रिपुटीकृत है। इसलिए इच्छा, ज्ञान और क्रिया में त्रिधा अभिव्यक्ति ग्रहण करने वाली महाशक्ति त्रिपुरा मनुष्य-पिण्ड मे कुण्डलिनी-रूप मे प्रकाशित होती है, किन्तु देवता में उसका अभाव है। इसीलिए नाटक, जो मनुष्य की सर्जनेच्छा या सिसृक्षा का उत्तम रूप है, देवता लोगों की शक्ति का विषय नही है। देवता सिद्धि दे सकता है, साधना नही कर सकता। नाटक साधना का विषय है। मनुष्य मे जो सर्जनेच्छा या नया कुछ रचने की जो आकाक्षा है, वह उसका विषय है। इन्द्र की बात सुनकर ब्रह्मा ने इतिहासयुक्त 'नाट्य-वेद' को भरत मुनि के जिम्मे किया जिन्होने अपने सौ पुत्रो को उसका उपदेश दिया। इस प्रकार इतिहास 'नाट्य-वेद' मे जोड़ा गया। पाठ्य, गीत, अभिनय और रस के साथ कथानक का योग हुआ। शास्त्र के अनुसार नाटक का प्रथम प्रयोग इन पाँच वस्तुओं को लेकर ही हुआ। भरत मुनि ने इसमे तीन वृत्तियों का योग किया था। ये तीन वृत्तियाँ है : भारती, सात्वती और आरभटी। भारती वृत्ति 'वाक्प्रधाना, पुरुष-प्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता, सस्कृत वाक्ययुक्ता' वृत्ति है (22-5)। इसे प्रयोग करने मे भरत-पुत्रो को कठिनाई नही हुई; सात्वती 'हर्षोत्कटा, संहृत-शोकभावा, वागंगाभिनयवती, सत्वाधिकारयुक्ता' वृत्ति है

(52-38,39)। इसे भी बिना कठिनाई के सम्हाल लिया गया; आरभटी कूद-फाँद, इन्द्र-जाल, आक्रमण आदि को प्रकट करनेवाली वृत्ति है (22-57,58), भरत-पुत्रों ने इसका प्रयोग भी आसानी से कर लिया। परन्तु चौथी वृत्ति, जो कैशिकी है, वह उनके वश की नहीं थी। इसमें सुकुमार साज-सज्जा, स्त्री-सुलभ चेष्टाएँ, कोमल शृंगारोपचार (22-47) की आवश्यकता थी। भरत-पुत्र इसका प्रयोग नहीं कर सके। ब्रह्मा ने इस कमी को महसूस किया और भरत मुनि को आज्ञा दी कि कैशिकी वृत्ति को भी इसमें जोड़ो (1-43)। भरत मुनि ने कहा कि यह वृत्ति तो पुरुषों के वश की नहीं है, इसे तो केवल स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। ब्रह्मा ने तब अप्सराओं की सृष्टि की। इस प्रकार 'नाट्य-वेद' में स्त्रियों का प्रवेश हुआ।

इन्द्र के ध्वजारोपण के अवसर पर प्रथम बार चारों वृत्तियों से संयुक्त नाटक खेला गया और प्रसन्न होकर देवताओं ने भरत मुनि को अनेक उपकरण दिये और रक्षा करने का आश्वासन भी दिया।

कथा से स्पष्ट है कि पहले नाटक में स्त्रियों का योग नहीं था। बाद में जब यह अनुभव किया गया कि नाटक की कुछ क्रियाएँ स्त्रियों के बिना असम्भव हैं, तो नाटक में स्त्रियों के प्रवेश करने का विधान हुआ।

दैत्यों ने नाटक के समय उपद्रव शुरू किया। उनसे बचाव के लिए रंगपूजा की विधि का समावेश हुआ। इसकी बड़ी विस्तृत विधि 'नाट्यशास्त्र' में बतायी गयी है। इस आडम्बरपूर्ण विधान से नाटक में यज्ञ का गौरव आ गया। पहले नगाड़ा बजाकर नाटक आरम्भ होने की सूचना देने का विधान है। फिर गायक और वादक लोग यथास्थान बैठ जाते थे; वृन्दगान आरम्भ होता था। मृदंग, वीणा, वेणु आदि वाद्यों के साथ नर्त्तकी का नूपुर झनकार कर उठता था और इस प्रकार नाटक के उत्थापन की विधि सम्पन्न होती थी। आधुनिक पण्डितों में इसके बारे में मतभेद है कि यह परदे के पीछे की क्रिया है या बाहर अर्थात् रंगभूमि की। मतभेद का कारण सदा ग्रीक रंगमंच की बात सोच-सोचकर भारतीय रंगमंच को समझने की अवांछित चेष्टा है। शुरू में ही अवतरण या रंगावतरण का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि यह क्रिया रंगभूमि में ही होती थी। फिर सूत्रधार का प्रवेश होता था, उसके एक ओर गडुए में पानी लिये भृंगारधर होता था और दूसरी ओर विघ्नों को जर्जर करनेवाली पताका लिये जर्जरधर होता था। इन दो पारिपार्श्वकों के साथ सूत्रधार पाँच पग आगे बढ़ता था। परन्तु यह बढ़ना साधारण बात न थी, उसमें विशेष गौरवपूर्ण अभिनय हुआ करता था। फिर सूत्रधार भृंगार से जल लेकर आचमन, प्रोक्षण आदि करके पवित्र हो लेता था। फिर एक विशेष आडम्बर-पूर्ण भंगिमा के साथ विघ्न को जर्जर करनेवाले जर्जर नामक ध्वज को उत्तोलित करता था और इन्द्र तथा अन्य देवताओं की स्तुति करता था। वह दाहिने पैर के अभिनय से शिव को और वाम पैर के अभिनय से विष्णु को नमस्कार करता था। पहला पुरुष का और दूसरा स्त्री का पद माना जाता था। एक नपुंसक पद का भी

विधान है, इसमे दाहिने पैर को नाभि तक उत्क्षिप्त कर लेने का इस नपुसक पद से निर्देश है। इस नपुसक पद से वह ब्रह्मा को नमस्कार करता था, फिर यथाविधि वह चार प्रकार के पुष्पों मे जर्जर की पूजा करता था। वह वाद्य-यन्त्रों की भी पूजा करता था और तब जाकर नान्दीपाठ होता था। सब देवताओं को वह नमस्कार करता था और उनसे कल्याण की प्रार्थना करता था। वह राजा की विजय-कामना करता था, दर्शको में धर्मबुद्धि होने की शुभाशसा करता था, कवि या नाटककार के यशोवर्धन की भी वह कामना करता था। प्रत्येक शुभकामना के बाद पारिपार्श्वक लोग 'ऐसा ही हो' (एवमस्तु) कहकर प्रतिवचन देते थे और इस प्रकार नान्दी-पाठ का आडम्बरपूर्ण कार्य सम्पन्न होता था।

इस प्रसंग मे हम 'नाट्यशास्त्र' मे से केवल मुख्य-मुख्य क्रियाओ का सग्रह कर रहे हैं। नान्दी-पाठ तक की क्रिया बहुत विस्तृत है। इस नान्दी-पाठ को 'नाट्यशास्त्र' बहुत महत्त्व देता है। अस्तु, जब नान्दी-पाठ हो जाता था तो फिर शुष्कावकृष्टा विधि के बाद सूत्रधार एक ऐसा श्लोक-पाठ करता था जिसमें अवसर के अनुकूल बातें होती थी, अर्थात् वह या तो जिस देवता-विशेष की पूजा के अवसर पर नाटक खेला जा रहा हो उस देवता की स्तुति का श्लोक होता था, या फिर जिस राजा के उत्सव पर अभिनय हो रहा हो उसकी स्तुति का। या फिर वह ब्रह्मा की स्तुति का पाठ करता था, फिर जर्जर के सम्मान के लिए भी वह एक श्लोक पढ़ता था और फिर चारी नृत्य शुरू होता था। इसकी विस्तृत व्याख्या और विधि 'नाट्यशास्त्र' के बारहवें अध्याय मे दी हुई है। यह चारी का प्रयोग पार्वती की प्रीति के उद्देश्य से किया जाता था, क्योंकि पूर्वकाल मे शिव ने इस विशेष भंगी से ही पार्वती के साथ क्रीड़ा की थी। इस सविलास अंगविचेष्टता-रूप चारी के बाद महाचारी का विधान भी 'नाट्यशास्त्र' मे दिया हुआ है। इस समय सूत्रधार जर्जर या ध्वजा को पारिपार्श्विकी के हाथ में दे देता था। फिर भूतगण की प्रीति के लिए ताण्डव का भी विधान है। फिर विदूषक आकर कुछ ऐसी ऊल-जलूल बातें करता था जिसमे सूत्रधार के चेहरे पर स्मित हास्य छा जाता था और फिर प्ररोचना होती थी, जिससे नाटक के विषय-वस्तु अर्थात् किसकी कौन-सी हार या जीत की कहानी अभिनीत होनेवाली है, ये सब बातें बता दी जाती थी, और तब वास्तविक नाटक शुरू होता था। शास्त्र मे ऊपर लिखी गयी बातें विस्तार-पूर्वक कही गयी है। परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि इस क्रिया को सक्षेप मे भी किया जा सकता है। अगर इच्छा हो तो और भी विस्तारपूर्वक करने का निर्देश देने मे भी शास्त्र चूकता नहीं। ऊपर बतायी गयी क्रियाओ से यह विश्वास किया जाता था कि अप्सराएँ, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, यक्ष तथा अन्यान्य देवगण और रुद्रगण प्रसन्न होते हैं और नाटक निर्विघ्न समाप्त होता है। 'नाट्यशास्त्र' के बाद इसी विषय के लक्षण-ग्रन्थों मे यह विधि इतनी विस्तारपूर्वक नही कही गयी है। 'दशरूपक' तथा 'साहित्य-दर्पण' आदि मे तो बहुत सक्षेप मे

इसकी चर्चा-भर कर दी गयी है।[1] इस बात से यह अनुमान होता है कि बाद को इतने विस्तार और आडम्बर के साथ यह क्रिया नहीं होती होगी। विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' से इतना स्पष्ट ही हो जाता है कि उनके जमाने में इतनी विस्तृत क्रिया नहीं होती थी। जो हो, सन् ईसवी के पहले और बहुत बाद भी इस प्रकार की विधि रही जरूर है।

यहाँ तक 'नाट्य-वेद' सीधा-सादा ही था। 'नाट्यशास्त्र' के चौथे अध्याय में इसमें एक और क्रिया के जोड़ने की कथा है। वेदों से गृहीत पाठ्य, गीत, अभिनय और रसवाले 'नाट्य-वेद' में ब्रह्मा ने पहली बार इतिहास जोड़ा, दूसरी बार कैशिकी वृत्ति के साथ स्त्रियों का प्रवेश हुआ और तीसरी बार दैत्यजनित बाधा को दूर करने के उद्देश्य से रंग-पूजा की विधि जोड़ी गयी। अब इतना हो जाने के बाद भरत ने 'अमृत-मन्थन' का नाटक खेला। 'नाट्यशास्त्र' की कुछ प्रतियों में इसे 'समवकार' कहा गया है, कुछ में नहीं कहा गया है। ब्रह्मा ने फिर इस नाट्य-प्रयोग को शिवजी को दिखाने के लिए कहा। शिवजी ने देखा और प्रसन्न हुए। उन्होंने

1. उदाहरण के लिए 'दशरूपक' को लिया जा सकता है। वहाँ पूर्वरंग का तो नाममात्र से उल्लेख है। पूर्वरंग का विधान करके जब सूत्रधार चला जाता है तो उसी के समान वेश-वाला नट (स्थापक) काव्यार्थ की स्थापना करता है। उसकी वेश-भूषा कथावस्तु के अनुरूप होती है, अर्थात् यदि कथावस्तु दिव्य हुई तो वेश भी दिव्य और मर्त्य-लोक की हुई तो वेश-भूषा भी तदनुरूप। सर्वप्रथम उसे काव्यार्थ-सूचक मधुर श्लोकों से रंग-स्थल के सामाजिकों की स्तुति करनी चाहिए। फिर उसे किसी ऋतु के वर्णन द्वारा भारती वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए। भारती वृत्ति संस्कृत-बहुल वाग्व्यापार है। इसके चार भेद होते हैं: प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख या प्रस्तावना। वीथी और प्रहसन तो रूपकों के भेद हैं। वैसे, वीथी में बताये हुए सभी अंग आमुख में भी उपयोगी हैं। प्ररोचना, नाटक में खेले जानेवाले अर्थ की प्रशंसा है, उसका उद्देश्य होता है सामाजिकों को नाटकीय कथा-वस्तु की ओर उन्मुख करना। आमुख या प्रस्तावना में सूत्रधार (या स्थापक) नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक से ऐसी विचित्र उक्तियों में बात करता है जिसमें नाटक का प्रस्तुत विषय अनायास खिंच आता है। तीन प्रकार से यह बात होती है। सूत्रधार या स्थापक कोई ऐसी बात कह देता है जिसका साम्य नाटक की प्रस्तावित वस्तु से होता है कि कोई पात्र उसी वाक्य को कहता हुआ रंगमंच पर आ जाता है (कथोद्घात); या वह ऋतु-वर्णन के बहाने श्लेष से ऐसा कुछ कहता है जिससे पात्र के आगमन की सूचना मिल जाती है (प्रवृत्तक), या वह कहता है,'यह देखो वह आ गया', और पात्र मंच पर आ जाता है(प्रयोगातिशय)। फिर वह वीथी के बताये हुए तेरह अंगों का भी सहारा लेता है। ये तेरह अंग विशेष प्रकार की उक्तियाँ हैं। ये हैं: (1) उद्घातक (गूढ़ प्रश्नोत्तर), (2) अवलगित (एक-दूसरे से सटे हुए कार्यों के सूचक वाक्य), (3) प्रपंच (हँसानेवाली पारस्परिक मिथ्या स्तुति), (4) त्रिगत (शब्द-साम्य से अनेक अर्थों की योजना),(5) छलन (चिकनी-चुपड़ी से बहकाना), (6) वाक्केली (आधा कहकर बाकी को भाँप लेने योग्य छोड़ देना), (7) अधिबल (बढ़-बढ़कर बातें करना), (8) गण्ड (सम्बद्ध से भिन्न का उपस्थित हो जाना), (9) अवस्यन्दित (सरल बात कहकर मुकरने का प्रयत्न), (10) नालिका (गूढ़-वचन), (11) असत्प्रलाप (ऊटपटाँग, बकोसला), (12) व्याहार (हँसाने के लिए कुछ-का-कुछ कह देना), और (13) मृदव (दोष को गुण और गुण को दोष बता देना)।

ब्रह्मा से कहा कि "तुमने जो इस नाट्य की सृष्टि की है वह यशस्य है, शुभ है, पुण्य है और वुद्धि-विवर्धक भी है। परन्तु मैंने सन्ध्या-काल मे नृत्य करते समय 'नृत्त' को स्मरण किया है, जो अनेक करणो से सयुक्त है और अंगहारो से विभूषित है। पूर्वरंग की तुम्हारी विधि 'शुद्ध' है, इसमे इस 'नृत्त' को जोड दोगे तो वह 'चित्र' हो जायेगा, अर्थात् उसमे वैचित्र्य आ जायेगा।" फिर शिव ने करणों और अगहारो की विधि बतायी और ब्रह्मा ने ताण्डव-नृत्य का भी नाटक मे समावेश किया। यह चौथा सस्कार था। भारतीय परम्परा के अनुसार इन चार कक्षाओं का अतिक्रमण करने के बाद 'नाट्यशास्त्र' पूर्णाग हुआ। इसे ऐतिहासिक विकास कहा जा सकता है।

4. नाट्यशास्त्र किसके लिए ?

भारतीय 'नाट्यशास्त्र' तीन प्रकार के लोगो को दृष्टि मे रखकर लिखा गया है। 'दशरूपक' आदि परवर्ती ग्रन्थो की तरह वह केवल नाटक लिखनेवाले कवियों के लिए मार्गदर्शक ग्रन्थ-मात्र नही है। सच पूछा जाये तो वह अभिनेताओ के लिए ही अधिक है, नाटककारो और नाटक समझनेवाले सहृदयो के लिए कम। जब तक 'नाट्यशास्त्र' के इस रूप को नही समझा जायेगा, तब तक इस विशाल ग्रन्थ के महत्त्व का अनुभव नही किया जा सकेगा। सबसे पहले 'नाट्यशास्त्र' नाटक के अभिनेताओ को दृष्टि मे रखकर लिखा गया। इस ग्रन्थ मे करण, अगहार, चारी आदि की विधियाँ, जो विस्तारपूर्वक समझायी गयी है, नृत्य, गीत और वेश-भूषा का जो विस्तृत विवेचन है, वह भी अभिनेताओं को ध्यान में रखकर किया गया है। रंगमच का विधान अभिनेताओं की सुविधा को ही दृष्टि मे रखकर किया जाता था। साधारणत: रंगमच या प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे। जो बहुत बड़े होते थे वे देवताओ के प्रेक्षागृह कहलाते थे और 108 हाथ लम्बे होते थे; दूसरे राजाओं के प्रेक्षागृह होते थे, जो 64 हाथ लम्बे और इतने ही चौड़े होते थे; तीसरे प्रकार के प्रेक्षागृह त्रिभुजाकार होते थे और उनकी तीनो भुजाओं की लम्बाई 32 हाथ होती थी। सम्भवत: दूसरी श्रेणी के प्रेक्षागृह ही अधिक प्रचलित थे। ऐसा जान पड़ता है कि राजभवनो मे और बड़े-बडे समृद्धिशाली भवनों में ऐसे प्रेक्षागृह स्थायी हुआ करते थे। 'प्रतिमा' नाटक के आरम्भ मे ही राजभवन में नेपथ्यशाला की बात आयी है। राजा रामचन्द्र के अन्त पुर मे एक नेपथ्यशाला थी, जहाँ रंगभूमि के लिए वल्कल आदि सामग्री रखी हुई थी। साधारण नागरिक विवाह तथा अन्य उत्सवों के समय अस्थायी रूप से छोटी-छोटी प्रेक्षण-शालाएँ, जो तीसरी श्रेणी की हुआ करती थी, बनवा लिया करते थे। प्रेक्षण-शालाओं का निर्माण अभिनेता की सुविधा के लिए हुआ करता था। इस बात का ध्यान रखा जाता था कि रंगभूमि मे अभिनय करनेवालों की आवाज अन्तिम किनारो तक अनायास पहुँच सके और सहृदय-दर्शकगण उनकी प्रत्येक भाव-भगिमा को आसानी से देख सकें।

'अभिनव भारती' से पता चला है कि 'नाट्यशास्त्र' के पूर्ववर्ती टीकाकार

इसकी चर्चा-भर कर दी गयी है।[1] इस बात से यह अनुमान होता है कि बादको इतने विस्तार और आडम्बर के साथ यह क्रिया नहीं होती होगी। विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' से इतना स्पष्ट ही हो जाता है कि उनके जमाने में इतनी विस्तृत क्रिया नहीं होती थी। जो हो, सन् ईसवी के पहले और बहुत बाद भी इस प्रकार की विधि रही जरूर है।

यहाँ तक 'नाट्य-वेद' सीधा-सादा ही था। 'नाट्यशास्त्र' के चौथे अध्याय में उसमें एक और क्रिया के जोड़ने की कथा है। वेदों से गृहीत पाठ्य, गीत, अभिनय और रसवाले 'नाट्य-वेद' में ब्रह्मा ने पहली बार इतिहास जोड़ा, दूसरी बार कैशिकी वृत्ति के साथ स्त्रियों का प्रवेश हुआ और तीसरी बार दैत्यजनित बाधा को दूर करने के उद्देश्य से रंग-पूजा की विधि जोड़ी गयी। अब इतना हो जाने के बाद भरत ने 'अमृत-मन्थन' का नाटक खेला। 'नाट्यशास्त्र' की कुछ प्रतियों में इसे 'समवकार' कहा गया है, कुछ में नहीं कहा गया है। ब्रह्मा ने फिर इस नाट्य-प्रयोग को शिवजी को दिखाने के लिए कहा। शिवजी ने देखा और प्रसन्न हुए। उन्होंने

1. उदाहरण के लिए 'दशरूपक' को लिया जा सकता है। वहाँ पूर्वरंग का तो नाममात्र से उल्लेख है। पूर्वरंग का विधान करके जब सूत्रधार चला जाता है तो उसी के समान वेश-वाला नट (स्थापक) काव्यार्थ की स्थापना करता है। उसकी वेश-भूषा कथावस्तु के अनुरूप होती है, अर्थात् यदि कथावस्तु दिव्य हुई तो वेश भी दिव्य और मर्त्य-लोक की हुई तो वेश-भूषा भी तदनुरूप। सर्वप्रथम उसे काव्यार्थ-सूचक मधुर श्लोकों से रंग-स्थल के [illegible]

के भेद हैं। वैसे, वीथी में बताये हुए सभी अंग आमुख में भी उपयोगी हैं। प्ररोचना, नाटक में खेले जानेवाले अर्थ की प्रशंसा है, उसका उद्देश्य होता है सामाजिकों को नाटकीय कथा-वस्तु की ओर उन्मुख करना। आमुख या प्रस्तावना में सूत्रधार (या स्थापक) नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक से ऐसी विचित्र उक्तियों में बात करता है जिससे नाटक का प्रस्तुत विषय अनायास खिंच आता है। तीन प्रकार से यह बात होती है। सूत्रधार या स्थापक कोई ऐसी बात कह देता है जिसका साम्य नाटक की प्रस्तावित वस्तु से होता है कि कोई पात्र उसी वाक्य को कहता हुआ रंगमंच पर आ जाता है (कथोद्घात); या वह ऋतु-वर्णन के बहाने श्लेष से ऐसा कुछ कहता है जिससे पात्र के आगमन की सूचना मिल जाती है (प्रवृत्तक), या वह कहता है,'यह देखो वह आ गया', और पात्र मंच पर आ जाता है (प्रयोगा-तिशय)। फिर वह वीथी के बताये हुए तेरह अंगों का भी सहारा लेता है। ये तेरह अंग विशेष प्रकार की उक्तियाँ हैं। ये हैं: (1) उद्घात्यक (गूढ़ प्रश्नोत्तर), (2) अवलगित (एक-दूसरे से सटे हुए कार्यों के सूचक वाक्य), (3) प्रपंच (हँसानेवाली पारस्परिक मिथ्या स्तुति), (4) त्रिगत (शब्द-साम्य से अनेक अर्थों की योजना), (5) छलन (चिकनी-चुपड़ी से बहकाना), (6) वाक्केली (आधा कहकर बाकी को भाँप लेने योग्य छोड़ देना), (7) अधिबल (बढ़-चढ़कर बातें करना), (8) गण्ड (प्रस्तुत से भिन्न का उपस्थित हो जाना), (9) अवस्यन्दित (भरन बात कहकर मुकरने का प्रयत्न), (10) नालिका (गूढ़-वचन), (11) असत्प्रलाप (ऊटपटाँग, बकोसला), (12) व्याहार (हँसाने के लिए कुछ-का-कुछ कह देना), और (13) मृदव (दोष को गुण और गुण को दोष बता देना)।

ब्रह्मा से कहा कि "तुमने जो इस नाट्य की सृष्टि की है वह यशस्य है, शुभ है, पुण्य है और बुद्धि-विवर्धक भी है। परन्तु मैंने सन्ध्या-काल मे नृत्य करते समय 'नृत्त' को स्मरण किया है, जो अनेक करणो से सयुक्त है और अगहारो से विभूषित है। पूर्वरग की तुम्हारी विधि 'शुद्ध' है, इसमे इस 'नृत्त' को जोड दोगे तो वह 'चित्र' हो जायेगा, अर्थात् उसमे वैचित्र्य आ जायेगा।" फिर शिव ने करणों और अंगहारों की विधि बतायी और ब्रह्मा ने ताण्डव-नृत्य का भी नाटक मे समावेश किया। यह चौथा संस्कार था। भारतीय परम्परा के अनुसार इन चार कक्षाओ का अतिक्रमण करने के बाद 'नाट्यशास्त्र' पूर्णाग हुआ। इसे ऐतिहासिक विकास कहा जा सकता है।

4. नाट्यशास्त्र किसके लिए ?

भारतीय 'नाट्यशास्त्र' तीन प्रकार के लोगो को दृष्टि मे रखकर लिखा गया है। 'दशरूपक' आदि परवर्ती ग्रन्थो की तरह वह केवल नाटक लिखनेवाले कवियों के लिए मार्गदर्शक ग्रन्थ-मात्र नही है। सच पूछा जाये तो वह अभिनेताओं के लिए ही अधिक है, नाटककारो और नाटक समझनेवाले सहृदयो के लिए कम। जब तक 'नाट्यशास्त्र' के इस रूप को नही समझा जायेगा, तब तक इस विशाल ग्रन्थ के महत्त्व का अनुभव नही किया जा सकेगा। सबसे पहले 'नाट्यशास्त्र' नाटक के अभिनेताओ को दृष्टि मे रखकर लिखा गया। इस ग्रन्थ मे करण, अंगहार, चारी आदि की विधियाँ, जो विस्तारपूर्वक समझायी गयी है, नृत्य, गीत और वेश-भूषा का जो विस्तृत विवेचन है, वह भी अभिनेताओ को ध्यान मे रखकर किया गया है। रंगमंच का विधान अभिनेताओ की सुविधा को ही दृष्टि में रखकर किया जाता था। साधारणत. रगमच या प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे। जो बहुत बड़े होते थे वे देवताओ के प्रेक्षागृह कहलाते थे और 108 हाथ लम्बे होते थे; दूसरे राजाओं के प्रेक्षागृह होते थे, जो 64 हाथ लम्बे और इतने ही चौड़े होते थे; तीसरे प्रकार के प्रेक्षागृह त्रिभुजाकार होते थे और उनकी तीनो भुजाओं की लम्बाई 32 हाथ होती थी। सम्भवतः दूसरी श्रेणी के प्रेक्षागृह ही अधिक प्रचलित थे। ऐसा जान पडता है कि राजभवनो मे और बड़े-बड़े समृद्धिशाली भवनों मे ऐसे प्रेक्षागृह स्थायी हुआ करते थे। 'प्रतिमा' नाटक के आरम्भ मे ही राजभवन मे नेपथ्यशाला की बात आयी है। राजा रामचन्द्र के अन्त पुर मे एक नेपथ्यशाला थी, जहाँ रंगभूमि के लिए वल्कल आदि सामग्री रखी हुई थी। साधारण नागरिक विवाह तथा अन्य उत्सवो के समय अस्थायी रूप मे छोटी-छोटी प्रेक्षण-शालाएँ, जो तीसरी श्रेणी की हुआ करती थी, बनवा लिया करते थे। प्रेक्षण-शालाओं का निर्माण अभिनेता की सुविधा के लिए हुआ करता था। इस बात का ध्यान रखा जाता था कि रगभूमि में अभिनय करनेवालों की आवाज अन्तिम किनारो तक अनायास पहुँच सके और सहृदय-दर्शकगण उनकी प्रत्येक भाव-भंगिमा को आसानी से देख सकें।

'अभिनव भारती' से पता चला है कि 'नाट्यशास्त्र' के पूर्ववर्ती टीकाकार

ऐसा ही मानते थे कि यह शास्त्र अभिनेता, कवि और सामाजिक को शिक्षा देने के लिए लिखा गया है, पर स्वयं अभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि 'नाट्यशास्त्र' केवल कवियों और अभिनेताओं को शिक्षित करने के उद्देश्य से ही बना था। उनका मत आरम्भ के पाँच प्रश्नों के विश्लेषण पर आधारित है। लेकिन पूरे 'नाट्यशास्त्र' को पढ़ने पर पूर्ववर्ती टीकाकारों की बात ही मान्य जान पड़ती है।

'नाट्यशास्त्र' रंगमंच के निर्माण को बहुत महत्त्व देता है। भूमि-निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह बहुत सावधानी से सँभाला जाता था। सम, स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि को पहले हल से जोता जाता था। उसमें से अस्थि, कील, कपाल, तृण, गुल्मादि को साफ किया जाता था, उसे सम और पटसर बनाया जाता था और तब प्रेक्षागृह के नापने की विधि शुरू होती थी। 'नाट्यशास्त्र' को देखने से पता चलता है कि प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। माप के समय सूत्र का टूट जाना बहुत अमंगलजनक समझा जाता था। सूत्र ऐसा बनाया जाता था, जो सहज ही न टूट सके। वह या तो कपास से बनता था या बेर की छाल से बनता था या मूँज से बनता था और किसी वृक्ष की छाल की मजबूत रस्सी भी काम में लायी जा सकती थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि सूत्र आधे से टूट जाये तो स्वामी की मृत्यु होती है, तिहाई से टूट जाये तो राज-कोप की आशंका होती है, चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होना है, हाथ-भर से टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है। इस प्रकार सूत्र-धारण का काम बहुत ही महत्त्व का कार्य समझा जाता था। तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई कषाय वस्त्रधारी, हीन वपु, या विकलांग पुरुष मण्डप-स्थापना के समय अचानक आकर अशुभ फल न उत्पन्न कर दे। खम्भा गाड़ने में भी बड़ी सावधानी बरती जाती थी। खम्भा हिल गया, खिसक गया, या काँप गया तो अनेक प्रकार के उपद्रवों की सम्भावना मानी जाती थी। रंगशाला के निर्माण की प्रत्येक क्रिया में भावाजोखी का डर लगा रहता था। पद-पद पर पूजा, प्रायश्चित और ब्राह्मण-भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। भित्ति-कर्म, माप-जोख, चूना पोतना, चित्र-कर्म, खम्भा गाड़ना, भूमि-शोधन प्रभृति सभी क्रियाएँ बड़ी सावधानी से और आशंका के साथ की जाती थीं। इन बातों को जाने बिना यह समझना बड़ा कठिन होगा कि सूत्रधार का पद इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है? उसकी ज़रा-सी असावधानी अभिनेताओं के सर्वनाश का कारण हो सकती है। नाटक की सफलता का दारमदार सूत्रधार पर रहता है।

राजाओं की विजय-यात्राओं के पड़ाव पर भी अस्थायी रंगशालाएँ बना ली जाती थीं। इन शालाओं के दो हिस्से हुआ करते थे। एक तो जहाँ अभिनय हुआ करता था वह स्थान और दूसरा दर्शकों का स्थान, जिसमें भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए उनकी मर्यादा के अनुसार स्थान नियत हुआ करते थे। जहाँ अभिनय होता

था, उसे रंगभूमि (या संक्षेप में 'रंग') कहा करते थे। इस रंगभूमि के पीछे तिरस्करिणी या परदा लगा दिया जाता था। परदे के पीछे के स्थान को नेपथ्य कहा करते थे। यहीं से सज-धजकर अभिनेतागण रंगभूमि में उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द (नि+पथ्+य) में 'नि' उपसर्ग को देखकर कुछ पण्डितों ने अनुमान किया है कि नेपथ्य का धरातल रंगभूमि की अपेक्षा नीचा हुआ करता था, पर वस्तुतः यह उल्टी बात है। असल में नेपथ्य पर से अभिनेता रंगभूमि में उतरा करते थे। सर्वत्र इस क्रिया के लिए 'रंगावतार' (रंगभूमि में उतरना) शब्द ही व्यवहृत हुआ है।

5. नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रूढ़ियाँ

'नाट्यशास्त्र' नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल ग्रन्थ है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि बहुत दीर्घकाल से प्रचलित अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ इसमें संगृहीत हुई हैं। इसीलिए 'नाट्यशास्त्र' का जो लक्ष्यीभूत श्रोता है उसे लोक और शास्त्र का बहुत अच्छा ज्ञाता होना चाहिए। उसे बहुत-से इंगितों का इतना सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिए कि वह अभिनेता की एक-एक अंगुली के घुमाव का संकेत ग्रहण कर सके। उसे 'रसशास्त्र' के नियमों का बहुत अच्छा ज्ञान होना चाहिए। अभिनेताओं को विविध प्रकार के अभिनय समझाने के बहाने 'नाट्यशास्त्र' का रचयिता अपने लक्ष्यीभूत श्रोताओं को कितनी ही बातें बता जाता है। पन्द्रहवें अध्याय में दो रूढ़ियों की चर्चा है: एक नाट्यधर्मी, दूसरी लोकधर्मी या लौकिकी (15-69)। लोकधर्मी, लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण है। इसमें विभिन्न भावों का संकेत करनेवाली आंगिक अभिनय-भंगिमाओं का समावेश नहीं किया जाता ('अंगलीला विवर्जितम्')। परन्तु अत्यन्त सांकेतिक वाक्य और क्रियाएँ, लीलागहार, नाट्योक्त रूढ़ियाँ—जैसे जनान्तिक, स्वगत, आकाशभाषित आदि; शैल, यान, विमान, ढाल, तलवार आदि के संकेत देनेवाली रूढ़ियाँ—तथा अमूर्त्त भावों का संकेत करनेवाले अभिनय नाट्यधर्मी है। लोक का जो सुख-दुःख-क्रियात्मक आंगिक अभिनय है वह भी नाट्यधर्मी है। संक्षेप में रंगमंच पर किये जानेवाले वे संकेतमूलक आंगिक अभिनय नाट्यधर्मी है जो सीधे अनुकरण के विषय नहीं है।

संस्कृत-नाटकों में 'अभिरूपभूयिष्ठा' और 'गुणग्राहिणी' कहकर दर्शक-मण्डली का जो परिचय दिया गया है, वह दर्शकों में इन्हीं नाट्यधर्मी गूढ़ अभिप्रायों को समझने की योग्यता को लक्ष्य करके। ये दर्शक शिक्षित होते थे तब तो निस्सन्देह अभिनय की सभी बारीकियों को समझ सकते थे, परन्तु जो पढ़े-लिखे नहीं होते थे वे भी इन रूढ़ियों को आसानी से समझ लेते थे। भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि ऊँची-से-ऊँची चिन्तन-धारा अपने सहज रूप में सामाजिक जीवन में बद्धमूल हो जाया करती थी। शास्त्रीय विचार और तर्क-शैली तो सीमित क्षेत्रों में ही प्रचलित होती थी, किन्तु मूल सिद्धान्त साधारण जनता में भी ज्ञात होते थे। यही कारण है कि भारतवर्ष में निरक्षर व्यक्ति भी ऊँचे तत्त्व-ज्ञान की बात आसानी से

समझ लेता था। मध्यकाल के निरक्षर सन्तों ने तत्त्व-ज्ञान की जो बातें कही हैं, उन्हें देखकर आधुनिक शिक्षित व्यक्ति भी चकित हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि जिन दिनों 'नाट्यशास्त्र' की रचना हुई थी, उन दिनों नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ साधारण दर्शकों को भी ज्ञात थीं। आजकल जिसे 'क्रिटिकल आडियंस' कहते हैं वही 'नाट्यशास्त्र' का लक्ष्यीभूत श्रोता है। 27वें अध्याय में 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट कहा गया है कि नाटक का लक्ष्यीभूत श्रोता कैसा होना चाहिए। उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिए, जो व्यक्ति शोकावह दृश्य को देखकर शोकाभिभूत न हो सके और आनन्दजनक दृश्य को देखकर उल्लसित न हो सके, जो इतना संवेदनशील न हो कि दैन्यभाव के प्रदर्शन के समय दीनत्व का अनुभव कर सके, उसे 'नाट्यशास्त्र' प्रेक्षक की मर्यादा नहीं देना चाहता। उसे देश-भाषा के विधान का जानकार होना चाहिए, कला और शिल्प का विचक्षण होना चाहिए, अभिनय की बारीकियों का ज्ञाता होना चाहिए, रस और भाव का समझदार होना चाहिए, शब्द-शास्त्र और छन्द-शास्त्र के विधानों से परिचित होना चाहिए, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। 'नाट्यशास्त्र' यह मानता है कि सबमें सभी गुण हों, यह सम्भव नहीं है। वयस्, सामाजिक स्थिति और शास्त्र-ज्ञान का कम-बेशी होना स्वाभाविक है। फिर भी उसमें अधिक-से-अधिक गुणों का समावेश होना चाहिए। जवान आदमी शृंगार-रस की बातें देखना चाहता है, वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराणों का अभिनय देखने में रस पाते हैं। 'नाट्यशास्त्र' इस रुचि-भेद को स्वीकार करता है। फिर भी वह आशा करता है कि प्रेक्षक इतना सहृदय होगा कि अभिनय के अनुकूल अपने को रसग्राही बना सकेगा।

6 नाट्य-प्रयोग का प्रमाण लोक-जीवन है

यद्यपि 'नाट्यशास्त्र' नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल संग्रह-ग्रन्थ है, तो भी वह मानता है कि नाटक की वास्तविक प्रेरणा-भूमि और वास्तविक कसौटी भी लोकचित्त ही है। परवर्ती-काल के अलंकार-शास्त्रियों ने इस तथ्य को भुला दिया, परन्तु भरत मुनि ने इस तथ्य पर बड़ा जोर दिया था। छब्बीसवें अध्याय में उन्होंने विस्तारपूर्वक अभिनय-विधियों का निर्देश किया है। परन्तु साथ ही यह भी बता दिया गया है कि दुनिया यहीं नहीं समाप्त हो जाती। इस स्थावर जंगम चराचर सृष्टि का कोई भी शास्त्र कहाँ तक हिसाब बता सकता है! लोक में न जाने कितनी प्रकार की प्रकृतियाँ हैं। नाटक चाहे वेद या अध्यात्म से उत्पन्न हो तो भी वह तभी सिद्ध होता है जब वह लोक-सिद्ध हो; क्योंकि नाट्य लोक-स्वभाव से उत्पन्न होता है। इसीलिए नाट्य-प्रयोग में लोक ही सबसे बड़ा प्रमाण है :

> वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दच्छन्दः समन्वितम्।
> लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
> तस्मात् नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते। (26-113)

उन्होंने यहाँ तक कहा है कि जो शास्त्र, जो धर्म, जो शिल्प और जो क्रियाएँ

लोकधर्मप्रवृत्त हैं, वे ही नाट्य कही जाती है :

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानी याः क्रिया ।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्य प्रकीर्त्तितम् ॥

इसलिए लोक-प्रवृत्ति नाटक की सफलता की मुख्य कसौटी है। फिर भी अभिनेता को उन बारीक विधियों का ज्ञान होना चाहिए, जिनके द्वारा वह सहृदय श्रोता के चित्त मे आसानी से विभिन्न शीलो और प्रकृति की अनुभूति करा सके। इसलिए जहाँ तक अभिनेता का प्रश्न है, उसे 'प्रयोगज्ञ' अवश्य होना चाहिए। वाचिक, नेपथ्य-सम्बन्धी और आंगिक जितने भी अभिनय शास्त्र मे बताये गये है वे अभिनेता को प्रयोगज्ञ बनाने की दृष्टि से, क्योकि जो अच्छा प्रयोग नही जानता वह सिद्धि भी नही प्राप्त कर सकता। शास्त्रकार ने कहा है .

येयास्त्वभिनयाह्युं तेवाङ्नेपथ्यागसश्रयाः ।
प्रयोगे येन कर्त्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता ॥ (26-122)

कभी-कभी अभिनेताओ मे अपने-अपने अभिनय-कौशल की उत्कृष्टता के सम्बन्ध मे कलह उपस्थित हो जाता था। साधारणतः ये विवाद दो श्रेणियो के होते थे—शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय विवाद का एक सरल उदाहरण कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' मे है। इसमे रस, भाव, अभिनय, भंगिमा, मुद्राएँ आदि विचारणीय होती थी। कुछ दूसरे विवाद ऐसे होते थे जिनमे लोक-जीवन की चेष्टाओं के उपस्थान पर मतभेद हुआ करता था। ऐसे अवसरो पर 'नाट्यशास्त्र' प्राश्निक (असेसर) नियुक्त करने का विधान करता है। प्राश्निक के लक्षण 'नाट्य-शास्त्र' में दिये हुए है। यदि वैदिक क्रिया-कलाप-विषयक कोई विवाद होता था तो

पाठ-विस्तार के मामले में वैयाकरण, राजकीय आचरण के विषय मे हो तो राजा स्वयं निर्णायक होता था। राजकीय विभव या राजकीय अन्त पुर का आचरण या नाटकीय सौष्ठव का मामला होता था तो राजकीय दरबार के अच्छे वक्ता बुलाये जाते थे। प्रणाम की भंगिमा, आकृति और उसकी चेष्टाएँ, वस्त्र और आचरण की योजना तथा नेपथ्य-रचना के प्रसंग में चित्रकारो को निर्णायक बनाया जाता था, और स्त्री-पुरुष के परस्पर-आकर्षणवाले मामलो में गणिकाएँ उत्तम निर्णायक समझी जाती थी। भृत्य के आचरण के विषय मे विवाद उपस्थित हुआ तो राजा के भृत्य प्राश्निक होते थे (27-63-67)। अवश्य ही जब शास्त्रीय विवाद उपस्थित हो जाता था तो शास्त्र के जानकारो की नियुक्ति होती थी। इस प्रकार 'नाट्य-शास्त्र' ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि लोकधर्मी विधियों की कसौटी लोक-जीवन ही है।

7. शास्त्र के विभिन्न अंग

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि नाट्य-वेद में दो वस्तुएँ हैं : विधि और शास्त्र।

वेणु दोनों ही से निकलते हैं। आतोद्य चार प्रकार के हैं तत, अवनद्ध, घन और सुषिर। इनमें तारवाले वाजे तत हैं, मृदंगादि अवनद्ध हैं, ताल देनेवाले घन हैं और वंशी सुषिर (छिद्रयुक्त) हैं। गान पांच प्रकार के होते हैं प्रवेश, आक्षेप, निष्काम्य, प्रासादिक और ध्रुवावेग। रंगमंच तीन प्रकार के होते हैं - चतुरस्र, विकृष्ट और मिश्र। संक्षेप में यही शास्त्र के विषय हैं .

'एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो व्यादिश्ये नाट्यसंग्रहः।'

इन्हीं 11 विषयों के विस्तृत विवेचन को नाट्य-वेद का शास्त्र-अंग कहा गया है। यह विधि से भिन्न है। इनके अनेक भेदोपभेदों का ज्ञान कराया गया है और युक्तिपूर्वक बताया गया है कि इनका प्रयोग कब, क्यों और कैसे किया जाना चाहिए! विधि अवश्य करणीय है। उसमें तर्क नहीं किया जा सकता। किन्तु शास्त्र तर्क और ऊहापोह से युक्त है। उसमें शंका और समाधान के लिए स्थान है और बौद्धिक विवेचन की गुंजाइश है।

8. वर्त्तमान 'नाट्यशास्त्र'

'नाट्यशास्त्र' के कई संस्करण प्रकाशित हुए। 'हाल' ने 1965 ई. में अपने सम्पादित 'दशरूपक' के परिशिष्ट में 'नाट्यशास्त्र' के 18वें, 20वें और 34वें अध्याय का प्रकाशन कराया था। पी. रेगनाड ने भी 'नाट्यशास्त्र' के 14वें और 15वें अध्याय और 1884 ई. में 'रेटोरिके संस्कृते' में 6वें और 7वें अध्याय का प्रकाशन कराया। निर्णयसागर प्रेस से 'काव्यमाला सिरीज' में पूरा 'नाट्यशास्त्र' प्रकाशित हुआ और फिर उसके कुछ दिन बाद 1939 ई. में काशी में पं. बटुकनाथ शर्मा और पं. बलदेव उपाध्याय ने 'काशी संस्कृत सिरीज' (जो प्रायः 'चौखम्बा संस्कृत सिरीज' के नाम से प्रसिद्ध है) में नाट्यशास्त्र का एक दूसरा संस्करण प्रकाशित कराया। सन् 1926 ई. में श्री रामकृष्ण कवि ने अभिनवगुप्त की महत्त्वपूर्ण टीका 'अभिनव-भारती' के साथ 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम सात अध्यायों का सम्पादन करके 'गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज' में प्रकाशित कराया। 8वें से 18वें तक के अध्यायों की दूसरी जिल्द 1934 ई. में प्रकाशित हुई और तीसरी जिल्द भी अब प्रकाशित हो गयी है। श्री रामकृष्ण कवि ने नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों का तुलनात्मक विवरण अपनी पुस्तक की भूमिका में दिया है। उस भूमिका में और महामहोपाध्याय डा. पी. वी. काने ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स' में विस्तारपूर्वक इन संस्करणों में पाये जानेवाले विभिन्न रूपों और पाठ-भेदों की चर्चा की है। उससे लगता है कि नाट्यशास्त्र के पाये जानेवाले विभिन्न रूपों में बहुत अन्तर है।

वर्त्तमान 'नाट्यशास्त्र' से यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी है : 6ठे, 7वें तथा अन्य अध्यायों में भी लम्बे-लम्बे गद्यांश आये हैं, जो निरुक्त और महाभाष्य की शैली में लिखे गये हैं। कम-से-कम 15 श्लोक और 16 आर्याएँ आनुवंश्य अर्थात् वंशानुक्रम से प्राप्त बतायी गयी हैं। कुछ सूत्रानुबद्ध

पाँचवें अध्याय तक पूर्वरंग की विधि विस्तारपूर्वक बतायी गयी है। छठे अध्याय में पूर्वरंग-विधि के सुन लेने के बाद मुनियों के पाँच प्रश्नों का उल्लेख है :

1. रस क्या है, और उनका रसत्व क्या है?
2. भाव क्या है और वे किस वस्तु को भावित करते हैं?
3. संग्रह किसे कहते हैं?
4. कारिका क्या है?
5. निरुक्ति किसे कहते हैं?

भरत मुनि ने उत्तर में बताया, 'चूंकि ज्ञान और शिल्प अनन्त है, इसलिए नाट्य का कोई अन्त नहीं है। लेकिन संक्षेप में सूत्ररूप में नाट्य का रसभावादि संग्रह मैं आप लोगों को बताऊँगा।' उन्होंने बताया कि सूत्र और भाष्य में जो अर्थ विस्तारपूर्वक कहे गये हैं उनका संक्षेप में निबन्धन संग्रह कहलाता है और सम्पूर्ण 'नाट्यशास्त्र' का संग्रह उन्होंने एक श्लोक में बताया। वह श्लोक है :

रसाभावाह्यभिनया धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः॥

अर्थात् 'नाट्यशास्त्र' के संक्षेप में इतने अंग हैं :

1. रस, 2. भाव, 3. अभिनय, 4. धर्मी, 5. वृत्ति, 6. प्रवृत्ति, 7. सिद्धि, 8. स्वर, 9. आतोद्य, 10. गान, और 11. रंग।

इस संग्रहश्लोक में भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के 11 अंगों का निर्देश किया है। प्रारम्भ में इनका संक्षेप में विवरण दिया है और बाद में विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। वस्तुतः इन 11 विषयों का विवेचन ही शास्त्र है। स्पष्ट जान पड़ता है कि इन श्लोकों के लिखे जाने के पूर्व इन विषयों पर सूत्र, कारिका और भाष्य लिखे जा चुके थे और इन शब्दों की निरुक्ति भी बतायी जा चुकी थी। छठे, सातवें और आठवें अध्याय में सूत्र भी हैं और कारिकाएँ भी हैं, प्रत्येक शब्द की निरुक्ति भी बतायी गयी है। गद्य में इन विषयों की जो व्याख्या की गयी है, वह बहुत-कुछ भाष्य की [illegible]

चर्चा कर दी है। उन्होंने बताया है कि शृंगार, हास्य आदि आठ रस हैं, रति-हास आदि आठ स्थायी भाव है, इनके अतिरिक्त स्वेद, स्तम्भ आदि आठ सात्विक भाव हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर भावों की संख्या 49 है। काव्य-रसिकों के निकट ये भाव काफी परिचित हैं, अतएव हम उनका नाम नहीं गिना रहे हैं। आगे बताया गया है कि अभिनय चार प्रकार के होते हैं : 1. आंगिक, 2. वाचिक, 3. आहार्य, और 4. सात्त्विक। धर्मी दो है : 1. लोकधर्मी, 2. नाट्य-धर्मी। जिन वृत्तियों में नाट्य प्रतिष्ठित होता है वे चार है : भारती, सत्त्वती, कैशिकी और आरभटी। प्रवृत्तियाँ पाँच है : अवन्ती, दाक्षिणात्या, मागधी, पांचाली और मध्यमा। सिद्धियाँ दो प्रकार की है : दैविकी और मानुषी। षड्ज प्रभृति सात स्वर है जो मुख और

वेणु दोनों ही में निकलते हैं। आतोद्य चार प्रकार के हैं तत, अवनद्ध, घन और सुषिर। इनमें तारवाले बाजे तत हैं, मृदंगादि अवनद्ध हैं, ताल देनेवाले घन हैं और वंशी सुषिर (छिद्रयुक्त) हैं। गान पाँच प्रकार के होते हैं प्रवेश, आक्षेप, निष्क्राम्य, प्रासादिक और ध्रुवावेग। स्वमंत्र तीन प्रकार के होते हैं चतुरस्र, विकृष्ट और मिश्र। संक्षेप में यही शास्त्र के विषय हैं .

'एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो ध्यादिष्टो नाट्यसंग्रह '

इन्हीं 11 विषयों के विस्तृत विवेचन को नाट्य-वेद का शास्त्र-अंग कहा गया है। यह विधि से भिन्न है। इनके अनेक भेदोपभेदों का ज्ञान कराया गया है और युक्तिपूर्वक बताया गया है कि इनका प्रयोग कब, क्यों और कैसे किया जाना चाहिए! विधि अवश्य करणीय है। उसमें तर्क नहीं किया जा सकता। किन्तु शास्त्र तर्क और ऊहापोह से युक्त है। उसमें शंका और समाधान के लिए स्थान है और बौद्धिक विवेचन की गुंजाइश है।

8. वर्त्तमान 'नाट्यशास्त्र'

'नाट्यशास्त्र' के कई संस्करण प्रकाशित हुए। 'हाल' ने 1965 ई में अपने सम्पादित 'दशरूपक' के परिशिष्ट में 'नाट्यशास्त्र' के 18वें, 20वें और 34वें अध्याय का प्रकाशन कराया था। पी. रेगनाड ने भी 'नाट्यशास्त्र' के 14वें और 15वें अध्याय और 1884 ई में 'रेटॉरिके संस्कृते' में 6वें और 7वें अध्याय का प्रकाशन कराया। निर्णयसागर प्रेस से 'काव्यमाला सिरीज' में पूरा 'नाट्यशास्त्र' प्रकाशित हुआ और फिर उसके कुछ दिन बाद 1939 ई. में काशी में पं. बटुकनाथ शर्मा और पं. बलदेव उपाध्याय ने 'काशी संस्कृत सिरीज' (जो प्राय. 'चौखम्बा संस्कृत सिरीज' के नाम से प्रसिद्ध है) में नाट्यशास्त्र का एक दूसरा संस्करण प्रकाशित कराया। सन् 1926 ई. में श्री रामकृष्ण कवि ने अभिनवगुप्त की महत्त्वपूर्ण टीका 'अभिनव-भारती' के साथ 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम सात अध्यायों का सम्पादन करके 'गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज' में प्रकाशित कराया। 8वें से 18वें तक के अध्यायों की दूसरी जिल्द 1934 ई. में प्रकाशित हुई और तीसरी जिल्द भी अब प्रकाशित हो गयी है। श्री रामकृष्ण कवि ने नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों का तुलनात्मक विवरण अपनी पुस्तक की भूमिका में दिया है। उस भूमिका में और महामहोपाध्याय डा. पी. वी. काने ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स' में विस्तारपूर्वक इन संस्करणों में पाये जानेवाले विभिन्न रूपों और पाठ-भेदों की चर्चा की है। उससे लगता है कि नाट्यशास्त्र के पाये जानेवाले विभिन्न रूपों में बहुत अन्तर है।

वर्त्तमान 'नाट्यशास्त्र' से यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी है : 6ठे, 7वें तथा अन्य अध्यायों में भी लम्बे-लम्बे गद्यांश आये हैं, जो निरुक्त और महाभाष्य की शैली में लिखे गये हैं। कम-से-कम 15 श्लोक और 16 आर्याएँ आनुवंश्य अर्थात् वंशानुक्रम से प्राप्त बतायी गयी हैं। कुछ सूत्रानुबद्ध

आर्याएँ हैं, जो श्लोकरूप में लिखे हुए सूत्रों की व्याख्या है। इन्हें सूत्रानुबद्ध या सूत्रानुविद्ध आर्या कहा गया है। लगभग सौ पद्य ऐसे हैं जिन्हें 'अत्र श्लोकाः' या 'अत्रार्या' कहकर उद्धृत किया गया है और जिनके बारे में अभिनवगुप्त ने कहा है कि ये प्राचीन आचार्यों के कहे हुए श्लोक है।[1] इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वर्त्तमान 'नाट्यशास्त्र' में पूर्व-परम्परा के अनेक तत्त्व मिलते हैं। नाट्यशास्त्र मे कुछ अश निश्चय ही बहुत पुराना है। उपलब्ध नाट्यशास्त्र का लेखक स्वीकार करता है कि यह परम्परागत सूत्रों का हवाला दे रहा है, जबकि आरम्भिक अध्यायो मे यह भी कहता है कि यह सबसे पहला प्रयास है। पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' मे कृशाश्व और शिलालि नाम के दो सूत्र-कर्त्ताओं का उल्लेख किया है। यह आश्चर्य की बात है कि वर्त्तमान 'नाट्यशास्त्र' मे मानो प्रयत्नपूर्वक इन दो आचार्यों का नाम छोड़ दिया गया है। सम्भवतः वर्त्तमान रूप के लेखक या सम्पादक को इस शास्त्र की सर्वप्रथमता सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक लगा हो। ('भाव-प्रकाशन' मे वासुकि नाम के एक प्राचीन आचार्य का यह मत उद्धृत किया गया है कि इन्होंने भी भावो से उसका उत्पन्न—रससम्भवः—होना बताया है और प्रमाण-स्वरूप 'नाट्यशास्त्र' का एक श्लोक उद्धृत किया है,[2] जो वर्त्तमान 'नाट्यशास्त्र' मे 'भवन्ति चात्रश्लोकाः' कहकर उद्धृत किया है।) अनुमान किया जा सकता है कि किसी वासुकि नाम के आचार्य की किसी कृति से वर्त्तमान 'नाट्यशास्त्र' का लेखक परिचित अवश्य था, परन्तु उनका नाम देना कारणवश उचित नही समझा। पाणिनि ने जिन दो आचार्यो का उल्लेख किया है उनकी कुछ बाते भी इन परम्परा-प्राप्त कारिकाओ या सूत्रो मे आयी हैं या नही, यह कहना कठिन है। नन्दिकेश्वर, तण्डु (यह भी अभिनवगुप्त के मत से नन्दिकेश्वर का ही दूसरा नाम है), कोहल आदि आचार्यो का नाम लेकर उल्लेख है और 'गन्धर्ववेद' नामक शास्त्र की भी चर्चा है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्त्तमान 'नाट्यशास्त्र' का लेखक ऐसे लोगो का नामतः उल्लेख करने मे नही हिचकता, जिनकी प्रसिद्धि देवकोटि के लेखको मे है, परन्तु मनुष्य-कोटि के लेखको का वह जान-बूझकर नाम नही लेना चाहता। उद्देश्य है, शास्त्र की सर्वप्रथमता खण्डित न होने देना। कोहल को मनुष्य-कोटि का आचार्य माना गया है, इसलिए भविष्यवाणी के रूप मे[3] इनका उल्लेख किया गया है और प्रथम अध्याय मे इन्हे भरत के पुत्रो मे गिनाया गया है।

ऐसा जान पड़ता है कि 'नाट्यशास्त्र' का कुछ अश काफी पुराना है। महा-महोपाध्याय डॉ. पी. वी. काने का अनुमान है कि वर्त्तमान 'नाट्यशास्त्र' का छठा और सातवाँ अध्याय (रसभाव-विवेचन), 8वे से 14वें तक के अध्याय (जिनमे अभिनय का सविस्तार विवेचन है) तथा 17वे से 35वें तक के अध्याय किसी एक समय

1. 'अभिनव भारती', 1, 6, पृ. 328
2. भा. प्र., पृ. 36-37
3. वही, पृ. 36-65

ग्रथित हुए थे। छठे और सातवें अध्याय के गद्य-अंश और आर्याएँ सन् ईसवी के दो सौ वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थी। वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' को जब अन्तिम रूप दिया गया तब ये जोड़ी गयी[1]। आगे चलकर उन्होंने बताया है कि सन् ईसवी की तीसरी या चौथी शताब्दी में 'नाट्यशास्त्र' को नये सिरे से सजाया गया और उसमें सूत्र-भाष्य शैली के गद्य, पुरानी आर्याएँ तथा श्लोक और जोड़े गये और नवीन रूप देनेवाले सम्पादक ने भी कुछ व्याख्यात्मक कारिकाएँ लिखकर जोड़ी[2]। डॉ. काने ने इसके पक्ष में अनेक प्रमाण दिये हैं जिनको स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी।

ऊपर की विवेचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि भरत के 'नाट्यशास्त्र' का वर्तमान रूप अनेक परम्परा-प्राप्त शास्त्रों का समन्वित रूप है और कुछ परवर्ती भी है। इसका अन्तिम सम्पादन कब हुआ था यह कहना कठिन ही है, परन्तु सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी तक उसने यह रूप अवश्य ही ले लिया होगा; क्योंकि कालिदास-जैसे नाटककार को इस शास्त्र का जो रूप प्राप्त था वह बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। इस बात के लिए विद्वानों ने प्रमाण दिये हैं।

9. 'नाट्यशास्त्र' के लक्ष्यीभूत पाठक

वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' मूलतः तीन प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। प्रथम और मुख्य लक्ष्य तो अभिनेताओं को शिक्षा देने का है। इन लोगों को 'नाट्यशास्त्र' भरत-पुत्र कहता है। 'नाट्यशास्त्र' का यह भी प्रयत्न है कि अभिनेताओं को सामाजिक दृष्टि में ऊँची मान्यता प्राप्त हो। दूसरे लक्ष्यीभूत श्रोता, प्रेक्षक या सामाजिक हैं। भारतीय 'नाट्यशास्त्र' प्रेक्षकों में अनेक गुणों की आशा रखता है। संस्कृत-नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनय के द्रष्टा को कैसा होना चाहिए, इस विषय में 'नाट्यशास्त्र' ने स्पष्ट रूप में कहा है (27-51 और आगे) कि उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिए; ऊहापोह में उसे पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आजकल 'क्रिटिकल आडिएंस' कहते हैं, वैसा होना चाहिए), दोष का जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर आनन्दित न हो सके, अर्थात् जो संवेदनशील न हो, उसे 'नाट्यशास्त्र' प्रेक्षक या दर्शक का पद नहीं देना चाहता। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए 'नाट्यशास्त्र' अनेक प्रकार की नाट्य-रूढ़ियों का विवेचन करता है और ऐसे इंगित बताता है जिससे दर्शक रंगमंच पर अभिनय करनेवाले व्यक्तियों के आकार, इंगित-चेष्टा और भाषा द्वारा बहुत-कुछ अनायास ही समझ ले। 'नाट्यशास्त्र' में ऐसी नाट्य-रूढ़ियों का विस्तारपूर्वक संग्रह किया गया है जो दर्शक को रसानुभूति में सहायता पहुँचा सकती हैं। जैसा कि ऊपर

1. पृ. 18
2. पृ. 22

बताया गया है. अभिनवगुप्त सामाजिक को नाट्य-शिक्षा का उपयुक्त पात्र नहीं मानते। पर यह बात संगत नहीं जान पड़ती। तीसरा लक्ष्यीभूत श्रोता कवि या नाटककार है। शास्त्रकार नाटकों के निबन्धन की विधियाँ बताता है और कथा के विभिन्न अवयवों और अभिनय की विभिन्न चेष्टाओं के संयोग से चरित्र और घटना-प्रवाह के परस्पर आघात प्रत्याघात द्वारा विकसित होनेवाले नाटकीय रसानुभूति के सूक्ष्म कौशलों का परिचय कराता है। वह आशा करता है कि कवि या नाटककार इन सूक्ष्म कौशलों का अच्छा जानकार होगा और कथा का ऐसा [illegible]
[illegible]
का संक्षेपीकरण हुआ और अभिनेता तथा पाठक की अपेक्षा कवि या नाटककार को ही ध्यान में रखकर छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की गयी है। 'दशरूपक' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसका मुख्य उद्देश्य नाटककारों को नाट्य-निबन्धन की विधि बताना है। अभिनेता उसकी दृष्टि में बहुत कम है और सहृदय प्रेक्षक बहुत गौण रूप से है। आगे इसी संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति पर विचार किया जायेगा।

10. परवर्ती नाट्य-ग्रन्थ

कई परवर्ती आचार्यों ने 'नाट्यशास्त्र' की टीका या भाष्य लिखे थे। इनमें अभिनवगुप्त की 'अभिनव-भारती' प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। कीर्तिधर, नान्यदेव, उद्भट, शकुक आदि की टीकाओं की चर्चा तो मिल जाती है, पर वे अभी तक उपलब्ध नहीं हुए है।

'नाट्यशास्त्र' (चौखम्बा संस्करण) के बीसवें अध्याय में दशरूप-विधान, इक्कीसवें में सन्धियाँ और उनके अंगों तथा बाईसवें अध्याय में वृत्तियों का विस्तार-पूर्वक उल्लेख है। इन अध्यायों से सामग्री लेकर कई आचार्यों ने ग्रन्थ लिखे थे। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है, धनंजय का 'दशरूपक', जिस पर उनके भाई धनिक की व्याख्या (वृत्ति) है। ये दोनों आचार्य भाई थे और सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। इनके अतिरिक्त सागर नन्दी का 'नाटक लक्षण रत्न-कोश' (11वीं शताब्दी), रामचन्द्र और गुणचन्द्र का 'नाट्यदर्पण' (12वीं शताब्दी का अन्त्य भाग), शारदातनय का 'भाव-प्रकाशन' (13वीं शती), शिंगभूपाल की 'नाटक-परिभाषा' (14वीं शताब्दी), रूप गोस्वामी की 'नाटक-चन्द्रिका' (15-16वीं शताब्दी), सुन्दर मिश्र का 'नाट्य प्रदीप' (17वीं शताब्दी) आदि ग्रन्थ हैं। इन सबका आधार भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही है। भोजराज (11वीं शताब्दी) ने 'शृंगारप्रकाश' और 'सरस्वती कण्ठाभरण' में अन्य काव्यांगों के साथ नाटक का भी विवेचन किया है। हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' में भी कुछ नाटकों की विवेचना है। विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' और विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' में काव्य के अन्य अंगों के विवेचन के साथ नाट्य-विवेचन है। अन्तिम ग्रन्थ अधिक सद्ध है!

इन नये ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य कवि को नाटक लिखने की विधि बताना है। इनमें कथावस्तु, नायक-नायिका, रस-विचार, रूपक-लक्षण आदि का विस्तार है। यद्यपि इन सबका मूल भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही है, तथापि इनमें परस्पर मतभेद भी कम नहीं है। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है 'दशरूपक'।

11. 'दशरूपक'

'दशरूपक' के लेखक विष्णु-पुत्र धनञ्जय हैं जो मुञ्जराज (974-995 ई) के सभासद थे। भरत के 'नाट्यशास्त्र' को अति विस्तीर्ण समझकर उन्होंने इस ग्रन्थ में नाट्य-शास्त्रीय उपयोगी बातों को संक्षिप्त करके कारिकाओं में यह ग्रन्थ लिखा। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाये तो अधिकांश कारिकाएँ अनुष्टुप छन्दों में लिखी गयी हैं। संक्षेप में लिखने के कारण ये कारिकाएँ दुरूह भी हो गयी थीं। इसीलिए उनके भाई धनिक ने कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट करने के उद्देश्य से इस ग्रन्थ पर 'अवलोक' नामक वृत्ति लिखी। यह वृत्ति न होती तो धनञ्जय की कारिकाओं का समझना कठिन होता। इसलिए पूरा ग्रन्थ वृत्ति-सहित कारिकाओं को ही समझना चाहिए। धनञ्जय और धनिक दोनों का ही महत्त्व है।

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' के बीसवें अध्याय को 'दशरूप-विकल्पन' (20.1) या 'दशरूप-विधान' कहा गया है। इसी आधार पर धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' दिया है। 'नाट्यशास्त्र' में निम्नांकित दस रूपकों का विधान है - नाटक, प्रकरण, अंक (उत्सृष्टिकांक), व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग। एक ग्यारहवें रूपक 'नाटिका' की चर्चा भी भरत के 'नाट्यशास्त्र' और 'दशरूपक' में आयी है। परन्तु उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना गया है। भरत ने नाटिका को नाटक और प्रकरण में अन्तर्भुक्त कर दिया है (20.64)। परवर्ती आचार्यों में रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने अपने 'नाट्य-दर्पण' में नाटिका और प्रकरणिका को दो स्वतन्त्र रूपक मानकर रूपकों की संख्या 12 कर दी है तथा विश्वनाथ ने नाटिका और प्रकरणी को उपरूपक मानकर रूपकों की संख्या दस ही मानी है। धनञ्जय ने भरत का अनुसरण करते हुए नाटिका का उल्लेख तो कर दिया है, पर उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना। रूपकों के भेदक तत्त्व हैं कथा-वस्तु, नायक और रस। नाटिका में ये तीनों नाटक और प्रकरण से भिन्न नहीं हैं, इसलिए भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' (20, 62-64) में इसे नाटक और प्रकरण के भावों पर आश्रित कर दिया था। धनञ्जय ने उसी का अनुसरण किया है। इस प्रकार रूपकों की संख्या दस बनाये रखकर वे मंगलाचरण में विष्णु के दस (अवतार) रूपों के साथ समानता बताकर श्लेष करने का अवसर भी पा गये हैं।

12. रूपकों के भेदक तत्त्व

जैसा कि ऊपर बताया गया है, धनञ्जय ने कथावस्तु, नायक और रस को रूपकों का भेदक तत्त्व माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थ को चार प्रकाशों में विभक्त किया है।

इनमें से प्रथम में कथावस्तु का विवेचन है, दूसरे में नायक, तीसरे में पूर्वांग और भारती आदि वृत्तियों और चौथे में रस का विवेचन किया गया है।

यदि वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से रूपकों के भेद की कल्पना की जाय तो स्पष्ट ही बहत्तर मोटे भेद स्वीकार करने पड़ेंगे; क्योंकि धनञ्जय के मत से कथा-वस्तु तीन प्रकार की होती है . (1) प्रख्यात (इतिहास-गृहीत), (2) उत्पाद्य (कल्पित), और (3) मिश्र। नेता या नायक भी तीन प्रकार के होते हैं: (1) उत्तम, (2) मध्यम, और (3) नीच। स्वभाव से ये भी चार प्रकार के कहे गये हैं: (1) उदात्त, (2) उद्धत, (3) ललित, और (4) प्रशान्त। पर तीन भेद—उत्तम, मध्यम, नीच—प्राथमिक हैं। रस आठ हैं: शृंगार, वीर, करुण, बीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत और भयानक। धनञ्जय शान्त रस को नाटक में नहीं स्वीकार करते। इस प्रकार वस्तु, नायक और रस-भेद से $3 \times 3 \times 8 = 72$ भेद हो जाते हैं। परन्तु भरत व्यावहारिक नाट्य-प्रयोग के विवेचक थे। उन्होंने उन्हीं दस रूपकों की विवेचना की है जो उनके समय में प्रचलित थे। और किसी ने भी इस प्रकार रूपक का विभाजन नहीं किया।

13 विभिन्न रूपकों की कथावस्तु

कोई भी रूपक हो, उसमें एक कथा होगी। धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश के उपसंहार में रूपक को *'नेतृ-रसानुगुण्या कथा'* कहा है। रस मुख्य है, रस और नेता के अनुकूल ही कथा होती है। कवि कथा को या तो रामायण, महाभारत आदि प्रख्यात ग्रन्थों से लेता है या कल्पना द्वारा स्वयं रच लेता है। इस प्रकार प्रख्यात और उत्पाद्य (कल्पित), ये दो भेद हो जाते हैं। कभी कुछ अंश तो इतिहास-गृहीत होता है और कुछ कल्पित। उस हालत में कथा 'मिश्र' कही जाती है। कथा का इस प्रकार तीन श्रेणियों में विभाजन करना आवश्यक है; क्योंकि कवि (नाटक-कार) के लिए यह बात महत्त्व की है। प्रख्यात कथा में वह बहुत-कुछ बन्धन में होता है। कल्पित कथा में ये बन्धन नहीं होते। दोनों के सँभालने के कौशल में भेद होता है। मिश्र कथा में भी बन्धन कुछ-न-कुछ रहता ही है। रूपकों की कथावस्तु इस प्रकार अलग-अलग किस्म की हो जाती है:

रूपक का नाम	कथावस्तु का प्रकार
नाटक	प्रख्यात
प्रकरण	उत्पाद्य
नाटिका	कथा उत्पाद्य, किन्तु नायक प्रख्यात
भाण	उत्पाद्य
प्रहसन	उत्पाद्य
डिम	प्रख्यात
व्यायोग	प्रख्यात

रूपक का नाम	कथावस्तु का प्रकार
समवकार	प्रख्यात
वीथी	उत्पाद्य
उत्सृष्टिकाक	प्रख्यात
ईहामृग	मिश्र

14. आधिकारिक और प्रासंगिक कथा

एक बार नाटककार जब कथा का आहरण या उपकल्पन कर लेता है, तो उसे सरल या जटिल कथा-रूपों में परिणत कर देता है। यह जरूरी नहीं है कि सभी कथा-वस्तुएँ जटिल ही हों। पर जो जटिल होती हैं उनमें एक या एकाधिक कथाएँ मुख्य कथा से जुड़ जाती हैं। मुख्य कथा को आधिकारिक और सहायक कथाओं को प्रासंगिक कहते हैं। बहुत-से रूपकों का गठन ऐसा होता है कि उनमें प्रासंगिक कथा आ ही नहीं पाती। प्रासंगिक कथाएँ भी दो प्रकार की होती हैं: एक तो वे जो आधिकारिक कथा के समानान्तर दूर तक चलती रहती है, जैसे रामायण में सुग्रीव की कथा; दूसरी वे जो थोड़ी दूर तक चलकर विरत हो जाती हैं, जैसे रामायण में शबरी या जटायु का प्रसंग। पहली को पताका कहते है, दूसरी को प्रकरी। पताका और प्रकरी में एक और भेद है। पताका के नायक का कुछ अपना स्वार्थ भी होता है, किन्तु प्रकरी के नायक या नायिका का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। इस प्रकार कथावस्तु के दो सहायक अंग हैं। इनकी स्थिति केवल जटिल कथावस्तु में ही होती है।

15. अर्थप्रकृतियाँ

अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं: (1) बीज, (2) बिन्दु, (3) पताका, (4) प्रकरी, और (5) कार्य। इनमें पताका और प्रकरी की चर्चा ऊपर हो चुकी है। धनञ्जय ने रूपक की कथावस्तु के आरम्भ की उस स्वल्पोद्दिष्ट बात को बीज बताया है जो रूपक के फल का हेतु होता है, जैसे भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह बीज है, जिसका फल है द्रौपदी का केश-संयमन-रूपी कार्य। इस प्रकार बीज आरम्भ में थोड़े में कहा हुआ कथावस्तु का वह अंग है जो आगे चलकर फलसिद्धि का हेतु बनता है। बीज हेतु है, कार्य फल। बिन्दु को धनञ्जय ने इस प्रकार समझाया है कि अवान्तर अर्थ का जब विच्छेद होता है तो मूल कथा से जोड़ने का काम बिन्दु करता है। यह परिभाषा कुछ स्पष्ट नहीं है। कई लोग इससे भ्रम में पड़ जाते हैं और अनेक प्रकार की जल्पना-कल्पना करने लगते हैं। धनिक की वृत्ति में कहा गया है कि अर्थप्रकृतियाँ प्रयोजन-सिद्धि का हेतु हुआ करती हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के 'नाट्य-दर्पण' में इन अर्थप्रकृतियों को 'उपाय' कहा गया है। इन पाँच उपायों में से दो—बीज और कार्य—अचेतन हैं; तीन—बिन्दु, पताका और प्रकरी—चेतन

है। नाट्य-दर्पणकारों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि न तो ये उस क्रम से आते हैं जिस क्रम से उनको गिनाया गया है और न अवश्यम्भावी या अपरिहार्य ही हैं। इनका सन्निवेश यथारुचि किया जाना चाहिए। बहुत-से ऐसे कथानक हो सकते हैं जिनमें पताका या प्रकरी हो ही नहीं; बहुत-से ऐसे होंगे जिनमें इनका क्रम उलटा हो सकता है! वस्तुतः ये अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के उपाय हैं और आरम्भ आदि आगे बतायी जानेवाली अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं।

निम्नांकित सारणी से अर्थप्रकृतियों का स्वरूप समझ में आ जायेगा :
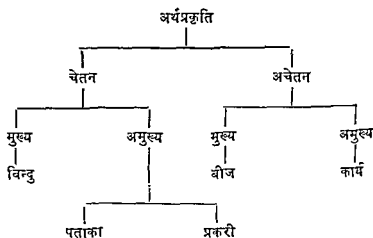
इस प्रकार ये अर्थप्रकृतियाँ 'फल' अर्थात् मुख्य साध्य के हेतुभूत कवि-निबद्ध उपाय हैं। इनमें 'बीज' नाटक के इतिवृत्त या कथावस्तु का उपाय है। यह मुख्य है, क्योंकि यही क्रमशः अंकुरित-पल्लवित होकर फलरूप मे परिणत होता है। आमुख मे नट बीजभूत उक्तियों को कह देता है और बाद मे मुख्य कथा का कोई प्रमुख पात्र उसे दुहराता है। यह कथा की वह स्थिति है जो घटनाओं के संघट्ट से मुख्य पात्र के सम्मुख किसी के द्वारा उपस्थित कर दी गयी होती है। वह सोच-विचारकर प्रयत्नपूर्वक किया हुआ पात्र-विशेष का कार्य न होने से उसे अचेतन माना जाता है। फल इस बीज के पल्लवित-पुष्पित होने से उपस्थित होता है। बीज मुख्य है, फल अमुख्य। पताका, प्रकरी और विन्दु चेतन प्रयत्न है; समझ-बूझकर नाटककार द्वारा संयोजित होते है। इनमे भी विन्दु मुख्य होता है। नाटक का घटना-प्रवाह जब-जब अभीष्ट दिशा से हटकर दूसरी ओर मुड़ने लगता है, अलग होने लगता है, तब-तब नाटककार नायक, प्रतिनायक, सहकारी आदि पात्रो की सहायता से उसे अभीष्ट दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है। इसीलिए यह सारे कथाभाग मे विद्यमान रहता है। पताका, प्रकरी और विन्दु कवि के अनुध्यात लक्ष्य तक ले जानेवाले साधन हैं, इसीलिए इन्हे 'चेतन' माना गया है। पताका और प्रकरी कथानक मे रहे ही, यह आवश्यक नही है, पर विन्दु रहता है। वस्तुतः बीज, बिन्दु और कार्य, ये तीन आवश्यक अर्थप्रकृतियाँ है। बीज पर कवि का नियन्त्रण

नहीं होता, परन्तु विन्दु उसके उस यत्नपूर्वक नियन्त्रण का ही नामान्तर है जो कथानक को अभीप्ट दिशा में मोड़ता रहता है। ये दो मुख्य हैं।

विन्दु पात्रों की कवि-निवद्ध चेतन चेष्टाएँ हैं, पर कार्य अचेतन साधन; जैसे सैन्य-सामग्री, दुर्ग, कोश, धन आदि। किसी वृक्ष का उपमान लें तो वीज, वीज है; विन्दु उसे सुरक्षित, पल्लवित, पुष्पित करने का सोद्देश्य प्रयत्न है; कुदाल, खाद आदि कार्य है; पताका, किसी स्वार्थसिद्धि के प्रतिदान मे नियुक्त माली है और प्रकरी, क्वचित्-कदाचित् अनायास उपस्थित होकर सहायता कर जानेवाला हितैषी।

16. पाँच अवस्थाएँ और पाँच सन्धियाँ

धनञ्जय के अनुसार फल की इच्छा रखनेवाले नायक आदि के द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं : आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। दूसरे आचार्य इन्हें नेता के चरित्र (वृत्त) की पांच अवस्था कहते हैं। भरत ने इन्हें साधक के व्यापार की अवस्थाएँ कहा है (21.7)। धनंजय ने भरत का ही अनुसरण किया है। वस्तुत: वृत्त और व्यापार में कोई विशेष अन्तर नहीं है। पात्र जो कुछ करता है (व्यापार, कार्य), वही उसका चरित है। नायक *के व्यापार की ये पाँच अवस्थाएँ हैं जो कथावस्तु में रूप ग्रहण करती हैं। ये स्वयं* कथावस्तु नहीं हैं, कथावस्तु में क्रमशः विकसित होनेवाले साधक व्यापार या नायक के कार्य के सिवा और भी बहुत-सी बातें होती हैं।

इस प्रकार अर्थप्रकृतियाँ कथानक को अभीप्ट लक्ष्य तक ले जाने के लिए नाटककार द्वारा निवद्ध उपाय है और अवस्थाएँ नायक के व्यापार है। नेता या नायक के मन में फल-प्राप्ति के लिए औत्सुक्य (प्रारम्भ), उसके लिए प्रयत्न (प्रयत्न), उसके प्राप्त होने की आशा (प्राप्त्याशा), विघ्नों के समाप्त हो जाने से उसके प्राप्त होने की निश्चितता (नियताप्ति) और उसकी प्राप्ति (फलागम), ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं। ये नाटक को विचित्र भाव और घटनाओं से समृद्ध करती है। किन्तु कवि या नाटककार का सबसे बड़ा कौशल विन्दु की योजना मे प्रकट होता है। इसी उपाय के द्वारा वह कथा को अवान्तर प्रसंगों में वहकने से रोकता है और नायक की प्रयत्नादि अवस्थाओं को जागरूक बनाये रखता है। नाटक-रचना कठिन काम है। विन्दु-विधान भी कठिन साधना है। ज़रा भी कथा वहकी तो सँभालना मुश्किल हो जाता है। जरूरत पड़ने पर नाटककार पताका और प्रकरी-जैसे चेतन उपायों का आश्रय लेता है और कार्य-जैसे अचेतन उपादान (सैन्य, कोष आदि) का भी सहारा लेता है। पर विन्दु-विधान सर्वत्र आवश्यक होता है। 'अर्थ-प्रकृति' मे अर्थ शब्द का तात्पर्य है पूरा नाटकार्थ और *'प्रकृति' शब्द का तात्पर्य है प्रकार या उपाय।* धनंजय की अपेक्षा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसे अधिक स्पष्टता से समझाया है।

17. पाँच सन्धियाँ

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में कहा है कि इतिवृत्त काव्य का शरीर होता है और पाँच सन्धियाँ उसके पाँच विभाग हैं। धनंजय के अनुसार किसी एक प्रयोजन द्वारा अन्वित कथा-भागों को किसी दूसरे प्रयोजन से युक्त करनेवाला सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। ये पाँच हैं : (1) मुख (नाना अर्थों और रसों की हेतुभूता बीजोत्पत्ति), (2) प्रतिमुख (बीज का उद्भेद या फूटना), (3) (गर्भ छिपकर अदृष्ट हो गये बीज का अन्वेषण), (4) अवमर्श या विमर्श (बीज अर्थ का पुनः प्रकट होना), और (5) उपसंहृति या निर्वहण (बिखरे अर्थों का एक उद्देश्य की ओर उपसंहरण)। धनंजय ने एक विवादास्पद कारिका में कहा है कि पाँचों अर्थप्रकृतियाँ, पाँचों अवस्थाओं से समन्वित होकर क्रमशः पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं।[1] यह बात भ्रम पैदा करनेवाली सिद्ध हुई है। अर्थप्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ 'यथारूप' गठबन्धन ठीक नहीं बैठता। पताका एक अर्थप्रकृति है, प्रकरी दूसरी। पताका के बाद प्रकरी को गिनाया गया है। पताका का उदाहरण है रामायण में सुग्रीव की कथा, प्रकरी का उदाहरण है वहीं शबरी की कथा। लेकिन रामायण में पताका बाद में आती है, प्रकरी पहले। क्रम कहाँ रहा? बिन्दु एक अर्थप्रकृति है। वह नाटक में [illegible] अवश्य बताया गया है। अर्थप्रकृतियों से उनका सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है कि पताका में भी सन्धियाँ होती हैं। नाट्यदर्पणकार ने उन्हें अनुसन्धि कहा है और स्वयं धनंजय ने भी अन्यत्र उन्हें अनुसन्धि कहा है। इसलिए धनंजय की उक्त कारिका, जिसमें अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं—दोनों के साथ सन्धियों का गठबन्धन किया गया है, भ्रामक है। उसकी भरतमतानुयायी व्याख्या—थोड़ी कष्ट-कल्पना के साथ—इस प्रकार की जा सकती है : 'अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं। अवस्थाएँ भी पाँच हैं। इनके समन्वित रूप से इतिवृत्त बनता है। उसके पाँच विभाग होते हैं जो सन्धि कहलाते हैं। ये सन्धियाँ अवस्थाओं के क्रम से होती हैं।' इस प्रकार की व्याख्या में 'यथासंख्येन' का अन्वय 'पंचावस्था' से किया जायेगा। परन्तु ऐसा अर्थ कष्ट-कल्पित ही है।

जो हो, सन्धियाँ कथावस्तु के भाग हैं। कुल मिलाकर इनके 64 अंग हैं जो सन्ध्यंग कहे जाते हैं। धनंजय ने अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं का साथ-साथ उल्लेख करके अपने ग्रन्थ के पाठकों में कुछ भ्रम अवश्य उत्पन्न किया है। कीथ ने 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत ड्रामा' नामक ग्रन्थ में कहा है कि "सन्धियों का विभाजन तो

1. अर्थप्रकृतयः पञ्च, पञ्चावस्था समन्विताः
यथासङ्ख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः।
—'दशरूपक', 1, 22-23

ठीक है, क्योंकि इसमें नाटकीय संघर्षों पर जोर दिया गया है। इस विभाजन का उद्देश्य है कि किस प्रकार नायक विघ्नों को जीतकर फल-प्राप्ति की ओर बढ़ता है। परन्तु अर्थप्रकृति की कल्पना व्यर्थ जान पड़ती है। सन्धियों की कल्पना कर लेने के बाद अर्थप्रकृति का विभाजन बेमतलब का जान पडता है। फिर, पाँच सन्धियों का पाँचों अवस्थाओं और पाँचों अर्थप्रकृतियों के साथ जोड़ना दोषपूर्ण है।"

स्पष्ट है कि धनंजय का श्लोक इस प्रकार की भ्रान्त आलोचना का कारण है। कीथ की आलोचना नाट्यशास्त्र' की नहीं है, 'दशरूपक' की आलोचना है। वस्तुतः, जैसा कि हमने ऊपर दिखाया है, अर्थप्रकृति कथा के उचित संघटन के उपाय हैं, अवस्थाएँ नाटक के नायक की फलप्राप्ति-जन्य क्रियाओं की अवस्थाएँ हैं और सन्धियाँ, इन अवस्थाओं को अनुकूल दिशा में ले जानेवाले उस घटनाचक्र के, जो अर्थप्रकृतियों से मिलकर पूरा इतिवृत्त या कथानक बन जाता है, विभिन्न अंग है। इनके 64 भेदों का 'नाट्यशास्त्र' और 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक वर्णन है। नीचे की तालिका से इन सन्धियों और सन्ध्यंगों का सामान्य परिचय हो जायेगा :

सन्धियाँ	अंग
मुख	1. उपक्षेप, 2. परिकर, 3. परिन्यास, 4. विलोभन, 5. युक्ति, 6. प्राप्ति, 7. समाधान, 8. विधान, 9. परिभावना, 10. उद्-भेद, 11. भेद, 12. करण।
प्रतिमुख	13. विलास, 14. परिसर्प, 15. विधूत, 16. शाम, 17. नर्म, 18. नर्मद्युति, 19. प्रगमन, 20. निरोध, 21. पर्युपासन, 22. वज्र, 23. पुष्प, 24 उपन्यास, 25. वर्णसंहार।
गर्भ	26. अभूताहरण, 27. मार्ग, 28. रूप, 29. उदाहरण, 30. क्रम, 31. सग्रह, 32. अनुमान, 33. तोटक, 34. अधिवल, 35. उद्वेग, 36. सम्भ्रम, 37. आक्षेप।
विमर्श (अवमर्श)	38. अपवाद, 39. सम्फेट, 40. विद्रव, 41. द्रव, 42. शक्ति, 43. क्षुति, 44. प्रसग, 45. छलन, 46. व्यवसाय, 47. विरोधन, 48. प्ररोचना, 49. विचलन, 50. आदान।
निर्वहण	51. सन्धि, 52. विबोध, 53. ग्रथन, 54. निर्णय, 55. परि-भाषण, 56. प्रसाद, 57. आनन्द, 58. समय, 59. कृति, 60. भाषा, 61. उपगूहन, 62. पूर्वभाव, 63. उपसंहार, 64. प्रशस्ति।

18. सन्ध्यंग का प्रयोग आवश्यकतानुसार

इन सभी अंगों का नाटक में प्रयोग अनिवार्य नहीं है। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' (21-1-107) मे कहा है कि क्वचित्-कदाचित् ही सभी अग किसी एक ही

रूपक में मिलें। कभी-कभी दो-तीन से भी काम चल जाता है। कार्य और अवस्था को देखकर इन अंगों का प्रयोग करना चाहिए। यह महत्त्वपूर्ण बात कहना धनंजय भूल गये हैं। फिर भी उन्होंने कह दिया है कि कुछ खास प्रयोजन हैं जिनके लिए इन सन्ध्यंगों का प्रयोग किया जाता है। ये प्रयोजन छः हैं: अभीष्ट अर्थ की रचना, गोपनीय की गुप्ति, प्रकाशन, राग और प्रयोग का आश्चर्य। इससे यह बात अनुमित होती है कि जहाँ जरूरत हो वहीं इनका प्रयोग करना चाहिए।

वस्तुत: रूपक के कथानक की योजना नेता के स्वभाव और रस के अनुकूल होती है। व्यायोग का नेता या नायक उद्धत नायक होता है। शृंगार रस उसका लक्ष्य नहीं है। दीप्त रस उसका लक्ष्य है। उद्धत स्वभाव का यह नायक प्रारम्भ के बाद यत्न करता है और तुरन्त फल-प्राप्ति के लिए अधीर हो जाता है। प्राप्त्याशा और नियताप्ति-जैसी उलझनों में वह नहीं पड़ता। उसे तुरन्त फलागम चाहिए। उसके कथानक की योजना उसके हड़बड़ीवाले स्वभाव को ध्यान में रखकर ही करनी होगी, नहीं तो रस में व्याघात पहुँचेगा। यही कारण है कि उस कथानक में गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं आ सकतीं। नीचे की सारणी से स्पष्ट होगा कि किस प्रकार के रूपक में किन अवस्थाओं और किन सन्धियों की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

रूपकों के नाम	कौन-कौन अवस्थाएँ होती हैं	कौन-कौन सन्धियाँ होती हैं	कौन-कौन सन्धियाँ नहीं होतीं
1. नाटक	सभी (पाँचों)	सभी (पाँचों)	
2. प्रकरण	"	"	
3. नाटिका	"	"	
4. व्यायोग	प्रारम्भ, यत्न, फलागम	मुख प्रतिमुख, निर्वहण	गर्भ और विमर्श
5. ईहामृग	"	"	"
6. सम-वकार	प्रारम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, फलागम	मुख, प्रतिमुख, गर्भ, निर्वहण	विमर्श
7. डिम	"	"	"
8. भाण	प्रारम्भ, फलागम	मुख, निर्वहण	प्रतिमुख गर्भ, विमर्श
9. प्रहसन	"	"	"
10. उत्सृष्टि-कांक	"	"	"
11. वीथी	"	"	"

19. कथा के दो भाग

नाटक और अन्य रूपक यदि दृश्य काव्य न होते तो कथावस्तु की विवेचना यहीं

समाप्त हो जाती। परन्तु नाटककार और अभिनेता की कठिनाइयाँ अनेक है। बहुत बड़ी कथा को उन्हे थोड़ी देर में दिखाना पड़ता है। सभी प्रसग मार्मिक नही होते, पर दर्शक को सभी बातें न बतायी जायें तो कथानक उसकी समझ में ही न आये। इसलिए नाटककार कुछ मार्मिक अशों को रंगमंच पर दिखाने के लिए चुन लेता है और कुछ को किसी-न-किसी कौशल से सूचित कर देता है। इस प्रकार कथा के दो भाग हो जाते है : दृश्य और सूच्य। दृश्य अश का विधान अंको मे होता है। 'अंक' शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है, यह केवल अनुमान का विषय है। संस्कृत मे इस शब्द का प्रयोग कई अर्थो मे होता है। संख्या, चिह्न, गोद आदि अर्थ परिचित ही है, परन्तु नाटक के 'अंक' से इनका सम्बन्ध नही जान पडता। भरत मुनि ने लिखा है (20.14) कि यह रूढ़ि शब्द है। भाव और अर्थो के द्वारा, नाना विधान-युक्त होकर अर्थो का आरोहण कराता है, इसलिए इसे अंक कहते है। इसका एक पुराना अर्थ उतार-चढ़ाव बतानेवाला घुमाव भी है। कदाचित् नाटकीय घटनाओ के आरोह-अवरोह को प्रकट करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता रहा हो। यवन-नाट्याचार्यो की भाँति भरत भी एक दिन मे समाप्त होनेवाली घटना को ही एक अंक में देने का निर्देश करते हैं। सभी रूपकों मे अंकों की सख्या एक ही तरह की नही होती। कुछ तो एक ही अंक मे समाप्त हो जाते हैं। नाटक और प्रकरण में 5 से 10 तक अक हो सकते है, इसलिए अवस्थाओ और सन्धियो से कठोरतापूर्वक निबद्ध नही हो सकते। अंकों में महत्त्वपूर्ण भावोद्रेचक प्रसंग ही दिखाये जाते है। जो बातें साधारण होती हैं, उन्हें कुछ कौशलों से सूचित मात्र कर दिया जाता है। प्रायः दो अवान्तर पात्रों की बातचीत से (विष्कम्भक, प्रवेशक) या नाटक के किसी अक में अभिनय करनेवाले पात्रों द्वारा ही (अंकमुख, अंकावतार) या परदे के पीछे (चूलिका) से ये सूचनाएँ दे दी जाती हैं। ये नाटकीय कौशल है। एक और प्रकार का कौशल भी कथावस्तु मे प्रयुक्त होता है। उसे आकाशभाषित कहते हैं। पात्र आसमान की ओर मुँह करके कहता है 'क्या कहते हो ? अमुक बात ? तो सुनो।' और अभीष्ट सूचना दे जाता है ('दशरूपक', 57-67)। सब बातें नाटक के सभी पात्रों के सुनने योग्य नही होती। कुछ पात्र अपने मनोभावों को जोर-जोर से कहता है (स्वगत), यह और पात्र नही सुनते; कुछ एक-दो सुनते हैं, बाकी नही सुनते (जनान्तिक, अपवार्य); और कुछ सब सुनते हैं। ये नाटकीय रूढियाँ है।

20. नेता या नायक

'नाट्यशास्त्र' में नेता या नायक शब्द दो अर्थों मे व्यवहृत हुआ है। एक तो नाटक के मुख्य पात्र के अर्थ में और दूसरा सामान्य पात्रों के अर्थ मे। पहला अर्थ ही मुख्य है। चार प्रकार के नायकों की चर्चा आती है : धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित और धीरोद्धत। सबके आगे जो 'धीर' विशेषण लगा हुआ है, उसने कभी-कभी भ्रम पैदा होता है। जो उद्धत है वह धीर कैसे हो सकता है ? उद्धत तो स्वभाव से ही चपल और चण्ड होता है। वस्तुतः धीर शब्द का संस्कृत मे प्रचलित

रूपक मे मिलें। कभी-कभी दो-तीन से भी काम चल जाता है। कार्य और अवस्था को देखकर इन अंगो का प्रयोग करना चाहिए। यह महत्त्वपूर्ण बात कहना धनंजय भूल गये हैं। फिर भी उन्होने कह दिया है कि कुछ खास प्रयोजन हैं जिनके लिए इन सन्ध्यंगो का प्रयोग किया जाता है। ये प्रयोजन छः हैं: अभीप्ट अर्थ की रचना, गोपनीय की गुप्ति, प्रकाशन, राग और प्रयोग का आश्चर्य। इससे यह बात अनुमित होती है कि जहाँ जरूरत हो वही इनका प्रयोग करना चाहिए।

वस्तुतः रूपक के कथानक की योजना नेता के स्वभाव और रस के अनुकूल होती है। व्यायोग का नेता या नायक उद्धत नायक होता है। शृंगार रस उसका लक्ष्य नही है। दीप्त रस उसका लक्ष्य है। उद्धत स्वभाव का यह नायक प्रारम्भ के बाद यत्न करता है और तुरन्त फल-प्राप्ति के लिए अधीर हो जाता है। प्राप्त्याशा और नियताप्ति-जैसी उलझनो मे वह नही पड़ता। उसे तुरन्त फलागम चाहिए। उसके कथानक की योजना उसके हड़बड़ीवाले स्वभाव को ध्यान मे रखकर ही करनी होगी, नही तो रस में व्याघात पहुँचेगा। यही कारण है कि उस कथानक में गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नही आ सकती। नीचे की सारणी से स्पष्ट होगा कि किस प्रकार के रूपक में किन अवस्थाओं और किन सन्धियों की आवश्यकता नही समझी जाती।

रूपकों के नाम	कौन-कौन अवस्थाएँ होती हैं	कौन-कौन सन्धियाँ होती हैं	कौन-कौन सन्धियाँ नहीं होतीं
1. नाटक	सभी (पाँचों)	सभी (पाँचों)	
2. प्रकरण	"	"	
3. नाटिका	"	"	
4. व्यायोग	प्रारम्भ, यत्न, फलागम	मुख प्रतिमुख, निर्वहण	गर्भ और विमर्श
5. ईहामृग	"	"	"
6. सम-वकार	प्रारम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, फलागम	मुख, प्रतिमुख, गर्भ, निर्वहण	विमर्श
7. डिम	"	"	"
8. भाण	प्रारम्भ, फलागम	मुख, निर्वहण	प्रतिमुख गर्भ, विमर्श
9. प्रहसन	"	"	"
10. उत्सृष्टि-काक	"	"	"
11. वीथी	"	"	"

19. कथा के दो भाग

नाटक और अन्य रूपक यदि दृश्य काव्य न होते तो कथावस्तु की विवेचना यही

समाप्त हो जाती। परन्तु नाटककार और अभिनेता की कठिनाइयाँ अनेक है। बहुत बड़ी कथा को उन्हे थोड़ी देर मे दिखाना पड़ता है। सभी प्रसग मार्मिक नही होते, पर दर्शक को सभी बाते न बतायी जायें तो कथानक उसकी समझ में ही न आये। इसलिए नाटककार कुछ मार्मिक अंशों को रगमञ्च पर दिखाने के लिए चुन लेता है और कुछ को किसी-न-किसी कौशल से सूचित कर देता है। इस प्रकार कथा के दो भाग हो जाते है : दृश्य और सूच्य। दृश्य अश का विधान अंकों मे होता है। 'अंक' शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है, यह केवल अनुमान का विषय है। संस्कृत मे इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों मे होता है। संख्या, चिह्न, गोद आदि अर्थ परिचित ही है, परन्तु नाटक के 'अंक' से इनका सम्बन्ध नही जान पड़ता। भरत मुनि ने लिखा है (20.14) कि यह रूढ़ि शब्द है। भाव और अर्थो के द्वारा, नाना विधान-युक्त होकर अर्थो का आरोहण कराता है, इसलिए इसे अंक कहते है। इसका एक पुराना अर्थ उतार-चढ़ाव बतानेवाला घुमाव भी है। कदाचित् नाटकीय घटनाओ के आरोह-अवरोह को प्रकट करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता रहा हो। यवन-नाट्याचार्यों की भाँति भरत भी एक दिन मे समाप्त होनेवाली घटना को ही एक अंक मे देने का निर्देश करते है। सभी रूपकों में अंको की सख्या एक ही तरह की नही होती। कुछ तो एक ही अंक मे समाप्त हो जाते है। नाटक और प्रकरण में 5 से 10 तक अक हो सकते हैं, इसलिए अवस्थाओ और सन्धियो से कठोरतापूर्वक निबद्ध नही हो सकते। अकों में महत्त्वपूर्ण भावोद्रेचक प्रसंग ही दिखाये जाते है। जो बातें साधारण होती है, उन्हें कुछ कौशलों से सूचित मात्र कर दिया जाता है। प्रायः दो अवान्तर पात्रो की बातचीत से (विष्कम्भक, प्रवेशक) या नाटक के किसी अंक में अभिनय करनेवाले पात्रों द्वारा ही (अकमुख, अंकावतार) या परदे के पीछे (चूलिका) से ये सूचनाएँ दे दी जाती है। ये नाटकीय कौशल है। एक और प्रकार का कौशल भी कथावस्तु मे प्रयुक्त होता है। उसे आकाशभाषित कहते है। पात्र आसमान की ओर मुँह करके कहता है 'क्या कहते हो ? अमुक बात ? तो सुनो।' और अभीष्ट सूचना दे जाता है ('दशरूपक', 57-67)। सब बातें नाटक के सभी पात्रों के सुनने योग्य नही होती। कुछ पात्र अपने मनोभावों को जोर-जोर से कहता है (स्वगत), यह और पात्र नहीं सुनते; कुछ एक-दो सुनते हैं, बाकी नहीं सुनते (जनान्तिक, अपवार्य); और कुछ सब सुनते है। ये नाटकीय रूढियाँ है।

20. नेता या नायक

'नाट्यशास्त्र' में नेता या नायक शब्द दो अर्थो मे व्यवहृत हुआ है। एक तो नाटक के मुख्य पात्र के अर्थ मे और दूसरा सामान्य पात्रों के अर्थ में। पहला अर्थ ही मुख्य है। चार प्रकार के नायकों की चर्चा आती है : धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित और धीरोद्धत। सबके आगे जो 'धीर' विशेषण लगा हुआ है, उससे कभी-कभी भ्रम पैदा होता है। जो उद्धत है वह धीर कैसे हो सकता है ? उद्धत तो स्वभाव से ही चपल और चण्ड होता है। वस्तुतः धीर शब्द का सस्कृत में प्रचलित

अर्थ इस भ्रम का कारण है। एक पुराना 'धीर' शब्द भी था जो 'धी' (सहज-बुद्धि, मनोभाव) शब्द से बनता था। इस शब्द से निष्पन्न 'धीर' शब्द का अर्थ होता था सहज बुद्धिवाला, मनोभाव-सम्पन्न। वह शब्द नाट्यपरम्परा में सुरक्षित रह गया है। 'धीर' का अर्थ है स्वाभाविक बोध-सम्पन्न। धीरोद्धत का अर्थ है स्वभावतः उद्धत। नाट्यदर्पणकार देवता और राक्षस आदि को धीरोद्धत कहते है। इस प्रकार उदात्त, प्रशान्त, ललित और उद्धत नायक स्वभाव से ही ऐसे होते हैं, इसलिए उनके साथ 'धीर' विशेषण लगाया जाता है। नायक की तरह नायिका के भी स्वभाव, वय आदि के अनुसार भेद किये जाते हैं। ग्रन्थों में इनके भेदोपभेदों का बड़ा विस्तार है।

कुछ रूपकों के नायक उदात्त होते हैं, कुछ के प्रशान्त, कुछ के ललित और कुछ के उद्धत। भरत मुनि के गिनाये रूपकों में कुछ ऐसे भी है जिनके नायक इन कोटियों में नही आ पाते। वस्तुतः पूर्णांग रूपक दो या तीन ही हैं—नाटक, प्रकरण, नाटिका। नाटक और प्रकरण में वस्तु का भेद है, नाटक की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है और प्रकरण की उत्पाद्य या कवि-कल्पित। नाटिका दोनो के मिश्रण से बनती है। उसका नायक तो प्रख्यात होता है, पर कथावस्तु उत्पाद्य। इनमें सब सन्धियों का समावेश होता है और सब अवस्थाएँ मिलती हैं। इनके नायकों मे भी अन्तर होता है। नाटक का नायक धीरोदात्त होता है, प्रकरण का धीरप्रशान्त और नाटिका का धीरललित। रस तीनों में शृंगार होता है। नाटक और प्रकरण में वीर भी। इससे स्पष्ट है कि पूर्णांग रूपकों मे दो ही रस आते हैं: शृंगार और वीर। नायक इनमें तीन प्रकार के होते हैं: उदात्त, प्रशान्त और ललित। इनमे धीरोदात्त नायक महासत्व, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन (अपने बारे में बढ़-बढ़कर बात न करनेवाला), स्थिर, भीतर-ही-भीतर मानी, दृढ़व्रत होता है। धीरललित कोमल प्रकृति का, कलाप्रेमी, निश्चिन्त और सुखी होता है। धीरप्रशान्त भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है, लेकिन ब्राह्मण, मन्त्री या वैश्य के घर उत्पन्न हुआ होता है। प्रथम दो राजवंश के होते है। धीरोदात्त राजा ही होता है। चौथा नायक धीरोद्धत कहलाता है। वह भी कुछ रूपकों का नायक होता है। नाटक मे वह प्रतिनायक होता है। साधारणतः देवता या दानव, जिनमे दैवी शक्ति होती है, उदात्त नायक की तरह धैर्यवान् नही होते। वे गर्वीले, चपल और चण्ड होते हैं। उन्हें फल-प्राप्ति के लिए धैर्य नहीं होता। डिम, व्यायोग और ईहामृग मे ये नायक होते हैं। इनकी उतावली के स्वभाव के कारण ही ये रूपक पूर्णांग नहीं हो पाते। इनमें वीर, रौद्र आदि दीप्त रस तो आ जाते हैं, पर शृंगार और हास्य नही आ पाते। समवकार मे भी इनका बाहुल्य होता है। उसमे भी शृंगार की छाया-मात्र ही होती है। उद्धत नायको के स्वभाव के कारण ही व्यायोग और ईहामृग में गर्भ और विमर्श तथा समवकार और डिम में विमर्श सन्धि नही होती।

इस प्रकार नेता या नायक कथावस्तु का नियन्त्रण करता है। शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रख्यात या इतिहास-प्रसिद्ध धीरोदात्त नायक हो तो इति-

वृत्त के उन अंशों को छोड़ देना चाहिए जो उसके उदात्त भाव के बाधक हों। उद्धत नायकों के लिए कथावस्तु में से विशेष-विशेष सन्धियों को छोड़ देना पड़ता है। जिन रूपकों में धीरोद्धत नायक होते है, वे पूर्णांग नही बन पाते। डिम, व्यायोग, समवकार और ईहामृग इसी प्रकार के रूपक है। बाकी चार मे भाण और प्रहसन तो एक ही पात्र द्वारा अभिनीत होते है। इनमें नायक स्वयं मंच पर नही आते। श्रृंगार और वीर यहाँ सूच्य रस है। जिन व्यक्तियों की चर्चा होती है उनका कोई रूप-विधान नही होता। यही बात बहुत-कुछ वीथी और उत्सृष्टिकांक के बारे मे भी ठीक है। वस्तुतः ये तमाशे ही रहे होंगे। सही अर्थों में ये रूपक नही कहे जा सकते। दशरूपककार ने रूपक की परिभाषा मे कहा है कि अनुकार्य के रूप का समारोप होने से यह रूपक कहा जाता है। इन पर अनुकार्य का आरोप अस्पष्ट होता है। उतना आरोप तो काव्य-पाठक और कथावाचक पर भी किया जा सकता है। जो हो, ये चार अल्पोद्भिन्न रूपक ही कहे जा सकते हैं।

21. वृत्तियाँ

नाटक मे सभी प्रकार के अभिनय मिलते है, प्रकरण और नाटिका मे भी। इन तीनों मे सभी वृत्तियाँ मिलती है। बाकी मे केवल तीन। अन्तिम चार अर्थात् भाण, प्रहसन, वीथी और उत्सृष्टिकांक मे प्रधान रूप से भारती वृत्ति ही मिलती है। वृत्तियाँ नाट्य की माता कही जाती है। ये चार है : सात्वती में मानसिक, कायिक और वाचिक अभिनय होते है। यह मुख्यतः मानस-व्यापार की वृत्ति है। इसका प्रयोग रौद्र, वीर और अद्भुत रसों में होता है। तत्त्व मनोभावो को कहते है। कहा जाता है कि उसी को प्रकाशित करनेवाली होने के कारण इसे सात्वती कहते हैं। कैशिकी वृत्ति का अभिनय स्त्रियाँ ही कर सकती है। इसमें मृदुता और पेशल परिहास की प्रधानता होती है। श्रृंगार और हास्यरस का इसमे प्राधान्य होता है। आरभटी में छल, प्रपंच, धोखा, फरेब आदि होते हैं। वीर, रौद्र आदि दीप्त रसों में इसका प्रयोग होता है। भारती संस्कृत-बहुल वाग्व्यापार है। भारती शब्द का अर्थ ही आगे चलकर वाणी हो गया है। यह सब रसों मे आती है। मूलतः ये वृत्तियाँ विभिन्न श्रेणी की जातियों से ली गयी जान पड़ती है।[1] अब अगर इन वृत्तियों पर से विचार किया जाये तो स्पष्ट लगेगा कि केवल नाटक, प्रकरण और नाटिका ही पूर्णांग रूपक हैं। डिम, व्यायोग समवकार और ईहामृग में तीन ही वृत्तियों का प्रयोग होता है, इसलिए अपूर्ण है। भाण, प्रहसन, वीथी और उत्सृष्टिकांक मे तीनों का प्रयोग होता तो है, पर मुख्य वृत्ति भारती ही है। इस तरह ये और भी विकलांग

1 भारती भरतों की वृत्ति कही जाती है। भरत लोग नाटक खेलने का व्यवसाय करते थे। सात्वत जाति प्रसिद्ध ही है। भावप्रवण भक्ति-साधना के प्रसंग मे इनका प्रायः उल्लेख मिलता है। कहते हैं भागवत सम्प्रदाय इनकी देन है। कैशिक जाति सम्भवतः पश्चिम के कास्पियन तट की जाति है। आरभट कदाचित्, ग्रीक लेखकों द्वारा उल्लिखित Arbitus जाति है जो सिन्धु घाटी मे रहती थी।

हैं। इस प्रकार इन रूपकों में तीन (नाटक, प्रकरण, नाटिका) उत्तम श्रेणी के हैं, चार (डिम, व्यायोग, समवकार, ईहामृग) मध्यम श्रेणी के हैं, और बाकी अवर श्रेणी के।

नाट्यदर्पणकार ने इस बात को लक्ष्य किया था। उन्होंने दो ही भेद किये हैं। नाटिका के साथ प्रकरणी की कल्पना करके उन्होंने चार को एक श्रेणी में रखा था और बाकी रूपकों को दूसरी श्रेणी में।

नीचे की तालिका से रूपकों के रस, नायक, कथावस्तु, अंक और वृत्तियों का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

रूपक नाम	वस्तु	रस	अंक	वृत्तियाँ
नाटक	प्रख्यात	अंगी—वीर या शृंगार अंग—बाकी सभी रस	पाँच से दस तक	चारों (कैशिकी, आरभटी, सात्त्वती, भारती)
प्रकरण	उत्पाद्य	,,	,,	,,
नाटिका	वस्तु, उत्पाद्य (प्रकरण के समान), नेता, प्रख्यात नायक के समान)	शृंगार	चार	,,
भाण	उत्पाद्य	शृंगार, वीर	एक	कैशिकी के भिन्न बाकी तीन
प्रहसन	,,	शृंगार, हास्य	एक	,,
डिम	प्रख्यात	वीर, रौद्र, बीभत्स, करुण, भयानक, अद्भुत	चार	,,
व्यायोग	,,	,,	एक	,,
समवकार	,,	वीर, रौद्र, शृंगार (छायामात्र)	तीन	,,
वीथी	उत्पाद्य	शृंगार	एक	,,
अंक	प्रख्यात	करुण	एक	,,
ईहामृग	मिश्र	रौद्र, शृंगाराभास	चार	,,

21. रस

भारतीय नाट्य-परम्परा में नायक 'फल'-भोक्ता को अर्थात् नाटक के फल को

प्राप्त करनेवाले को कहा गया है, जबकि आधुनिक नाट्यशास्त्री नायक या नायिका उसे मानते है जिसके साथ सामाजिक की सहानुभूति हुआ करती है। इनमे नाट्यकार द्वारा प्रयुक्त कौशल से एक ऐसी शक्ति केन्द्रित होती है जो निपुण अभिनय के द्वारा उपस्थित किये जाने पर सामाजिकों की समवेदना और सामान्यानुभूति आकर्पित करती है। खलनायक सहानुभूनि नही पाता। उसमें कुछ ऐसा औद्धत्य या आचरणगत अनौचित्य होता है जो सामाजिक की वितृष्णा और क्रोध को उद्रिक्त करता है। भरत द्वारा निर्धारित रूपकों में नाटक और प्रकरण के नायक, नायिका और प्रतिनायक इस कोटि के कहे जा सकते है। ऊपर जो तीन श्रेणी के रूपक बताये गये है, उनमे प्रथम और उत्तम श्रेणी के नाटकों मे केवल दो ही रस है: शृंगार और वीर। ये ही दो रस मुख्य हो सकते है। दो रस और भी मुख्य कहे गये हैं: रौद्र और बीभत्स। इस प्रकार चार रस ही मुख्य बताये गये है. शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स। इनके अभिनय मे क्रमशः विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप होता है। बाकी चार इन्ही चारों से होते है। शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, वीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण ('दशरूपक', 43-45)। इस प्रकार ये आठ रस बनते हैं। सामाजिक के चित्त मे विकास और विस्तार होता है तो उसे सुख मिलता है और क्षोभ और विक्षेप होता है तो दुःख। इसलिए कुछ आचार्य रस को सुख-दुःखात्मक बताते हैं। दूसरे आचार्य ऐसा नही मानते। वे कहते है कि ये विक्षेप और क्षोभ लौकिक विक्षेप और क्षोभ से भिन्न होने के कारण आनन्दजनक ही होते है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि शृंगाररस से चित्त में विकास और वीररस से विस्तार होता है। इन दो रसों का नायक अनायास ही सामाजिक की समवेदना और सहानुभूति आकर्पित करता है। यही कारण है कि पूर्णांग रूपको में इन दो रसों का ही प्राधान्य है। विकास और विस्तार को एक शब्द मे 'विस्फार' कहा जाता है। इस विस्तार के कारण नाटक मे वीर और शृंगार मुख्य रस होते है। नाटक और रसों से बनता ही नही। पाश्चात्य नाट्यशास्त्रों में तर्जदी (ट्रेजडी) श्रेणी के नाटको का महत्त्व है। परन्तु भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने 'करुण' रस को नाट्य-रस मानते हुए भी ऐसे उत्तम कोटि के रूपकों की कल्पना भी नही की जो शोकान्त हों। परन्तु नाटक मे यदि नायक या नायिका उसे माना जाये जो सामाजिकों की सहानुभूति आकृष्ट कर सके, तो ऐसे नायक भी सामाजिक की सहानुभूति आकृष्ट कर सकते हैं जो चरित्र-बल में तो उदात्त हों पर किसी दुर्बलता—जैसे आदमी न पहचानने की क्षमता, दैववश अनुचित कार्य कर बैठने की भूल, अत्यधिक औदार्य आदि—से कष्ट मे पड़ जाते हों। पश्चिमी देशों मे ऐसी परिस्थितियों के शिकार उदात्त और ललित श्रेणी के नायकों की कल्पना की गयी है। हर समय उनका स्थायी भाव शोक ही नही होता। कई बार नायक के चित्त मे उत्साह, रति आदि भाव ही प्रबल होते है, केवल परिणाम अनिष्ट-प्राप्ति होता है। सामाजिक के चित्त को सहानुभूतियुक्त बनाने के हेतु नायक के स्वभाव में स्थित मानवीय गुण ही होते हैं। उसके दुःख पाने से सामाजिक के चित्त में जो क्षोभ पैदा होता है, वह

उसे और भी तीव्रता के साथ नायक की ओर ठेलता है। इस प्रकार के रूपकों की कल्पना भारतीय नाट्य-परम्परा में नही हुई। उत्सृष्टिकांक आदि में यह रस भारती वृत्ति द्वारा सूच्य और अप्रत्यक्ष होता है। अधिकतर अंगरूप में इसका चित्रण कर दिया जाता है। इसलिए ऐसे नायक भी इस परम्परा में नही मिलते।

कुछ आचार्य केवल शृंगाररस को ही एकमात्र रस मानते हैं। इसका कारण यह है कि यही एकमात्र रस है, जहां सहृदय आश्रय और आलम्बन दोनो से तादात्म्य स्थापित कर सकता है और किसी पक्ष को पराभव की अनुभूति नही होती। वीर-रस भी इनके मत से एक पक्ष का पराभव होने के कारण अपूर्ण रह जाता है। भरत ने स्पष्ट ही नाट्य मे आठ रस स्वीकार किये है। इसीलिए यह मत भारतीय परम्परा में पूर्णतया मान्य नही हो सका।

23. भाव-जगत्

भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में बताया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भावों की संख्या उन्होंने 49 बतायी है जिनमे आठ स्थायी भाव हैं, आठ सात्विक भाव हैं और तेंतीस संचारीभाव।[1]

1. काव्य के सुनने के साथ हम भाव-जगत् की सूक्ष्म मूर्त्तियो और भावो का निर्माण करते रहते हैं। इन्ही भावात्मक आलम्बन, उद्दीपन आदि के भावो को हम अनुभव करते रहते हैं। कवि मे ऐसी सामर्थ्य होती है कि जिस पात्र के साथ वह हमारा जैसा-जैसा भाव जगाना चाहता है, वैसा-वैसा भाव हमारे मानस-लोक मे निर्माण करा लेता है। इन नाना भाव-मूर्त्तियों और भाव-भावना का जब ऐसा परिपाक होता है कि किसी का पृथक् ज्ञान नही रह जाता, सब मिलकर एक विशेष भावन-प्रक्रिया मे एकाकार हो जाते हैं तो हम रसास्वादन की स्थिति मे आ जाते हैं। स्पष्ट ही यह बात लौकिक स्थूल रूप से भिन्न है। इसलिए इसे 'लोकोत्तर' कहा जाता है। काव्य का श्रोता अपने ही चित्त से अपनी ही अनुभूतियो के सहारे सारे भाव-जगत् की सृष्टि करता रहता है। इसलिए कहा जाता है कि वह जितना ही सहृदय होगा उतना ही अधिक रसास्वादन का सुपात्र होगा।

   काव्य मे केवल शब्द और अर्थ होता है। दूसरा कोई माध्यम नही होता। शब्द के द्वारा गृहीत लौकिक स्थूल अर्थ, सहृदय के हृदय मे भाव-रूप मे परिणत होता रहता है। कुछ ऐसी कलाएं हैं जहां शब्द होता ही नही, जैसे चित्रकला। वहां कलाकार के द्वारा प्रयुक्त रंग और रेखाएं अर्थ-बोध कराती हैं। चित्र-लिखित पर्वत स्थूल पर्वत का अर्थ देता है। फिर सहृदय के मन मे भाव-जगत् का पर्वत बनता है और चित्रकार जिस प्रकार की गरिमा भयकरता, चेतना या सौन्दर्य जाग्रत करना चाहता है उसी प्रकार के भाव-रूप सहृदय के चित्त मे उत्पन्न होते रहते हैं। नाटक अधिक जटिल कला है। उसमे कवि और सहृदय का सम्बन्ध अभिनेता द्वारा स्थापित होता है। एक माध्यम और बढ़ जाता है। कवि-निबद्ध अर्थ पहले अभिनेता के भाव-रूप को उद्‌बुद्ध करते है और फिर उस भाव-रूप को वह स्थूल मूर्त्त आकार देता है। यह स्थूल मूर्त्त आकार फिर एक बार सहृदय के चित्त मे नये सिरे से भाव-रूपो का निर्माण करता है। इसलिए नाटक मे वस्तुतः दो कलाकारो के चेतन मन से छनकर सहृदय का भाव-जगत् निर्मित होता है, इसीलिए अधिक आस्वाद्य होता है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' (1 10) मे कहा है कि गुण अलंकार से काव्य का शरीर मनोहर होता है और रस उसका प्राण हुआ करता है। ऐसे श्रव्य-काव्य मे भी तन्मयीभाव के कारण यद्यपि चित्तवृत्ति निमग्नाकार हो जाती है, किन्तु उनमे (अभिनीयमान नाटक के समान) प्रत्यक्ष की भांति साक्षात्कारात्मक बोध नही हो पाता। परन्तु नाटक मे ऐसी प्रतीति हुआ करती है।

स्थायीभाव ही विभाव-अनुभावादि के संयोग से रसदशा तक पहुँचता है। ('दश-रूपक')। 'दशरूपक' के लेखक धनंजय स्थायी भावों और सात्त्विक भावों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं मानते। पर अन्य नाट्य-शास्त्रियों ने उनका अलग उल्लेख किया है। शृंगाररस का स्थायी भाव रति है, वीर का उत्साह, रौद्र का क्रोध, बीभत्स का जुगुप्सा, हास्य का हास, अद्भुत का विस्मय, करुण का शोक और भयानक का भय। इनका और संचारी भावों का विशेष विवरण देना यहाँ आवश्यक नहीं है। 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों में इनकी विशेष विस्तार से चर्चा है। ('दशरूपक', चतुर्थ प्रकाश; 'साहित्य-दर्पण', चतुर्थ प्रकाश इत्यादि)। यहाँ रस के स्वरूप के विषय में समझने का थोड़ा प्रयत्न किया जा रहा है।

रस लोकोत्तर अनुभूति है, ऐसा सभी आचार्यों का कहना है। इसका अर्थ यह है कि लोक में जो लौकिक अनुभूति होती है उससे भिन्न कोटि की यह अनुभूति है। प्रत्यक्ष जीवन में जो शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रेम है, वह लौकिक है। परन्तु नाटक या काव्यास्वादन में जो दुष्यन्त और शकुन्तला हमारे चित्त में बनते हैं, वे उनसे भिन्न हैं। लोक में 'घट' शब्द का अर्थ है मिट्टी का बना हुआ पात्र-विशेष। किन्तु यह घड़ा स्थूल होता है। यदि हम इस शब्द का उच्चारण मन-ही-मन करें तो 'घड़ा' पद और 'घड़ा' पदार्थ सूक्ष्म रूप में चित्त में आ जाते हैं। इस प्रकार स्थूल घड़े के स्थान पर जो मानस-मूर्ति तैयार होगी वह सूक्ष्म घड़ा कही जायेगी। इस प्रकार स्थूल जगत् के सिवा एक सूक्ष्म जगत् की मानस-मूर्ति रचने की सामर्थ्य मनुष्य-मात्र में है। इसे ही भाव-जगत् कहते हैं। लोक में जो घड़ा है, वह स्थूल जगत् का अर्थ (पदार्थ = पद का अर्थ) है और मानस-अर्थ भाव-जगत् का अर्थ है। 'घट' नामक पद का यह अर्थ सूक्ष्म है। लोक में प्रचलित स्थूल अर्थ से यह भिन्न है। इसलिए लौकिक न होकर अलौकिक, लोकोत्तर या भावगम्य है।

24. रसास्वाद

ध्वनिवादी आलंकारिक रस को व्यंग्यार्थ मानते हैं। रस, विभाव-अनुभाव आदि के द्वारा व्यंजित होता है। न तो विभाव (शकुन्तला, दुष्यन्त), न अनुभाव (स्वेद, कम्प आदि ही) और न व्यभिचारी या संचारी भाव ही अपने-आपमें रस हैं। मीमांसकों ने अभिधा और लक्षणा, इन दो वृत्तियों के अतिरिक्त इस तीसरी वृत्ति (व्यंजना) को स्वीकार नहीं किया। वे मानते है कि वाक्य में तात्पर्य नामक वृत्ति होती है जो कहनेवाले के मन में जो अर्थ होता है उसे समाप्त करके ही विरत होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ रस-बोध तक आकर विश्रान्त होता है। व्यंजनावृत्ति को अलग से मानने की वे आवश्यकता नहीं समझते। मीमांसकों के इस मत का मूल है यह सूत्र—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः;' (शब्द जिसके लिए प्रयुक्त होता है वह शब्दार्थ होता है।)। इसका एक मतलब यह हो सकता है कि जिस अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द प्रयुक्त होता है वही उसका अर्थ होता है (तदर्थत्व), दूसरा

अर्थ यह हो सकता है कि शब्द सम्बन्ध-मर्यादा से सीमित रहकर जिस अर्थ की सूचना देता है वही उसका अर्थ होता है (तत्परत्व)। पहले अर्थ की व्यापकता स्पष्ट है। परन्तु मीमासक सम्बन्ध-मर्यादा को भी मानते है। इसलिए जिसे वे 'तात्पर्य' कहते हैं वह सीमित हो जाता है। उससे व्यजनावृत्ति का काम नही चल सकता, क्योकि व्यजनावृत्ति ससर्ग-मर्यादा से बँधी नहीं होती। दशरूपककार तात्पर्यवृत्ति को पहले अर्थ मे लेते है। उनकी दृष्टि में तात्पर्य की कोई सीमा नहीं है। वे तात्पर्य और तादर्थ्य में भेद नही करते। ऐसा मान लेने पर भी व्यंजनावृत्ति से जो विशिष्ट अर्थ ध्वनित होता है, उसको एक विशेष नाम देना आवश्यक हो जाता है। इसलिए इस वृत्ति को अस्वीकार नही किया जा सकता। फिर भी रस को व्यंग्यार्थमात्र मानने मे कठिनाई होगी। रस अनुभूति है, अनुभूति का विषय नही। भाव तो विभाव के चित्त मे ही उठते है। दर्शक के मन में उनका एक मानस-सूक्ष्म रूप उत्पन्न होता है, जिससे वह अपनी ही अनुभूतियो का आनन्द लेने मे समर्थ होता है। सभी आलंकारिक आचार्य मानते है कि रस न तो 'कार्य' होता है और न 'ज्ञाप्य'। वह पहले से उपस्थित भी नही रहता। जो वस्तु पहले से उपस्थित नही रहती, वह व्यंजनावृत्ति का विषय भी नही हो सकती। रस सहृदय श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूत होता है, पात्र के चित्त में नहीं। अतः व्यजनावृत्ति केवल श्रोता या दर्शक के चित्त मे सूक्ष्म विभाव, अनुभाव और संचारी भाव को उपस्थित कर सकती है और जो कुछ कहा जा रहा है उससे भिन्न, जो नही कहा जा रहा है, या नही कहा जा सका है, उस अर्थ की उपस्थिति करा सकती है। भरत मुनि के सूत्र का तात्पर्य यही हो सकता है कि सहृदयो के चित्त में वासनारूप से स्थित, किन्तु प्रसुप्त स्थायी भाव ही विभावादि से व्यजित होकर रसरूप ग्रहण करते है। नाटक में व्यंजना के साधन केवल शब्द ही नही बल्कि अभिनेता की चेष्टाएँ भी है। इस प्रकार नाटक एक ओर तो कवि-निबद्ध शब्दों से रस की व्यंजना करता है, दूसरी ओर अभिनेता के अभिनय द्वारा। परन्तु इतना स्पष्ट है कि व्यंजना यदि शब्द-शक्ति और अभिनय-शक्ति मात्र है तो श्रोता के प्रस्तुत भावों को व्यंजित-भर कर सकती है, उस अनुभूति को व्यग्य नहीं कर सकती जो शब्द और अभिनय के बाहर है और श्रोता या दर्शक के चित्त मे अनुभूत होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "भाव की अवस्थिति नायक और नायिका में होती है और रस की अनुभूति श्रोता या दर्शक के द्वारा होती है। पात्र के मन में रस नही होता जो व्यजित किया जा सके।" इस कठिनाई से बचने के लिए आलंकारिकों ने पुराने आचार्य भट्टनायक के सुझाये दो व्यापारों—भावकत्व और भोजकत्व—को किसी-न-किसी रूप मे मान लिया है। मतलब यह है कि कवि के निबद्ध शब्दों और अभिनेता के द्वारा अभिनीत चेष्टादि में यह सामर्थ्य भी है कि श्रोता या दर्शक को पात्रो की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य स्थापित करा दे। ऐसी स्थिति मे उसके भीतर पात्रों का विशेष रूप न रहकर साधारणीकृत रूप (पुरुष, स्त्री) रह जाता है, फिर उसमें एक भोजकत्व-व्यापार का आविर्भाव होता है और वह

साधारणीकृत विभावादि और उनकी भावनाओं के आस्वादन मे समर्थ हो जाता है।

कवि या नाटककार का कौशल पात्रो के विशेषीकरण में प्रकट होता है। हम उस कवि को ही सफल कवि मानते है जो पात्रो का विशेष व्यक्तित्व निखार सकता है। परन्तु ये विशेषीकृत पात्र लौकिक होते है। सहृदय के चित्त में जो पात्र बनते है, वे उसकी अपनी अनुभूतियों से बनने के कारण लोकोत्तर या अलौकिक होते है। वह अपने ही चित्त में अपनी ही अनुभूतियो के ताने-बाने से भाव-जगत् के दुष्यन्त और शकुन्तला का निर्माण करता है। उन्हीं के सूक्ष्म भावों के मिश्रण से हम रस का अनुभव करते है। इसलिए कवि द्वारा विशेषीकृत पात्र सामान्य मानव-अनुभूतियों से पुनर्निर्मित होकर साधारण कर दिये जाते है। सहृदय अपनी ही मानस-भूमि के ईंट-चूने से इस प्रासाद का निर्माण करता है। इसलिए जब अर्थ अलौकिक स्तर पर आता है तो उसमे सामान्य मानव-अनुभूतियों से निर्मित होने के कारण लौकिक विशेषताओं का एक ऐसा रूप बनता है जिसे साधारणीकृत रूप कह सकते है।

भावकत्व व्यापार के द्वारा पात्रों की भावनाओं के साथ सहृदय की भावनाओं का तादात्म्य होता है, ऐसा ऊपर कहा गया है, पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सर्वत्र पात्र के साथ तादात्म्य नही होता। कुछ रसों मे श्रोता का आलम्बन वही होता है, जो आश्रय का। इस प्रकार आश्रय के साथ तादात्म्य सम्भव होता है, पर कभी-कभी आश्रय ही श्रोता का आलम्बन हो जाता है। जहाँ आश्रय के साथ श्रोता या दर्शक का तादात्म्य हो जाता है, वही रस पूर्णाग होता है। दूसरे प्रकार के रस मे अपूर्णता रहती है। पहली स्थिति केवल श्रृंगार और वीर, इन दो रसों मे ही सम्भव है। ये ज्यादा भावात्मक होते हैं, जबकि अन्य रस अधिकतर कल्पनात्मक होते है। यही कारण है कि पूर्णांग रूपकों में केवल दो ही रस होते है—वीर और श्रृंगार।

25. भाव

'भाव' शब्द का प्रयोग भरत मुनि ने भावित या वासित करनेवाले के अर्थ में किया है। 'भाव' कारण-साधन है। इसका दूसरा अर्थ है भावित या वासित करना। लोक में भी प्रसिद्ध है कि 'अहो, एक-दूसरे के रस या गन्ध सब भावित हो गया!' विभाव के द्वारा आहृत जो अर्थ अनुभाव से और वाचिक, सात्विक और आंगिक अभिनयों से प्रतीत होता है वह भाव कहा जाता है। वाचिक, आंगिक और मुख-रागादि सात्विक अभिनय द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव को भावन कराते हुए होने के कारण यह भाव कहा जाता है। नाना अभिनय सम्बन्धवाले रसों को भावित कराने के कारण ये भाव कहे जाते हैं। ('नाट्यशास्त्र', 7. 1-3)। इससे जान पड़ता है कि विभाव द्वारा आहृत अर्थ को अनुभावादि द्वारा प्रतीति योग्य करने के कारण, कवि के अन्तर्गत भाव को अभिनयादि द्वारा भावना का विषय बनाने के

कारण, विविध अभिनयों से सम्बन्ध रखनेवाले रसों को सुवासित या रंजित करने के कारण इनका नाम भाव है। अतः तीन स्थितियाँ हुई : (1) कवि के अन्तर्गत भाव, (2) विभाव द्वारा आहृत अर्थ, और (3) अभिनयों से दर्शक के चित्त में अनुभूत होनेवाला रस। एक को प्रतीति-योग्य कराने का काम भाव का है (कवि के अन्तर्गत भाव को), दूसरे को भावना का विषय बनाने का काम भाव का है (विभावाहृत अर्थ को), तीसरे को रंजित या वासित करने का काम भाव का है (अनुभूति को)। इस प्रकार भाव कवि के चित्त में स्थित भावों को प्रतीति-योग्य बनाता है, विभाव द्वारा आहृत अर्थ को भावनीय बनाता है और सहृदय के हृदय मे वासना-रूप मे स्थित स्थायी भाव को भावित, वासित या रंजित करता है। ये केवल पात्र की मानसिक अवस्थाएँ नही हैं। कवि के भावों की प्रतीत के साधन, अनुकार्य पात्र की मन.स्थिति के साथ सहृदय के मनोभावों का सामंजस्य-स्थापन और उसके अन्तः-करण में प्रसुप्त स्थायी भाव को बहु-विचित्र रंगो और वर्णों से रंजित-वासित करके अधिक उपभोग्य बनाने के साधन हैं। भरत मुनि ने 'भाव' शब्द का प्रयोग अभिनेता को दृष्टि मे रखकर किया है। उन्होने परिभाषा देते समय अवश्य ही मानसिक आवेग-संवेगो के अर्थ मे इसका प्रयोग किया है। इनमें आठ स्थायी हैं, आठ सत्त्वज है और 33 व्यभिचारी हैं। वैसे तो सभी व्यभिचारी हैं, पर आठ अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होने के कारण स्थायी कहे गये हैं।

कई बार इन्हें मनोभाव-मात्र समझने का प्रयत्न किया जाता है। व्यभिचारी या सचारी कहे गये भावों में कुछ तो ऐसे है जिन्हें मानसिक सवेग कहा जा सकता है (जैसे आवेग, अवमर्ष, अवहित्था, त्रास, हर्ष, विषाद इत्यादि); कुछ विकल्प कहे जा सकते हैं (जैसे शंका, स्मृति, मति, चिन्ता, वितर्क इत्यादि); कुछ को वेगावरोध कहा जा सकता है (जैसे दैन्य, मद, निद्रा, जड़ता, मोह आदि) और कुछ को वेग-प्रभूति कहा जा सकता है (जैसे श्रम, अपस्मार, इत्यादि), और कुछ ऐसे भी हैं जो विप्रकर्षी सवेग माने जा सकते है (जैसे लज्जा, असूया, गर्व आदि)। इसलिए जो लोग इन भावों का अध्ययन मानसिक भाव-मात्र के रूप में करते हैं, वे इसके साथ न्याय नही करते। भाव पात्र के मन मे होता है, कवि द्वारा निबद्ध होता है, अभिनेता द्वारा प्रतीति-योग्य बनाया जाता है और सहृदय द्वारा रसानुभूति को बहुविचित्र आस्वाद के योग्य बनाने में सहायक होता है।

कवि जैसा चाहता है, वैसा अर्थ विभाव के द्वारा आहृत करता है; पात्र जैसा भाव प्रकट करता है, उसे ही अभिनेता प्रतीति-योग्य बनाता है; अभिनेता जिस अर्थ को प्रतीति-योग्य बनाता है, सहृदय उसी को भावना का विषय बनाता है! इस प्रकार कवि-निबद्ध पात्रों के भाव अभिनेता द्वारा प्रतीति-योग्य बनाये जाकर सहृदय द्वारा प्रभावित होते हैं। इसलिए अभिनेता के द्वारा प्रतीति उत्पन्न करने के साधन भाव मनोविकारों को प्रतीति-योग्य बनाने के साधन है। इनसे सम्यमान भाव सहृदय के चित्त मे सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर रूप म आविर्भूत होता है। लौकिक मनो-विकार मे तीन बातें होती है: ज्ञान (सत्त्वगुण), इच्छा (रजोगुण), क्रिया (तमो-

गुण)। मनुष्य कुछ जानता है, कुछ चाहता है, कुछ करता है। सहृदय के चित्त में आते-आते अन्तिम दोनों तत्त्व क्षीण हो जाते हैं। इसी को शास्त्रकारों ने 'सत्वोद्रेक' कहा है। यह सत्वोद्रेक भावों को विशुद्ध जानकारी के रूप में ले आ देता है और सहृदय रसानुभूति के योग्य बनता है। विचार करके देखा जाये तो यह सारी प्रक्रिया दर्शक के अन्तरतर में व्याप्त उसके शुद्ध चैतन्यरूप के उद्‌घाटन में समर्थ होती है। शुद्ध चैतन्य का उद्‌घाटन ही आनन्द है। इसमें नानात्व में सामान्य 'एक' की उपलब्धि होती है। कई बार भाव रसानुभूति के स्तर पर नही पहुँचा सकते। वे जानकारी के स्तर पर रहकर सहृदय के भीतर केवल आंशिक आनन्द को उत्पन्न कर पाते हैं। कई रूपकों में यद्यपि रस की स्थिति मानी गयी है, पर वस्तुतः वे भाव तक ही रह जाते हैं। भरत मुनि के युग में जो तमाशे प्रचलित थे उनमें जो कुछ अधिक उच्चकोटि के थे उन्हें उन्होंने रूपक की मर्यादा दी अवश्य, पर वे पूर्णांग रूपक नही है। पूर्णांग रूपकों में वीर और शृंगाररस ही हो सकते है। एक और रस हो सकता था—अनुकम्पा, स्थायी भाववाला करुण। पर इस देश में उसका प्रचार नही था।

26. नाटक ही श्रेष्ठ रूपक है

वस्तु, नेता और रस, इन तीन तत्त्वों के आधार पर रूपकों के भेद किये जाते हैं। यहाँ यह समझ रखना चाहिए कि इनमें प्रधान रस है, वस्तु गौण। कथावस्तु जितना ही अधिक परिचित या प्रख्यात होगा, नाटककार को रस-व्यंजना में उतनी अधिक सहूलियत होगी। प्रख्यात कथा नाटक की कथावस्तु होती है। इसीलिए नाटक भारतीय साहित्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-रूप है। अरस्तू ने प्लॉट या कथा-वस्तु को तर्जदी नाटकों की आत्मा कहा था (पोएटिक्स,1450,अ38)। परन्तु भारतीय परम्परा कथावस्तु को गौण और रस को मुख्य मानती है। प्रख्यात चरित में कथा द्रष्टा की जानी हुई है। नाटककार रस के अनुकूल कथावस्तु और पात्रों के चरित्र में भी काट-छाँट का अधिकार रखता है। कालिदास और भवभूति आदि कवियों ने ऐसी काट-छाँट की है। भारतीय नाटक अपने ढंग का अनोखा ही है—रस के अविरुद्ध नायक और रसोचित नायक के अनुरूप वस्तु, लेकिन वस्तु की मोटी-मोटी बातें सर्वविदित! इसमें कथावस्तु की जटिलता के चक्कर में न पड़कर कवि रसानुकूल घटनाओं और आवेगों के जाग्रत करने में अपने कौशल का परिचय देता है। प्रकरण की कथावस्तु उत्पाद्य होती है। उसमें कवि को काल्पनिक कथावस्तु के निर्माण की छूट है, पर यह कथा भी बहुत-कुछ जानी हुई रहती है। वह इतिहास से अर्थात् रामायण-महाभारत में नही ली जाती, पर 'कथा-सरित्सागर' आदि लौकिक आख्यानों से ली गयी होती है। इसमें नाटककार को यथार्थ लोकजीवन को चित्रित करने की स्वतन्त्रता अपेक्षाकृत अधिक होती है। नाटिका की कथा कल्पित होती अवश्य है, पर बहुत-कुछ उसकी कथावस्तु मिश्रित ही होती है। कोई लड़की, जिससे विवाह होने पर राजा का कल्याण होनेवाला होता

मिल सका। बाकी रसों मे सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य नही हो पाता और आश्रय, अधिक-से-अधिक, सहृदय का आलम्बन बन जाता है। जिस साधारणी-करण से सहृदय के चित्त मे सामान्य मनुष्यत्व के साथ एकात्मकता का बोध होता है, वही वास्तविक आनन्द का हेतु है। शास्त्रकारों ने भयानक, वीभत्स, हास आदि को भी रस की मर्यादा दी है, पर वास्तव मे ये भावकोटि तक पहुँचकर रह जाते है। एक और रस, जिसे भरत मुनि ने नाट्य-रस की मर्यादा नही दी है, भक्ति स्थायी भाववाला रस है जिसमें आश्रय के साथ तादात्म्य की सम्भावना है। किसी-किसी आचार्य ने रसो की संख्या परिमित करने को केवल मुनि के प्रति आदर-प्रदर्शन के लिए माना है। वे रसो और भावो की संख्या अधिक मानने के पक्ष मे है। यदि हास, जुगुप्सा, क्रोध आदि स्थायी भाव है तो इन्ही के समान अन्य मनो-भाव भी स्थायी हो सकते है, ऐसा नाट्यदर्पणकार का मत है। उन्होने लिखा है कि "विशेष रूप से रंजनाकारक होने के कारण और पुरुषार्थो के लिए अधिक उपयोगी होने के कारण शृंगारादि नौ रस (शान्त के सहित) ही पुराने सदाचार्यो के द्वारा उपदिष्ट है। किन्तु इनसे भिन्न और रस भी हो सकते है, जैसे गृध्नुता या लालच स्थायी भाववाला लौल्य रस, आर्द्रता स्थायी भाववाला वात्सल्य रस, आसक्ति स्थायी भाववाला व्यसनरस, अरति या बेचैनी स्थायी भाववाला दुःखरस, सन्तोष स्थायी भाववाला सुख रस इत्यादि। परन्तु कुछ आचार्य पूर्वोक्त नौ रसों मे ही उनका अन्तर्भाव कर लेते है।" ('नाट्यदर्पण', 3. 111)

भारतीय नाट्परम्परा बहुत पुरानी है। कई बार इसके साथ यावनी नाट्य-परम्परा की तुलना करके यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इसका अमुक अंश मिलता-जुलता होने से वहीं (यवन-परम्परा) से लिया गया है, परन्तु यह बात उचित नही है। इसका स्वतन्त्र विकास हुआ है और कर्मफल की अवश्यम्भावी प्राप्ति के अद्वितीय भारतीय तत्त्व-दर्शन के अनुकूल हुआ है। आधुनिक दृष्टि से इसमें कमियाँ मालूम पड़ सकती है, पर आधुनिक दृष्टि सम्पूर्ण रूप से भिन्न जीवन-दर्शन का परिणाम है।

27. नाट्यशास्त्र और यावनी परम्परा

उन्नीसवी शताब्दी में कई यूरोपीय पण्डितों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय नाट्यों के विकास मे भारत के साथ ग्रीस के सम्पर्क का बहुत बड़ा हाथ है। वेबर ने अपनी पुस्तक Indian Literature मे तथा अन्य कई लेखकों ने यह बताने का प्रयत्न किया कि बैक्ट्रिया, पंजाब और गुजरात मे ग्रीक शासकों के दरबार मे ग्रीक नाटकों के अभिनय होते थे। उनसे भारतीय नाटक और नाटकीय सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ा होगा। परन्तु 'महाभाष्य' में जब ऐसा लेख प्राप्त हुआ, जिससे 'रामायण-महाभारत' आदि के अभिनय की परम्परा पूर्ण रूप से सिद्ध हो गयी, तो वेबर ने अपने मत में थोड़ा सुधार कर लिया। वे इतना कहकर सन्तुष्ट हो गये कि भारतीय नाटकों पर और नाटकीय सिद्धान्तों पर कुछ ग्रीक-प्रभाव जरूर पड़ा होगा।

पिशेल नामक जर्मन पण्डित ने वेबर के मत का बड़ा जोरदार खण्डन किया, जिसका प्रत्याख्यान 1882 ई. मे विंडिश नामक जर्मन पण्डित ने किया। विंडिश यह तो मानते है कि भारतवर्ष मे स्वतन्त्र भारतीय नाटक के विकास के तत्त्व पूर्ण मात्रा मे विद्यमान थे, परन्तु 'महाभाष्य' में उल्लिखित 'रामायण-महाभारत' की लीलाओ से परवर्ती काल के शास्त्रीय-सिद्धान्त-मर्यादित नाटको को भिन्न समझते हैं। उनका कहना है कि परवर्ती काल के नाटको की विषय-वस्तु का परिवर्तन हो गया, जो पौराणिक पात्र थे, वे गृहस्थ के दैनन्दिन जीवन के साँचे में ढाले गये, नाटकों की प्रधान काव्य-वस्तु कामदी-प्रेम बन गया। कथावस्तु का कलात्मक विकास हुआ जिसमे अंगों और दृश्यों में उनका विभाजन किया गया, पात्रों के ढाँचे मे विकास हुआ, वार्तालाप के विकास के सामने महाकाव्यात्मक तत्त्व पीछे रह गये, पद्यों के साथ-साथ गद्य का मिश्रण हुआ और संस्कृत के साथ प्राकृत ने भी नाटकों मे अपना अधिकार स्थापित किया। क्या यह सब यों ही हो गया? निश्चय ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व नया आया होगा। विंडिश का यही अनुमान है कि यह नया तत्त्व ग्रीक लोगो के साथ भारतीयो का सम्पर्क ही है। विंडिश के इस मत की बड़ी चर्चा हुई। उसके बाद भारतीय कला और शिल्प के अन्यान्य क्षेत्रो में ग्रीक-प्रभाव की काफी चर्चा हुई। मूर्तिकला के क्षेत्रों में गन्धार की मूर्तियों को ग्रीक-मूर्ति-कला की देन बताया गया और परवर्ती काल में एक नवीन स्वतन्त्र भारतीय कला के विकास मे उसे प्रेरक-तत्त्व समझा गया। प्रो. सिल्वा लेवी ने विंडिश के नाटक-सम्बन्धी मत का तो बड़ा जोरदार खण्डन किया, किन्तु उन्होने स्वय ही स्वीकार किया कि अश्वघोष के माध्यम से बौद्ध धर्म में भी नवीन प्राणों का स्पन्दन दिखायी देता है। उसका कारण पश्चिम से आयी हुई धार्मिक विचारधारा थी। इस प्रकार विंडिश ने जिस ग्रीक प्रभाव को भारतीय नाटकों का प्रेरक तत्त्व बताना चाहा था, उसका अस्तित्व शिल्प और धर्म के दूसरे क्षेत्रों मे भी स्थापित करने का प्रयत्न हुआ। अब प्रश्न यह है कि क्या सचमुच ग्रीक शासकों के दरबार में ग्रीक नाटकों का अभिनय हुआ करता था? दुर्भाग्यवश इसके पक्ष या विपक्ष में कहने योग्य प्रमाण कम है। सन् 1909 ई. में 'रायल एशियाटिक सोसायटी' की पत्रिका मे सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ जॉन मार्शल ने पेशावर में प्राप्त एक बरतन पर ग्रीक नाटक 'एण्टिगोन' के एक अभिप्राय का अंकन बताना चाहा, परन्तु प्रायः सभी विद्वानो ने उसे सन्देहास्पद और कष्ट-कल्पित माना। अलक्षेन्द्र के बारे मे अवश्य कहा जाता है कि वह नाटक देखने का बड़ा शौकीन था और यह भी सुना जाता है कि अकेले एकबताना (Ekbatana) मे ही तीन हजार ग्रीक-कलाकार थे। परवर्ती ग्रीक लेखकों ने लिखा है कि इरानी जेडरोशियन (Gedrosions) और शुशा (Susa) के लोग यूरीफाइड और सोफोक्लिस के नाटकों के गीत गाया करते थे। और परवर्ती ग्रीक लेखक 'फिलोस्ट्रेटस' (Philostratos) ने तो एक ब्राह्मण की चर्चा की है जिसे गर्व था कि उसने यूरीपाइड का नाटक 'हेरामलीदई' (Hearkleidai) पूरा पढ़ लिया है। प्रो. सिल्वाँ लेवी इन वक्तव्यों को अतिरंजित और सन्देहास्पद मानते

हैं। जो हो, यह मान लिया जा सकता है कि भारतवर्ष में जो ग्रीक लोग आये होंगे वे कुछ-न-कुछ अपने देश के नृत्य, गान, नाटक आदि का अभिनय भी कराते होंगे। जिन शासकों ने ग्रीक कलाकारों को बुलाकर सुन्दर सिक्के ढलवाये उनसे उतने कला-प्रेम की आशा तो की ही जा सकती है; परन्तु फिर प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच इन नाटकों ने भारतीय नाटकों को प्रभावित किया होगा ? विंडिश का कहना है कि ईसवी-पूर्व 340 और 260 के बीच जो ग्रीस में नयी ऐक्टिक कामेडियाँ लिखी गयी वे ही भारतीय नाटकों को प्रभावित करनेवाले मूल स्रोत मानी जा सकती है, परन्तु जैसाकि श्री ए. बी. कीथ ने अपने 'संस्कृत नाटक' नामक ग्रन्थ में बताया है, "संस्कृत नाटक और कामेडियो मे जो सम्बन्ध है वह बहुत थोड़ा है।" श्री ए. बी. कीथ ने और भी कहा है कि विंडिश का यह कहना कि ग्रीक (रोमन) और भारतीय दोनों नाटकों से अंकों और दृश्यों का विभाजन होता है, दोनों में सभी पात्र प्रत्येक दृश्य के अन्त में रगमंच छोड़ देते है, अंकों की सख्या साधारणतः पाँच होती है (भारतीय नाटकों मे यह संख्या प्रायः अधिक होती है), कोई बहुत महत्त्वपूर्ण साम्य नहीं है; क्योंकि यह सयोगजन्य साम्य भी हो सकता है। संस्कृत-नाटकों का अंग-विभाजन एक्शन के विश्लेषण (analisation of action) पर आधृत होता है; जो ग्रीस और रोम में कहीं भी अनुलिखित नहीं है। इसी प्रकार दृश्य-सम्बन्धी रूढ़ियों मे जो समानता है, जनान्तिक और अपवार्य भाषण की रूढ़ियों में जो एकरूपता है और किसी पात्र के प्रवेश के समय रंगमंच पर उपस्थित किसी अन्य पात्र से उसके सम्बन्ध में परिचयात्मक वाक्य कहलाने की जो समान प्रथाएँ हैं, वे भी ऐसी है जो एक ही परिस्थिति में खेले जानेवाले नाटको में अवश्य नियोज्य है, उनकी समानता के ग्रीक या रोमन प्रमाण की स्थापना नहीं की जा सकती। ('संस्कृत ड्रामा' मे ए. बी. कीथ, पृ. 58-59)। आजकल के वैज्ञानिक युग में भी नवागत पात्र के परिचय कराने की आवश्यकता अनुभव की ही जाती है।

डॉ. राघवन् ने संस्कृत-नाटकों के वस्तु-विषय को बहुत सुन्दर ढंग से बताया है—संस्कृत में नाटक प्रस्तावना के साथ प्रारम्भ होता है जिसमे सूत्रधार और उसका कोई सहयोगी सम्भाषण करते हैं और कवि (नाटककार) तथा नाटक का परिचय प्रस्तुत करते है। कथावस्तु का आयोजन परिच्छेदों में किया जाता है, जिन्हें अंक कहते है और जिनकी सीमा चार से लेकर दस तक होती है। अंक मे दृश्य-परिवर्त्तन हो सकता है, किन्तु उनमे दृश्यो के विभाजन का संकेत नहीं किया जाता। अकों में एक नैरन्तरिक कार्य-कलाप होता है जो एक दिन की अवधि का नहीं होता। अंकों में उच्चतर अथवा निम्नतर चरित्रों का एक प्रस्तावनात्मक दृश्य हो सकता है। इसका प्रयोजन कथावस्तु मे एकसूत्रता अथवा नैरन्तर्य की स्थापना करना, दर्शकों को कथावस्तु का बोध कराना और उन घटनाओं के विषय मे सूचना देना अथवा वार्तालाप कराना होता है जो रंगमंच पर प्रमुख अंकों में प्रदर्शित न किये जा सकते हो। पूर्व-निर्देश के अभाव में कोई पात्र मंच पर अवतरित नहीं हो सकता। नाटक की मूल वस्तु में गद्य तथा पद्य-शैलियों का मिश्रण होता है। पद्य का प्रयोग उस

स्थान पर होता है जब किसी आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति अथवा उच्च प्रभाव की सृष्टि की आवश्यकता होती है। गद्य और पद्य के मिश्रण की भाँति ही साहित्यिक तथा लौकिक भाषाओं का भी मिश्रण होता है। उच्चवंशीय तथा शिक्षित पुरुष-पात्र संस्कृत बोलते हैं और निम्नतर श्रेणी के पात्र, स्त्री-पात्र तथा साधारण सभासद् प्राकृत बोलते है, जो निम्न श्रेणी के पात्रों की संख्या तथा प्रवृत्ति के अनुसार कभी-कभी विभिन्न प्रकार की होती है। कार्य संक्षिप्त अवधि का भी हो सकता है अथवा वर्षों तक फैला हुआ भी हो सकता है और इसी प्रकार एक विशिष्ट स्थान पर भी घटित हो सकता है अथवा विभिन्न स्थानों तक भी उसका विस्तार हो सकता है। कथावस्तु प्रसिद्ध महाकाव्यों से ली जा सकती है अथवा कल्पित या भिन्न भी हो सकती है। कथावस्तु के प्रख्यात होने पर भी नाटककार उसे अपने नाटक के भाव तथा प्रयोजन के उपयुक्त नया रूप दे सकता है; क्योंकि संस्कृत-नाटककार उसे अपने नाटक में उदात्त चरित्रों तथा दर्शकों के अन्तस्थल पर उदात्त भावों का प्रभाव उपस्थित करने का प्रयास किया करता है। नाटक का अन्त सुखमय होना चाहिए। (संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार नाटक एक विशेष जाति का अभिनेय रूपक है, परन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है।)

इन दृष्टियों तथा अपने निर्धारित भाव के अनुसार नाटककार अपनी मूल वस्तु के अवयवों, कथावस्तु, चरित्र और रस की योजना करता था। वस्तुतः रस ही संस्कृत के सभी काव्य-नाटकों का लक्ष्य है। रस तक ले जाने के कारण ही नायक (ले जानेवाला), नायिका (ले जानेवाली), अभिनय (ले जाने का पूर्ण साधन) आदि शब्दो की रचना हुई है। वह कथा की उन घटनाओं को, जो उसके कथानक के लिए आवश्यक होती थी अथवा उसके मुख्य भाव के विरुद्ध होती थी, परित्यक्त अथवा पुनर्निर्मित करता था। यही वह अपने स्वयं के चरित्रों की सृष्टि कर लेता था। कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण, जो पश्चिमी नाटकों के सर्वस्व होते है, भारतीय नाट्यकला में रस के साधक होते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कथानक एवं चरित्र-चित्रण उपेक्षित थे। भरत का कथानक-निर्माण की प्रविधि का नियमपूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार की आलोचना का निराकरण करेगा।

'यवनिका' शब्द ने भी अनेक प्रकार की ऊहापोहों को उत्तेजना दी है, परन्तु विंडिश और लेवी ने इस शब्द से उत्पन्न भ्रान्त धारणाओं का निरसन कर दिया है। वस्तुतः यवनिका या 'जवनिका' संस्कृत के 'यमनिका' शब्द के प्राकृत रूप हैं जिसका अर्थ होता है, सयमन की जानेवाली पटी (तु. अपटीक्षेप प्रवेश) या परदा। यदि यह शब्द किसी प्रकार 'यवन' शब्द से सम्बद्ध मान भी लिया जाये, तो भी इसका अर्थ केवल विदेशो से आयी हुई वस्तु ही होगा। भारतीयों का प्रथम परिचय आयोनियन (Ionion) लोगों से हुआ था, उसी से संस्कृत का 'यवन' और पालि का 'योन' शब्द बना है। बाद में इस शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ और हेलेनिक पर-सियन साम्राज्य के सभी देशों के निवासियों के लिए इसका प्रयोग हुआ है; मिस्र (Egypt), ईरान (Persia), सीरिया, वाह्लीक (Wahlic) आदि सभी देशो

के निवासी यवन कहे जाते थे और उनकी वस्तुएँ भी इसी विशेषण से स्मरण की जाती थी। लेवी ने ईरान के बने परदों को यवनिका कहा है। वस्तुत: जैसा कीथ ने कहा है, ग्रीक नाटकों मे परदे होते ही नही थे। स्वय विडिश ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। फिर भी वे कहना चाहते है कि ग्रीक रगमच के पीछे जो चित्रित दृश्यावली होती थी उसे ही भारतीय रगमच मे परदे से सूचित किया जाता होगा, इसलिए उसको 'यवनिका' नाम दे दिया गया। यह विचित्र तर्क है। अनेक यूरोपीय पण्डितों ने इस तर्क की निस्सारता सिद्ध की है, फिर भी 'यवनिका' शब्द इतना स्पष्ट व्यंजनाकारी है कि इससे उत्पन्न भ्रान्त धारणा इस देश मे बनी हुई है और आये-दिन अच्छे-अच्छे भारतीय मनीषी इस भ्रान्त सिद्धान्त को अम्लान-भाव से कह दिया करते हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. राघवन् ने ग्रीक और संस्कृत-रंगमचो की तुलना करते हुए ठीक ही कहा है कि "भारतीय रगमंच पर नाट्य-रूपो की विविधता पहले से ही थी, जो (उस समय) यूनान में अनुपलब्ध थी। 'तर्जेदी' यूनानी नाटको का सर्वोत्कृष्ट रूप था और सस्कृत-रंगमंच पर यूनानी तर्जेदी-जैसी किसी वस्तु का विकास कभी नही हुआ। वस्तुतः इसके सिद्धान्त रगमंच पर किसी की मृत्यु अथवा मृत्यु के साथ किसी नाटक के अन्त का निषेध करते थे। संस्कृत-रगमच मे यूनानी-रंगमच के समान कोई गायक-वृन्द नही होता था और यूनानी सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य संकलन-त्रय के सिद्धान्त से देश-काल के सकलन भारतीय सिद्धान्त तथा व्यवहार द्वारा पूर्ण निश्चिन्त होकर छोड़ दिये गये थे। भारतीय नाटक यूनानी नाटक की अपेक्षा अत्यधिक विशाल भी था। यूनानी-रंगमंच का भारतीय रंगमंच के विविध रूपों से—जिनका भरत ने कुछ विशदता से वर्णन किया है – कोई साम्य नही है। भरत के—जिनका ग्रन्थ अरस्तू के 'पोयटिक्स' तथा 'रिटारिक्स' के सम्मिलित रूप से भी अधिक पूर्ण है— पूर्ण रस-सिद्धान्त के समक्ष त्रास, करुणा तथा विरेचन के यूनानी सिद्धान्त हेय-से है। परदे के लिए प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द, रंगमंच पर आने-वाले राजकीय अनुचरों में यवन स्त्रियों की उपस्थिति आदि तथ्यो मे भी यवन-सम्पर्क के कुछ प्रमाण खोजे गये है। (इनमें से) अन्तिम तो नितान्त व्यर्थ है। यदि हमारे पास परदे के लिए 'पटी', 'तिरस्करिणी', 'प्रतिशिरा' तथा यहाँ तक कि 'यमनिका' आदि शब्द देशीय तथा युक्तियुक्त न होते तो प्रथम युक्ति मे कुछ शक्ति हो सकती थी। इन रूपों की अपेक्षा भारतीय नाटक के अधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्ट अंग वे है जिनका यूनानी नाटको में अभाव है—संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त संस्कृत तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का बहुभाषीय माध्यम। सिलवा लैवी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संस्कृत-नाटक पश्चिमी भारत मे शको के प्रभाव में विकसित हुए है। उनके आधार-भूत प्रमाण नितान्त सारशून्य हैं। कीथ के अनुसार संस्कृत-नाटको का उद्भव तथा विकास स्वदेशीय ही है। निस्सन्देह शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटक से सर्वथा भिन्न है।

'यवनिका' की ही भाँति संस्कृत-नाटकों मे राजा की अंगरक्षिका के रूप मे यावनी

वालाओं की उपस्थिति को भी ग्रीक रंगमच के प्रभाव का निदर्शक बताया जाता है, पर जैसा कि श्री कीथ ने कहा है कि ग्रीक नाटकों में अंगरक्षिकाओं का कोई अस्तित्व नहीं है, यह अधिक-से-अधिक ग्रीक रमणियों के प्रति भारतीय राजाओं का झुकाव ही सिद्ध करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[1] तथा मैगस्थनीज आदि के लेखों से इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

विडिश ने नाटिकाओं के साथ कई कामदियों का आश्चर्यजनक साम्य दिखाया है और इनमें तथा अन्य संस्कृत-नाटकों में जो अभिज्ञान या सहिदानी का अभिप्राय आया है उसे ग्रीक प्रभाव बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु जैसा कि कीथ ने कहा है, अभिज्ञान का अभिप्राय भारतीय कथा-साहित्य में इतना पुराना है कि यह कल्पना करना कि भारतीयों को अभिज्ञान या सहिदानी के अभिप्राय को उधार लेने के लिए ग्रीस जाना पड़ा, कुछ तुक की बात नहीं है। यह और बात है कि जिन कथाओं और काव्यों में इस प्रकार के अभिप्रायों का प्रयोग है, उनकी तिथि सर्वत्र सन्देहास्पद बतायी जाती है। ब्लूमफील्ड आदि विद्वानों ने भारतीय कथानक-रूढ़ियों का बहुत विस्तृत और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके प्रयत्नों से इस रूढ़ि की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो गयी है। 'मृच्छकटिक' नाटक की कथावस्तु, नाम आदि को लेकर विडिश ने अपने सिद्धान्त स्थिर किये थे, पर भास के 'चारुदत्त' नामक नाटक के मिलने से, जो 'मृच्छकटिक' का मूल रूप है, अब उसका भी वजन कम हो गया है। 'मृच्छकटिक' में कुछ नयापन है अवश्य, और यदि वह विदेशी प्रेरणा से आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। राजनीतिक उलटफेरों से गणिका वसन्तसेना का रानी की मर्यादा पा लेना नयी-सी बात है, पर उसका पहली रानी के साथ-साथ विवाहित पत्नी के रूप में रहना भारतीय प्रथा है।

इसी प्रकार और भी जो बातें कही गयी हैं वे निराधार और कष्ट-कल्पित हैं। यह तो नहीं माना जा सकता कि ग्रीकों-जैसी शक्तिशाली जाति के सम्पर्क में आने के बाद भारतीयों-जैसी अद्भुत कल्पनाशील जाति के विचारों और कल्पना-शक्ति में कोई परिवर्तन हुआ ही न होगा, पर जहाँ तक नाटकीय सिद्धान्तों का प्रश्न है, उसकी बहुत ही समृद्ध और पुरानी परम्परा इस देश में विद्यमान थी। यह भी नहीं समझना चाहिए कि यावनी साहित्य और विचारधारा भारतीय सम्पर्क में आकर कुछ लेने में हिचकी होगी। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि दोनों जातियों में कुछ ऐसा आदान-प्रदान हुआ अवश्य होगा, पर उससे 'नाट्यशास्त्र' के सिद्धान्तों को ग्रीक-साहित्य की देन कहना कल्पना-विलास-मात्र है।

कई यूरोपीय पण्डितों ने केवल बाहरी प्रमाणों पर निर्भर न रहकर विषय-वस्तु और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भारतीय और ग्रीक-रोमन नाटकों की तुलना की है और बताया है कि भारतीय नाटकों में जो 'टाइप' की प्रधानता है, वह सिद्ध करती है कि आरंभ में ये अनुकरणमूलक रहे होंगे और बाद में ग्रीक-रोमन-नाटकों

1 अध्याय 1, पृ. 21

के प्रभाव से नया रूप ग्रहण किया होगा। पुराने टाइपो का रह जाना उनके मत से रोमन कामदियों से उनका प्रभावित होने का ही लक्षण है, क्योकि यह सिद्ध करता है कि कुछ नया तो आ गया, पर पुराना गया नही। यह बात कितनी निराधार है, यह श्री कीथ के इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है :

"The similarity of types is not at all convincing, the borrowing of the idea of using different dialects from the mime is really absurd and the large number of actors is equally natural in either case."

अर्थात् टाइपो की समानता बिल्कुल मानने योग्य बात नही है और विभिन्न बोलियो के प्रयोग-सम्बन्ध मे माइम से उधार लेनेवाला विचार बेहूदा तर्क है तथा अभिनेताओं की अधिक सख्या का होना दोनो देशों के नाटकों मे समान रूप से सम्भव है।

श्री कीथ ने जोर देकर कहा है कि ग्रीक-रोमन कामदियो मे टाइप की ही प्रधानता है और संस्कृत-नाटको मे परिचित पात्र की वैयक्तिक विशेषताओ के कारण कथावस्तु मे जो विकास हो जाता है, वह उसमे एकदम नही मिलता।

ऊपर सक्षेप मे आधुनिक विद्वानों की कुछ ऊहापोहो की चर्चा की गयी है। इस चर्चा का उद्देश्य केवल पाठकों को नये विचारों से परिचित करा देना था। इस संक्षिप्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय नाटकों के विकास में बाहरी प्रभाव की बातें विशुद्ध अटकल पर आधारित है और 'नाट्यशास्त्र' के विकास मे तो किसी विदेशी परम्परा का नाम-मात्र का भी सम्बन्ध नही दिखाया जा सकता। 'नाट्यशास्त्र' की परम्परा बहुत पुरानी—हज़रत ईसा के जन्म से सैकड़ो वर्ष पुरानी है।

[नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक पुस्तक की भूमिका]

प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद

कलात्मक विलासिता की योग्यता

प्राचीन भारत के कलात्मक विनोदो की चर्चा थोड़े मे कर सकना सम्भव नही है। 'प्राचीन भारत' बहुत व्यापक शब्द है। इसका साहित्य हजारो वर्षो में परिव्याप्त है और इसके इतिहास का पद-संचार लाखो वर्गमील मे फैली एकाधिक मानव-मण्डलियों के जीवन-विश्वासो और विचारों के ऊपर चिह्नित है, इसलिए दो या तीन व्याख्यानों में हम उसके उस पहलू का सामान्य परिचय भी नही पा सकेंगे जिसे कला-विलास या कलात्मक विनोद कहा जा सकता है। फिर इस देश के इतिहास का जितना अश जाना जा सका है, उसकी अपेक्षा वह अश कम महत्त्व-पूर्ण नही है जिसे नही जाना जा सका। कभी-कभी तो वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारे पास जो पुराना साहित्य उपलब्ध है, उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश वैरागी साधुओं द्वारा वैरागी साधुओं के लिए ही लिखा गया है। नाच-गान का स्थान उसमे है ही नहीं, फिर भी वह लोकविच्छिन्न नही है, इसीलिए किसी-न-किसी बहाने उसमे लोक-प्रचलित कलात्मक विनोदो की बात आ ही जाती है। बौद्धो और जैनों के विशाल साहित्य मे ऐसे उल्लेख नितान्त कम नही है।

परन्तु इन विनोदों का यथार्थ वर्णन लौकिक रस के उपस्थापक काव्यों, नाटकों, कथा-आख्यायिकाओं और इनकी विवेचना करनेवाले ग्रन्थों मे ही मिलता है। दुर्भाग्यवश हमे इस श्रेणी का पुराना साहित्य बहुत कम मिला है। इसमे तो कोई सन्देह ही नही कि सन् ईसवी के पूर्व इस प्रकार का साहित्य प्रचुर मात्रा मे विद्यमान था। भरत के नाट्य-शास्त्र मे, नृत्य, नाट्य आदि का जैसा सुसम्बद्ध विश्लेपण है और नाट्यरूढ़ियों की जैसी सुविस्तृत सूची प्राप्त है, वह इस बात का पक्का प्रमाण है कि भरत मुनि को इस श्रेणी का बहुत विशाल साहित्य ज्ञात था। प्राचीनतर साहित्य से इस बात का पर्याप्त प्रमाण भी मिल जाता है। पर वह समूचा साहित्य केवल अनुमान का ही विषय रह गया है। यद्यपि हम इस विषय का यथार्थ वर्णन खोजें तो सन् ईसवी के कुछ सौ वर्ष पहले से लेकर कुछ सौ वर्ष बाद तक के साहित्य को प्रधान अवलम्ब बनाना पड़ेगा। पाली-साहित्य से तात्कालिक

सामाजिक पृष्ठभूमि का अच्छा आभास मिलता है, पर निश्चित रूप से यह कहना कठिन ही है कि वे बुद्ध के समकालीन हैं ही। उनका अन्तिम रूप से सम्पादन बहुत बाद में हुआ था। यही कहानी जैन आगमों की है जिनका सकलन और भी बाद मे हुआ। इनमें नयी बात आयी ही नहीं होगी, यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता।

इसलिए सन् ईसवी के थोड़ा इधर-उधर से आरम्भ करना ही ठीक जान पड़ता है। फिर इसके ऐतिहासिक कारण भी हैं जिनके विषय में अभी निवेदन कर रहा हूँ। इस दृष्टि से देखिए तो इस पुस्तक का विवेच्य—कला—आपको सबसे अधिक सामग्री देने योग्य ही मालूम होगा।

यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि विलासिता और कलात्मक विलासिता एक ही वस्तु नहीं है। थोथी विलासिता में केवल भूख रहती है—नगी बुभुक्षा; पर कलात्मक विलासिता सयम चाहती है, शालीनता चाहती है, विवेक चाहती है। सो, कलात्मक विलास किसी जाति के भाग्य में सदा-सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिए ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग का सामर्थ्य चाहिए और सबसे बढ़कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौन्दर्य और सुकुमारता की रक्षा कर सके। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। उस जाति में जीवन के प्रति ऐसी एक दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए जिससे वह पशु-सुलभ इन्द्रिय-वृत्ति को और बाह्य पदार्थों को ही समस्त सुखों का कारण न समझने में प्रवीण हो चुकी हो, उस जाति की ऐतिहासिक और सास्कृतिक परम्परा बड़ी और उदार होनी चाहिए और उसमें एक ऐसा कौलीन्य-गर्व होना चाहिए जो आत्म-मर्यादा को समस्त दुनिया की सुख-सुविधाओं से श्रेष्ठ समझता हो, और जीवन के किसी भी क्षेत्र में असुन्दर को बर्दाश्त न कर सकता हो। जो जाति सुन्दर की रक्षा और सम्मान करना नहीं जानती वह विलासी भले ही हो ले, पर कलात्मक विलास उसके भाग्य में नहीं बदा होता। भारतवर्ष में एक ऐसा समय बीता है जब इस देश के निवासियों के प्रत्येक कण में जीवन था, पौरुष था, कौलीन्य-गर्व था और सुन्दर के रक्षण-पोषण और सम्मान का सामर्थ्य था। उस समय उन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये थे, सन्धि और विग्रह के द्वारा समूचे ज्ञात जगत् की सभ्यता का नियन्त्रण किया था और वाणिज्य और यात्राओं के द्वारा अपने को समस्त सभ्य जगत् का सिरमौर बना लिया था। उस समय इस देश में एक ऐसी समृद्ध नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई थी, जो सौन्दर्य की सृष्टि, रक्षण और सम्मान में अपनी उपमा स्वयं ही थी। उस समय के काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका, चित्र, मूर्ति, प्रासाद आदि को देखने से आज का अभागा भारतीय केवल विस्मय-विमुग्ध होकर देखता रह जाता है। उस युग की प्रत्येक वस्तु में छन्द है, राग है और रस है। उस युग में भारतवासियों ने जीने की कला आविष्कार की थी। यह काल बहुत दिनों तक जीता रहा है, पर मैंने अपने वक्तव्य के लिए गुप्तकाल के कुछ सौ वर्ष पूर्व से लेकर कुछ सौ वर्ष बाद तक के साहित्य को ही प्रधान रूप से उपजीव्य मान लिया है। इस प्रकार हमारा काल सीमित हो गया है।

काल-सीमा का औचित्य

पूछा जा सकता है कि हमारे इस सीमा-निर्धारण का औचित्य क्या है ? हजारों वर्ष की विपुल साहित्य-साधना को छोड़कर मैंने इन आठ-दस सौ वर्षों की साहित्यिक साधना को ही क्यों आलोचना के लिए चुना है ?

कारण बताता हूँ। सन् ईसवी की पहली शताब्दी में मथुरा के कुषाण सम्राटों के शासन-सम्बन्धी ऐतिहासिक चिह्नों का मिलना एकाएक बन्द हो जाता है। इसके बाद के दो-तीन सौ वर्षों का काल भारतीय इतिहास का अन्धकार-युग कहा जाता है। आये दिन विद्वान् इस युग के इतिहास-सम्बन्धी नये-नये सिद्धान्त उपस्थित करते रहते हैं, और पुराने सिद्धान्तों का खण्डन करते रहते हैं। अब तक इस काल का इतिहास लिखने योग्य पर्याप्त सामग्री नहीं उपलब्ध हुई है। किन्तु 220 ई. में मगध का प्रसिद्ध पाटलिपुत्र 400 वर्षों की गाढ़ निद्रा के बाद अचानक जाग उठता है। इसी वर्ष चन्द्रगुप्त नामधारी एक साधारण राजकुमार, जिसका विवाह सुप्रसिद्ध लिच्छवि-वंश में हुआ था और इसीलिए जिसकी ताकत बढ़ गयी थी, अचानक प्रबल पराक्रम से उत्तर भारत में स्थित विदेशियों को उखाड़ फेंकता है। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने, जो अपने योग्य पिता का योग्य पुत्र था, इस उन्मूलन-कार्य को और भी आगे बढ़ाया और उसके योग्यतर प्रतापी पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त या सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य ने अपने रास्ते में एक भी काँटा नहीं रहने दिया। उसका सुव्यवस्थित साम्राज्य ब्रह्मदेश से पश्चिम समुद्र तक और हिमालय से नर्मदा तक फैला हुआ था। गुप्त सम्राटों के इस सुदृढ़ साम्राज्य ने भारतीय जनसमूह में नवीन राष्ट्रीयता और विद्याप्रेम का सञ्चार किया। इस युग में राजकार्य से लेकर समाज, धर्म और साहित्य तक में एक अद्‌भुत क्रान्ति का परिचय मिलता है। ब्राह्मण धर्म और संस्कृत भाषा एकदम नवीन प्राण लेकर जाग उठे, पुराने क्षत्रपों द्वारा व्यवहृत प्रत्येक शब्द मानो उद्‌देश्य के साथ बहिष्कार कर दिये गये। कुषाणों द्वारा समर्थित गान्धार-शैली की कला एकाएक बन्द हो गयी और सम्पूर्णतः स्वदेशी मूर्ति-शिल्प और वास्तु-शिल्प की प्रतिष्ठा हुई। राजकीय पदों के नाम नये सिरे से एकदम बदल दिये गये। समाज और जाति की व्यवस्था में भी परिवर्तन किया गया था—इस बात का सबूत मिल जाता है। सारा उत्तरी भारत जैसे एक नया जीवन लेकर नयी उमंग के साथ प्रकट हुआ। इस काल से भारतीय चिन्ता-स्रोत एकदम नयी दिशा की ओर मुड़ता है। कला और साहित्य की चर्चा करनेवाला कोई भी व्यक्ति इस नये घुमाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। जिन दो-तीन सौ वर्षों की ओर शुरू में इशारा किया गया है, उनमें भारतवर्ष में शायद विदेशी जातियों के एकाधिक आक्रमण हुए थे, प्रजा सन्त्रस्त थी, नगरियाँ विध्वस्त हो गयी थीं, जनपद आग की लपटों के शिकार हुए थे। कालिदास ने अयोध्या की दारुण दीनावस्था दिखाने के बहाने मानो गुप्त सम्राटों के पूर्ववर्ती काल के समृद्ध नागरिकों

की जो दुर्दशा हुई थी, उसका अत्यन्त हृदयविदारी चित्र खींचा है। शक्तिशाली राजा के अभाव में नगरियों की असंख्य अट्टालिकाएँ भग्न, जीर्ण और पतित हो चुकी थीं, उनके प्राचीर गिर चुके थे, दिनान्तकालीन प्रचण्ड आँधी से छिन्न-भिन्न मेघपटल की भाँति वे श्रीहीन हो गये थे। नागरिकों के जिन राजपथों पर घनी रात में भी निर्भय विचरण करनेवाली अभिसारिकाओं के नूपुरशिंजन का स्वर सुनायी देता था, वे राजपथ शृगालों के विकट नाद से भयंकर हो उठे थे। जिन पुष्करिणियों में जलक्रीडा-कालीन मृदंगों की मधुर ध्वनि उठा करती थी, उनमें जंगली भैंसे लोटा करते थे और अपने शृंग-प्रहार से उन्हें गँदला कर रहे थे। मृदंग के ताल पर नाचने के अभ्यस्त सुवर्णयष्टि पर विश्राम करनेवाले क्रीड़ा-मयूर अब जंगली हो चुके थे, उनके मुलायम बर्हभार दावाग्नि से दग्ध हो चुके थे। अट्टालिकाओं की जिन सीढ़ियों पर रमणियों के सराग-पद संचरण करते थे, उन पर व्याघ्रों के लहू-लुहान पद दौड़ा करते थे। बड़े-बड़े राजकीय हाथी, जो पद्मवन में अवतीर्ण होकर मृणालनालों द्वारा करेणुओं की सम्वर्धना किया करते थे, सिंहों से आक्रान्त हो रहे थे। सौधस्तम्भों पर लकड़ी की बनी स्त्री-मूर्तियों का रंग धूसर हो गया था और उन पर साँपों की लटकती हुई केंचुली ही उत्तरीय का कार्य कर रही थी। हर्म्यों के अमल-धवल प्राचीर काले पड़ गये थे, दीवारों के फाँक में से तृणावलियाँ निकल पड़ी थीं, चन्द्रकिरणें भी उन्हें पूर्ववत उद्भासित नहीं कर सकती थीं। जिन उद्यान-लताओं से विलासिनियाँ अति सदय भाव से पुष्प चयन करती थीं, उन्हीं को वानरों ने बुरी तरह से छिन्न-भिन्न कर डाला था; अट्टालिकाओं के गवाक्ष रात में न तो मांगल्य प्रदीप से और न दिन में गृहलक्ष्मियों की मुखकान्ति से ही उद्भासित हो रहे थे, मानो उनकी लज्जा ढकने के लिए ही मकड़ियों ने उन पर जाला तान दिया था। नदियों के सैकतों पर पूजन-सामग्री नहीं पड़ती थी, स्नान की चहल-पहल जाती रही थी, उपान्त देश के वेतसलता कुञ्ज सूने पड़ गये थे ('रघुवंश', 16-11-21)। ऐसे ही विध्वस्त भारतवर्ष को गुप्त-सम्राटों ने नया जीवन दिया। कालिदास के ही शब्दों में कहा जाय तो सम्राट् के नियुक्त शिल्पियों ने प्रचुर उपकरणों से उस दुर्दशाग्रस्त नगरी को इस प्रकार नयी बना दिया जैसे निदाघ-ग्लपित धरित्रि को प्रचुर जल-वर्षण से मेघगण !

> तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात् ।
> पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गात् मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥
>
> ('रघुवंश', 16-38)

गुप्त सम्राटों के इस पराक्रम को भारतीय जनता ने भक्ति और प्रेम से देखा। शताब्दियाँ और सहस्राब्दक बीत गये, पर आज [illegible] जीवन में गुप्त-सम्राट् घुले हुए हैं। केवल इसलि[illegible] विक्रमा[illegible] [illegible] की कहानियाँ भारतीय लोक-जीवन [illegible] न [illegible] कि आज के भारतीय धर्म, समाज, [illegible] साहित्य की अमिट छाप है

से आज प्रमाण माने जाते है, वे अन्तिम तौर पर गुप्त-काल मे रचित हुए थे, वे आज भी भारतवर्ष का चित्त हरण किये हुए है; जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए थे, वे आज भी भारतीय चिन्तास्रोत को बहुत-कुछ गति दे रहे है। आज गुप्त-काल के पूर्ववर्ती शास्त्र और साहित्य को भारतवर्ष केवल श्रद्धा और भक्ति से पूजा-भर करता है, व्यवहार के लिए उसने इस काल के निर्धारित ग्रन्थों को ही स्वीकार किया है। गुप्त-युग के बाद भारतीय मनीषा की मौलिकता भोथी हो गयी। टीकाओं और निबन्धों का युग शुरू हो गया। टीकाओं की टीका और उसकी भी टीका, इस प्रकार मूल ग्रन्थ की टीकाओं की प्रक्रिया छः-छः, आठ-आठ पुश्त तक चलती रही। आज जब हम किसी विषय की आलोचना करते समय 'हमारे यहाँ' के शास्त्रों की दुहाई देते है, तो अधिकतर इसी काल के बने ग्रन्थों की ओर इशारा करते है। यद्यपि गुप्त-सम्राटों का प्रबल पराक्रम छठी शताब्दी मे ढल पड़ा था, पर साहित्य के क्षेत्र में उस युग के स्थापित आदर्शों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में ईसा की नौवी शताब्दी तक चलता रहा। मोटे तौर पर इस काल तक को हम गुप्त-काल ही कहे जायेंगे।

इस काल के साहित्य का प्रभाव

सन् 1883 ई. मे मैक्समूलर ने अपना वह प्रसिद्ध मत उपस्थित किया था जिसमे कहा गया था कि यवनो, पार्थियनो और शकों आदि के द्वारा उत्तर-पश्चिम भारत पर बार-बार आक्रमण होते रहने के कारण कुछ काल के लिए संस्कृत मे साहित्य बनना बन्द हो गया था। कालिदास के युग से, नये सिरे से संस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठा हुई और उसमें एक अभिनव ऐहिकतापरक (सेक्यूलर) स्वर सुनायी देने लगा। ('इण्डिया', 1883, पृ. 281)। यह मत बहुत दिनों तक विद्वन्मण्डली मे समादृत रहा, पर अब नही माना जाता। फिर भी, जैसाकि डाक्टर कीथ ने कहा है, यह इस रूप मे अब भी जी रहा है कि उक्त पुन.प्रतिष्ठा के युग के पहले तक संस्कृत भाषा ऐहिकितापरक भावो के लिए बहुत कम प्रयुक्त होती थी। ऐसे भावो का प्रधान वाहक प्राकृत भाषा थी। प्राकृत की ही पुस्तकें बाद मे चलकर ब्राह्मणो द्वारा संस्कृत मे अनूदित हुई ('हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर', 1828, पृ. 39)। स्वयं कीथ साहब इस मत को नही मानते। उन्होने वैदिक साहित्य के प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न किया है कि ऐहिकतापरक काव्य का बीज बहुत प्राचीन काल के संस्कृत साहित्य मे भी वर्त्तमान था। राजाओं की

प्रशंसा या स्तुति गानेवाले कवि उन दिनों भी थे, और इन स्तुति-सम्बन्धी गानों को जो अधिकाधिक परिमार्जित रूप देने की चेष्टा की गयी होगी, इस कल्पना में बिल्कुल ही अतिरंजना नहीं है। परन्तु संस्कृत में ऐहिकतापरक रचना होती रही हो या नहीं, निर्विवाद बात यह है कि सन् ईसवी के आसपास ऐहिकतापरक रचनाओं का बहुत प्राचुर्य हो गया था। इनका आरम्भ भी सम्भवतः प्राकृत से हुआ था। इस प्रकार की रचनाओं का सबसे प्राचीन और साथ ही सबसे प्रौढ़ संकलन 'हाल' की सतसई में बताया जाता है। इस ग्रन्थ का काल कुछ लोग सन् ईसवी के आस-पास मानते हैं और कुछ लोग चार-पाँच सौ वर्ष बाद। कुछ पण्डितों का मत है कि हाल की सतसई में जो ऐहिकतापरक रचनाएँ हैं उनके भावों का प्रवेश भारतीय साहित्य में किसी विजातीय मूल से हुआ है। यह मूल आभीरों या अहीरों की लोक-गाथाएँ हैं। यहाँ इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह हमारे वक्तव्य के बाहर चला जाता है। हमने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में इस प्रश्न पर कुछ ज्यादा विस्तार के साथ विचार किया है। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि गुप्त-सम्राटों की छत्रच्छाया में एकाएक नवीन अज्ञातपूर्व स्फूर्ति का परिचय मिलता है।

ऐहिकतापरक काव्य

यद्यपि वैदिक साहित्य में गद्य-पद्य में लिखी हुई कहानियों की कमी नहीं है, पर जिसे हम अलंकृत काव्य कहते हैं, जिसका प्रधान उद्देश्य रस-सृष्टि है, निश्चित रूप से उसका बहुल प्रचार गुप्त-सम्राटों की छत्रछाया में ही हुआ। यद्यपि यह निश्चित है कि जिस रूप में सुविकसित गद्य का प्रचार इस युग में दिखायी देता है, उस रूप को प्राप्त होने में उसे कई शताब्दियाँ लग गयी होंगी। सौभाग्यवश हमारे पास कुछ ऐसी प्रशस्तियाँ प्राप्त हैं जिन पर से अलंकृत गद्य के प्राचीन अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं रह जाता। गिरनार में महाक्षत्रप रुद्रदामा (साधारणतः 'रुद्रदामन्' रूप में परिचित) का खुदवाया हुआ जो लेख मिला है, उससे निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित होता है कि 150 ई. के पूर्व संस्कृत में सुन्दर गद्यकाव्य लिखे जाते थे। यह सारा लेख गद्यकाव्य का एक नमूना है। इसमें महाक्षत्रप ने अपने को 'स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द-समयोदारालंकृत-गद्य-पद्य' का मर्मज्ञ बताया है, जिससे अलंकृत गद्यों के ही नहीं, अलंकार शास्त्र के अस्तित्व का भी प्रमाण पाया जाता है। यह गद्यकाव्य क्या थे, यह तो हमें नहीं मालूम, पर उनकी रचना प्रौढ़

और गुम्फ आकर्षक होते होंगे, इस विषय मे सन्देह की जगह नही है। सम्राट् समुद्रगुप्त ने प्रयाग के स्तम्भ पर हरिषेण कवि द्वारा रचित जो प्रशस्ति खुदवायी थी, वह एक दूसरा सबूत है। हरिषेण ने इस प्रशस्ति को सम्भवतः 530 ई. मे लिखा होगा। इसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश है और रचना मे काव्य के सभी गुण उपस्थित हैं। सुबन्धु और बाण ने अपने रोमांसों के लिए जिस जाति का गद्य लिखा है, इस प्रशस्ति का गद्य उसी जाति का है। हरिषेण के इस काव्य से निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि इसके पहले भी सरस पद्य और गद्यकाव्य का अस्तित्व था।

भरत के 'नाट्यशास्त्र', नन्दिकेश्वर के 'अभिनयदर्पण', वात्स्यायन के 'कामसूत्र', भास के अनेक नाटक, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो के प्रकाशन और आलोचन के बाद इस बात मे अब किसी को सन्देह नही रह गया है कि सन् ईसवी के आसपास भारतीय जनता के पास ऐहिकतापरक सरस साहित्य की कमी नही थी। अब शायद ही कोई संस्कृतवेत्ता ऊपर की अटकल-पच्चू बातों को महत्त्व देता हो। परन्तु फिर भी यह सत्य है कि उस विशाल और महान् साहित्य का एक अंशमात्र ही हमें मिल सका है और अधिकतर हमें परवर्त्ती काल के ग्रन्थों का ही आश्रय लेना पड़ता है।

इसलिए इस वक्तव्य को मैंने जो गुप्त-साम्राज्य के कुछ इधर-उधर के समय तक सीमित रखा है, वह बहुत अनुचित नही है। मै उसके पूर्व और पश्चात् के साहित्य से भी कभी-कभी साधन जुटाने का प्रयास करूँगा, पर प्रधान उपजीव्य इस काल के साहित्य को मानूँगा। यह तो कहना ही व्यर्थ है कि इस सीमित काल का भी पूरा परिचय मैं नही दे सकूँगा। आपका दिया हुआ समय और मेरी अल्प जानकारी, दोनों ही ऐसे अंकुश है जो मुझे इधर-उधर नही भटकने देगे।

कला : महामाया का चिन्मय विलास

कलात्मक आमोदो की चर्चा करने के पहले यह जान रखना आवश्यक है कि इन आचरणों के तीन अत्यन्त स्पष्ट पहलू है : (1) उनके पीछे का तत्त्ववाद; (2) उनका कल्पनात्मक विस्तार; और (3) उनकी ऐतिहासिक परम्परा। मनुष्य-समाज में सामाजिक रूप से प्रचलित प्रत्येक आचरण के पीछे एक प्रकार का दार्शनिक तत्त्ववाद हुआ करता है। कभी-कभी जाति उस तत्त्व को अनजान में स्वीकार किये रहती है और कभी-कभी जान-बूझकर। जो बातें अनजान मे स्वीकृत हुई है वे सामाजिक रूढियों के रूप मे चलती रहती हैं, परन्तु जाति की ऐतिहासिक

परम्परा के अध्ययन से स्पष्ट ही पता चलता है कि वह किस कारण प्रचलित हुआ था। इस प्रकार प्रथम और तृतीय पहलू आपाततः विरुद्ध दिखने पर भी जाति की सुचिन्तित तत्त्व-विद्या पर आश्रित होते हैं। दूसरा पहलू इन आचरणों की गाढ अनुभूतिवश प्रकट किया हुआ हार्दिक उल्लास है। उसमे कल्पना का खूब हाथ होता है। परन्तु वह चूँकि हृदय से सीधे निकला हुआ होता है इसलिए वह उस जाति की उस विशेष प्रवृत्ति को समझने मे अधिक सहायक होता है जिसका आश्रय पाकर वह आनन्दोपभोग करती है। इस पुस्तक में इसी विशेष प्रवृत्ति को सामने रखने का प्रयत्न किया गया है।

सच्चिदानन्दस्वरूप महाशिव की आदि-सिसृक्षा ही शक्ति के रूप में वर्तमान है। प्रलयकाल मे जब महाशिव निष्क्रिय रहते हैं तब समस्त जगत्प्रपञ्च को आत्मसात् करके महामाया विराजती रहती है। जब शिव को लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है तो फिर यही महाशक्तिरूपा महामाया जगत् को प्रपंचित करती है। शिव की लीलासखी होने के कारण ही उन्हें ललिता कहते है। यह लोक-रचना उनकी क्रीडा है, इसमें उन्हें आनन्द आता है; चिन्मय शिव उनके प्रिय सखा हैं, क्रीडा विनोद के साथी हैं; सदानन्द उनका आहार है, आनन्द ही उनका एकमात्र भोग्य है; और सद्भक्तो का पवित्र हृदय ही उनकी वासभूमि है। 'ललितास्तवराज' मे कहा है :

> क्रीड़ा ते लोकरचना सखा ते चिन्मयः शिवः।
> आहारस्ते सदानन्दो वासस्ते हृदयं सताम्॥

'ललिता सहस्रनाम' मे इन्हें 'चित्कला', 'आनन्दकलिका', 'प्रेमरूपा', 'प्रियंकरी', 'कलानिधि', 'काव्यकला', 'रसज्ञा', 'रसशेवधि' कहकर स्तुति की गयी है। जहाँ कहीं मनुष्य-चित्त में सौन्दर्य के प्रति आकर्षण है, सौन्दर्य-रचना की प्रवृत्ति है, सौन्दर्य के आस्वादन का रस है, वहाँ महामाया का यही रूप वर्तमान रहता है। इसलिए सौन्दर्य के प्रति आकर्षण से मनुष्य के चित्त मे परमशिव की आदिक्रीडेप्सा ही मूर्तिमान हो उठती है, वह प्रकारान्तर से महाशक्ति के ललिता-रूप की ही पूजा करता है। ललिता, कला और आनन्द की निधि हैं, वे ही समस्त प्रेरणाओ के रूप मे विराजती हैं।

कला : महामाया की सम्मूर्त्तनशक्ति

शैव-सिद्धान्त मे कला का प्रयोग माया के कंचुक के रूप मे भी हुआ है। यह कला का स्थूलतर रूप है। यह शिव के रूप में, रेखा मे, मूर्त्तभाव प्रकाश करनेवाली

मानसी शक्ति है--व्यक्ति में नही, समष्टि में। सो, आगमों और तन्त्रो मे कला का दार्शनिक अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। इस प्रयोग को समझने पर आगे की विवरणी ज्यादा स्पष्ट रूप से समझ में आयेगी। कला माया के पाँच कंचुकों या आवरणों मे से एक कंचुक या आवरण होती है। काल-नियति-राग-विद्या-कला, ये माया के पाँच कंचुक हैं। इन्ही से शिवरूप व्यापक चैतन्य आवृत होकर अपने को जीवात्मा समझने लगता है। इन पाँच कंचुकों से आवृत होने के पहले वह अपने वास्तविक स्वरूप को समझता रहता है। उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? नित्यत्व-व्यापकत्व-पूर्णत्व-सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व उसके सहज धर्म है। अर्थात् वह सर्वकाल और सर्वदेश मे व्याप्त है, वह अपने-आपमे परिपूर्ण है, वह ज्ञानस्वरूप है और सबकुछ करने का सामर्थ्य रखता है। माया से आच्छादित होने के बाद वह भूल जाता है कि वह नित्य है, यही माया का प्रथम आवरण या कंचुक है। इसका दार्शनिक नाम काल है। जो नित्य है, उसे काल का अनुभव नही होता, काल तो सीमाबद्ध व्यक्ति ही अनुभव करता है। इसी प्रकार जो सर्वदेश मे है, वह अपने को नियत देश मे स्थित एकदेशी मानने लगता है। यह माया का दूसरा कंचुक या आवरण है। इसका शास्त्रीय नाम नियति है। नियति अर्थात् निश्चित देश मे अवस्थान। फिर जो पूर्ण था, वह अपने में अपूर्णता अनुभव करने लगता है, अपने को कुछ पाने के लिए उत्सुक बना देता है, उसे जिस 'कुछ' का अभाव खटकता है उसके प्रति राग होता है। यह माया का तीसरा कंचुक है। जो सर्वज्ञ है, वह अपने को अल्पज्ञ मानने लगता है। उसे कोई सीमित वस्तु के ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता अभिभूत कर लेती है। यह ज्ञान का कल्पित अभाव ही उसे छोटी-मोटी जानकारियों की ओर आकृष्ट करता है। यही विद्या है। यह माया का चौथा कंचुक है। फिर, जो सबकुछ कर सकनेवाला होता है, वह भूल जाता है कि 'मैं सर्वकर्त्ता हूँ'। वह छोटी-मोटी वस्तु के बनाने मे रस पाने लगता है। यही कला है। यह माया का पाँचवाँ कंचुक है, अर्थात् यह माया की रूपविधायिनी शक्ति है। इसी शक्ति के बल पर माया जीवत्वप्राप्त शिव को कुछ नयी रचना करने की बुद्धि देती है। नया रचा क्या जा सकता है? सबकुछ तो महामाया ने स्वयं प्रस्तुत कर रखा है। परन्तु इन्ही उपादानों से इन्ही के समान और फिर भी इनसे विशिष्ट रचना की प्रवृत्ति महामाया की दी हुई प्रवृत्ति है। इससे वह सुन्दर की रचना करता है, लीला का आनन्द पाता है और यदि सम्हलकर चला तो महामाया के ललिता-रूप का साक्षात्कार पाता है। ये सब कंचुक-सत्य है। प्रत्येक मनुष्य इनसे बँधा है। परन्तु इनके दो पहलू होते है। जब ये मनुष्य को अपने-आप तक ही सीमित रखते हैं तो ये बन्धन बन जाते है; परन्तु जब ये अपने ऊपरवाले तत्त्व की ओर उन्मुख करते है तो मुक्ति के साधन बन जाते हैं। इसीलिए जिस कंचुक का लक्ष्य वह कंचुक ही होता है, वह कभी भारतीय समाज में समादृत नही हुआ; परन्तु जो परमतत्त्व की ओर उन्मुख कर देता है, वही उत्तम है। कला भी वही श्रेष्ठ है जो मनुष्य को अपने-आपमे ही सीमित न रखकर परमतत्त्व की ओर उन्मुख कर देती

है। कला का लक्ष्य कला कभी नही है। उसका लक्ष्य है आत्मस्वरूप का साक्षात्कार या परमतत्त्व की ओर उन्मुखीकरण। हम आगे जो विवरण उपस्थित करेंगे, उसमें यथासम्भव उसके अन्तर्निहित तत्त्ववाद की ओर बार-बार अंगुलिनिर्देश नही करेंगे। हमारा यह भी वक्तव्य नहीं है कि विलासियो ने सब समय उस अन्तर्निहित तत्त्ववाद को समझा ही है, परन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे कि भारतवर्ष के उत्तम कवियों, कलाकारो और सहृदयो के मन मे यह आदर्श बराबर काम करता रहा है। इसकी जो भोग मे विश्रान्ति है वह ठीक नही है, वह कला बन्धन है; पर जिसका इशारा परमतत्त्व की ओर है, वही कला कला है :

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

कला की साधना

प्राचीन भारत का रईस केवल दूसरो से सेवा कराने मे ही जीवन की सार्थकता नही समझता था, वह स्वयं कलाओ का जानकार होता था। नागरकों को खास-खास कलाओं का अभ्यास कराया जाता था। केवल शारीरिक अनुरंजन ही कला का विषय न था, मानसिक और बौद्धिक विकास का ध्यान पूरी मात्रा में रखा जाता था। उन दिनों किसी पुरुष को राजसभा और सहृदय-गोष्ठियो मे प्रवेश पा सकने के लिए कलाओं की जानकारी आवश्यक होती थी, उसे अपने को गोष्ठी-विहार का अधिकारी सिद्ध करना होता था। 'कादम्बरी' मे वैशम्पायन नामक तोते को जब चाण्डाल-कन्या राजा शूद्रक की सभा मे ले गयी, तो उसके साथी ने उस तोते में उन सभी गुणो का होना बताया था जो किसी पुरुष को राजसभा मे प्रवेश पाने के योग्य प्रमाणित कर सकते थे। उसने कहा था (कथामुख) कि यह तोता सभी शास्त्रार्थों को जानता है; राजनीति के प्रयोग मे कुशल है; गान और संगीत-शास्त्र की बाईस श्रुतियों का जानकार है; काव्य-नाटक, आख्यायिका-आख्यानक आदि विविध सुभाषितों का मर्मज्ञ भी है और कर्त्ता भी है; परिहासालाप मे चतुर है; वीणा, वेणु, मुरज आदि वाद्यों का अतुलनीय श्रोता है; नृत्य-प्रयोग के देखने में निपुण है; चित्रकर्म में प्रवीण है; द्यूत-व्यापार मे प्रगल्भ है; प्रणय-कलह मे कोप करनेवाली मानवती प्रिया को प्रसन्न करने मे उस्ताद है; हाथी, घोड़ा, पुरुष और स्त्री के लक्षणों को पहचानता है। 'कादम्बरी' मे ही आगे चलकर चन्द्रापीड़ को सिखायी गयी कलाओ की विस्तृत सूची दी गयी है

(दे. परिशिष्ट)। इसमें व्याकरण, गणित और ज्योतिष भी हैं, गान, वाद्य और नृत्य भी है; तैरना, कूदना आदि व्यायाम भी है; लिपियों और भाषाओं का ज्ञान भी है; काव्य, नाटक और इन्द्रजाल भी है और बढ़ई तथा सुनार के काम भी है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में कुछ और ही प्रकार की कला-विद्याओं की चर्चा है। बौद्ध ग्रन्थों में 84 प्रकार की कलाओं का उल्लेख है, और जैन ग्रन्थों मे 72 प्रकार की कलाओं का। कुछ ग्रन्थों मे दी हुई सूचियाँ इस ग्रन्थ के अन्त मे सकलित कर दी गयी हैं।

परन्तु इन सूचियों के देखने से ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि कला की संख्या कोई सीमित नहीं है। सभी प्रकार की सुकुमार और बुद्धिमूलक क्रियाएँ कला कहलाती थी। कला के नाम पर कभी-कभी लोगो से ऐसा काम करने को कहा गया है कि आश्चर्य होता है। एक अपेक्षाकृत परवर्ती ग्रन्थ मे इस सम्बन्ध मे एक मनोरंजक कहानी दी हुई है। काशी के राजा जयित्चन्द्र की एक रखेली रानी सूहव देवी थी। कुछ दिनों तक उसका दरबारियों पर निरंकुश शासन था। कहते हैं, उसने एक बार श्रीहर्ष कवि से पूछा कि तुम क्या हो ? कवि ने जवाब दिया कि मैं 'कला-सर्वज्ञ' हूँ। रानी ने कहा, 'अगर तुम सचमुच कला-सर्वज्ञ हो तो मेरे पैरों मे जूता पहनाओ।' मनस्वी ब्राह्मण-कवि उस रानी को घृणा की दृष्टि से देखता था, पर कलासर्वज्ञता तो दिखानी ही थी। दूसरे दिन चमार का वेश धारण करके कवि ने रानी को जूता पहनाया और फिर से ब्राह्मणवेश धारण ही नही किया, बल्कि संन्यासी होकर गंगातट पर प्रस्थान किया ('प्रबन्ध-कोश', पृ. 57)!

वात्स्यायन की कलाएँ

ईसवी सन् के आसपास ऐतिहासिक जीवन को आनन्दमय बनानेवाले जो शास्त्र लिखे गये उनमें वात्स्यायन का 'कामसूत्र' बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि बहुत पुराने जमाने से ही इस विषय पर बहुत बड़ा साहित्य उपलब्ध था। 'कामसूत्र' के आरम्भ मे ही लिखा है कि प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि करके उनकी स्थिति के लिए धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्गों के साधन के लिए एक लाख अध्यायों का कोई ग्रन्थ लिखा था। फिर प्रत्येक वर्ग पर मनु, बृहस्पति और महादेवानुचर नन्दी ने अलग-अलग ग्रन्थ लिखे, नन्दी का ग्रन्थ एक सहस्र अध्यायों का था। उसे औद्दालकि श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायो मे संक्षिप्त किया और उसे भी बाभ्रव्य पांचाल ने और छोटा करके डेढ़ सौ अध्यायों मे संक्षिप्त किया। इसमें

सात अधिकरण थे—साधारण, साम्प्रयोगिक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक और औपनिषदिक। इन सातों को भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अलग से सम्पादित किया। वात्स्यायन का ग्रन्थ इनका सार है। इसमें नागरक-जनों के जानने योग्य कलाओं की सूची है (परिशिष्ट मे देखिये), और पांचाल की बतायी हुई कलाएँ भी दी गयी है।

वात्स्यायन की गिनायी हुई कलाओं में लगभग एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक है। बाकी में कुछ नायक-नायिकाओं की विलास-क्रीड़ा में सहायक हैं, कुछ मनोविनोद में साधक है और कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें दैनिक प्रयोजनों का पूरक कहा जा सकता है। गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी, प्रिया के कपोल और ललाट की शोभा बढ़ा सकनेवाले भोजपत्र के काटे हुए पत्रों की रचना करना (विशेषकच्छेद्य), फर्श पर विविध रंगों के पुष्पों और रँगे हुए चावलों से नाना प्रकार के नयनाभिराम चित्र बनाना (तन्दुल-कुसुम-विकार), फूल बिछाना, दाँत और वस्त्रों का रँगना, फूलों की सेज रचना, ग्रीष्मकालीन विहार के लिए मरकत आदि पत्थरों का गज बनाना, जल-क्रीड़ा में मुरज-मृदंग आदि बाजों को फूलों से सजाना, कान के लिए हाथीदाँत के पत्तरों से आभरण बनाना, सुगन्धित धूप-दीप और बत्तियों का प्रयोग जानना, गहना पहनाना, इन्द्रजाल और हाथ की सफाई, चोली आदि का सीना, भोजन और शरबत आदि बनाना, कुशासन बनाना, वीणा-डमरू आदि बजा लेना, इत्यादि कलाएँ उन दिनों सभी सभ्य व्यक्तियों के लिए आवश्यक मानी जाती थी। संस्कृत साहित्य में इन कलाओं का विपुल भाव से वर्णन है। किसी विलासिनी के कपोल-तल पर प्रिय ने सौभाग्य-मंजरी अंकित कर दी है, किसी प्रिया के कानों में आगण्ड-विलम्बि-केसरवाला शिरीष-पुष्प पहनाया जा रहा है, कहीं विलासिनी के कपोल-देश की चन्दन-पत्रलेखा कपोल-भित्ति पर कुसुमबाणों के लगे घाव पर पट्टी की भाँति बँधी दिख रही है, कहीं प्रिया के कमल-कोमल पदतल पर वेपथु-विकम्पित हाथों की बनी हुई अलक्तक-रेखा टेढ़ी हो गयी है, कहीं नागरकों के द्वारा स्थण्डिल-पीठिकाओं पर कुसुमास्तरण हो रहा है, कहीं जलक्रीड़ा के समय क्रीड़ा-दीर्घिका से उत्थित मृदंग-ध्वनि ने तीरस्थित मयूरों को उत्कण्ठित कर दिया है। इस प्रकार के सैंकड़ों कला-विलास उस युग के साहित्य में पद-पद पर देखने को मिल जाते हैं।

परवर्ती साहित्य और नागरिक-जीवन में भी वात्स्यायन द्वारा निर्धारित कलाओं का बड़ा प्रभाव है। काव्य-नाटकों के साहित्य में मनुष्य की भोग-वृत्ति का जब प्रसंग आता है, तो वात्स्यायन की कलाएँ और कामसूत्रीय विधान कवि के प्रधान मार्गदर्शक हो जाते हैं। संसार के कम देशों के कामशास्त्रों ने काव्य-साहित्य को इतना प्रभावित किया होगा।

इन कलाओं में कुछ उपयोगी कलाएँ भी हैं। उदाहरणार्थ, वास्तुविद्या या गृह-निर्माणकला, रूप्य-रत्न-परीक्षा, धातु-विद्या, कीमती पत्थरों का रँगना, वृक्षायुर्वेद या पेड़-पौधों की विद्या, हथियारों की पहिचान, हाथी-घोड़ों के लक्षण

इत्यादि। वराहमिहिर की 'वृहत्संहिता' से ऐसी वहुतेरी कलाओ की जानकारी हो सकती है; जैसे, वास्तुविद्या (अध्याय 53), वृक्षायुर्वेद (अध्याय 55), वज्रलेप (अध्याय 57), कुक्कुट-लक्षण (अध्याय 63), शय्यासन (अध्याय 78), गन्ध-युक्ति (अध्याय 77), रत्नपरीक्षा (अध्याय 80-83), इत्यादि। कलाओ मे ऐसी भी बहुत है जिनका सम्बन्ध किसी मनोविनोद मात्र से है; जैसे, भेड़ो की और मुर्गो की लड़ाई, तोतो और मैनो को पढ़ाना आदि। सम्भ्रान्त परिवारो के महलो का एक हिस्सा भेड़-मुर्गे, तीतर-बटेर के लिए होता था और अन्त.चतु.शाल के भीतर तोता-मैना अवश्य रहा करते थे। हम आगे चलकर देखेंगे कि उन दिनों सम्भ्रान्त रईस के अन्त.पुर में कोकिल, हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस, मयूर और कुक्कुट बड़े शौक से पोसे जाते थे। अन्त.पुरिकाओ और नागरको के मनोविनोद मे इन पक्षियो का पूरा हाथ होता था।

नाट्यशास्त्र

सन् ईसवी के आरम्भ होने के एकाध शताब्दी के बाद का लिखा हुआ एक और भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिससे तत्कालीन सुसंस्कृत लोकरुचि का बहुत सुन्दर परिचय मिलता है। यह है भरत का 'नाट्यशास्त्र'। इसमे उन दिनो के नाच, गान, बाजा, छन्द, अलकार, वेशभूषा का बहुत ही सुन्दर और प्रामाणिक विवरण मिलता है। यह ग्रन्थ एक विशाल विश्वकोष है। इसके पूर्व अनेक नाट्यग्रन्थ और नाटक लिखे गये होंगे और नृत्य, संगीत आदि सुकुमार विनोदो की बहुत पुरानी परम्परा रही होगी; क्योकि 'नाट्यशास्त्र' में सैकड़ो ऐसी नाटकरूढियाँ बतायी गयी है जो बिना दीर्घ-काल की परम्परा के बन ही नही सकती। बाद मे इस ग्रन्थ के आधार पर 'नाट्य-लक्षण', 'दशरूपक' आदि ग्रन्थ लिखे गये, पर उनकी दृष्टि प्रधान रूप से कवियो को नाटक बनाने की विधि बता देने तक ही सीमित थी। परन्तु भरत के 'नाट्यशास्त्र' की दृष्टि बहुत व्यापक थी। वे केवल कवियो के लिए नाटक तैयार करने का फार-मूला नही बता रहे थे, अभिनेताओं के लिए रगमच पर उतरने का कौशल और अभिनय की महिमा भी बताना चाहते थे और दर्शको को रस ग्रहण करने का उपाय भी बताना उनका उद्देश्य था। इसलिए 'नाट्यशास्त्र' नाना दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ हो गया है। हमे इस ग्रन्थ से बहुत सहायता मिलती है। अत्यन्त प्राचीन काल के तिमिरावृत इतिहास मे यह ग्रन्थ प्रदीप का कार्य करता है।

'नाट्यशास्त्र' जैसे-तैसे व्यक्ति को प्रेक्षक नही मानता। जो व्यक्ति नाटक का

या नृत्यादि का अच्छा प्रेक्षक हो, वह सब प्रकार से सद्गुणशील हो तभी रस ठीक-ठीक ग्रहण कर सकता है। वह शास्त्रों का जानकार, नाटक के छः अंगों का ज्ञाता, चार प्रकार के आतोद्य बाजों का मर्मज्ञ सब प्रकार के पहनावे का जानकार, नाना देश-भाषाओं का पण्डित, सब कलाओं और शिल्प में विचक्षण, चतुर और अभिनय-मर्मज्ञ हो तो ठीक है। (23-51-52)। 'नाट्यशास्त्र' जानता है कि ऐसे मर्मज्ञ कम होते हैं और जब बड़े भारी समाज में अभिनय किया जाता है तो मर्मज्ञों का अनुपात बहुत अल्प होता है, पर आदर्श प्रेक्षक वही है। इस प्रेक्षक को नाना कलाओं की शिक्षा से सुसंस्कृत करना पड़ता है। उसे नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रीतियों का अभ्यास करना पड़ता है। 'नाट्यशास्त्र' ने यह कर्तव्य भी सुन्दर ढंग से निबाहा है।

कलाओं की प्राचीनता

यह तो नहीं कहा जा सकता कि कलाओं की गणना बौद्ध-पूर्वकाल में प्रचलित ही थी, पर अनुमान से निश्चय किया जा सकता है कि बुद्ध-काल और उसके पूर्व भी कला-मर्मज्ञता आवश्यक गुण मानी जाने लगी थी। ललितविस्तर में केवल कुमार सिद्धार्थ को सिखायी हुई पुरुष-कलाओं की गणना ही नहीं है, चौंसठ काम-कलाओं का भी उल्लेख है[1] और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बुद्ध-काल में कलाएँ नागरिक जीवन का आवश्यक अंग हो गयी थीं। प्राचीन ग्रन्थों में इनकी संख्या निश्चित नहीं है, पर 64 की संख्या शायद अधिक प्रचलित थी। जैन ग्रन्थों में 72 कलाओं की चर्चा है। पर बौद्ध और जैन दोनों ही सम्प्रदायों में 64 कलाओं की चर्चा भी मिल जाती है। जैन ग्रन्थ इन्हें 64 महिलागुण कहते हैं। 'कालिका-पुराण' एक अर्वाचीन उपपुराण है। सम्भवत: इसकी रचना विक्रम की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में असम प्रदेश में हुई थी। इस पुराण में कला की उत्पत्ति के विषय में यह कथा दी हुई है. ब्रह्मा ने पहले प्रजापति और मानसोत्पन्न ऋषियों को उत्पन्न किया, फिर सन्ध्या नामक कन्या को उत्पन्न किया और तत्पश्चात् सुप्रसिद्ध

1. चतुःषष्टि कामकलितानि चानुभविया।
नूपुरमेखला अभिहनी विगलितवसना: ॥
कामशराहतास्समदना: प्रहसितवदना।
किन्तवार्यपुत्र विकृति यदि न भजसे ॥
—'ललित विस्तर', पृ. 497

मदन देवता को, जिसे ऋषियो ने मन्मथ नाम दिया। ब्रह्मा ने मदन देवता को वर दिया कि तुम्हारे वाणों के लक्ष्य से कोई नही बच सकेगा। तुम अपनी इस त्रिभुवन-विजयी शक्ति से सृष्टि-रचना में मेरी मदद करो। मदन देवता ने इस वरदान और कर्त्तव्य-भार को शिरसा स्वीकार किया। प्रथम प्रयोग उसने ब्रह्मा और सन्ध्या पर ही किया। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मा और सन्ध्या प्रेम-पीड़ा से अधीर हो उठे। उन्हीं के प्रथम समागम के समय ब्रह्मा के 49 भाव हुए तथा सन्ध्या के विव्वोक आदि हाव तथा 64 कलाएँ हुईं। कला की उत्पत्ति का यही इतिहास है। 'कालिका-पुराण' के अतिरिक्त किसी अन्य पुराण से यह कथा समर्थित है कि नहीं, नहीं मालूम। परन्तु इतना स्पष्ट है कि 'कालिकापुराण' 64 कलाओ को महिलागुण ही मानता है।

श्रीयुक्त ए. वेंकट सुब्बैया ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थो से संग्रह करके कलाओ पर एक पुस्तिका प्रकाशित की है, जो इस विषय के जिज्ञासुओं के बड़े काम की है। उसकी सूचियों को देखने से पता चलता है कि कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते है जिनमें थोड़ी-सी चतुराई की आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, न्याय, वैद्यक और राजनीति भी कला है; उचकना, कूदना, तलवार चलाना और घोड़ा-चढ़ना भी कला है; काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति, बिन्दुमती, प्रहेलिका भी कला है; स्त्रियों का शृंगार करना, कपड़ा रँगना, चोली सीना, सेज बिछाना भी कला है; रत्न और मणियों को पहचानना, घोड़ा, हाथी, पुरुष-स्त्री, छाग-मेष और कुक्कुट का लक्षण जानना, चिड़ियो की बोली से शुभाशुभ का ज्ञान करना भी कला है और तित्तिर-बटेर का लड़ाना, तोता-मैना का पढ़ाना, जुआ खेलना भी कला है। पुराने ग्रन्थों से यह जान पड़ता है कि कलाएँ पुरुषों के ही योग्य मानी जाती थी, यद्यपि कोई-कोई गणिका भी उन कलाओ मे पारंगत पायी जाती थी। ये गणित, दर्शन, युद्ध, घुड़सवारी आदि की कलाएँ है। कुछ कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं और हमारे विषय के साथ उनका दूर का ही सम्बन्ध है। सब मिलाकर यह ज्ञात होता है कि 64 कोमल कलाएँ स्त्रियों के सीखने की हैं; और चूंकि पुरुष भी उनकी जानकारी रखकर ही स्त्रियो को आकृष्ट कर सकते है, इसीलिए स्त्री-प्रसादन के लिए इन कलाओ का ज्ञान आवश्यक है। 'कामसूत्र' में पंचाल की कला की बात है, वह कामशास्त्रीय ही है। परन्तु वात्स्यायन की अपनी सूची मे केवल कामशास्त्रीय कलाएँ ही नही है, अन्यान्य सुकुमार जानकारियो का भी स्थान है।

श्री वेंकट सुब्बैया ने भिन्न-भिन्न पुस्तकों से कलाओ की दस सूचियाँ संग्रह की हैं। इनमें पंचाल और यशोधर की कलाओं को छोड़ दिया जाय तो बाकी मे ऐसी कोई सूची नही है जिसमे काव्य, आख्यान, श्लोक-पाठ और समस्यापूर्ति आदि की चर्चा न हो। वेंकट सुब्बैया ने जिन पुस्तकों से कलाओ की सूची ग्रहण की है उनके अतिरिक्त भी बहुत-सी पुस्तकें है, जिनमे थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ 64 कलाओं की सूची दी हुई है।

ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर कला का अर्थ कौशल हो गया था और भिन्न-भिन्न ग्रन्थकार अपनी रुचि, वक्तव्य, वस्तु और संस्कार के अनुसार 64 भेद कर लिया करते थे। सुप्रसिद्ध कश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र ने 'कलाविलास' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी जो 'काव्यमाला सिरीज'(प्रथम गुच्छ) में छप चुकी है। इस पुस्तक में वेश्याओं की 64 कलाएँ हैं, जिनमें अधिकांश लोकाकर्षण और धनापहरण के कौशल हैं; कायस्थों की सोलह कलाएँ हैं जिनमें लिखने के कौशल से लोगों को धोखा देना आदि बातें ही प्रमुख हैं; गानेवालों की अनेक प्रकार की धनापहरणरूपी कलाएँ हैं, सोना चुरानेवाले सुनारों की 64 कलाएँ हैं, गणकों या ज्योतिषियों की बहुविध धूर्तताएँ हैं और अन्तिम अध्याय में उन चौंसठ कलाओं की गणना की गयी है जिनकी जानकारी सहृदय को होनी चाहिए। इनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की बत्तीस तथा मात्सर्य, शील, प्रभाव, मान की बत्तीस कलाएँ हैं। 10 भेषज कलाएँ वे हैं जो मनुष्य के भीतरी जीवन को नीरोग और निर्बाध बनाती हैं और सबके अन्त में कला-कलाप में श्रेष्ठ सौ सार कलाओं की चर्चा है। क्षेमेन्द्र की गिनायी हुई इन कलाओं में कहीं भी काव्य या समस्यापूर्ति को स्थान नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अपने-अपने वक्तव्य विषय के कौशल को 64 या ततोधिक भागों में विभक्त करके 'कला' नाम दे देना बाद में साधारण नियम हो गया था। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि कोई अनुश्रुति इस विषय में थी ही नहीं। 64 की संख्या का घूम-फिरकर आ जाना ही इस बात का सबूत है कि 64 की अनुश्रुति अवश्य रही होगी। 72 की अनुश्रुति जैन लोगों में प्रचलित है। साधारणतः वे पुरुषोचित कलाएँ हैं। ऐसा लगता है कि 64 की संख्या के अन्दर प्राचीन अनुश्रुति में साधारणतः वे ही कलाएँ रही होंगी जो वात्स्यायन की सूची में हैं। कला का साधारण अर्थ उसमें स्त्री-प्रसादन और वशीकरण है और उद्देश्य विनोद और रसानुभूति।

कलाओं के आश्रयदाता रईस

आज के यान्त्रिक युग में विलासिता सस्ती हो गयी है। पुराने जमाने में ऐसी बात नहीं थी। प्राचीन भारत का रईस विद्या और कला के पीछे मुक्तहस्त से धन लुटाता था, क्योंकि वह जानता था कि धन के दो ही उपयोग हैं : दान और भोग। यदि दान और भोग के बिना भी कोई अपने को अपनी अपार सम्पत्ति के कारण धनी माने तो भला दरिद्र ही क्यों न उस सम्पत्ति से अपने को सम्पत्तिवान् मान लें?

दानभोगविहीनेन धनेन धनिनो यदि।
तेनैव धनजातेन कथं न धनिनो वयम्॥

आजकल भी, और उन दिनों भी, दान-भोग के अतिरिक्त सम्पत्ति एक तीसरी वस्तु देती है : शक्ति और सम्मान। उन दिनों भी रईस समाज का सम्मानभाजन होता था; परन्तु उन दिनों साधुकर्म और तपोमय जीवन का सम्मान भी कम नहीं था, बल्कि उपलब्ध प्रमाणों के बल पर कहा जा सकता है कि उसका सम्मान अधिक था। फिर भी रईस काफी सम्मान पाता था। वह केवल अपने अपार धन का कृपण भोक्ता मात्र नहीं था, बल्कि अपने प्रत्येक आचरण से शिल्पियों और सेवकों की एक बड़ी जमात को धन बाँटता रहता था। सुबह से शाम तक वह किसी-न-किसी शिल्प को अपनी विलासिता से पोषण देता रहता था। उसके उठने-बैठने से लेकर चलने-फिरने तक में आभिजात्य था। पुराना भारतीय नागरक सुबह ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाता था और उसके उठने के साथ ही शिल्पियों और सेवकों का दल कार्य-व्यस्त हो जाता था। उसके मामूली-से-मामूली आचरण में भी आभिजात्य की महिमा व्यंजित होती थी। उसके छोटे-से-छोटे आचरण के लिए भी कामसूत्र ग्रन्थ में विस्तृत उल्लेख मिलता है। आगे रईस के कुछ दैनिक कृत्यों का आभास दिया जा रहा है, जिससे उसकी कला-पोषकता का अनुमान किया जा सके।

है और वाणी को ऐसी बना देती है जो सुननेवालों के कान को सुख देती है :

वर्णप्रसाद वदनस्य कान्ति वैशद्यमास्यस्य सुगन्धिता च ।
समेविलु. श्रोत्रसुखा च वाचा कुर्वन्ति काष्ठान्यसकृद्भवानाम् ।

सो, उन दिनों दातून केवल शरीर के स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिए ही आवश्यक नहीं समझी जाती थी, मांगल्य भी मानी जाती थी। इस बात का बड़ा विचार था कि किस पेड़ की दातून किस तिथि को व्यवहार की जानी चाहिए। पुस्तकों में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि किस-किस तिथि को दातून का प्रयोग एकदम करना ही नहीं चाहिए। सो, नागरक की दातून कोई मामूली बात नहीं थी। उसके लिए पुरोहित से लेकर गृह की चेरी तक चिन्तित हुआ करती थी।

अनुलेपन

दातून की क्रिया के समाप्त होते ही सुशिक्षित भृत्य अनुलेपन का पात्र लेकर उपस्थित होता था। अनुलेपन में विविध प्रकार के द्रव्य हुआ करते थे। कस्तूरी, अगुरु, केसर आदि के साथ दूध की मलाई के मिश्रण से ऐसा उपलेपन तैयार किया जाता था जिसकी सुगन्धि देर तक भी रहती थी और शरीर की चमड़ी को कोमल और स्निग्ध भी बनाती थी। 'थेरगाथा', 'संयुक्त-निकाय' और 'अगुत्तर-निकाय' की अट्ठकथाओं में पिल्ली नामक ग्राम के निवासी एक अत्यन्त धनी ब्राह्मण की कथा आती है। उस ब्राह्मण के पुत्र माणवक के लिए शरीर में उबटन लगाने का जौ-चूर्ण नित्य तैयार होता था, उसका वजन मगध में प्रचलित नाली नामक माप से 12 नाली हुआ करता था। आधुनिक वजन से यह करीब दस सेर होना चाहिए। इसमें थोड़ी अत्युक्ति भी हो तो अनुलेपन द्रव्य की मात्रा का अन्दाज तो लग ही जाता है।

परन्तु 'कामसूत्र' की गवाही से हम अनुमान कर सकते है कि चन्दन का अनुलेपन ही अधिक पसन्द किया जाता था। इस अनुलेपन को उचित मात्रा में लगाना भी एक सुकुमार कला मानी जाती थी। 'जयमंगला टीका' में बताया गया है कि जैसे-तैसे पोत लेना भद्दी रुचि का परिचायक है, इसलिए अनुलेपन उचित मात्रा में होना चाहिए।

अनुलेपन के बाद धूप से बालो को धूपित करने की क्रिया शुरू होती थी। स्त्रियों मे यह क्रिया अधिक प्रचलित थी, पर विलासी नागरक भी अपने केशों की कम परवा नही किया करते थे। केशो के शुक्ल हो जाने की आशंका बराबर बनी रहती थी और वराहमिहिराचार्य ने ठीक ही कहा है कि 'जितनी भी माला पहनो, वस्त्र धारण करो, गहनों से अपने को अलंकृत कर लो, पर अगर तुम्हारे केशों में सफेदी है तो ये कुछ भी अच्छे नही लगेंगे, इसलिए मूर्धजों (केशो) की सेवा मे चूकना ठीक नही है' (वृ. सं. 77-1)। सो, साधारणतः उस शुक्लतारूपी भद्दी वस्तु को आने ही न देने के लिए और उसे देर तक सुगन्धित बनाये रखने के लिए केशों को धूपित किया जाता था। परन्तु यह शुक्लता कभी-कभी हजार बाधा देने पर आ धमकती थी और नागरक को प्रयत्न करना पड़ता था कि आने पर भी वह लोगो की नजरो मे न पड़े। केशो या मर्धजों में धूप देने के कितने ही नुस्खे पाये जाते है। किसी से कपूर की गन्ध, किसी से कस्तूरी की सुवास, और किसी से अगुरु की खुशबू उत्पन्न की जाती थी।

पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों के केश अधिक सुगन्धित बनाये जाते थे। ग्रीष्मकाल में तो सुगन्धित तेल या स्नान के समय व्यवहार किये जानेवाले कषायकल्क से यह कार्य हो जाता था, किन्तु जाड़े के दिनों में धूपित करके सुगन्ध लायी जाती थी। कालिदास ने ग्रीष्म-ऋतु मे 'स्नान-कषाय-वासित' केशो का उल्लेख किया है और वर्षाकाल मे पुष्पावतस या फूलो के गुच्छों से ही सुन्दरियों के केशों का सुगन्धित होना बताया गया है (ऋतु. 2-22)। शरत्काल में भी धूपित केशो की बात उन्होने नही बतायी। उस समय 'नितान्त-घननीलविकुञ्चिताग्र' केशों मे—घुँघराली काली लटो मे—नवमालती की मनोहर माला पर्याप्त समझी जाती थी (ऋतु. 3-19), किन्तु शिशिर और हेमन्त में काले अगुरु का धूप देकर केशो को सुगन्धित किया जाता था (ऋतु. 4-5, 5-12)। इस प्रकार हर ऋतु में केशो को सुगन्धियुक्त बनाने का विधान था। वसन्त मे इतने झमेले की जरूरत नही महसूस की जाती होगी। उस पुष्प सौरभ से समृद्ध ऋतु मे सुगन्धि बहुत यत्नसाध्य नही होती। ऐसा कोई भी पुष्प चुन लिया जाता था जो सुन्दरियो के चंचल नील अलकों के साथ ताल मिला सके। अशोक के लाल-लाल स्तवक या नवमल्लिका की माला उत्तम अलकरण माने जाते थे, कर्णिकार के सुनहरे फूल भी कानों मे शोभित हो रहे हों तो फिर क्या कहना है! कालिदास इस मनोहर अलंकरण का महत्त्व समझते थे।

> कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम्।
> पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम्॥
>
> (ऋतु., 6-6)

सुगन्धि प्राचीन भारत का केवल विलास नही था, वह उसका जीवनाग था।

देव-मन्दिर से लेकर सुहाग-सेज तक उसका अबाध प्रवेश था। धूप-धूम सर्वत्र सुगन्धि लाने के साधन थे। कपड़े भी इन धूपों से धुपे जाते थे। वस्तुतः भारत के प्राचीन रईस—क्या पुरुष और क्या स्त्री—जितना सुगन्धि से प्रेम करते थे, उतना और किसी भी वस्तु से नहीं। और केशों के लिए तो सुगन्धित तेल की भी विधियाँ बनायी गयी हैं। साधारणतः केशों को पहले धूपित करके कुछ देर तक उन्हें छोड़ दिया जाता था और फिर स्नान करके सुगन्धित तेल व्यवहार किया जाता था।

(बृ. सं., 77-11)

केश रखने के अनेक प्रकार थे। बौद्ध-जैन आदि साधुओं के सिर मुण्डित हुआ करते थे, पर विलासी लोग सुन्दर केश-रचना किया करते थे। 'नाट्यशास्त्र' में केश-रचना के सिलसिले में (23-147) बताया गया है : राज-पुरुषों के, वधुओं के और शृंगारी पुरुषों के केश कुञ्चित होने चाहिए। केशों को बड़े यत्न से कुञ्चित बनाया जाता था।

छुरे का व्यवहार इस देश में बहुत जमाने से होता रहा है। दाढ़ी रखने के विविध रूप थे। 'नाट्यशास्त्र' में चार प्रकार की दाढ़ियों का उल्लेख है। शुक्ल, श्याम, विचित्र और रोमश। किसी-किसी प्रति में शुक्ल के स्थान में 'शुद्ध' पाठ है। शुक्ल का अर्थ स्वच्छ शुभ्र वृद्धजनोचित दाढ़ी हो सकता है, पर 'शुद्ध' पाठ हो तो उसका अर्थ साफ, रोमविहीन 'क्लीनशेवड्' किया जा सकता है। वस्तुतः चौखम्भा-वाले 'नाट्यशास्त्र' में भी आगे चलकर 'शुद्ध' पाठ ही स्वीकृत किया गया है और बताया गया है कि सन्यासियों, मन्त्रियों, पुरोहितों तथा मध्यवित्त व्यक्तियों की दाढ़ी 'शुद्ध' होनी चाहिए। शुद्ध अर्थात् साफ बनी हुई। चित्रों और मूर्त्तियों में इस श्रेणी के लोगों की ऐसी ही दाढ़ी मिलती भी है। श्याम दाढ़ी कुमारों की होती थी और विचित्र दाढ़ियों की बनावट नाना प्रकार की होती थी। राजा लोग, शौकीन (शृंगारी) नागरिक लोग और जवान राजपुरुष चित्र-विचित्र दाढ़ी रखते थे। 'रोमश' दाढ़ी उसे कहते हैं जो अपने-आप उगकर असंस्कृत पड़ी हो। 'शकुन्तला' नाटक में जिन तपस्वियों को राजा ने देखा था, उनकी ऐसी ही दाढ़ियाँ थीं। जब राजा ने शकुन्तला के चित्र में इन तापसों को अंकित करना चाहा तो विदूषक को आशंका हुई थी कि यह सुन्दर चित्र अब झाड़नुमा दाढ़ियों से भर जायेगा। बालों की सेवा हो जाने के बाद नागरिक माला धारण करता था। माला चम्पा, जूही, मालती आदि विविध पुष्पों की होती थी। इनकी चर्चा आगे की जायगी।

अधर और नाखून की रँगाई

वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में मोम और अलक्तक धारण करने की क्रिया का उल्लेख है। किसी-किसी का अनुमान है कि अधरों को अलक्तक (लाख से बना हुआ लाल रंग का महावर) से लाल किया जाता होगा, जैसा कि आधुनिक काल में लिपस्टिक से स्त्रियाँ रँगा करती है और फिर उन्हें चिक्कन करने के लिए उन पर सिक्थक या मोम रगड़ दिया जाता होगा। मुझे अन्य किसी मूल से इस अनुमान का पोषक प्रमाण नही मिला है। पर यदि अनुमान ही करना हो तो नखों के रँगने का भी अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः प्राचीन भारत के विलासी का नखो पर इतना मोह था कि इस युग में न तो हम उसकी मात्रा का अन्दाज लगा सकते है और न कारण ही समझ सकते है। नखों के काटने की कला की चर्चा प्रायः आती है। वे त्रिकोण, चन्द्राकार, दन्तुल तथा अन्य अनेक प्रकार की आकृतियो के होते थे। गौड़ के लोग बड़े-बड़े नखों को पसन्द करते थे, दाक्षिणात्यवाले छोटे नखों को और उत्तरापथ के नागर रसिक, न बहुत बड़े न बहुत छोटे मझोले नखो की कदर करते थे। जो हो, सिक्थक और अलक्तक के प्रयोग के बाद नागरक दर्पण में अपना मुख देखता था। सोने या चाँदी की समतल पट्टी को घिसकर खूब चिकना किया जाता था। उससे ही आदर्श या दर्पण का काम लिया जाता था। दर्पण में मुख देखने के बाद जब वह अपने बनाव-सिंगार से सन्तुष्ट हो लेता था तो सुगन्धित ताम्बूल ग्रहण करता था।

ताम्बूल-सेवन

ताम्बूल प्राचीन भारत का बहुत उत्तम प्रसाधन था। वह पूजा और शृंगार, दोनों कामों मे समान रूप से व्यवहृत होता था। ऐसा जान पड़ता है कि आर्य लोग इस देश में आने के पहले ताम्बूल (पान) का प्रयोग नही जानते थे। उन्होंने नाग जाति से इसका व्यवहार सीखा था[1]। अब भी संस्कृत मे इसे नागवल्ली कहते हैं।

1. मेरे मित्र प्रो. प्रह्लाद प्रधान ने अनेक प्राचीन ग्रन्थों से और बरई-जाति में पाये जानेवाले प्रवादों से मेरे इस अनुमान का समर्थन किया है कि पान नाग-जाति की देन है। उन्होंने 'कथासरित्सागर' (2-1-80-81), 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' (6-12) में भी उदयन के नागों से इस लता के प्राप्त करने की कथाओं का संग्रह किया है। कहीं यह बताया गया है कि नागवल्ली यौतुक में प्राप्त हुई, कहीं यह बताया गया है कि वह प्रत्युपकार में प्राप्त हुई, कहीं पाण्डवों के अश्वमेध यज्ञ के लिए इसे मँगाया जाना बताया गया है, पर सर्वत्र नागों से इसके प्राप्त होने का समर्थन होता है ('विश्वभारती पत्रिका', खण्ड 4, पृ. 164-165)।

राजशेखर सूरि के 'प्रबन्ध-कोष' में एक मजेदार कहानी दी हुई है जिसके अनुसार पाताल के राजा वासुकि नाग ने भूलोक के राजा उदयन को अपनी कन्या ब्याही थी और दहेज में चार अद्भुत रत्न दिये थे : सवत्सा कामधेनु, विशिष्ट नागवल्ली (पान), सोपधान सतूलिका शय्या और रत्नोद्योत प्रदीप। तब से नाग लोगों की दुलारी वल्लरी के पत्ते (पर्ण-पण्ण-पान) भारतीय अन्तःपुरों से लेकर सभागृहों तक और राजसभा से लेकर आपानकों तक समान रूप से आदर पा सके। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि वल्लियाँ तो दुनिया में हजारों हैं, वे परोपकार भी कम नहीं करतीं, पर सबको छापकर विराजमान है एकमात्र नाग-जाति की दुलारी वल्ली ताम्बूल-लता, जो नागरिकाओं के वदन-चन्द्रों को अलंकृत करती है :

> किं वीरुधो भुवि न सन्ति सहस्रशोऽन्याः
> यासां दलानि न परोपकृतिं भजन्ते।
> एकैव वल्लिषु विराजति नागवल्ली,
> या नागरीवदनचन्द्रमलंकरोति ॥

इस ताम्बूल के वीटक (बीड़ा) का सजाना बहुत बड़ी कला माना जाता था। उसमें नाना भाव से सुगन्धि ले आने की चेष्टा की जाती थी। पान का बीड़ा नाना मंगलों और सौभाग्यों का कारण माना जाता था। वराहमिहिर ने कहा है कि उससे वर्ण की प्रसन्नता आती है, मुख में कान्ति और सुगन्धि आती है, वाणी में मधुरिमा का संचार होता है; वह अनुराग को प्रदीप्त करता है, रूप को निखार देता है, सौभाग्य को आवाहन करता है, वस्त्रों को सुगन्धित बनाता है और कफजन्य रोगों को दूर करता है (बृ. सं., 77-34-35)। इसलिए इस सर्वगुण-युक्त शृंगार-साधन के लिए सावधानी और निपुणता बड़ी आवश्यक है। सुपारी, चूना और खैर, ये पान के आवश्यक उपादान हैं। इनमें से प्रत्येक को विविध भाँति से सुगन्धित बनाने की विधियाँ पोथियों में लिखी हैं, पर इनकी मात्रा कला-मर्मज्ञ को ही मालूम होती है। खैर ज्यादा हो जाय तो लालिमा ज्यादा होकर भद्दी हो जाती है, सुपारी अधिक हो जाय तो लालिमा क्षीण होकर अशोभन हो उठती है, चूना अधिक हो जाय तो मुख का गन्ध भी बिगड़ जाता है और क्षत हो जाने की सम्भावना रहती है, परन्तु पत्ते अधिक हों तो सुगन्धि बिखर जाती है। सो, प्राचीन भारत का नागरिक ताम्बूल का महत्त्व जानता था और मानता था। सुन्दरियाँ इसके गौरव की कायल थीं। और सच पूछिए तो, जैसा माघ कवि ने कहा है, स्वच्छ जल से धुले अंग, ताम्बूल-द्युति से जगमगाते होंठ और महीन निर्मल हल्की-सी साड़ी—यही तो विलासिनियों का वास्तविक शृंगार है। माघ कवि ने एक टेढ़ी शर्त अवश्य लगा दी है। लेकिन खैर—

> स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमंगमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम्।
> वासस्तु प्रतनुविविक्तमस्त्वितीयान् आकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः ॥

कहना बेकार है कि इतना महत्त्वपूर्ण और फिर भी इतना सुकुमार प्रसाधन सावधानी चाहेगा, इसलिए इनकी मात्रा का निर्णय होशियारी से होना चाहिए। रात

यह बात ठीक नही है। 'मृच्छकटिक' नाटक मे चार ब्राह्मण पात्र हैं। चारुदत्त श्रेष्ठि-चत्वर मे वास करता है, सकल कलाओं का समादरकर्ता सुपुरुष नागर है, विदेश में समुद्रपार उसके धन-रत्न से पूर्ण जहाज भेजे जाते हैं, दरिद्र हो जाने पर भी वह नगर के प्रत्येक स्त्री-पुरुष का श्रद्धा-भाजन है और अत्यन्त उदार और गुणान्वित है। दूसरा ब्राह्मण एक विट है जो राजा के मूर्ख साले की खुशामद पर जीता है, गणिकाओं का सम्मान भी करता है और उन्हें प्रसन्न भी रखता है, पण्डित भी है और कामुक भी है। तीसरा ब्राह्मण विदूषक है जिसे संस्कृत बोलने का भी अभ्यास नहीं है और चौथा ब्राह्मण शर्विलक है जो पण्डित भी है, चोर भी है और वेश्या-प्रेमी भी है। चोरी करना भी एक कला है, एक शास्त्र है, शर्विलक ने उसका अच्छा अध्ययन किया था। कैसे सेंध मारना होता है, दीपक बुझा देने के लिए कीट को कैसे उड़ाया जाता है, दरवाजे पर पानी छिड़क के उसे कैसे नि:शब्द खोला जा सकता है, यह सारी बातें उसने सीखी थी। ब्राह्मण के जनेऊ का जो गुण वर्णन इस चोर पण्डित ने किया वह उपभोग्य भी है और सीखने लायक भी! इस यज्ञोपवीत से भीत में सेंध मारने की जगह पायी जा सकती है, इसके सहारे स्त्रियों के गले आदि में गँसी हुई भूषणा-वली खींच ली जा सकती है, जो कपाट यन्त्र से दृढ़ होता है— ताला लगाकर न खुलने योग्य बना दिया गया होता है—उसका यह उद्घाटक बन जाता है और साँप-मोजर के काट खाने पर कटे हुए घाव को बाँधने का काम भी वह दे जाता है:

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम्,
एतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे,
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च॥

(मृ., 3-17)

इस प्रकार ब्राह्मण उन दिनों सेठ भी होते थे, विट और विदूषक भी होते थे और शर्विलक के समान धर्मात्मा चोर भी! धर्मात्मा इसलिए कि शर्विलक चोरी करते समय भी नीति-अनीति का ध्यान रखता था, स्त्रियों पर हाथ नहीं उठाता था, बच्चों को चुराकर उनके गहने नहीं छीन लेता था, कमजोर और गरीब नागर के घर में सेंध नहीं मारता था, ब्राह्मण के धन और यज्ञ के निमित्त सोने पर लोभ नहीं रखता था और इस प्रकार चोरी करते समय भी उसकी मति कार्याकार्य का विचार रखती थी! (मृ., 4-6)

धनाढ्य ब्राह्मणों की बात केवल 'मृच्छकटिक' के काल में ही मिलती हो सो बात नहीं है। बौद्ध-कथाओं में भी ऐसी बातें मिलती हैं जिनसे पता चलता है कि बुद्ध के काल में भी समृद्ध ब्राह्मण विद्यमान थे। अट्ठकथाओं में, मगध के पिल्ली नामक ग्राम केमहातित्थ (महातीर्थ) ब्राह्मण की अपार सम्पत्ति की बात लिखी है। 'ताले के भीतर साठ बड़े चहबच्चे (तड़ाग), बारह योजन तक फैले खेत, अनुराधपुर जैसे चौदह दासों के गाँव, चौदह हाथियों के झुण्ड, चौदह घोड़ों के झुण्ड, चौदह रथों के झुण्ड थे।' उसके पुत्र माणवक ने (जो किसी बहाने विवाह नहीं करना

चाहता था) एक सहस्र सोने के मोहर लगाकर सुनार से एक सुन्दर स्त्री-मूर्त्ति बनवायी थी और माता से कहा था कि यदि ऐसी वहू मिले तो मैं विवाह करूँ। शायद उसे विश्वास था कि किसी ब्राह्मण के घर ऐसी सुन्दरी मिलना सम्भव नही होगा। पर यह विश्वास गलत सिद्ध हुआ। मद्रदेश मे ऐसी ही सुन्दरी मिल गयी जो उस "स्वर्ण-प्रतिमा से सौ गुना, हजार गुना, लाख गुना अधिक सुन्दरी थी और बारह हाथ के घर मे बैठी रहने पर ही दीपक का काम नही, जिसकी शारीरिकी प्रभा से ही अन्धकार दूर हो जाता था।" अत्युक्ति कुछ अवश्य है, पर समृद्ध ब्राह्मण होते थे, इसमें सन्देह नही। ('बुद्धचर्या., पृ. 41-42)

रईस और राजा

कभी-कभी रईसों का विलास समसामयिक राजाओं से भी बढकर होता था, इस बात के प्रमाण मिल जाते है। राजाओं को युद्ध, विग्रह, राज्य-संचालन आदि अनेक कठोर कर्म भी करने पड़ते थे, पर सुराज्य से सुरक्षित समृद्धिशाली नागरिको को इन झंझटों से कोई सरोकार नही था। वे धन और यौवन का सुख निश्चिन्त होकर भोगते थे। एक अपेक्षाकृत परवर्त्ती जैन-प्रबन्ध मे राजा भोज और माघ कवि की बड़ी ही मनोरंजक कहानी दी हुई है। कहानी की ऐतिहासिकता तो निश्चित रूप से कमजोर भित्ति पर है, पर इससे राजाओं और रईसों की विलासिता की एक मनोरंजक झलक मिल जाती है। इस दृष्टि से ही इस कहानी का महत्त्व है। कहानी यों है कि एक बार दत्त ब्राह्मण के पुत्र माघ कवि महाराज भोज के घर अतिथि होकर गये। राजा ने कवि का सम्मान करने में कोई बात उठा न रखी, पर कवि को न तो स्नान मे ही सुख मिला और न भोजन मे ही, न शयन में ही। महाराज भोज ने आश्चर्य के साथ सोचा कि न जाने यह अपने घर में कैसे रहता है। कवि के निमन्त्रण पर महाराज भोज ने भी एक दिन कवि के घर जाने का निश्चय किया। दूसरे वर्ष शीतऋतु मे बड़ा भारी लाव-लश्कर लेकर महाराज कवि के श्रीमालपुर नामक ग्राम मे उपस्थित हुए। कवि के विशाल प्रासाद को देखकर राजा आश्चर्य-चकित रह गये। मकान देखने के लिए प्रासाद के भीतर प्रविष्ट हुए। स्थान-स्थान पर विचित्र कौतुक देखते हुए एक ऐसे स्थान पर आये जहाँ बहुत-सी धूप की घटियाँ सुगन्धित धूप उद्गिरण कर रही थी, कुट्टिम भूमि सुगन्धित परिमल से गमक रही थी; राजा ने पूछा "पण्डित, यह क्या आपका पूजा-गृह है?" पण्डित ने ईषत् लज्जित होकर जवाब दिया, "महाराज, आगे बढें, यह स्थान पवित्र सचार का

नहीं है।" राजा लज्जित हो रहे। स्नान के पूर्व मर्दनिक भृत्यों ने इस सुकुमार भंगी से मर्दन किया कि राजा प्रसन्न हो गये। सोने के स्नानपीठ पर बड़े आडम्बर के साथ राजा को स्नान कराया गया। नाक की साँस से उड़ जाने योग्य वस्त्र राजा को दिये गये। सोने के थाल में, जो 32 कच्चोलकों (कटोरों) से परिवृत था, क्षीर का बना पक्वान्न, क्षीर-तन्दुल का कूर, उसी के बड़े और अन्य नाना भाँति के व्यंजन भोजन के लिए दिये गये। अब राजा को समझ पड़ा कि जो ऐसी रसोई खाता है उसे मेरी रसोई कैसे अच्छी लग सकती थी। भोजन के पश्चात् पंच-सुगन्धि नामक ताम्बूल सेवन करके राजा पलँग पर लेटे। यद्यपि शीतऋतु का समय था, पर पण्डित के गृह में कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि राजा चन्दनलिप्त होकर रात को बड़े आनन्द से मीठी-मीठी व्यजन-वीजित वायु का सेवन करते हुए निद्रित हुए। वे भूल ही गये कि मौसम सर्दी का है ('पुरातन प्रबन्ध', पृ. 17)। इस कहानी से यह अनुमान सहज ही होता है कि उन दिनों ऐसे रईस थे जिनका विलास समसामयिक राजाओं के लिए भी आश्चर्य का विषय था।

ब्राह्मण का कला से सम्बन्ध

भारतवर्ष के सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य में ही ब्राह्मण और विद्या का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ पाया जाता है। जाति-व्यवस्था जैसी इस समय है वैसी ही बहुत प्राचीन काल में भी नहीं रही होगी; परन्तु ब्राह्मण बहुत-कुछ एक जाति के रूप में ही रहा होगा, इसका प्रमाण पुराने साहित्य में ही मिल जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराने जमाने से ही भारतवर्ष में विद्या और कला के दो अलग-अलग क्षेत्र स्वीकार कर लिये गये थे। वेदों और ब्रह्म-विद्या का अध्ययन-अध्यापन 'विद्या' या ज्ञान के रूप में था और लिखना-पढ़ना, हिसाब लगाना तथा जीवन-यात्रा में उपयोगी अन्यान्य बातें 'कला' का विषय समझी जाती रहीं। बहुत पहले से ही 'शिक्षा' एक विशेष वेदांग का नाम हो गया था और इसीलिए लिखना-पढ़ना, हिसाब-किताब रखना, विविध भाषाओं और कौशलों की जानकारी 'कला' नाम से चलने लगी थी। विद्या का क्षेत्र बहुत पहले से ब्राह्मण के हाथ में रहा और 'कला' का क्षेत्र क्षत्रियों, राजकुमारों और राजकुमारियों तथा वैश्यों के लिए नियत था। भारतवर्ष के दीर्घ इतिहास में यह नियम हमेशा बना रहा होगा, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। वस्तुतः इस प्रकार की स्थिति एक खास अवस्था में रही होगी। पुराने साहित्य में अनेक उदाहरण हैं, जहाँ ब्राह्मण क्षत्रियों से ब्रह्म-विद्या पढ़ते थे। 'शतपथ ब्राह्मण'

(11-6-21-5) से पता चलता है कि याज्ञवल्क्य ने जनक से विद्या सीखी थी। काशी के राजा अजातशत्रु से बालाकि गार्ग्य ने विद्या सीखी थी। यह बात बृहदारण्यक और कौशीत की उपनिषदों से मालूम होती है। छान्दोग्य से जान पड़ता है कि श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जैवलि से ब्रह्मविद्या सीखी थी। इस प्रकार के और भी बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते है। डायसन-जैसे कुछ चोटी के यूरोपीय विचारक तो इन प्रसंगों से यहाँ तक अनुमान करते हैं कि ब्रह्मविद्या के मूल प्रचारक वस्तुतः क्षत्रिय ही थे। यह अनुमान कुछ अधिक व्याप्तिमय जान पड़ता है; परन्तु यह सत्य है कि कर्मकाण्ड के उग्र और मृदु विरोधियो मे क्षत्रियो की संख्या बहुत अधिक थी और जिन महान् नेताओं को भारतवर्ष आज भी याद किया करता है, उनमे क्षत्रियों की सख्या बहुत बडी है। जनक, श्रीकृष्ण, भीष्म, बुद्ध, महावीर—सभी क्षत्रिय थे। महाभारत से तो अनेक शूद्रकुलोत्पन्न ज्ञानी गुरुओ का पता चलता है। मिथिला में एक धर्मनिष्ठ व्याध परमज्ञानी थे। तपस्वी ब्राह्मण कौशिक ने उनसे ज्ञान पाया था (वन., 206 अ.)। शूद्रागर्भजात विदुर बड़े ज्ञानी थे। सूत जाति के लोमहर्षण, संजय और सौति धर्म-प्रचारक थे। सौति ने तो महाभारत का ही प्रचार किया था, परन्तु सम्पूर्ण हिन्दू शास्त्रों में प्रधानतः ब्राह्मण ही गुरु-रूप मे स्वीकृत पाये जाते है।

यद्यपि जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की अपनी विशेषता है, तथापि ससार-भर में आदिम युग मे खास-खास कौशल वर्गविशेष मे ही प्रचलित पाये जाते है। इसका कारण यह होता है कि साधारणतः पिता से विद्या सीखने की प्रथा हुआ करती थी। इसीलिए विशेष विद्याएँ विशेष-विशेष कुलों में ही सीमावद्ध रह जाती थी। वेदो से ही पता चलता है कि ब्रह्मविद्या और कर्मकाण्ड आदि विद्याएँ वंश-परम्परा से सीखी जाती थी। बाद में तो इस प्रकार की भी व्यवस्था मिलती है कि जिसके घर मे वेद और वेदों की परम्परा तीन पुश्त तक छिन्न हो, उसे दुर्ब्राह्मण समझना चाहिए ('बौधायन गृह्यपरिभाषा', 1-10-5-6)। परन्तु नाना कारणों से पितृ-परम्परा से शिक्षा-प्राप्ति का क्रम चल नही पाया। समाज मे जैसे-जैसे धन की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी और राजा और सेठ प्रमुख होते गये, वैसे-वैसे जानकारियों से द्रव्यउपार्जन की आवश्यकता और प्रवृत्ति भी बढ़ती गयी। विद्या सिखाने के लिए भी धन मिलने लगा और धन की इस वितरण-व्यवस्था के कारण ही विद्या वंश के बाहर जाने लगी। ब्रह्मविद्या भी वशपरम्परा तक सीमित नही रह सकी। महाभारत मे दो प्रकार के अध्यापको का उल्लेख है। एक प्रकार के अध्यापक तो अपरिग्रही होते थे। उनके पास विद्यार्थी जाते थे। भिक्षा माँगकर गुरु के परिवार का और अपना खर्च चलाते थे और गुरु के घर का सब काम-काज करते थे। कभी-कभी तो गुरु लोग विद्यार्थियों से बहुत काम लेते थे। इसकी प्रतिक्रिया के भी उदाहरण महाभारत मे मिल जाते हैं। अपने गुरु वेदाचार्य के पास रहते समय उत्तंक को अनेक दुःखपूर्ण कार्य करने पड़े थे। जब स्वयं उत्तंक आचार्य हुए तो उन्हें पुरानी बातें याद थी और उन्होंने अपने विद्यार्थियो से काम लेना बन्द कर दिया

(आदि, 3।81), परन्तु सब मिलाकर गुरु का अपार प्रेम ही, अपने शिष्यों पर प्रकट होता है। दूसरे प्रकार के ऐसे अध्यापक थे, जिन्हें राजा लोग अपने घर पर वृत्ति देकर नियुक्त कर लेते थे। द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ऐसे ही अध्यापक थे। द्रौपदी और उत्तरा की कथाओं से पता चलता है कि राजकुमारियों के लिए इसी प्रकार वृत्तिभोजी अध्यापक रखे जाते होंगे। बौद्धयुग मे भी यह प्रथा पायी जाती है। यह नही समझना चाहिए कि केवल 'कला' सिखाने के लिए ही घर पर अध्यापक नियुक्त किये जाते थे। ब्रह्मविद्या सिखाने के लिए भी अध्यापक बुलाकर पास रखने के उदाहरण मिलते हैं। राजर्षि जनक ने आचार्य पंचशिख को चार वर्ष तक घर पर रखा था। सम्भवतः उन्होने कोई वृत्ति नही ली थी।

स्नान-भोजन

पुराना रईस स्नान नित्य करता था। परन्तु उसका स्नान कोई मामूली व्यापार नही था। काम-काज समाप्त होने के बाद मध्याह्न से थोड़ा पूर्व वह उठ पड़ता था। पहले तो अपने समवयस्क मित्रों के साथ मधुर व्यायाम किया करता था, उसके दोनो कपोलो पर और ललाट देश मे पसीने की दो-चार बूंदें सिन्धुवार पुष्प की मजरी के समान झलक उठती थी, तब वह व्यायाम से विरत होता था। परिजनों मे तब फिर एक बार दौड़-धूप मच जाती थी। रईस अपने स्नानागार मे पहुँचता था, वहाँ स्नान की चौकी होती थी जो साधारणतः सगमर्मर की बनी होती थी और बहुमूल्य धातुओं के पात्र में सुगन्धित जल रखा हुआ रहता था। उस समय परिचारक या परिचारिका उसके केशो मे सुगन्धित आमलक (आँवले) का पिसा हुआ कल्क धीरे-धीरे मलती थी और शरीर मे सुवासित तैल मर्दन करती थी। नागरक की गर्दन या मन्या तेल का विशेष भाग पाती थी, उस पर देर तक तेल की मालिश होती थी; क्योंकि विश्वास किया जाता था कि बुद्धिजीवी व्यक्ति की मन्या पर तेल मलने से मस्तिष्क के तन्तु अधिक सचेत होते है। स्नान-गृह में एक जल की द्रोणी (टब) होती थी, उसमे रईस थोड़ी देर बैठते थे और बाद में स्नान की चौकी पर आ विराजते थे। उनके सिर पर सुगन्धित वारिधारा पड़ने लगती थी और तृप्ति के साथ उनका स्नान समाप्त होता था। फिर वे सर्पनिर्मोक (केंचुल) के समान श्वेत और चमकीली धोती पहनते थे। धोती अर्थात् धौत-वस्त्र। इस शब्द का अर्थ है धुला हुआ वस्त्र। ऐसा जान पड़ता है कि नागरक के वस्त्रो मे सिर्फ धोती ही नित्य धोयी जाती थी, बाकी कई दिन तक अधौत रह सकते थे। कुछ दूसरे पण्डित

'धौत' शब्द को अधोवस्त्र का रूपान्तर मानते है। पुराने जमाने से ही उष्णीष (पाग), उत्तरीय (चादर) और अधोवस्त्र (धोती) इस देश के नागरिको के पहनावे रहे हैं। सिले वस्त्र इस देश मे चलते अवश्य थे, यद्यपि कई सूत्रकारो ने सिले वस्त्र पहनने का निषेध ही किया है। आजकल जितने प्रकार के हिन्दू पहनावों के नाम हैं वे अधिकांश में विदेशी प्रभाववश आये हैं। अचकन का मूल रूप भी कुषाणो की देन है, कुर्ता, जिसका एक नाम पंजाबी है, सम्भवतः पंजाब मे बसे हुए हिन्दू-यवनों की देन है और कमीज और शेमीज एक ही विदेशी शब्द के रूपान्तर है। खैर, उन दिनों का नागरिक धौत-वस्त्र और उत्तरीय का प्रेमी था। धौत-वस्त्र का अर्थ धोया जानेवाला वस्त्र ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इसका कारण स्पष्ट है, क्योकि नागरक का उत्तरीय या चादर कुछ ऐसा-वैसा वस्त्र तो होता नही था; उसमें न जाने कितने आयास के बाद दीर्घकाल तक टिकनेवाली सुगन्धि हुआ करती थी। इसलिए धौत-वस्त्र (धोती) की अपेक्षा उत्तरीय (चादर) ज्यादा मूल्यवान होता था। मस्तक पर नागरक एक क्षौम-वस्त्र का अँगोछा-सा लपेट लेता था, जिसका उद्देश्य केशो की आर्द्रता सोखना होता था। यह सब करके नागरक सन्ध्या-तर्पण और सूर्योपासन आदि धार्मिक क्रियाओ से निवृत्त होता था ('कादम्बरी', कथामुख)।

अजन्ता में कुमार गौतम के स्नान का एक मनोहर दृश्य चित्रित किया गया है। इसमें कुमार एक स्फटिक की चौकी पर बैठे हैं। दो परिचारक सिर पर सफेद गमछा बाँधे पीछे से पानी ढाल रहे है। चौकी के पास ही एक परिचारिका थाली में कुछ लिये खड़ी है। स्नानागार के बगलवाले हिस्से मे एक भृत्य सुगन्धित जल से भरा हुआ कलश ले आ रहा है, कलश के भार से उसकी गर्दन झुक गयी है। तीन परिचारिकाएँ और है। एक के सिर पर से कुछ द्रव्य दूसरी उतार रही है और तीसरी कोई प्रसाधन-सामग्री लेकर स्नानागार की ओर जा रही है। स्नान की चौकी के पास एक और परिचारिका का अस्पष्ट चित्र है। इसी प्रकार 17वी गुहा के एक चित्र में स्नान के पश्चात् रानी के प्रसाधन का बड़ा ही अभिराम चित्र है। इसमे रानी स्वयं मुकुर लेकर प्रसाधन-नैपुण्य को देख रही है। यह चित्र अजन्ता के उत्तम कलात्मक चित्रों में से एक है। इस प्रकार स्नान और स्नानोत्तर प्रसाधन के और भी अनेकानेक चित्र उपलब्ध हुए हैं।

जैसा कि शुरू मे ही कहा गया है, नागरक स्नान नित्य किया करता था, पर शरीर का उत्सादन एक दिन अन्तर देकर कराता था। उसके स्नान में एक प्रकार की वस्तु का प्रयोग होता था जिसे फेनक कहते थे, वह आधुनिक साबुन का पूर्वरूप था। उससे शरीर मे स्वच्छता आती थी, परन्तु प्रतिदिन उसका व्यवहार नही किया जाता था, हर तीसरे दिन फेनक से स्नान विहित था (का. सू., पृ. 47)।

स्नान, पूजा और तत्सम्बद्ध अन्य कृत्यों के समाप्त होने के बाद नागरक भोजन करने बैठता। भोजन दो बार विहित था, मध्याह्न को और अपराह्न को। यह वात्स्यायन का मत है। चारायण सायाह्न को दूसरा भोजन होना ज्यादा अच्छा

समझते थे। नागरक के भोजन में भक्ष्य, भोज्य, लेह्य (चटनी), चोष्य (चूसने योग्य), पेय सब होता था। गेहूँ, चावल, जौ, दाल, मांस सब तरह का होता था, अन्त में मिठाई खाने की भी विधि थी। भोजन समाप्त करने के बाद नागरक आराम करता था और एक प्रकार की धूमवर्त्ति (चुरुट) भी पीता था। धूम्रपान के बाद वह ताम्बूल या पान लेता था और कोई संवाहक धीरे-धीरे उसके पैर दबा देता था ('कादम्बरी', कथामुख)। संवाहन की भी कला होती थी। 'मृच्छकटिक' नाटक के नायक चारुदत्त का एक उत्तम संवाहक था, जो उसके दरिद्र हो जाने के बाद जुआ खेलने लगा था। चारुदत्त की प्रेमिका वसन्तसेना से जब उसका परिचय हुआ तो वसन्तसेना ने उसकी कला की दाद देते हुए कहा कि 'भाई, तुमने तो बहुत उत्तम कला सीखी है?' इस पर उसने जवाब दिया कि 'आर्ये, कला समझकर ही सीखी थी, पर अब तो यह जीविका हो गयी है!'

ऊपर हमने भोजन का बहुत संक्षिप्त उल्लेख कर दिया है। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हमारे पुराने रईस का भोजन-व्यापार बहुत संक्षिप्त हुआ करता था।

भोजनोत्तर विनोद

भोजन के बाद दिवा-शय्या (दिन का सोना) करने के पहले नागरक लेटे-लेटे थोड़ा मनोविनोद करता था। शुक-सारिका (तोता-मैना) का पढ़ाना, तित्तर और बटेरों की लड़ाई, भेड़ों की भिड़न्त उसके प्रिय विनोद थे (का. सू., पृ. 47)। उसके घर में हंस, कारण्डव, चक्रवाक, मोर, कोयल आदि पक्षी; वानर, हरिन, व्याघ्र, सिंह आदि जन्तु भी पाले जाते थे। समय-समय पर वह उनसे भी अपना मनोरंजन करता था (का. सू., पृ. 284)। इस समय उसके निकटवर्ती सहचर पीठमर्द, विट, विदूषक भी आ जाया करते थे। वह उनसे आलाप भी करता था। फिर सो जाता था। सोकर उठने के बाद वह गोष्ठी-विहार के लिए प्रसाधन करता था; अंगराग, उपलेपन, माल्यगन्ध और उत्तरीय सँभालकर वह गोष्ठियों में जाता था। हमने आगे इन गोष्ठियों का विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ उनकी चर्चा संक्षेप में ही कर ली है। गोष्ठियों से लौटने के बाद वह सान्ध्य कृत्यों से निवृत्त होता था और सायंकाल संगीतोनुष्ठानों का आयोजन करता था या अन्यत्र आयोजित संगीत का रस लेने जाता था। इन संगीतकों में नाच, गान, अभिनय आदि हुआ करते थे (का. सू., पृ. 47-48)। साधारण नागरक भी इन उत्सवों में सम्मिलित होते थे। 'मृच्छ-

कटिक' के रेमिल नामक सुकण्ठ नागरक ने सायं-सन्ध्या के बाद ही अपने घर पर आयोजित संगीतक नामक मजलिस में गान किया था। इन सभाओ से लौटने के बाद भी नागरक कुछ विनोदों में लगा रहता था, परन्तु वे उसके अत्यन्त निजी व्यापार होते थे। इस प्रकार प्राचीन भारत का रईस प्रात.काल से सन्ध्या तक एक कलापूर्ण विलासिता के वातावरण में वास करता था। उसके विलास से किसी-न किसी कला को उत्तेजना मिलती थी, उसके प्रत्येक उपभोग्य वस्तु के उत्पादन के लिए एक सुरुचिपूर्ण परिश्रमी परिचारक-मण्डली नियुक्त रहती थी। वह धन का सुख जमकर भोगता था और अपनी प्रचुर धन-राशि के उपभोग मे अपने साथ एक बडे भारी जनसमुदाय की जीविका की भी व्यवस्था करता था। वह काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका आदि की रचना को प्रत्यक्ष रूप से उत्साहित करता था और नृत्य, गीत, चित्र और वादित्र का तो वह शरणरूप ही था। वह रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि सभी इन्द्रियार्थो के भोगने मे सुरुचि का परिचय देता था और विलासिता मे आकण्ठ मग्न रहकर भी धर्म और अध्यात्म से एकदम उदासीन नही रहता था। उस युग के साहित्य में भोग के साथ-ही-साथ त्याग का, विलासिता के साथ शौर्य का और सौन्दर्य-प्रेम के साथ आत्मदान का आदर्श सर्वत्र सुप्रतिष्ठित था। सब समय आदर्श के अनुकूल आचरण नही हुआ करता था, परन्तु फिर भी आदर्श का महत्त्व भुलाया नही जा सकता।

अन्त:पुर

परन्तु कलाओ का सबने बड़ा आश्रयदाता था राजाओ और रईसों का अन्तःपुर। पुरुषों की दुनिया उतनी निर्विघ्न नही होती थी। प्रायः ही वास्तविकता के कठोर आघात रोमास के वातावरण को क्षुब्ध कर जाते थे। युद्ध-विग्रह, दगा-फसाद, व्यापार-हानि, चोर-डाकुओं का उपद्रव, दूर-दूर देशों की यात्रा, लौटने मे अनिश्चित विश्वास; ये और ऐसे ही अनेक अन्य उत्पात पुरुषों की बैठक को चंचल बनाते रहते थे। पर अन्तःपुर तक विक्षोभ की लहरियाँ बहुत कम पहुँच पाती थी। शत्रु और मित्र, दोनों ही उन दिनों अन्तःपुर की शान्ति का सम्मान करते थे। प्राचीन ग्रन्थों से अनुमान होता है कि राजकीय अन्त.पुरो मे नाट्यशालाएँ भी होती थी। रामायण के पुराने युग में ही 'वधूजन-नाट्य-सघ' की चर्चा मिलती है। 'प्रियदर्शिका' मे जो नाटक खेला गया था और 'मालविकाग्निमित्र' मे जिस अभिनय-प्रतिद्वन्द्विता की चर्चा है, वे अन्त.पुर के रंगमच पर ही अभिनीत हुए थे। नाच,

गान, वाद्य, चित्रकारी आदि सुकुमार कलाएँ अन्तःपुर में जीती थीं।

'कामसूत्र' से जान पड़ता है कि तत्कालीन नागरकजन अपना घर पानी के आसपास बनाया करते थे (पृ. 41), पर परवर्ती ग्रन्थों से जान पड़ता है कि इस बात को कोई बहुत आवश्यक नहीं समझा जाता था। घर के दो भाग तो होते ही थे। बाहरी प्रकोष्ठ पुरुषों के लिए और भीतरी प्रकोष्ठ अन्तःपुर की स्त्रियों के लिए। वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' में ऐसे मकान बनाने की विस्तृत विधि बतायी है। साधारणतः ये मकान नगरी के प्रधान राजपथों के दोनों ओर हुआ करते थे। अन्तःपुर की वधुएँ ऊपरी तल्ले में रहा करती थीं, क्योंकि प्राचीन काव्यों और नाटकों में किसी विशेष उत्सवादि के देखने के सिलसिले में ऊपरी तल्ले के गवाक्षों से अन्तःपुरिकाओं के देखने का वर्णन प्रायः मिल जाया करता है। अन्तःपुर के ऊपरी तल्ले के घरों में गवाक्ष निश्चित रूप से रहते थे। राजपथ की ओर गवाक्षों का रखना आवश्यक समझा जाता था। ये अन्तःपुर के ऊपरी तल्ले के गवाक्ष कुछ ऊँचे पर बैठाये जाते थे। 'मालती-माधव' की मालती ऊपर के तल्ले पर से माधव को रथ्या (रथ के चलने लायक चौड़ी सड़क) मार्ग से भ्रमण करते हुए देखा करती थी। देखनेवाला वातायन 'तुंग' था अर्थात् ऊँचाई पर था। ऊँचे पर बनाने का उद्देश्य सम्भवतः यह होता था, कि अन्तःपुरिकाएँ तो बाहर की ओर देख सकें, पर बाहर के लोग उन्हें न देख सकें। प्रथम अंक में कामन्दकी के कहे हुए इस श्लोक से यही अनुमान पुष्ट होता है :

> भूयोभूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
> दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुंगवातायनस्था।
> साक्षात्काम नवमिव रतिर्मालती माधवं तत्
> गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरंगकैस्ताम्यतीति ॥

जो महल नदी के किनारे होते थे, उनमें उस ओर जालीदार गवाक्ष लगे रहते थे। इन जालीदार गवाक्षों से वधुएँ नदी की चंचल तरंगों की शोभा देख सकती थीं। सुनन्दा ने इन्दुमती को इन जालीदार गवाक्षों से जलवेणि-सी रमणीय तरंगोंवाली रेवा की चटुल शोभा देखने को कहा था, जो माहिष्मती के किले के नीचे करधनी की भाँति लिपटी हुई थी। जिस राजा के प्रासाद-गवाक्षों से इस सुन्दर शोभा का देखना सम्भव था, उसकी अंक-लक्ष्मी होना सौभाग्य की बात थी :

> अस्यांकलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम्
> प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः। (रघु., 6.43)

पर इन्दुमती की ऐसी इच्छा हुई नहीं। अस्तु। इस प्रकार के गृह का फाटक बहुत भव्य और विशाल हुआ करता था। नाटकों, काव्यों आदि में जो वर्णन मिलता है, उसमें थोड़ी अतिरंजना हो सकती है; क्योंकि बहुत प्राचीन काल से भारतीय कवि ने इस सहज-सीधी बात को जान लिया था कि कला-वस्तु केवल वास्तव का अनुकरण नहीं है। उसमें कुछ कृत्रिम मूल्यों का आरोप करना पड़ता है। कवि-कौशल उन मूल्यों के उपयोग और सजावट में है। सो, इन रचनाओं में कल्पित मूल्य

अवश्य है। उतना हिस्सा छानकर भी हम कुछ बातें जान सकते है।

साहित्यिक वर्णनों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि सामने की भूमि को पहले पानी से आर्द्र करके बाद मे झाड़ दिया जाता था और उसके ऊपर गोबर से लीप दिया जाता था। भूमि का भाग या मकान की चौकी को नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पो और रँगे हुए चावलो से सुसज्जित किया जाता था। ऊँचे फाटक के ऊपर गजदन्तों (खूँटियों) मे मालती की माला मनोहर भंगी मे लटका दी जाती थी। फाटक के ऊपर उपरले तल्ले का जो वातायन (खिडकी) हुआ करता था, उसके नीचे मोतियों की (या कम-से-कम फूलों की) माला लटकती रहती थी। तोरण के कोनों मे हाथी की मूर्त्तियाँ बनी होती थी जो अपने दाँतो पर या सूँड पर भार धारण करती हुई जान पड़ती थी (मृच्छ., चतुर्थ अंक)। ईसवी-पूर्व दूसरी शती का एक तोरण ब्रैकेट साँची मे पाया गया है, जिसमे हाथी के सामने अत्यन्त सुकुमार भगी मे एक स्त्री-मूर्त्ति वृक्षशाखा पकड़कर खड़ी है। इस प्रकार की नारी-मूर्त्तियो को तोरणशाल-भंजिका कहते थे। शालभंजिका पुतली या मूर्त्ति को भी कहते हैं और वेश्या को भी। सन् ईसवी की दूसरी शताब्दी की एक तोरणशाल-भंजिका मिली है, जिसका दाहिना चरण हाथी के कुम्भ पर है और बायाँ ज़रा ऊपर उठे हुए सूँड पर। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' मे खिड़की के सहारे लेटी हुई धनुषाकार झुकी हुई नारी की तोरणशाल-भंजिका से उपमा दी गयी है :

अवलंब्य गवाक्षपार्श्वमन्या
शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः।
विरराज विलंबिचारुहारा
रचिता तोरणशालभञ्जिकेव॥

(25, 52)

काव्यों, नाटकों, मूर्त्तियों और प्रासादों के भग्नावशेषो से यह अनुमान पुष्ट होता है कि नागरिक के मकान मे तोरणशाल-भंजिकाओ के विविध रूप की मनोहर भगिमाएँ पायी जाती होंगी। साधारणतः तोरण द्वार महारजन या कुसुम्भी रंग से पुता होता था, प्रत्येक गृह पर सौभाग्यपताकाएँ भी फहराती रहती थी (मृच्छ., चतुर्थ अंक)। तोरणस्तम्भ के पार्श्व में वेदियाँ बनी होती थीं, जिन पर स्फटिक के मंगल-कलश सुशोभित रहते थे। इन कलशो को जल से भर दिया जाता था और ऊपर हरित आम्र-पल्लव से आच्छादन करके अत्यन्त ललाम बना दिया जाता था। बाद में चलकर वेदी के पास पल्लावाच्छादित पूर्णकुम्भ उत्कीर्ण कर देने की भी प्रथा चल पड़ी थी। 'स्कन्दपुराण' के अवन्तिका खण्ड मे अवन्ती नगर का वर्णन करते समय पुराणकार ने बताया है कि "उसमें अनेक बड़े-बड़े हाट-बाजार थे। विशाल चौराहे थे। सड़क के दोनों ओर सुन्दर-सुन्दर महल बने हुए थे, जिससे सड़कों की शोभा बढ़ रही थी। वे प्रासाद स्फटिक से निर्मित थे, उनके फर्श वैडूर्य मणि के थे। वे सुवर्णजटित प्रवालस्तम्भों पर टिके हुए थे। उनमें लाल पत्थरों की देहलियाँ बनी हुई थीं—बाहर मोती की झालरें टँगी हुई थीं, प्रत्येक भवन में सुवर्ण

के स्तम्भों पर सौभाग्यपताकाएँ लहरा रही थी, मणिजटित सुवर्ण के कलश प्रत्येक भवन की शोभा बढ़ा रहे थे।" इस वर्णन में सुवर्ण और मणि की अतिरंजना कम कर दी जाय, तो साधारण नागरकों के घर का एक चित्र मिल जाता है। उन दिनों पूर्णकुम्भ-स्थापना की प्रथा इतनी व्यापक थी कि कवियों ने उपमा के लिए उसका व्यवहार किया है। हाल ने प्रेमिका के हृदय-मन्दिर में पधारनेवाले प्रेमी के लिए सुसज्जित पूर्णकुम्भ की जो कल्पना की थी, वह इसी प्रथा के कारण :

रत्थापइण्णणअणुप्पला तुम सा पडिच्छए एतम्।
दारणिहिएहिं दोहिं वि मंगलकलसेहिं व थणेहिं ॥

(गाथा., 2-40)

इन वेदियों के पीछे विशाल कपाट हुआ करते थे और दूर से प्रासाद के भीतर जानेवाली सोपान-पंक्तियाँ दिखायी देती थी। सीढ़ियों पर चन्दन-कपूर आदि के संयोग से बना हुआ सुगन्धित चूर्ण बिछा रहता था। इन्हीं सीढ़ियों के आरम्भ-स्थान के पास दौवारिक या द्वारपाल बैठा रहता था। घर की देहली पर दधि और भात या अन्य खाद्य वस्तु देवताओं को दी हुई बलि के रूप में रख दी जाती थी, जिसे या तो काक खा जाते थे या घर के पाले हुए सारस, मयूर, लाव, तित्तिर आदि पक्षी (मृच्छ, चतुर्थ अंक)। चारुदत्त जब दरिद्र हो गया तो इस देहली में तृणांकुर उत्पन्न हो आये थे।

संस्कृत के काव्य में जिन अन्त.पुरों का वर्णन मिलता है, वे साधारणतः बड़े-बड़े राजकुलों के या अत्यधिक सम्भ्रान्त लोगों के होते हैं। इसीलिए संस्कृत का कवि इनका वर्णन बड़े ठाट-बाट से करता है। अन्तःपुर के भीतरी भाग की बनावट कैसी होती होगी, इसका अनुमान ही हम काव्यों-नाटकों आदि से कर सकते हैं। 'मृच्छकटिक' का विदूषक अभ्यन्तरचतु शाल या अन्तःचतु.शाल के द्वार पर बैठकर पक्वान्न खाया करता था। इस अन्त.चतु.शाल शब्द से अनुमान किया जा सकता है कि भीतर एक आँगन होता होगा और उसके चारों ओर शालाएँ (घर) बनी होती होंगी। वराहमिहिर अन्तपुर से आँगन के चारों अलिन्दों या बरामदों की व्यवस्था देते हैं। इन बरामदों के खम्भे शुरू में लकड़ी के हुआ करते थे, बाद में पत्थर और ईंट के भी बनने लगे थे। इन खम्भों पर भी शाल-भंजिकाएँ बनी होती थीं। ये मूर्त्तियाँ सौभाग्य-सूचक होती थी। रामायण (बालकाण्ड, 5वाँ सर्ग) में आदिकवि ने अयोध्या के वर्णन के प्रसंग में वधू-नाटक-संघों, उद्यानों, कूटागारों और विमानगृहों की चर्चा की है। टीकाकार रामभट्ट ने वधूनाटक-संघ का अर्थ किया है वधुओं के लिए बनी हुई नाटकशाला; उद्यान का अर्थ किया है क्रीड़ा के लिए बनवायी हुई पुष्पवाटिका; कूटागार शब्द का अर्थ बताया है स्त्रियों के क्रीड़ा-गृह और विमानगृह का अर्थ किया है सप्तभूमि या सात तल्लों के मकान। इससे अनुमान किया जा सकता है कि रामायण-रचना के काल में भी विशाल प्रासादों के अन्त.पुरों का रूप उतना ही भव्य था जितना परवर्त्ती काव्यों में है। 'रघुवंश' के सोलहवें सर्ग में इन योषित्-मूर्त्तियों की बात है (16-17)। साँची, भरहुत,

मथुरा, जागयपेट, भूतेश्वर आदि से खम्भों और रेलिंगों पर खुदी हुई बहुत-सी शालभंजिकाएँ पायी गयी हैं। पुराने काव्यों में अन्तःपुरिकाओं की परिचारिकाओं के जो विविध क्रिया-कलाप हैं, वे इन मूर्तियों में देखे जाते हैं। अनुमान होता है कि अन्तःचतुःशाला के खम्भों पर जो मूर्तियाँ उत्कीर्ण रही होंगी, उनमें भी शृंगार और मांगल्य के व्यंजक भावों का ही प्राधान्य रहता होगा।

अन्तःपुर की वृक्ष-वाटिका

इस अन्तःपुर से लगी हुई एक वृक्ष-वाटिका हुआ करती थी। इसके बीचों-बीच एक दीर्घिका या लम्बा तालाब रहा करता था। जगह कम हुई तो कुएँ या [illegible] ही काम चला लिया जाता था, पर आज हम उन लोगों की [illegible] रहे हैं जो भाग्यदेवी के त्याज्य-पुत्र हैं। इसलिए कामचलाऊ चीज़ें [illegible] चर्चा करके इस प्रसंग को छोटा नहीं बनने देंगे। तो, इस वृक्ष-वाटिका में [illegible] वृक्षों के सिवा पुष्पों और लताकुञ्जों की भी व्यवस्था रहती थी। [illegible] एक क्रम से लगाये जाते थे। वासगृह के आसपास छोटे-छोटे पौधे, [illegible] गुल्म, फिर लता-मण्डप और सबसे पीछे बड़े-बड़े वृक्ष [illegible] एक ही श्रेणी के फूल लगाये जाते थे। अन्धकार में भी [illegible] पहचानने में आयास नहीं होता था कि इधर [illegible] का मार्ग है, इधर बकुलों की घनी वीथी है [illegible] है :

> पालीयं चम्पकानां [illegible]
> सान्द्रा वीथी [illegible]
> आम्रायाम्राय [illegible]
> [illegible]
>
> ([illegible])

[illegible]

(प्याज) आदि साग-भाजी उगाती थी। इस सूची से जान पड़ता है कि भारतवर्ष में आज से दो हजार वर्ष पहले जो साग-भाजियाँ खायी जाती थीं, वे अब भी बहुत परिवर्तित नहीं हुई हैं। इन साग-भाजियों के साथ ये मसाले भी गृहदेवियाँ स्वयं उत्पन्न कर लेती थीं — जीरा, सरसों, अजवायन, सौंफ, तेजपात आदि। वाटिका के दूसरे भाग में कुब्जक (मालती?), आमलक, मल्लिका (बेला), जाती (चमेली?), कुरण्टक (कटसरैया), नवमालिका, तगर, जपा आदि पुष्पों के गुल्म भी गृहदेवियों के तत्त्वावधान में ही उगते थे। ये पुष्प नाना कार्यों में काम आते थे। इनसे घर सजाया जाता था, जल सुगन्धित किया जाता था, नव-वधुओं का वासक-वेश तैयार होता था, स्थण्डिल-पीठिकाओं को सजाया जाता था और सबसे बढ़कर देव-पूजा की क्रिया सम्पन्न होती थी। वृक्ष-वाटिका की पुष्पिता लताएँ कुमारियों का मनोविनोद करती थीं, नवदम्पती के प्रणय-कलह में शर्त बनती थीं और निराश प्रेमिका के गले में फाँसी का काम भी करती थीं ('रत्नावली', तृतीय अंक)। अनुरागी नागरक और उसकी प्रियतमा में पुष्पों के प्रस्फुटन को लेकर बाजी लगती, नाना कौशलों से मन्त्र और मणि के प्रयोग से; प्रिया के दर्शन, वीक्षण, पदाघात आदि से नाना वृक्ष-लताओं में अकाल-कुसुम उद्गत होते थे। जब प्रेमी हारते थे तो उन्हें प्रिया का शृंगार कर देने की सख्त सजा मिलती थी, और जब प्रेमिकाएँ हारती थीं तो सौत की भाँति फूली हुई अनुराग-भरी लता को बारम्बार आग्रहपूर्वक निहारनेवाले प्रियतम को देखकर उनका मुँह लाल हो उठता था :

> उद्दामोत्कलिका विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भा क्षणात्
> आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
> अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
> पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्।
>
> ('रत्नावली', द्वितीय अंक)

वृक्ष-वाटिका के अन्तिम किनारे पर बड़े-बड़े छायादार वृक्ष, जैसे अशोक, अरिष्ट पुन्नाग, शिरीष आदि लगाये जाते थे; क्योंकि इनको मांगल्य वृक्ष माना जाता था (बृ. सं., 55-3) और बीचों-बीच गृह-दीर्घिका हुआ करती थी। इन दीर्घिकाओं (तालाबों) में नाना भाँति के जल-पक्षियों का रहना मंगलजनक माना जाता था। इनमें कृत्रिम भाव से कमलिनी (पत्र-पुष्प-लतासमेत कमल) उत्पन्न की जाती थी। वराहमिहिर ने लिखा है कि जिस सरोवर में नलिनी (कमलिनी)-रूप छत्र में सूर्य-किरणें निरस्त होती हैं; हंसों के कन्धों से धकेली हुई लहरियाँ कल्हारों से टकराती हैं; हंस, कारण्डव, क्रौंच और चक्रवाकगण कल-निनाद करते रहते हैं, और जिसके तटान्त की वेतवन-छाया में जलचर-पक्षी विश्राम करते हैं; ऐसे सरोवरों के निकट देवतागण प्रसन्न भाव से विराजते हैं [illegible] 56-4-7)। अनुमान किया जा सकता है कि दीर्घि[illegible] के तट पर [illegible] रहते होंगे। काव्यों में ऐसे वेतस-कुञ्[illegible] पायी [illegible] ओं के बीच में समुद्रगृह बनाये [illegible] (पृ. [illegible] पर ह[illegible]

कह सकते हैं कि समुद्रगृह पानी में बना करता था, उसमें गुप्त भाव से पानी के संचारित हो जाने की व्यवस्था रहा करती थी।

5 दोला-विलास

वात्स्यायन से पता चलता है (का. सू., पृ. 45) कि इस वाटिका में सघन छाया में प्रेंखा-दोला या झूला लगाया जाता था और छायादार स्थानों में विश्राम के लिए स्थण्डिल-पीठिकाएँ (बैठने के आसन) बनायी जाती थी, जिन पर सुकुमार कुसुम-दल बिछा दिये जाते थे। प्रेंखा-दोला की प्रथा वर्षाऋतु में ही अधिक थी। सुभाषितो में वर्षाऋतु के वर्णन के अवसर पर ही प्रेंखा-दोलाओ का वर्णन पाया जाता है। आज भी सावन में झूले लगाये जाते है। वात्स्यायन ने जो छायादार वृक्षो की घनी छाया मे झूला लगाने को कहा है सो इसी वर्षा से बचने के लिए ही। वस्तुतः वर्षाकाल ही प्रेंखा-विलास का उत्तम समय है। द्युलोक और भूलोक मे समानान्तर क्रियाओं के चलने की कल्पना कवियो ने इस प्रेंखा-विलास से की है, और कौन कह सकता है कि जब कमल-नयनाओ की आँखें दिशाओं को कमल-फूल की आरती से नीराजित कर देती होगी, आनन्दोल्लास के हास से जब चन्द्रिका की वृष्टि करती रहती होगी और विद्युद्गौर कान्तिवाली तरुणियाँ तेजी से झूलती रहती होगी तो आकाश मे अचानक विद्युत् चमकने का भान नही होता होगा ?—

दृशा विदधिरे दिशः कमलराजिनीराजिताः
कृता हसितरोचिषा हरति चन्द्रिकावृष्टयः।
अकारि हरिणीदृशः प्रबलदण्डकप्रस्फुरद्-
वपुर्विपुलरोचिषा वियति विद्युतो विभ्रमः॥

नाना भाँति की विलास-लीलाओं में मनोविनोद करती मग्न रहती थीं। 'कामसूत्र' में जिन समुद्र-गृहों का उल्लेख है वे सम्भवत भवन-दीर्घिका के पास ही या भीतर बना करते थे। उन घरों में गुप्त मार्ग से निरन्तर पानी जाते रहने की व्यवस्था रहती थी, जिससे ग्रीष्मकाल में भी उनमें ठण्डक बनी रहती थी। कहते हैं, 'विष्णु-स्मृति' (5 I 17) में इन्हीं समुद्र-गृहों को भेदनेवालों को दण्ड देने की व्यवस्था है। कालिदास ने 'रघुवंश' में जल-क्रीड़ा के प्रसंग में कुछ 'गूढ़-मोहन-गृहों' का वर्णन किया है। इन गृहों में भवन-दीर्घिका का पानी गुप्तमार्ग से जाया करता था। इन गूढ़-मोहन-गृहों में सदा शीतलता बनी रहती थी (रघु., 19-9)। अनुमान किया जा सकता है कि जिन लोगों को नदी सुलभ रहती है वे लोग इस कार्य के लिए नदी के पानी का भी अवश्य उपयोग करते होंगे और सम्भवत 'गंगायां घोषः' मुहावरे के मूल में ऐसे ही घर हों। इन्हीं दीर्घिकाओं से धारायन्त्र को भी पोषण मिला करता था। उसका स्थान तो वाटिका में रहता था, पर उनके सदा जलोद्गारी होने का सौभाग्य भवन-दीर्घिका के जल के कारण ही हुआ करता था। वाटिका के इस धारायन्त्र या फव्वारे से अन्तःपुरिकाएँ होली के दिनों अपनी पिचकारियों में जल भरा करती थीं और अबीर और सिन्दूर से उसकी जमीन को लाल-लाल कीचड़ से आच्छादित कर देती थीं (रत्ना., प्रथम अंक)। इन फव्वारों में जल-देवताएँ, हंस-मिथुन या चक्रवाक-मिथुन बने होते थे, जो जलधारा को उच्छ्वसित करते रहते थे। अलकापुरी में 'मेघदूत' की यक्षिणी के अन्तःपुर में एक ऐसी ही वाटिका थी जिसमें यक्षप्रिया ने एक छोटे-से मन्दारवृक्ष को—जिसके पुष्पस्तवक हाथ-पहुँच के भीतर थे—पुत्रवत् पाल रखा था (मेघ., 2-80)। इस उद्यान में मरकत-मणियों की सीढ़ीवाली एक वापी थी जिसमें वैदूर्यमणि के नालों पर स्वर्णकमल खिले हुए थे और हंसगण विचरण कर रहे थे। इस वापी के तीर पर एक क्रीड़ा-पर्वत था। वह इन्द्रनीलमणि से निर्मित था और कनक-कदली से वेष्टित था। क्रीड़ा-पर्वत वर्षाकाल के लिए बना करते होंगे। अग्निवेद वर्षाकाल में कुटज और अर्जुन की माला धारण करके और कदम्ब-रज का प्रसाधन करके कृत्रिम क्रीड़ा-पर्वतों पर विहार किया करता था। उन दिनों क्रीड़ा-पर्वत पर रहनेवाले पालित मयूर मेघदर्शन से प्रमत्त होकर नाच उठते थे :

> अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाङ्गरागिणः ।
> प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत् कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥
>
> (रघु., 19-37)

वाटिका के मध्य भाग में लाल फूलोंवाले अशोक और बकुल के वृक्ष थे; एक प्रिया के पदाघात से और दूसरा वदन-मदिरा से उत्फुल्ल होने की आकांक्षा रखता था (मेघ., 2-86)। इसमें माधवीलता का मण्डप था जिसका बेड़ा (वृति) कुरबक या पियावसा के झाड़ों का था। कुरबक के झाड़ निश्चय ही उन दिनों उद्यानों और लता-कुंजों के बेड़े का काम करते थे। शकुन्तला जब प्रथम दर्शन में राजा दुष्यन्त की प्रेम-परवश हो गयी और सखियों के साथ विदा लेकर जाने लगी, तो जान-

बूझकर अपना वल्कल कुरबक की काँटेदार शाखा मे उलझा दिया था ताकि उसके सुलझाने के बहाने फिरकर एक बार राजा को देखने का मौका मिल जाय। निश्चय ही शकुन्तला के उद्यान का बेड़ा कुरबक पुष्पों के झाड़ो का रहा होगा और बेड़ा पार करके चले जाने पर राजा का दिखायी देना सम्भव नही रहा होगा, इसलिए चलते-चलते मुग्धा प्रेमिका ने अन्तिम बार कौशल का सहारा लिया होगा। इसी प्रकार के कुरबक के बेड़ेवाले मण्डप में ही सोने की वास-यष्टि पर यक्षप्रिया का वह पालतू मयूर बैठा करता था, जिसे वह अपनी चूड़ियो की मंजुध्वनि से नचा लिया करती थी। उन दिनों के गृह-पालित पक्षी निश्चय ही बहुत भोले होते होंगे, क्योकि मयूर चूड़ियों की झनकार से नाच उठता था (मेघ., 2-87), भवन-दीर्घिका का कलहंस नूपुरों की रुनझुन से कोलाहल करने लगता था ('कादम्बरी', पूर्वभाग) और मुग्ध सारस रसना (करधनी) के मधुर रसित से उत्सुक होकर अपने केकारव से वायु-मण्डप कँपा देता था (काद., पूर्व.)। बहुत भीतर जाने पर यक्षप्रिया के शयन-कक्ष के पास पिंजड़े मे मधुरभाषिणी सारिका थी, जिससे वह यदा-कदा अपने प्रिय की बातें पूछा करती थी (मेघ ,2-87)। साँची तोरण पर जो ईसवी-पूर्व दूसरी शताब्दी की उत्कीर्ण प्रतिकृतियाँ पायी गयी है उनमे कनक-कदली से वेष्टित ऐसी भवन-दीर्घिकाएँ भी पायी गयी है और वन्य-वृक्ष के छायातले क्रीड़ा-पर्वत भी पाये गये है जिनमे प्रेमियो की प्रेमलीलाएँ बहुत अभिराम भाव से दिखायी गयी हैं। रेलिंगों और स्तम्भो पर हस्तप्राप्य स्तवक-नमित मन्दार-वृक्ष भी है और पजरस्था सारिकावाली प्रेमिका यक्षिणी भी। इस प्रकार जिस युग की कहानी हम कह रहे है, उस युग मे ये बातें बहुत अधिक प्रचलित रही होंगी, ऐसा अनुमान होता है।

बाग-बगीचों और सरोवरों से प्रेम

यही नही समझना चाहिए कि बड़े आदमियो के अन्त.पुर मे ही बाग-बगीचे और सरोवर हुआ करते थे। उन दिनों के किसी भी नगर का वर्णन देखिए तो बाग-बगीचों और सरोवरों के प्रति जनता का अनुराग प्रकट होता है। कपिलवस्तु के बाहर पाँच-सौ बगीचे थे, वाल्मीकि की अयोध्या उद्यानों से भरी हुई थी और कालिदास की उद्यान-परम्परावाली उज्जयिनी का तो कहना ही क्या! 'स्कन्द-पुराण' मे अवन्ती-खण्ड में भी इस उद्यान-परम्परा का बड़ा मनोहर वर्णन है। उद्यानो की इन लोभनीय शोभा ने पुराणकार के चित्त मे भाववेग का कम्पन उत्पन्न

किया था और उनके वर्णन मे पुराणकार की कविप्रतिभा मुखर हो उठी है: "फूली हुई लताओं से आच्छादित तरु-समूह प्रियाओं से आलिंगित सुभगजनों की भांति शोभ रहे थे, पवनान्दोलित मंजरियों से सुशोभित आम और तिलक के तरु सुजनों की भांति प्रेमालाप-सा करते जान पड़ते थे, पुष्प और फल-भार से समृद्ध वृक्ष-समूह उन सज्जनों की भांति लग रहे थे जो अपना सर्वस्व दूसरों को देने में प्रसन्न बने रहते हैं, अमन-वल्लरियों पर बैठे हुए भ्रमर हवा द्वारा हिलायी लताओं पर इस प्रकार नाच रहे थे मानो प्रियतमा के साहचर्य से मदमत्त कोई प्रेमीजन हो''' ।" इस प्रकार पुराणकार की भाषा अबाध भाव से वन-शोभा का वर्णन करती हुई थकना नहीं जानती। और फिर उज्जयिनी के "हर बाजार मे वापियां, कुएँ, मनो-हर सरोवर आदि जलाशय थे जिनमे अनेक प्रकार के जलजन्तु विहार कर रहे थे और लाल-नीले और श्वेत कमल खिलकर शोभा बढ़ा रहे थे। नाना प्रकार के हंस क्रीडा कर रहे थे। भवन-दीर्घिकाओं के जल की सहायता से फव्वारे बने हुए थे। कही मदमस्त मयूर नाच रहे थे, तो कही मदविह्वला कोकिला कूक रही थी। गृह-वाटिकाओं के पुष्पस्तबकों पर भ्रमरगण गुंजार कर रहे थे और सदाचारिणी कुल-वधुएँ कही किनारे बैठकर, कही नीचे से और कही निकटवर्ती महलों के छज्जों से इस शोभा का आनन्द उठा रही थी।" सुनन्दा ने इन्दुमती को लुभाने का एक प्रधान साधन उज्जयिनी की उद्यान-परम्पराओं को बताया था जो क्षिप्रा-तरंग से शीतल बनी हुई हवा से नित्य कम्पित हुआ करती थी :

> अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
> सिप्रातरंगानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु॥
>
> (रघु., 6-35)

अवश्य ही, इन्दुमती इससे प्रलुब्ध नही हो सकी थी। शायद इसलिए कि ऐसी उद्यान-परम्पराएँ तो सभी राजधानियों में थी और सिप्रा-तरंग कालिदास को कितने भी प्रिय क्यों न हो, सरयू-तरंगो से अधिक मोहक नहीं थे। गंगा-तरंगों से तो एकदम नहीं !

अन्तःपुर का सुरुचिपूर्ण जीवन

बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में एक स्थान पर अन्तःपुर का बड़ा ही जीवन्त और रस-मय वर्णन है। इस वर्णन से हमें कुछ काम लायक बातें जानने को मिल सकती हैं, वैसे यह वर्णन उस किन्नरलोक का है जहाँ कभी किसी को कोई चिन्ता नहीं होती।

वह उन वित्तेशों का अन्तःपुर है जिनके विषय मे कालिदास कह गये हैं कि वहाँ किसी की आँखों में अगर आँसू आते हैं तो आनन्दजन्य ही, और किसी कारण से नहीं; प्रेम-बाण की पीड़ाओं के सिवा वहाँ और कोई पीड़ा नहीं होती और यह पीड़ा होती भी है तो इसका फल अभीप्ट व्यक्ति की प्राप्ति ही होता है; वहाँ प्रेमियों में प्रणय-कलह के क्षणस्थायी काल के अतिरिक्त और वियोग कभी नही होता और यौवन के सिवा और कोई अवस्था उन लोगों की जानी हुई नही है :

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः
नान्यस्तापः कुसुमशररजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।
नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशाना न खलु च वयो यौवनादन्यदस्ति ॥

(मेघ., 2-4)

तो ऐसे भाग्यशालियो के अन्त.पुर मे कुछ बातें ऐसी जरूर होंगी जो हमारी समझ के बाहर की होंगी। उस अन्त पुर मे कोई नवलिका केतिकी (केवड़े) की पुष्प-धूलि से लवली (हरफा रेवडी) के आलवालो को सजा रही थी, कोई गन्ध जल की वापियों मे रत्नवालुका निक्षेप कर रही थी, कोई मृणालिका कृत्रिम कमलनियों के यन्त्रचक्रवाकों के ऊपर कुकुमरेणु फेंक रही थी, कोई मकरिका कर्पूर-पल्लव के रस से गन्ध पात्रों को सुवासित कर रही थी, कोई तमाल-वीथिका के अन्धकार के मणियों के प्रदीप सजा रही थी, कोई कुमुदिका पक्षियों के निवारण के लिए दाड़िम फलों को मुक्ताजाल से अवरुद्ध कर रही थी, कोई निपुणिका मणि-पुत्तलियो के वक्षःस्थल पर कुंकुमरस से चित्रकारी कर रही थी, कोई उत्पलिका कदली-गृह की मरकत वेदिकाओं को सोने की सम्मार्जनी (झाड़ू) से साफ कर रही थी, कोई केसरिका बकुल-कुसुम के माला-गृहों को मदिरारस से सींच रही थी और कोई मालतिका कामदेवायतन की हाथीदाँत की बनी वलविका (मण्डप) को सिन्दूर-रेणु से पाटलित कर रही थी। ये सारी बाते ऐसी हैं जिनका अर्थ हम दरिद्र लेखनी-धारियों की समझ मे नही आ सकता। हम आँखें फाड़-फाड़कर देखते ही रह जाते हैं कि मधु-मक्खियो के छत्ते की भी अपेक्षा अधिक व्यस्त दिखनेवाले इस अन्त.पुर के इन व्यापारो का अर्थ क्या है। खैर, आगे कुछ ऐसी बातें भी हैं जो समझ में आ जाती है। वहाँ कोई नलिनिका भवन के कल-हसो को कमल का मधु-रस पान कराने जा रही थी, कोई कदलिका मयूर को धारागृह या फव्वारे के पास ले जा रही थी—शायद वलय-झंकार से नचा लेने के लिए! कोई कमलिनिका चक्रवाक-शावकों को मृणाल-क्षीर पिला रही थी, कोई चूतलतिका कोकिलों को आम्र-मञ्जरी का अंकुर खिलाने मे लगी थी, कोई पल्लविका मरिच (काली मिर्च) के कोमल किसलयो को चुन-चुनकर भवन-हारीतों को खिला रही थी, कोई लवंगिका पिंजड़ों में पिप्पली के मुलायम पत्ते निक्षेप कर रही थी, कोई मधुरिका पुष्पों का आभरण बना रही थी और इस प्रकार सारा अन्त.पुर पक्षियों की सेवा मे .. था। सबसे भीतर वचनमुखरा सारिका (मैना) और विदग्ध शुक (तोता)

जिनके प्रणय-कलह की शिक्षा पूरी हो चुकी थी और कुमार चन्द्रापीड़ के सामने अपनी रसिकता की विद्या का प्रदर्शन करके सारिकाओं ने कादम्बरी के अधरों पर लज्जायुक्त मुसकान की एक हल्की रेखा प्रकट कर दी थी।

विनोद के साथी : पक्षी

संस्कृत साहित्य में पक्षियों की इतनी अधिक चर्चा है कि अन्य किसी साहित्य मे इतनी चर्चा शायद ही हो। जिन दिनो संस्कृत के काव्य-नाटकों का निर्माण अपने पूरे चढ़ाव पर था, उन दिनो केलि-गृह और अन्तःपुर के प्रासाद-प्रांगण से लेकर युद्धक्षेत्र और वानप्रस्थों के आश्रम तक कोई-न-कोई पक्षी भारतीय सहृदय के साथ अवश्य रहा करता था। वह विनोद का साथी या रहस्यालाप का दूत था, भविष्य के शुभाशुभ का द्रष्टा था, वियोग का सहारा था, संयोग का योजक था, युद्ध का सन्देश-वाहक था और जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नही था, जहाँ वह मनुष्य का साथ न देता हो। कभी भवन-वलभी में सोये हुए पारावत के रूप में, कभी मानिनी को हँसा देनेवाले शुक के रूप मे, कभी अज्ञात प्रणयिनी के विरहोच्छ्वास को खोल देनेवाली सारिका के रूप मे, कभी नागरको की गोष्ठी को उत्तेजित कर देनेवाले योद्धा कुक्कुट के रूप में, कभी भवन-दीर्घिका (अन्तःपुर के तालाब) में मृणाल-तन्तुभक्षी कलहंस के रूप मे, कभी अज्ञात प्रिय के सन्देशवाहक राजहंस के रूप मे, कभी चूत-कषाय-कण्ठ मे विरहिणी के दिल में हूक पैदा कर देनेवाले कोकिल के रूप में, कभी नूपुर की झंकार से क्रेंकारध्वनिकारी सारस के रूप मे, कभी कंकण की रुनझुन से नाच पड़नेवाले मयूर के रूप में, कभी चन्द्रिका-पान मे मद-विह्वल होकर मुग्धा के मन मे अपरिचित हलचल पैदा कर देनेवाले चकोर के रूप मे, वह प्रायः इस साहित्य मे पाठक की नजरों से टकरा जाता है। इन पक्षियों को संस्कृत-साहित्य में से निकाल दीजिए, फिर देखिए कि वह कितना निर्जीव हो जाता है। हमारे प्राचीन साहित्य को जिन्होने इतना सजीव कर रखा है, इतना सरस बना रखा है, उनके विषय मे अभी तक हिन्दी मे कोई विशेष उल्लेखयोग्य अध्ययन नही हुआ है, यह हमारी उदासीनता का पक्का प्रमाण है।

महाभारत मे एक पक्षी ने एक मनुष्य से कहा था कि मनुष्य और पक्षियों में सम्बन्ध दो ही तरह के हैं—भक्षण का सम्बन्ध और क्रीड़ा का सम्बन्ध। अर्थात् मनुष्य या तो पक्षियों को खाने के काम मे लाता है या उन्हे फँसाकर उनसे मनो-विनोद किया करता है, और कोई तीसरा सम्बन्ध इन दोनों मे नही है। एक बध

का सम्बन्ध है और दूसरा बन्ध का :

भक्षार्थं क्रीड़नार्थं वा नरा वांच्छन्ति पक्षिणम्।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबंधादृते क्षमः।
(म. भा., शान्तिपर्व, 139-60)

परन्तु समस्त संस्कृत-साहित्य और स्वयं महाभारत इस बात का सबूत है कि एक तीसरा सम्बन्ध भी है। यह प्रेम का सम्बन्ध है। अगर ऐसा न होता तो कमल-पत्र पर विराजमान वलाका (वक-पक्ति), जो मरकत मणि के पात्र मे रखी हुई शंखशुक्ति के समान दीख रहे हैं, अकारण मानव-हृदय में आनन्दोद्रेक न पैदा कर सकती :

उअ णिच्चल-णिप्फंदा भिसिणी-पत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मल-मरगअ-भाअण-परिट्ठिआ संखसुत्तिव्व॥
(हाल सत्तसई, 1-4)

तपोनिरता पर्वत-कन्या जब कड़ाके की सर्दी मे जल-वास करती होती, तो दूर से एक-दूसरे को पुकारनेवाले चक्रवाक-दम्पति के प्रति अहेतुक कृपावती न हो जाती ('कुमारसम्भव', 5-26); धान से लहराते हुए, मृगागनाओं से अध्युषित और क्रौंच पक्षी के मनोहर निनाद से मुखरित सीमान्तकेका के साथ मनुष्य के चित्त को इतना चंचल न कर सकते (ऋतु. 3) और न ऐसी नदियाँ, जिनकी काची क्रौंचों की श्रेणी है, जिनका कलस्वन कलहंसों का निनाद है, जिनकी साड़ी जलधारा है, जिनके कान के आभरण तीर-द्रुम के पुष्प हैं, जिनका श्रोणीमण्डल जल-स्थल का संगम है, जिनके उरस्य उन्नत पुलिन हैं, जिनकी मुसकान हंसश्रेणी है, ऐसी नदियों के तट पर ही देवता रमण कर सकते हैं—यह बात ही मनुष्य के मन में आ पाती :

क्रौंचकांचीकलापाश्च कलहंसकलस्वनाः
नद्यस्तोयांशुका यत्र शफरीकृतमेखलाः॥
फुल्लतीरद्रुमोत्तंसाः संगमश्रोणिमण्डलाः।
पुलिनाभ्युन्नतोरस्याः हंसहासाश्चनिम्नगाः।
वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषद्यानवत्सु च।
('बृहत्संहिता', 56-66)

अन्तःपुर से बाहर निकलने पर राजकुल के प्रथम प्रकोष्ठ में भी बहुतेरे पक्षियों से भेंट हो जाती है। इसमें कुक्कुट (मुर्ग), कुरक, कपिंजल, लावक और वार्तिक नामक पक्षी हैं, जिनकी लड़ाई से नागरकों का मनोविनोद हुआ करता था ('कादम्बरी', पृ. 173)। इसी प्रकोष्ठ में चकोर, कादम्ब (एक हंस), हारीत और कोकिल की भी आवाज सुनायी दे जाती थी, और शुकसारिकाओं की मजेदार बातें भी कर्णगोचर हो जाती थी। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' (पृ. 47) में नागरको को भोजन के बाद शुक-सारिका का आलाप तथा लाव-कुक्कुट और मेषों के युद्ध के

देखने की व्यवस्था की है। भोजन के बाद तो प्रत्येक प्रतिष्ठित नागरिक इन क्रीड़ाओं को अपने मित्रों-सहित देखता ही था।

उद्यान यात्रा

उद्यान-यात्राओं के समय इसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता था। निश्चित दिनों को पूर्वाह्न में ही नागरिकगण सज-धजकर तैयार हो जाते थे। घोड़ों पर चढ़कर जब वे किसी दूरस्थित उद्यान की ओर—जो एक दिन में पहुँचने लायक दूरी पर हुआ करता था—चलते थे, तो उनके साथ पालकियों पर या बहलियों में वारवधूटियाँ चला करती थीं और पीछे परिचारिकाओं का झुण्ड चला करता था। इन उद्यान-यात्राओं में कुक्कुट, लाव और मेष-युद्ध का आयोजन होता था, हिण्डोल-विलास की व्यवस्था रहा करती थी और यदि ग्रीष्म का समय हुआ तो जलक्रीड़ा भी होती थी ('कामसूत्र', पृ. 53)।

कभी-कभी कुमारियाँ और विवाहित महिलाएँ भी उद्यान-यात्राओं में या तो पुरुषों के साथ या स्वतन्त्र रूप से शामिल होती थीं। पर 'कामसूत्र' पर अगर विश्वास किया जाय, तो इन यात्राओं में लड़कियों का जाना सब समय निरापद नहीं होता था—विशेष करके जबकि वे स्वतन्त्र रूप में पिकनिक के लिए निकली हुई हों। असच्चरित्र पुरुष प्रायः बालिकाओं का अपहरण करते थे। इन उद्यान-यात्राओं में जब दो प्रतिद्वन्द्वी नागरिकों के मेष या लाव या कुक्कुट जूझते थे, तब प्रायः बाजी लगायी जाती थी और उस समय दोनों पक्षों में बड़ी उत्तेजना का संचार हो जाया करता था। कभी-कभी छोटी-मोटी लड़ाइयाँ भी जरूर हो जाती रही होंगी। 'कामसूत्र' में मेष, कुक्कुट और लावों के युद्ध को तथा शुक-सारिकाओं के साथ आलाप करने-कराने को 64 कलाओं में गिना गया है (साधारणाधिकरण, तृतीय)।

शुक और सारिका

शुक-सारिकाएँ केवल विलासी नागरको के बहिर्द्वार पर ही नही मिलती थी, बडे-बड़े पण्डितों के घरों की शोभा भी बढाती थी। शकराचार्य को मण्डन मिश्र के घर का मार्ग बताते समय स्थानीय परिचारिका ने कहा था, जहाँ शुक-सारिकाएँ 'स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं' का शास्त्रार्थ कर रही हो, वही मण्डन मिश्र का द्वार है –"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति।" सुप्रसिद्ध कवि बाणभट्ट ने अपने पूर्व-पुरुष कुवेरभट्ट का परिचय देते हुए बड़े गर्व से लिखा है कि उनके घर के शुकों और सारिकाओ ने समस्त वाङ्मय का अभ्यास कर लिया था, और यजुर्वेद और सामवेद का पाठ करते समय पद-पद पर ये पक्षी विद्यार्थियों की गलतियाँ पकड़ा करते थे :

जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः,
ससारिकैः पंजरवर्तिभिः शुकैः
निगृह्यमाणाः वटवः पदे पदे
यजूंषि सामानि च यस्य शंकिताः ॥
('कादम्वरी', 12)

ऋषियों के आश्रम में भी शुक-सारिकाओ का वास था। किसी वृक्ष के नीचे शुक-शावक के मुख से गिरे हुए नीवार (वन्य-धान) को देखकर ही दुष्यन्त को यह समझने में देर नही लगी थी कि यहाँ किसी ऋषि का आश्रम है ('शकुन्तला', 1-14)।

वस्तुतः शुक-सारिका उस युग में अन्तःपुर से लेकर तपोवन तक सर्वत्र सम्मानित होते थे। मनुष्य के सुख-दुःख के साथ उनका सुख-दुःख इस प्रकार गुँथा हुआ था कि एक को दूसरे से अलग नही किया जा सकता। 'अमरुक-शतक' में एक बड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य है; जबकि मानवती गृहदेवी के दुःख से दुःखी होकर प्रिय बाहर नख से जमीन कुरेद रहा है, सखियों ने खाना बन्द कर दिया है, रोते-रोते उनकी आँखें सूज गयी हैं और पिंजड़े के सुग्गे अज्ञात वेदना के कारण हँसना-पढना वन्द किये सारे व्यापार को समझने की चेष्टा कर रहे है :

लिखन्नास्ते भूमिं वहिरवनतः प्राणदयितः
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पंजरशुकैः
तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥
('अमरुक-शतक')

इसी प्रकार 'अमरुक-शतक' में एक अत्यन्त सरस और स्वाभाविक प्रसंग आया है। रात को दम्पती ने जो प्रेमालाप किया उसे नासमझ शुक ज्यों-का-त्यों प्रातःकाल गुरुजनों के सामने ही दुहराने लगा। बिचारी बहू लाजों गड़ गयी। और कोई

देखने की व्यवस्था की है। भोजन के बाद तो प्रत्येक प्रतिष्ठित नागरिक इन क्रीड़ाओं को अपने मित्रों-सहित देखता ही था।

उद्यान यात्रा

उद्यान-यात्राओं के समय इसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता था। निश्चित दिनों को पूर्वाह्न में ही नागरिकगण सज-धजकर तैयार हो जाते थे। घोड़ों पर चढ़कर जब वे किसी दूरस्थित उद्यान की ओर—जो एक दिन में पहुँचने लायक दूरी पर हुआ करता था—चलते थे, तो उनके साथ पालकियों पर या बहलियों में वारवधूटियाँ चला करती थीं और पीछे परिचारिकाओं का झुण्ड चला करता था। इन उद्यान-यात्राओं में कुक्कुट, लाव और मेष-युद्ध का आयोजन होता था, हिण्डोल-विलास की व्यवस्था रहा करती थी और यदि ग्रीष्म का समय हुआ तो जलक्रीड़ा भी होती थी ('कामसूत्र', पृ. 53)।

कभी-कभी कुमारियाँ और विवाहित महिलाएँ भी उद्यान-यात्राओं में या तो पुरुषों के साथ या स्वतन्त्र रूप से शामिल होती थीं। पर 'कामसूत्र' पर अगर विश्वास किया जाय, तो इन यात्राओं में लड़कियों का जाना सब समय निरापद नहीं होता था—विशेष करके जबकि वे स्वतन्त्र रूप में पिकनिक के लिए निकली हुई हों। असच्चरित्र पुरुष प्रायः बालिकाओं का अपहरण करते थे। इन उद्यान-यात्राओं में जब दो प्रतिद्वन्द्वी नागरिकों के मेष या लाव या कुक्कुट जूझते थे, तब प्रायः बाजी लगायी जाती थी और उस समय दोनों पक्षों में बड़ी उत्तेजना का संचार हो जाया करता था। कभी-कभी छोटी-मोटी लड़ाइयाँ भी जरूर हो जाती रही होंगी। 'कामसूत्र' में मेष, कुक्कुट और लावों के युद्ध को तथा शुक-सारिकाओं के साथ आलाप करने-कराने को 64 कलाओं में गिना गया है (साधारणाधिकरण, तृतीय)।

शुक और सारिका

शुक-सारिकाएँ केवल विलासी नागरकों के वहिर्द्वार पर ही नही मिलती थी, बडे-बड़े पण्डितों के घरों की शोभा भी बढाती थी। शंकराचार्य को मण्डन मिश्र के घर का मार्ग बताते समय स्थानीय परिचारिका ने कहा था, जहाँ शुक-सारिकाएँ *'स्वत: प्रमाणं परतः प्रमाणं' का शास्त्रार्थ कर रही हो, वही मण्डन मिश्र का द्वार* है – "स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरागना यत्र गिरो गिरन्ति।" सुप्रसिद्ध कवि वाणभट्ट ने अपने पूर्व-पुरुष कुवेरभट्ट का परिचय देते हुए बडे गर्व से लिखा है कि उनके घर के शुकों और सारिकाओं ने समस्त वाङ्मय का अभ्यास कर लिया था, और यजुर्वेद और सामवेद का पाठ करते समय पद-पद पर ये पक्षी विद्यार्थियो की गलतियाँ पकड़ा करते थे :

जगुगृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः,
ससारिकै. पंजरवर्तिभि शुकैः
निगृह्यमाणा. वटवः पदे पदे
यजूंपि सामानि च यस्य शकिताः ॥
('कादम्वरी', 12)

ऋपियों के आश्रम में भी शुक-सारिकाओ का वास था। किसी वृक्ष के नीचे शुक-शावक के मुख से गिरे हुए नीवार (वन्य-धान) को देखकर ही दुष्यन्त को यह समझने में देर नही लगी थी कि यहाँ किसी ऋपि का आश्रम है ('शकुन्तला', 1-14)।

वस्तुतः शुक-सारिका उस युग में अन्त.पुर से लेकर तपोवन तक सर्वत्र सम्मानित होते थे। मनुष्य के सुख-दुःख के साथ उनका सुख-दु.ख इस प्रकार गुँथा हुआ था कि एक को दूसरे से अलग नही किया जा सकता। 'अमरुक-शतक' मे एक वड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य है; जवकि मानवती गृहदेवी के दु.ख से दुःखी होकर प्रिय वाहर नख से जमीन कुरेद रहा है, सखियो ने खाना बन्द कर दिया है, रोते-रोते उनकी आँखें सूज गयी हैं और पिंजड़े के सुग्गे अज्ञात वेदना के कारण हँसना-पढना वन्द किये सारे व्यापार को समझने की चेष्टा कर रहे है :

लिखन्नास्ते भूमिं वहिरवनतः प्राणदयितः
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयना.।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पंजरशुकैः
तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥
('अमरुक-शतक')

इसी प्रकार 'अमरुक-शतक' मे एक अत्यन्त सरस और स्वाभाविक प्रसंग आया है। रात को दम्पती ने जो प्रेमालाप किया उसे नासमझ शुक ज्यों-का-त्यों प्रातःकाल गुरुजनों के सामने ही दुहराने लगा। विचारी वहू लाजो गड़ गयी। और कोई

उपाय न देखकर उसने अपने कर्णफूल मे लगे लाल पद्मराग मणि को ही शुक के सामने रख दिया और वह उसे पका दाड़िम समझकर उसी में उलझ गया। इस प्रकार किसी भाँति उस दिन की लाज बच पायी और वाचाल सुग्गे का वाग्रोध किया जा सका :

दम्पत्योर्निशि जल्पतोगृहशुकेनार्कार्णितं मद्वचः
तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतः श्रुत्वैव तारे वधूः ।
कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्च्वोः पुरं
क्रीडार्ता प्रकरोति दाड़िमफलव्याजेन वाग्रोधनम् ॥

शुभाशुभ जानने के लिए उन दिनों कई पक्षियों की गति-विधि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। वस्तुतः शकुन (हिन्दी 'सगुन') शब्द का अर्थ ही पक्षी है। इन शकुन-निर्देशक पक्षियो के कारण संस्कृत-साहित्य में एक अत्यन्त सुकुमार भाव का प्रवेश हुआ है और साहित्य इससे समृद्ध हो गया है। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' मे निम्नांकित पक्षियों को शकुन-सूचक पक्षी कहा गया है—श्यामा, श्येन, शशघ्न, वंजुल, मयूर, श्रीकर्ण, चक्रवाक, चाप, भाण्डीरक, खंजन, शुक, काक, तीन प्रकार के कपोत, भारद्वाज, कुलाल, कुक्कुट, खर, हारीत, गृध्र, पूर्ण-कूट और चटक (बृ. सं. 88।1)

संस्कृत-साहित्य से इन पक्षियों के शकुन के कारण बड़ी-बड़ी घटनाओं के हो जाने का परिचय मिलता है। कभी-कभी शकुन-मात्र से भावी राज्यक्रान्ति का अनुमान किया गया है और उस पर से सारे प्लाट का आयोजन हुआ है। शकुन-सूचक पक्षियों के कारण सूक्तियाँ भी खूब कही गयी है।

शकुन-सूक्ति

ऋतु-विशेष के अवसर पर पक्षी-विशेष का प्रादुर्भाव और उसका हृदय ढालकर किया हुआ वर्णन संस्कृत साहित्य की बेजोड़ सम्पत्ति है। भारतवर्ष मे एक ही समय नाना प्रदेशों में ऋतु का विभेद रहता है। फिर गर्मी और सर्दी के घटते-बढते रहने मे एक ही वर्ष मे कई बार ऋतु-परिवर्तन होता है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं मे नये-नये पक्षी इस देश में छा जाया करते हैं। संस्कृत के कवियों ने इन अतिथियो का ऐसा मनोहर स्वागत किया है कि पाठक उन्हे कभी भूल नहीं सकता। वलाका को उत्सुक कर देनेवाली, मयूर को मदविह्वल बना देनेवाली, चातक को चचल कर देनेवाली और चकोर को हर्ष-वर्ष से सेचन करनेवाली वर्षा गयी नहीं कि

खंजरीट, कादम्ब, कारण्डव, चक्रवाक, सारस तथा क्रौंच की सेना लिये हुए शरद आ गयी :

> सखंजरीटाः सपयःप्रसादा सा कस्य नो मानसमाच्छिनत्ति ।
> कादम्बकारण्डवचक्रवाकससारसक्रौंचकुलानुपेता ।
>
> ('काव्यमीमासा', पृ. 101)

फिर वसन्त तो है ही—शुक-सारिकाओ के साथ हारीत, दात्यूह (महुअक) और भ्रमर श्रेणी के मद को वर्धन करनेवाला और पुस्कोकिल के मधुर कूजन से चित्त चंचल कर देने वाला !

> चैत्रे मर्दाद्धः शुकसारिकाणां हारीतदात्यूहमदुव्रतानाम् ।
> पंस्कोकिलाना सहकारबन्धुः मदस्य कालः पुनरेप एव ।।
>
> ('काव्यमीमांसा,' पृ. 105)

ऋतुओ के प्रसंग में कवियों ने बहुत अधिक पक्षियो का बड़ी सहृदयता के साथ वर्णन किया है।

इन पक्षियो मे से कुछ ऐसे थे जो प्रेम-सन्देश के वाहक माने जाते थे। हंस मे यह काम प्रायः लिया गया है, पर हंस वास्तव मे रोमास को औत्सुक्य-मण्डित करनेवाले कल्पित मूल्यों का पक्षी है। पारावत या कबूतर इस कार्य को सचमुच ही करते थे। आज भी इन पक्षियों को इस कार्य के लिए नियुक्त किया जाता है। विज्ञान ने इनको और भी उपयोगी बना दिया है, पर पत्र ले जाने का काम ये अवश्य करते थे।

सुकुमार कलाओं का आश्रय

जैसा कि ऊपर बताया गया है, ये अन्त.पुर सब प्रकार की सुकुमार कलाओं के आश्रय रहे हैं। यह तो कहना ही व्यर्थ है कि साधारण नागरकों के अन्त.पुर उतने समृद्ध नही होते होंगे, पर सम्भ्रान्त व्यक्तियों के अन्त.पुर निश्चय ही सुकुमार कलाओं के आश्रयदाता थे।

'मृच्छकटिक' नाटक मे एक छोटा-सा वाक्य आता है जो काफी अर्थपूर्ण है। इस नाटक के नायक चारुदत्त का एक पुराना संवाहक या भृत्य था, जिसने संवाहन कला अर्थात् शरीर दबाने और सजाने की विद्या सीखी थी। उसने दरिद्रतावश नौकरी कर ली थी। यही संवाहक अपने मालिक चारुदत्त की दरिद्रता के कारण नौकरी छोड़कर जुआ खेलने का अभ्यासी हो गया। एक बार चारुदत्त की प्रेमिका

गणिका वसन्तसेना ने उसकी विद्या की प्रशंसा करते हुए कहा कि 'भद्र, तुमने बहुत सुकुमार कला सीखी है', तो उसने प्रतिवाद करके कहा, 'नही आर्ये, कला समझकर सीखी जरूर थी, पर अब तो वह जीविका हो गयी है।' इस कथन का अर्थ यह हुआ कि जीविका-उपार्जन के काम मे लगायी हुई विद्या कला के सुवर्ण-सिंहासन से विच्युत मान ली जाती थी। यही कारण था कि धनहीन नागरिकगण सर्वकला-पारंगत होने पर नागरक के ऊँचे आसन से उतरकर विट होने को बाध्य होते थे। सवाहक का कार्य भी एक कला है जो अन्त.पुर में ही प्रकट होती थी। अन्त.पुरिकाओं के वेश-विन्यास मे इस कला का पूर्ण उपयोग होता था। सम्भ्रान्त परिवारों मे अनेक संवाहिकाएँ होती थी जो गृहस्वामिनी का चरण-संवाहन भी करती थी और नाना आभरणो से उस छविगृह को दीपशिखा से जगमग करने का कार्य भी करती थी। नागरको को भी सवाहन आदि कर्म सीखने पड़ते थे। वियोगिनी प्रियतमा से हठात् मिलन होने पर शीतल क्लम-विनोदन व्यंजन की, पंखे की मीठी-मीठी हवा जिस प्रकार आवश्यक होती थी, उसी प्रकार कभी-कभी यह भी आवश्यक हो जाता था कि प्रिया के लाल-लाल कमल-जैसे कोमल चरणों को गोद में रखकर इस प्रकार दबाया जाय कि उसे अधिक दवाव का क्लेश भी न हो और विरह-विधुर मज्जातन्तुओं को प्रिय के करतलस्पर्श का अमृतरस भी प्राप्त हो जाय! इसीलिए नागरक को ये कलाएँ जाननी पडती थी। राजा दुष्यन्त ने वियोगिनी शकुन्तला से दोनों ही प्रकार की सेवा की अनुज्ञा माँगी थी :

> किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातैः
> सचारयामि नलिनीदलपतालवृन्तम् ।
> अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ
> सवाहयामि करभोरु यथासुखं ते ॥
>
> —'शकुन्तला', तृतीय अंक

बाहरी प्रकोष्ठ

नागरक के विशाल प्रासाद का बहिःप्रकोष्ठ जिसमे नागरक स्वयं रहा करता था, बहुत ही शानदार होता था। उसमें एक शय्या पड़ी रहती थी जिसके दोनों सिरो पर दो तकिया या उपाधान होते थे और ऊपर सफेद चादर या प्रच्छदपट पड़े होते थे। यह बहुत ही नर्म और बीच में झुका हुआ होता था। इसके पास ही कभी-कभी एक दूसरी शय्या (प्रतिशय्यिका) भी पड़ी होती थी, जो उससे कुछ नीची

होती थी। शय्या बनाने मे बड़ी सावधानी बरती जाती थी। साधारणत असन, स्यन्दन, हरिद्र, देवदारु, चन्दन, शाल आदि वृक्षो के काष्ठ से शय्याएँ बनती थी, पर इस बात का सदा खयाल रखा जाता था कि चुना हुआ काष्ठ ऐसे किसी वृक्ष से न लिया गया हो जो वज्रपात से गिर गया था या बाढ के धक्के से उखड़ गया था, या हाथी के प्रकोप से धूलिलुण्ठित हो गया था, या ऐसी अवस्था मे काटा गया था जबकि वह फल-फूल से लदा या पक्षिओ के कलरव से मुखरित था, या चैत्य या श्मशान से लाया गया था या सूखी लता से लिपटा हुआ था (बृ. सं., 71-3)। ऐसे अमगलजनक और अशुभ वृक्षो को पुराना भारतीय रईस अपने घर के सबसे अधिक सुकुमार स्थान पर नही ले जा सकता था। वराहमिहिर ने ठीक ही कहा है कि राज्य का सुख गृह है, गृह का सुख कलत्र है और कलत्र का सुख कोमल और मगलजनक शय्या है। सो शय्या गृहस्थ का मर्मस्थान है। चन्दन का खाट सर्वोत्तम माना जाता था; तिन्दुक, शिंशपा, देवदारु, असन के काष्ठ अन्य वृक्षो के काष्ठ से नही मिलाये जाते थे। शाक और शालक का मिश्रण शुभ हो सकता था, हरिद्रक और पद्मकाष्ठ अकेले भी और मिलकर भी शुभ ही माने जाते थे। चार से अधिक काष्ठों का मिश्रण किसी प्रकार पसन्द नही किया जाता था। शय्या मे गजदन्त का लगाना शुभ माना जाता था। पर शय्या के लिए गजदन्त का पत्तर काटना बड़ा भावाजोखी का व्यापार माना जाता था। उस दन्तपत्र के काटते समय भिन्न-भिन्न चिह्नो से भावी मंगल या अमंगल का अनुमान किया जाता था। खाट के पायों मे गाँठ या छेद बहुत अशुभ समझे जाते थे। इस प्रकार नागरक के खाट की रचना एक कठिन समस्या हुआ करती थी (बृ. सं, 76 अ)। यह तो स्पष्ट है कि आज के रईस की भाँति आर्डर देकर कोच और सोफे की व्यवस्था को हमारा पुराना रईस एकदम पसन्द नही करता होगा। 'बृहत्संहिता' मे यह भी पता चलता है कि खाट सब श्रेणी के आदमियों के लिए बराबर एक-जैसे ही नही बनते थे। भिन्न-भिन्न पद-मर्यादा के व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न माप की शय्याएँ बनती थी। शय्या के सिरहाने कूर्च-थान पर नागरक के इष्ट देवता की कलापूर्ण मूर्ति रहती थी और उसके पास ही वेदिका पर माल्य-चन्दन और उपलेपन रखे होते थे। इसी वेदिका पर सुगन्धित मोम की पिटारी (सिक्थ-करण्डक) और इत्रदान (सौगन्धिक-पुटिका) रखा रहता था। मातुलुग के छाल और पान के बीड़ों के रखने की जगह भी यही थी। नीचे फर्श पर पीकदान या पतद्ग्रह रखा होता था। ऊपर हाथीदाँत की खूँटियो पर कपड़े के थैले मे लिपटी हुई वीणा रहती थी, चित्रफलक हुआ करता था, तूलिका और रंग के डिब्बे रखे होते थे, पुस्तकें सजी होती थी और बहुत देर तक ताजी रहनेवाली कुरण्टकमाला भी लटकती रहती थी। दूर एक आस्तरण (दरी) पड़ा रहता था जिस पर द्यूत और शतरंज खेलने की गोटियाँ रखी होती थी। उस कमरे के बाहर क्रीडा के पक्षियों अर्थात् शुक, सारिका, लाव, तित्तिर, कुक्कुट आदि के पिंजड़े हुआ करते थे। शार्विलक नामक चोर जब चारुदत्त के घर में घुसा था तो उसने आश्चर्य के साथ देखा था कि उस रसिक नागरक के

घर में कहीं मृदंग, कहीं दर्दुर, कहीं पणव, कहीं वंशी और कहीं पुस्तकें पड़ी हुई थीं। एक बार तो वह यह भी सोचने लगा था कि यह किसी नाट्याचार्य का घर तो नहीं है, क्योंकि ये वस्तुएँ एक ही साथ केवल दो स्थानों पर सम्भव थीं—धनी नागरक के बैठक-गृह में या फिर उस नाट्याचार्य के गृह में जिसने कला को आजीविका बना ली हो। चोर ने घर की दशा से सहज ही यह अनुमान कर लिया था कि धनी आदमी का घर तो यह होने से रहा, नाट्याचार्य का हो तो हो भी सकता है।

वीणा

वीणा और चित्रफलक, ये दो वस्तुएँ उन दिनों के सहृदय के लिए नितान्त आवश्यक वस्तु थीं। चारुदत्त ने ठीक ही कहा था कि वीणा जो है सो असमुद्रोत्पन्न रत्न है, वह उत्कण्ठित की संगिनी है, उकताये हुए का विनोद है, विरही का ढाढ़स है और प्रेमी का रागवर्धक प्रमोद है :

> उत्कंठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
> संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
> संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
> रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः॥
>
> —'मृच्छकटिक', 3-4

उन दिनों का सहृदय नागरक अपनी प्राणप्रिया के समान ही यदि किसी दूसरी वस्तु को अपनी अंक-लक्ष्मी बना सकता था तो वह उसकी वीणा ही थी। कालिदास ने विलासी अग्निवेश के वर्णन के प्रसंग में कहा है कि दो वस्तुएँ बारी-बारी से उसकी गोद को अशून्य बनाये रहती थीं—हृदयंगम ध्वनिवाली वीणा या मधुर-वचन बोलनेवाली प्रिया :

> अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्यनिन्यतुरशून्यतामुभे।
> वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥
>
> —रघु., 19।13

अजन्ता के भित्ति-चित्रों में इस प्रकार की अंक-लक्ष्मी वीणा और प्रिया का एक मनोहर चित्र है।

पुरानी कहानियों में वीणा सम्बन्धी रोमांसों और अद्भुत रसवाली कथाओं की प्रचुरता है। उदयन की कुंजर-मोहिनी वीणा तो प्रसिद्ध ही है, वासवदत्ता को

उदयन ने ही वीणा-वादन की विद्या सिखायी थी। बौद्ध जातक-कथाओं में मूसिल नामक वीणावादक और उसके गुरु गुत्तिलकुमार नामक गन्धर्व की वीणा-प्रतियोगिता की बड़ी सुन्दर कथा आती है। शिष्य ने राजा से कहकर गुरु को ही हराने का संकल्प किया था, पर इन्द्र की कृपा से गुत्तिल ने ऐसी वीणा बजायी कि मूसिल को हारना पड़ा। गुत्तिल की वीणा मे सात तार थे। वह एक-एक तार तोड़ता गया और बचे तारो से ही मनोमोहक ध्वनि निकालने लगा। तार तोड़ते-तोड़ते वह अन्तिम तार भी तोड़ गया और अन्त मे केवल काष्ठदण्ड को ही बजाता रहा। उसमे उसने कमाल किया। उस्ताद की सधी अगुलियो ने काष्ठ में ही झंकार पैदा कर दिया। फिर स्वर्गलोक से अप्सराएँ उतरकर नाचने लगी। इस, और ऐसी ही अन्य कथाओं से इस यन्त्र की मधुर विद्या की महिमा और लोक-प्रियता प्रकट होती है। सचमुच ही वीणा 'असमुद्रोत्पन्न रत्न' है।

प्राचीन काव्य-साहित्य मे इसकी इतनी चर्चा है कि सबका सग्रह कर सकना बड़ा कठिन कार्य है। सरस्वती-भवन से लेकर कामदेवायतन तक और सुहाग-शयन से शिवमन्दिर तक सर्वत्र इसकी पहुँच है। पुराने बौद्ध साहित्य से इस बात का भी सबूत मिल जाता है कि इस यन्त्र के साथ गायी जानेवाली अत्यन्त लौकिक शृगाररस की गाथाओ ने बुद्धदेव-जैसे वीतराग महात्मा के मन को भी पिघला दिया था। पंचशिव नामक गन्धर्व ने, जो तुबुरु-कन्या सूर्यवर्चसा का प्रेमी था परन्तु प्रेमिका के अन्यत्र रम जाने से प्रेम-व्यापार मे असफल बन गया था, जब भगवान् बुद्ध की समाधि भंग करने के लिए अपनी वीणा पर अपनी करुण वेदना गायी तो भगवान् का चित्त सचमुच ही द्रवित हो गया, उन्होने दाद देते हुए कहा था, 'पंचशिव, तुम्हारे बाजे का स्वर तुम्हारे गीत के स्वर से बिल्कुल मिला था और तुम्हारे गीत का स्वर बाजे के स्वर से मिला था; न वह इधर ज्यादा झुका था, न यह उधर!' पंचशिव ने भगवान् की इस स्तुति को सुनकर निश्छल भाव से अपनी व्यथा की कहानी सुना दी थी ('दीर्घनिकाय')! तो इस प्रकार इतिहास साक्षी है कि वीणा ने वैरागी के चित्त को द्रवित किया था!

'कामसूत्र' से जान पड़ता है कि उन दिनों गन्धर्वशाला मे प्रत्येक नागरक के लड़के को जो बात सीखनी जरूरी थी उनमे सर्वप्रधान हैं गीत, नाट्य, नृत्य और आलेख्य। वाद्य में वीणा, डमरू और वंशी का उल्लेख है। डमरू भारतवर्ष का पुरातन वाद्य है, उसी का विकास मृदंगरूप मे हुआ है। कहते हैं कि मृदंग संसार का सर्वोत्तम वैज्ञानिक वाद्य है।

अन्तःपुर का शयन-कक्ष

ऊपर नागरक के वहि.प्रकोष्ठ का जो वर्णन दिया गया है, वह वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के आधार पर है। यह वर्णन वास्तविक है, पर उक्त आचार्य ने अन्तःपुर के भीतर के शयनकक्ष का ऐसा ब्यौरेवार वर्णन नही दिया है। इसीलिए उसकी जानकारी के लिए हमे कल्पना-प्रधान काव्यो और आख्यायिकाओ का सहारा लेना पड़ेगा। सौभाग्यवश काव्य की अतिशयोक्तियों और अलंकारिकताओं को छाँटकर निकाल देने से जो चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है, उसका समर्थन कई और मूलो से हो जाता है। प्राचीन प्रासादों का जो उद्धार हुआ है उनसे यह चित्र मिल जाता है और उपयोगी कला सिखाने के उद्देश्य से जो पुस्तकें लिखी गयी हैं उनसे भी उसका समर्थन प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार नि.संकोच रूप से कहा जा सकता है कि काव्यो के वर्णन तथ्य पर ही आश्रित है।

अन्त.पुर के शयनकक्ष मे जो शय्या पड़ी रहती थी, उसके पास कोई और प्रतिशय्यिका या अपेक्षाकृत नीची शय्या रहती थी या नही, इसका कोई उल्लेख हमे काव्यों में नही मिला है। कादम्बरी का पलँग बहुत बडा नही था, वह एक नीली चादर और धवल उपाधान (सफेद तकिया) से समाच्छादित था। कादम्बरी उस शय्या पर वाम बाहुलता को ईषद् वक्र भाव से तकिया पर रख अधलेटी अवस्था मे परिचारिकाओ को भिन्न-भिन्न कार्य करने का आदेश दे रही थी। यह तो नही बताया गया है कि किसी इष्ट देवता की मूर्त्ति वहाँ थी या नही, पर वेदिका पर ताम्बूल और सुगन्धित उपलेपन अवश्य थे। दीवालो पर इतने तरह के चित्र बने थे कि चन्द्रापीड़ को भ्रम हुआ था कि सारी दुनिया ही कादम्बरी की शोभा देखने के लिए चित्ररूप मे सिमट आयी थी। दीवालों के ऊपरी भाग पर कल्प-वल्ली के चित्र का भी अनुमान होता है, क्योकि सैकड़ों कन्याओ ने उस कल्पवल्ली के समान ही कादम्बरी को घेर लिया था। छत में अधोमुख विद्याधरो के मनोहर चित्र अंकित थे। नील चादर के ऊपर श्वेत तकिये का सहारा लेकर अर्द्धशायित कादम्बरी महावराह के श्वेत दन्त का आश्रय ग्रहण की हुई धरित्री की भाँति मोहनीय दीख रही थी। काव्य-ग्रन्थों के पढने से स्पष्ट हो जाता है कि केवल नीली ही नही, नाना रंगों की और बिना रंग की भी चादरें शय्या के आस्तरण के लिए व्यवहृत होती थी। ताम्बूल और अलक्तक से रँगी चादरें सखियो के परिहास का मसाला जुटाया करती थी।

कल्पवल्ली

भरहुत में (द्वितीय शताब्दी ईसवीपूर्व) नाना भाँति की कल्पवल्लियों का सन्धान पाया गया है। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि दीवालो और छतों की धरनों पर अंकित कल्पवल्लियाँ कैसी बनती होंगी। इन वल्लियो मे नाना प्रकार के आभूषण, वस्त्र, पुष्प, फल, मुक्ता, रत्न आदि लटके हुए चित्रित हैं। उन दिनों के काव्य-नाटकों के समान ही शिल्प मे भी कल्पवल्लियो की प्रचुरता है।

भरहुत की कई कल्पवल्लियाँ इतनी अभिराम हैं कि किसी-किसी ने यह अनुमान लगाया है कि किसी बड़े कल्पकवि की मनोरम कल्पना को देखकर ही ये चित्र बने हैं। वह कल्पकवि कालिदास ही माने गये हैं। यह बात तो विवादास्पद है, परन्तु कण्ठी, हार, कनकमाला और कर्णविष्टकवाली कल्पलताओं को और कुरवक के पत्र-पुष्पों और क्षौमवस्त्रोंवाली कल्पलताओं को देखकर बरबस कालिदास की कविता याद आ जाती है। शकुन्तला के लिए कण्व को वनदेवताओ ने जो उपहार दिये थे, उनका वर्णन करते हुए महाकवि ने कहा है कि किसी वृक्ष ने शुभ मागलिक वस्त्र दे दिया, किसी ने पैर में लगाने की महावर दे दी और वनदेवियों ने तो अपने कोमल हाथों से ही अनेक आभरण दिये—कोमल हाथ, जो वृक्षों के किसलयों से प्रतिद्वन्द्विता कर रहे थे :

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारस. केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै—
र्दत्तान्याभरणानि तत् किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥

—'शकुन्तला', 4 5

भरहुत की एक कल्पवल्ली में सचमुच ही एक वनदेवी का किसलयप्रतिद्वन्द्वी हाथ निकल आया है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों यह भावना बहुत व्यापक थी। बोधगया से भी इसी समय का अन्नपानदानशील हाथोंवाला एक कल्पवृक्ष मिला है जो *'मेघदूत' के इस श्लोक की याद दिलाता है :*

वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणाना विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकःसूते सकल ललनामण्डनं कल्पवृक्षः।

—मेघ., 2.12

बाघ की गुफाओ में, मुंडेरों पर सुन्दर कल्पवल्लियाँ पायी गयी है जिनकी शोभा अनुपम बतायी जाती है।

उन दिनों इन वल्लियों का अभ्यन्तरगृह मे होना मागल्य समझा जाता था। विद्याधरो के तो अनेक चित्र नाना स्थानों से उद्धार किये गये हैं। '.ििनल,' त

चिन्तामणि' आदि ग्रन्थों में इस भाँति की चित्रकारी का विशद वर्णन दिया हुआ है।

भित्ति-चित्र

समृद्ध लोगों के घर की दीवालें स्फटिक मणि के समान स्वच्छ और दर्पण के समान चिकनी हुआ करती थीं। इनके ऊपर 'सूक्ष्म-रेखा-विशारद' कलाकार, जो 'विद्युत्-निर्माण' में कुशल हुआ करते थे, पत्र-लेखन में कोविद होते थे, वर्ण-पूरण या रंग भरने की कला के उस्ताद हुआ करते थे (3-134), नाना रस के चित्र अंकित करते थे। दीवाल को पहले समान करके चूने से बनाया जाता था और फिर उस पर एक लेप-द्रव्य लगाते थे जो भैंस के चमड़े को पानी में घोटकर बनाया जाता था। इससे एक प्रकार का ऐसा वज्रलेप बनाया जाता था जो गर्म करने पर पिघल जाता था और दीवाल में लगाकर हवा में छोड़ देने से सूख जाता था (3-146)। वज्रलेप में सफेद मिट्टी मिलाकर या शंख-चूर्ण और सिता (मिश्री) डालकर भित्ति को चिकनी करते थे (3-146) या फिर नीलगिरि में उत्पन्न नग नामक सफेद पदार्थ को पीसकर उसमें मिलाते थे। रंग की स्थायिता के लिए भी नाना प्रकार के द्रव्यों के प्रयोग की बात पुराने ग्रन्थों में लिखी हुई है। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' के अनुसार तीन प्रकार के ईंट के चूर्ण, साधारण मिट्टी, गुग्गुलु, मोम, महुए का रस, सुमक, गुड़, कुसुम तेल और चूने को घोंटकर उसमें दो भाग कच्चे वेल का चूर्ण मिलाते थे। फिर अन्दाज से उपयुक्त मात्रा में बालुका देकर भीत पर एक महीने तक धीरे-धीरे पोतते थे। इस प्रकार की और भी बहुतेरी विधियाँ दी हुई हैं जो सब समय ठीक-ठीक समझ में नहीं आती। भीत ठीक हो जाने पर उस पर चित्र बनाये जाते थे।

बाघ की गुहाओं के प्रसिद्ध भित्ति-चित्रों से इस कौशल का कुछ अन्दाजा लग सकता है। चित्र बनाने के आधार यहाँ पत्थर हैं। पहले दीवारों को छेनी से खुरखुरा बनाया गया है, फिर उन पर चूने और गारे का महीन पलस्तर चढ़ाया गया है। इसकी बारीकी का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि ऊपर की खिंची आकृतियाँ प्राय: उसी प्रकार नीचे भी उतर आयी हैं और जहाँ से पलस्तर हट गया है वहाँ भी आकृतियाँ स्पष्ट समझ मे आ जाती है। इन चित्रों मे रंग की ऐसी बहार है कि हजारों वर्ष बाद भी दर्शक देखकर अवाक् हो जाता है। अजन्ता के समान ही बाघ की गुहाओं के भित्ति-चित्रों ने कला-पारखियों को

आकृष्ट किया है।

चित्रों में कई प्रकार के रंग काम में लाये जाते थे। घने बाँस की नालिका के आगे ताम्र का सूच्यग्र शंकु लगाते थे जो जौ-भर भीतर और इतना ही बाहर रहता था। इसे तिन्दुक कहते थे। तूलिका मे बछड़े के कान के पास के रोएँ लगाये जाते थे और *चित्रणीय रेखाओं के लिए मोम और भात मे काजल रगड़कर* काला रंग बनाते थे। वंशन ली के आगे लगे हुए ताम्रशकु से महीन रेखा खीचने का कार्य किया जाता था। चित्र केवल रेखाओं के भी होते थे और रेखाओं मे रंग भरकर भी बनाये जाते थे। 'लाइट और शेड' की भी प्रथा थी। 'अभिलषितार्थ' मे कहा गया है कि जो स्थान निम्नतर हो वहाँ एकरंगे चित्र मे श्यामलवर्ण होना चाहिए और जो स्थान उन्नत हो वह उज्ज्वल या फीके रंग का। रंगीन चित्रो मे नाना प्रकार के रंगों का विन्यास करते थे। श्वेत रंग शंख को चूर्ण करके *बनाया जाता था, शोण दरद से, रक्त (लाल) अलक्तक से, लोहित गेरु से,* पीत हरिताल से और काला रंग काजल से बनता था। इनके मिश्रण से कमल सौराभ (?), घोरात्व (?), धूमच्छाय, कपोताश्व, अतसी-पुष्पाभ, नीलकमल के समान, हरित, गौर, श्याम, पाटल, कर्वुर आदि अनेक मिश्र रंग बनते थे।

'नाट्यशास्त्र' (23-73-77) मे नेपथ्य-रचना के सिलसिले मे बताया गया है कि रंगों के मिश्रण से कौन-कौन से रंग बनते थे। श्वेत और नील के मिश्रण से 'पाण्डु', सित और रक्तवर्ण के योग से 'पद्म' वर्ण बनता है, पीत और नील के मिश्रण से 'हरित' वर्ण बनता है, नील और रक्तवर्णो के योग से 'कपाय' रंग बनता है, रक्त और पीत वर्णो के योग से 'गौर' वर्ण बनता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्णो के योग से नये-नये रंग बनते है। शास्त्रकार का मत है कि सब वर्णों में बलवान वर्ण नील ही है।

चित्र-कर्म

अन्त पुरिकाओं के मनोविनोद के अनेक साधन थे, जिनमे चित्र-कर्म का (63-66) प्रमुख स्थान था। 'विष्णु धर्मोत्तरपुराण' के चित्र-सूत्र मे कहा गया है (3-45-38) कि समस्त कलाओ मे चित्रकला श्रेष्ठ है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, चारों पदार्थों को देनेवाली है। जिस गृह मे इस कला का वास रहता है, वह परम मांगल्य होता है। हमने पहले ही देखा है कि उन दिनों प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति के कमरे मे चित्रफलक और समुद्गक रंगों की डिबिया का रहना आवश्यक

माना जाता था। अन्तःपुरिकाएँ अवसर मिलने पर इस विद्या के द्वारा अपना मनोविनोद करती थीं। चित्र नाना आधारों पर बनाये जाते थे—काठ या हाथी-दाँत के चित्र-फलक पर, चिकने शिलापट्ट पर, कपड़े पर और भीत पर। भीत पर के चित्रों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। 'पंचदशी' नामक वेदान्त ग्रन्थ से जान पड़ता है कि कपड़े पर बनाये जानेवाले चित्र चार अवस्थाओं से गुजरते थे: धौत, मण्डित, लांछित और रंजित। कपड़े का धोया हुआ रूप धौत है, उस पर चावल आदि के मांड से घोटाई मण्डित है, फिर काजल आदि की सहायता से रेखाकन लांछित है और उसमे रङ्ग भरना रञ्जित अवस्था है (6-1-3)। शिष्ट परिवार मे अन्त.पुर की देवियों में चित्र-विद्या का कैसा प्रचार था, इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि 'कामसूत्र' मे जो उपहार लड़कियों के लिए अत्यन्त आकर्षक हो सकते है, उनकी सूची में एक पटोलिका का स्थान प्रधान रूप से है। इस पटोलिका में अलक्तक, मन.शिला, हरिताल, हिंगुल और श्यामवर्णक (राजावर्त का चूर्ण ?) रहा करते थे। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इन पदार्थों से शुद्ध और मिश्र रंग बनाये जाते थे। संस्कृत नाटकों मे शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें प्रेमी या प्रेमिका ने अपनी विरह-वेदना प्रिय का चित्र बनाकर न हल्की की हो। कालिदास के ग्रन्थों से जान पड़ता है कि विवाह के समय देवताओं के चित्र बनाकर पूजे जाते थे, वधुओं के दुकूल-पट्ट के आँचल में हंसों के जोड़े आँक दिये जाते थे, और चित्र देखकर वर-वधू के विवाह-सम्बन्ध ठीक किये जाते थे।

चार प्रकार के चित्रों का उल्लेख पुराने ग्रन्थों मे आता है। विद्ध अर्थात् जो वास्तविक वस्तु से इस प्रकार मिलता हो जैसे दर्पण में की छाया; अविद्ध या काल्पनिक (अर्थात् चित्रकार के भावोल्लास की उमंग में बनाये हुए चित्र); रस-चित्र और धूलि-चित्र। सभी चित्रों मे विद्धता की प्रशंसा होती थी। 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' उस उस्ताद को ही चित्रविद् कहने को राजी है जो सोये आदमी मे चेतना दिखा सके, मरे मे उसका अभाव चित्रित कर सके, निम्नोन्नत विभाग को ठीक-ठीक अंकित कर सके, तरंग की चञ्चलता, अग्निशिखा की कम्पगति, धूम का तरंगित होना और पताका का लहराना दिखा सके। वस्तुतः उन दिनों चित्र-विद्या अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच चुकी थी।

चित्रगत चमत्कार

पुरानी पुस्तकों में चित्रगत चमत्कार की अनेक अनुश्रुतियाँ पायी जाती हैं। कहते हैं कि कश्मीर के अनन्त वर्मा के प्रासाद पर जो आम के फल अंकित थे, उनमें कौए

ठोकर मार जाया करते थे। उन्हे उनके वास्तविक होने का भ्रम होता था। 'शकुन्तला' नाटक मे राजा दुष्यन्त अपने ही बनाये हुए चित्र की विद्धता से स्वयमेव मुह्यमान हो गये थे। यद्यपि नाटककार का अभिप्राय राजा के प्रेम का आतिशय्य दिखाना ही है, परन्तु कई बातें उसमे है जो चित्रसम्बन्धी उस युग के आदर्श को व्यक्त करती है। इस आदर्श का मूल्य इसलिए और भी बढ़ गया है कि वह कालिदास-जैसे श्रेष्ठ कवि की लेखनी से निकला है। भारतवर्ष का जो कुछ सुन्दर है, भव्य है, सुरुचिपूर्ण और कोमल है, उसके श्रेष्ठ प्रतिनिधि कालिदास है। सो, शकुन्तला के भाव-मनोरम चित्र को बनाने के बाद राजा दुष्यन्त को लगा कि शकुन्तला अधूरी ही है। थोड़ा सोचकर राजा ने अपनी गलती महसूस की। जिस शकुन्तला को हम हिमालय के उस पवित्र आश्रम में नही देखते जिसमे मृग-गण बैठे हुए है, स्रोतोवहा मालिनी सिक्त कर रही है, उसके सैकत (बालू) पुलिन मे हसमिथुन लीन है, आश्रम-तरुओं मे तपस्वियो के वल्कल टँगे है, कृष्णसार मृग के सीगों मे मृगी अपने वाम नयनों को खुजलाती हुई रसाविष्ट है, वह शकुन्तला अपूर्ण है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण वातावरण के साथ ही पूर्ण हो सकता है और जीवन में जो बात सत्य है वही चित्र मे भी सत्य है। राजा ने इस सत्य को अनुभव किया। उसने शकुन्तला को उसकी सम्पूर्ण परिवेष्टनी मे अकित करने की इच्छा प्रकट की :

> कार्या सैकतलीनहसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
> पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
> शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
> शृगे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमाना मृगीम्॥
>
> —'शकुन्तला', षष्ठ अक

केवल भावमनोहर शकुन्तला राजा दुष्यन्त का व्यक्तिगत सत्य है, वस्तुतः वह उससे बड़ी है। वह विश्वप्रकृति के सौ-सौ हजार विकसित पुष्पो मे से एक है, वह सारे आश्रम को पवित्र और मोहन बनानेवाले उपादानो में एक है और इसी लिए इन सवके साथ अविच्छिन्न भाव से सश्लिष्ट है। उस एक तार पर आघात करने से बाकी सव अपने-आप झंकृत हो जाते है। वहां शकुन्तला अपना अन्त आप नही, बल्कि इन समस्त दृश्यमान सत्ता के भीतर निहित एक अखण्ड अविच्छेद्य 'एक' की ओर सकेत करती है। यही चित्र का प्रधान लक्ष्य है। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि जो कला अपने-आपको ही अन्तिम लक्ष्य सिद्ध करती है, वह माया का कंचुक है और जो उस 'एक' परमतत्त्व की ओर मनुष्य को उन्मुख करती है वह मुक्ति का साधन है। राजा का बनाया हुआ चित्र अन्त मे जाकर इतना सफल हुआ कि वह खुद ही अपने को भूल गया। वह चित्रस्थ भ्रमर को उपालम्भ करने लगा।

प्राचीन साहित्य मे ऐसे विद्ध चित्रो की बात वहुत प्रकार से आयी है। 'रत्नावली' मे सारिका ने राजा उदयन का चित्र बनाया था और उसकी सखी सुसंगता

ने उस चित्र के बगल मे सागरिका का चित्र बना दिया था। सागरिका की आंखो मे प्रणय-दुराशा के जो अश्रु थे वे इतने मोहक बने थे कि राजा ने जब उस चित्र को देखा तो उसके समस्त अगों से बिछल-बिछलकर उसकी दृष्टि बार-बार चित्र के उन 'जललवप्रस्यन्दिनीलोचने' पर ही पड़ती थी :

कृच्छादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले।
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरंगविषमे निष्पन्दतामागता ॥
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुगस्तनौ ।
साकांक्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यंदिनी लोचने ॥

—रत्नावली', 2-35

संस्कृत साहित्य मे शायद ही दो-तीन नाटक ऐसे मिलें जिनमें विद्ध चित्रों के चमत्कार का वर्णन न हो। चित्र उन दिनो विरही के विनोद थे, वियोगियों के मेलापक थे, प्रौढ़ो के प्रीति-उद्रेचक थे, गृहों के श्रृंगार थे, मन्दिरों के मांगल्य थे, संन्यासियों के साधना-विषय थे, और राहगीरो के सहारे थे। प्राचीन भारत चित्र-कला का मर्मज्ञ साधक था।

चित्रकला की श्रेष्ठता

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के चित्रसूत्र मे कहा गया है कि समस्त कलाओं मे चित्रकला श्रेष्ठ है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देनेवाली है। जिस गृह में यह कला रहती है वह गृह मांगल्य होता है (तृतीय खण्ड, 45।48)। एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि नृत्य और चित्र का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मार्कण्डेय मुनि ने कहा था कि नृत्य और चित्र दोनों मे ही त्रैलोक्य की अनुकृति होती है। नृत्य में दृष्टि, हाव, भाव आदि की जो भंगी बतायी गयी है वह चित्र मे भी प्रयोज्य है, क्योंकि वस्तुतः नृत्य ही परमचित्र है—नृत्यं चित्रं परं स्मृतम्।

सोमेश्वर की 'अभिलाषितार्थ-चिन्तामणि' नामक पुस्तक मे चार प्रकार के चित्रों का उल्लेख है: (1) विद्ध चित्र, जो इतना अधिक वास्तविक वस्तु से मिलता हो कि दर्पण मे पड़ी परछाईं के समान लगता हो, (2) अविद्ध चित्र, जो काल्पनिक होते थे और चित्रकार के भावोल्लास की उमंग में बनाये जाते थे, (3) रसचित्र, जो भिन्न-भिन्न रसो की अभिव्यक्ति के लिए बनाये जाते थे,

है। शास्त्रीय ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि उन दिनो चित्र के विषय अनेक थे, केवल श्रृंगार-चेष्टा या धर्मास्थान तक ही उनकी सीमा नही थी। धार्मिक और ऐतिहासिक आख्यानो के लम्बे-लम्बे पट उन दिनो बहुत प्रचलित थे। 'कामसूत्र' मे ऐसे आख्यानक-पटो का उल्लेख है (पृ. 26) और 'मुद्राराक्षस' नाटक मे यमपटो की कहानी है। देवता, असुर, राक्षस, नाग, यक्ष, किन्नर, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी सबकुछ चित्र के विषय थे। इनकी लम्बाई-चौडाई आदि के विषय में शास्त्र-ग्रन्थों मे विशेष रूप से लिखा हुआ है।

स्थायी नाट्य-शालाओ की दीवारें चित्रो से अवश्य भूषित होती थी। चित्र और नाट्य को मंगलजनक माना जाता था। भित्ति को सजाने के लिए पुरुष, स्त्री और लतावन्ध के चित्र होना आवश्यक माना जाता था। ('नाट्य-शास्त्र', 2-85-86)। लतावन्ध मे कमल और हंस अवश्य अंकित होते थे, क्योकि कमल को और हंस को गृह की समृद्धि का हेतु समझा जाता था। यह बताया जा चुका है कि भारतीय नाटकों की कथावस्तु का एक प्रधान उपादान चित्र-कर्म था।

संस्कृत नाटकों मे शायद ही कोई ऐसा हो, जिसमे प्रेमी या प्रेमिका अपनी गाढ विरह-वेदना को प्रिय के चित्र बनाकर न हल्की करती हो। 'मृच्छकटिक' की गणिका वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र बनाती है, 'शकुन्तला' नाटक का नायक दुष्यन्त विरही होकर प्रियतमा का चित्र बनाकर मन बहलाता है, 'रत्नावली' मे तो चित्रफलक ही नाटक के द्वन्द्व को तीव्र और भाव को सान्द्र बना देता है। 'उत्तर-रामचरित' में राम-जानकी अपने पूर्वकालीन चरित्रो का चित्र देखकर विनोद करते है।

काव्य-नाटकादि मे चित्र का जो प्रसंग आता है, उसमे सर्वत्र विद्ध चित्र की ही प्रशंसा मिलती है, अर्थात् जो चित्र देखने मे ठीक हू-ब-हू मूल वस्तु से मिल जाता था वही प्रशंसनीय समझा जाता था। कालिदास की 'शकुन्तला' में एक विवादास्पद अर्थवाला श्लोक आता है, जिसमें शायद चित्र की अपूर्णता की ओर इशारा किया गया है। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था, जिसमें शकुन्तला के दोनो नेत्र कान तक फैले हुए थे, भ्रूलता लीला द्वारा कुञ्चित थी, अधर-देश उज्ज्वल दसनछवि की ज्योत्स्ना से समुद्भासित थे, ओष्ठ-प्रदेश पके कर्कन्धू के समान पाटल वर्ण के थे, विभ्रम-विलास की मनोहारिणी छवि की एक तरल धारा-सी जगमगा उठी थी, चित्रगत होने पर भी मुख मे ऐसी सजीवता थी कि जान पड़ता था अब बोला, अब बोला :

> दीर्घापांगविसारिनेत्रयुगलं लीलाचितभ्रूलतं
> दन्तान्त.परिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्
> कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखम्
> चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम् ॥102॥

मिश्रकेशी नामक शकुन्तला की सखी ने इस चित्र को देखकर आश्चर्य के साथ अनुभव किया था कि मानो उसकी सखी सामने ही खड़ी है। पर राजा को

सन्तोष नहीं था। इतना भावपूर्ण सजीव चित्र भी कुछ कमी लिये हुए था। राजा ने कहा कि चित्र में जो साधु अर्थात् ठीक नहीं होता, उसे दूसरे ढंग से (अन्यथा) किया जाता है, तथापि उसका लावण्य रेखा से कुछ अन्वित हुआ है :

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चदन्वितम् ॥103॥

इन वाक्यों का अर्थ पण्डितों ने कई प्रकार से किया है। शायद राजा का भाव यही है कि हजार यत्न किया जाय, मूल वस्तु का भाव चित्र में नहीं आ पाता या फिर यह हो कि कल्पित मूल्यों की योजना का कला में प्राधान्य होने के कारण कांच की भाँति चित्र में भी मूल वस्तु को कुछ दूसरे रूप में ही सजाया जाता है जिसमे अभिरामता बढ जाती है। दूसरे अर्थ का समर्थन 'मालविकाग्निमित्र' के उस श्लोक से होता है जिसके अनुसार वास्तविक मालविका को देखकर राजा ने कहा था कि चित्र मे इसके रूप को देखकर मुझे आशंका हुई थी कि शायद वास्तव मे यह उतनी सुन्दर नही होगी जैसा कि चित्र मे दिख रही है, पर इसे प्रत्यक्ष देखकर लग रहा है कि चित्रकार की समाधि ही शिथिल हो गयी थी—उसने चंचल चित्त से चित्र बनाया था !

चित्रगतायामस्या कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्।
संप्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता ॥

कालिदास के ग्रन्थो से जान पड़ता है कि विवाह के समय देवताओं के चित्र बनाकर पूजे जाते थे, वधुओ के दुकूल-पट्ट के आँचल में हंस के जोड़े बनाये जाते थे और चित्र देखकर वर-वधू के सम्बन्ध ठीक किये जाते थे। ध्वस्त अयोध्या-नगरी-वर्णन-प्रसग मे महाकवि ने कहा है कि प्रासादों की भित्ति पर पहले नाना भाँति के पद्मवन चित्रित थे और उन पद्म-वनों में बड़े-बड़े मातंग (हाथी) चित्रित थे, जिन्हें उनकी प्रियतमा करेणु-बालाएँ मृणाल-खण्ड देती हुई अंकित की गयी थी। ये चित्र इतने सजीव थे कि उन्हें वास्तविक हाथी समझकर आज की विध्वस्तावस्था में वहीं के रहनेवाले सिंहों ने अपने तेज नाखूनों से उनका कुम्भस्थल विदीर्ण कर दिया था ! बड़े-बड़े महलों मे जो लकड़ी के खम्भे लगे हुए थे, उन पर मनोहर स्त्री-मूर्तियाँ अंकित थी और उनमें रंग भी भरा गया था। अवस्था के गिरने से ये दारु-मूर्तियाँ फीकी पड़ गयी थी। अब तो साँपों की छोड़ी हुई केंचुलें ही उनके वक्षःस्थल के आवरणयोग्य दुकूल वस्त्र का कार्य कर रही हैं।

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः।
नखांकुशाघातविभिन्नकुंभा. संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥
स्तंभेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ता ॥
—'रघुवंश', 16-16-17

जान पड़ता है, उन दिनों इस प्रकार के चित्र बहुत प्रचलित थे। अजन्ता में हू-ब-हू एक वैसा ही चित्र है, जैसा कालिदास ने ऊपर के हाथी-वर्णन के प्रसंग में

कहा है। दुर्भाग्यवश काल के निर्मम स्रोत में उस युग की दारुमयी स्तम्भप्रतिमाएँ एकदम बह गयी हैं। नही तो इसका भी कुछ उदाहरण मिल ही जाता। चीन में कहानी प्रसिद्ध है कि तेन् सम्राट के गृह पर जो फल-वृक्ष अंकित थे, उन पर सुग्गे चोंचें मारा करते थे। ऐसा भाव हमारे साहित्य में भी मिलेगा। एक कवि ने राजा की स्तुति करते हुए कहा था कि 'हे राजन्, तुम्हारे डर के मारे जो शत्रु भाग गये हैं उनके घरों में उन्ही के सुग्गे चित्रो को देख-देखकर यह समझ रहे है कि उनके मालिक घर में ही हैं और राजा के चित्र को देखकर कह रहे है कि, महाराज आपकी कन्या मुझे नही पढ़ाती, रानियाँ चुप है, क्या मामला है ? फिर कुब्जा दासियों के चित्र को देखकर कहते है कि तू मुझे क्यो नही खिलाती ?' इत्यादि—

राजन् राजसुता न पाठयति मा देव्योऽपि तूष्णी स्थिता ।
कुब्जे भोजय मां कुमार सचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यसे ॥
इत्थं नाथशुकास्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगै. पञ्जरात् ।
चित्रस्थानवलोक्यशून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥

इतना तो स्पष्ट ही है चित्रकार का ध्यान शिथिल न हो गया होता तो और भी सुन्दर बनाता। परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि कालिदास ने चित्र में जो-जो गुण बताये है, वे निश्चित रूप से उत्तम कला के सबूत है। यह जो बोलता-बोलता भाव है, या फिर ऊँचे स्थानो को ऊँचा दिखाना, निम्न स्थानों को निम्न दिखाना, शरीर में इस प्रकार रंग और रेखा का विन्यास करना कि मृदुता और सुकुमारता निखर आये, मुख पर ऐसा भाव चित्रित करना कि प्रेमदृष्टि और मुसुकान-भरी वाणी प्रत्यक्ष हो उठे :

अस्यास्तुगमिव स्तनद्वयमिदं निम्नेव नाभिः स्थिता
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च बलयो भित्तौ समायामपि ।
अंगे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाच्चिरं
प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्तीव माम् ॥

—षष्ठ अंक

यह निस्सन्देह बहुत ही उत्तम कला का निदर्शन है। किन्तु 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के चित्रसूत्र के आचार्य को इतना ही काफी नहीं जान पड़ता। वे और भी सूक्ष्मता चाहते है, और भी कौशल होने पर दाद देना स्वीकारते हैं। जो चित्रकार सोये हुए आदमी मे चेतना दिखा सके, या मरे हुए मे चेतना का अभाव दिखा सके, निम्नोन्नत विभाग को यथावत् दिखा सके, तरंग की चंचलता, अग्निशिखा की कम्पगति, धूम का तरंगित होना और पताका का लहराना स्पष्ट दिखा सके, असल मे उसे ही आचार्य चित्रविद् कहना चाहते हैं :

तरंगाग्निशिखाधूमवैजयन्त्यम्बरादिकम् ।
वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेयः स तु चित्रवित् ॥

सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम् ।
निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित् ॥

ऐसा जान पड़ता है कि विद्ध चित्रों के चित्रण में उन दिनों पूरी सफलता मिली थी। राजा और रानियों की पुरुषप्रमाण प्रतिकृति उन दिनों नियमित रूप से राजघराने मे सुरक्षित रहती थी। 'हर्षचरित' से जान पड़ता है कि श्रद्धा के बाद पहला कार्य होता था मृत व्यक्ति का आलेख्य बनाना। यद्यपि अन्त.पुर और समृद्ध नागरकों के बहिर्निवास मे ही कला का अधिक उल्लेख मिलता है, तथापि साधारण जनता में भी इस कला का प्रचार रहा होगा। संस्कृत नाटकों और नाटिकाओं में परिचारिकाओं को प्रायः चित्र बनाते अंकित किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का सबूत भी मिल जाता है कि उन दिनों स्वयं लोग अपना चित्र भी बनाते थे। भारतवर्ष ने उस काल मे इस विद्या मे जो चरम उत्कर्ष प्राप्त किया था, उसका ज्वलन्त प्रमाण अजन्ता और वेलूर (एलोरा) आदि की गुफाएँ है।

कुमारी और वधू

अन्त.पुर की कुमारियाँ विवाहिता वधुओं की अपेक्षा अधिक कलाप्रवीण होती थी। वे वीणा बजा लेती थी, वंशी-वादन में निपुण होती थी, गानविद्या में दक्षता प्राप्त करती थी, द्यूतक्रीड़ा की अनुरागिनी होती थी, अष्टापद या पासा की जानकार होती थी, चित्रकर्म मे मेहनत करती थी, सुभाषितो का अर्थात् अच्छे श्लोकों का पाठ कर सकती थी, और अन्य अनेकविध कलाओ मे निपुण होती थी। अन्त.पुर की वधुएँ पर्दे मे रहती थीं, उनके सिर पर अवगुण्ठन या घूंघट हुआ करता था और चार अवसरो के अतिरिक्त अन्य किसी समय उन्हें कोई देख नहीं सकता था। ये चार अवसर थे : यज्ञ, विवाह, विपत्ति और वन-गमन। इन चारों अवस्थाओं में वधू का देखना दोषावह नही माना जाता। 'प्रतिमा' नाटक मे इसीलिए श्रीरामचन्द्र ने कहा है :

स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद्
बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः ।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो
यज्ञे विवाहे व्यसने वने च ॥

—'प्रतिमा', 1-29

परन्तु कुमारियाँ अधिक स्वतन्त्र थी। वे व्रत, उपवास तो करती थी, परन्तु

उनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की कलाओं में भी रुचि रखती थी। वे लिखती-पढ़ती थी, चित्र बनाती थी, गृह-द्वार को अभिराम-मण्डनिकाओं से मण्डित करती थी और यथावसर शास्त्रार्थ-विचार भी कर लेती थी। काव्यग्रन्थ लिखने का कार्य कुमारी कन्याएँ किया करती थी और कभी-कभी उनके प्रेमपत्र लिखने का सबूत मिल ही जाता है।

लेखन-सामग्री

पुस्तक और पत्र लिखने के लिए साधारणतः भूर्जपत्र का व्यवहार होता था। कालिदास ने हिमालय की महिमा-वर्णन के प्रसंग में बताया है कि विद्याधर-सुन्दरियाँ भूर्जपत्रों पर धातुरस से अपने प्रेमियों के पास पत्र लिखा करती थी, जिनके अक्षर हाथी के सूँड पर मिलनेवाले बिन्दुओं के समान सुन्दर होते थे।

> न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र
> भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
> व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणा—
> मनङ्गलेखक्रिययोपयोगम्॥
>
> —कुमार., 1.7

यह भोजपत्र हिमालय प्रदेश मे पैदा होनेवाले 'भूर्ज' नामक वृक्ष की छाल है। इनकी ऊँचाई कभी-कभी 60 फुट तक जाती है। हिमालय मे साधारणतः 14000 फीट की ऊँचाई पर ये बहुतायत से पाये जाते हैं। इनकी छाल कागज की भाँति होती है। इस छाल को लेखक लोग अपनी इच्छानुसार लम्बाई-चौड़ाई का काटकर उस पर स्याही से लिखते थे। अब तो यह केवल यन्त्र-मन्त्र के काम ही आता है, पर किसी जमाने मे कश्मीर तथा हिमालय प्रदेशों में भूर्जपत्र पर ही पोथियाँ लिखी जाती थी। अधिकतर भूर्जपत्र की पुस्तकें कश्मीर से ही मिलती हैं। भोजपत्र की सबसे पुरानी पुस्तक खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ प्राकृत (पाली-वाला नही) 'धम्मपद' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जो सम्भवतः सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी का है। सबसे पुरानी संस्कृत-पुस्तक जो भोजपत्र पर लिखी मिली है, वह 'संयुक्तागम सूत्र' है। खरोष्ठीवाली पुस्तक का काल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वह खोतान से प्राप्त हुई थी। कश्मीर और उत्तरी प्रदेशों के सिवा अन्यत्र भूर्जपत्र की पोथियों का बहुत अधिक प्रचार नहीं था। निचले मैदानों मे ताड़ के पत्ते प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते थे। ये भूर्जपत्र की अपेक्षा टिकाऊ भी

होते हैं और सस्ते तो होते ही हैं। इसीलिए मैदानों में तालपत्र का ही अधिक प्रचार था।

तालपत्र को उबालकर शंख या किसी अन्य चिकने पदार्थ से रगड़कर उन्हें गेल्हा जाता था। गेल्हने के बाद लोहे की कलम से उन पर अक्षर कुरेद दिये जाते थे, फिर काली स्याही लेप दी जाती थी, जो गड्ढों में भर जाती थी, और चिकने अंश पर से पोंछ दी जाती थी। लोहे की कलम से कुरेदने की यह प्रथा दक्षिण में ही प्रचलित थी। उत्तर भारत और पूर्व भारत में उन पर उसी प्रकार लिखा जाता था, जिस प्रकार कागज पर लिखा जाता है। इन पत्तों का आकार कभी-कभी दो फुट तक होता है। संस्कृत में 'लिख्' धातु का अर्थ कुरेदना ही है। 'लिपि' शब्द तो लिखावट के लिए प्रचलित हुआ है, इसका कारण स्याही का लेपना ही है। इन पत्रों में लिखने की जगह के बीचोंबीच एक छेद हुआ करता था। यदि पत्र बहुत लम्बे हुए तो दो छेद बनाये जाते थे और इन छेदों में धागा पिरो दिया जाता था। बाद में कागज पर लिखी पोथियों में भी छेद के लिए जगह छोड़ दी जाती थी, जो वस्तुतः छिद्रित नहीं हुआ करती थी। सूत्र से ग्रथित होने के कारण ही पोथियों के लिए 'ग्रन्थ' शब्द प्रचलित हुआ। भाषा में 'सूत्र मिलना' जो मुहावरा प्रचलित है, उसका मूल पोथियों के पन्नों को ठीक-ठीक सँभाल रखनेवाला यह धागा ही जान पड़ता है। हमने ऊपर तालपत्र की सबसे पुरानी पोथी की चर्चा की है। काशनगर से कुछ चौथी शताब्दी के लिखे हुए तालपत्र के ग्रन्थों के त्रुटित अंश भी उपलब्ध हुए हैं। सबसे मजेदार बात यह है कि तालपत्र की लिखी हुई जो दो पूरी पुस्तकें है, वे जापान के होरियूजि मठ में सुरक्षित हैं। इनके नाम हैं: 'प्रज्ञा-पारमिता-हृदय सूत्र' और 'उष्णीश-विजय-धारिणी'। इनकी लिखावट से अनुमान किया गया है कि ये पोथियाँ सन् ईसवी की छठी शताब्दी के आस-पास लिखी गयी होंगी।

प्रस्तर-लेख

प्रसंग है तो कह रखना उचित है कि भूर्जपत्र और तालपत्र की अपेक्षा भी अधिक स्थायी वस्तु पत्थर है। नाना प्रकार से पत्थरों पर लेख खोदकर इस देश में सुरक्षित रखे गये हैं। कभी-कभी बड़ी-बड़ी पोथियाँ भी चट्टानों पर और भित्तिगात्रों की शिलाओं पर खोदी गयी है। बहुत-सी महत्त्वपूर्ण पोथियों का उद्धार सिर्फ शिलालिपियों से ही हुआ है। अशोक के शिला-लेख तो विख्यात ही हैं। बहुत

पुराने जमाने में भी पर्वत-शिलाओं पर उट्टंकित ग्रन्थों से क्रान्तिकारी परिणाम निकले है। कश्मीर का विशाल अद्वैत शैव मत जिस 'शिव-सूत्र' पर आधारित है, वह पर्वत की शिला पर ही उट्टङ्कित था। शिलागात्रों पर उत्कीर्ण लिपियों ने साहित्य के इतिहास की भ्रान्त धारणाओं को भी दूर किया है। महाक्षत्रप रुद्रदामा के लेख से निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो गया कि 150 ई. के पूर्व संस्कृत में सुन्दर अलंकृत गद्यकाव्य लिखे जाते थे। यह सारा लेख ही गद्य-काव्य का एक उत्तम नमूना है। इसमें महाक्षत्रप ने अपने को 'स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द-समोदारालंकृत-गद्य-पद्य' का मर्मज्ञ बताया था। सम्राट् समुद्रगुप्त ने प्रयाग के स्तम्भ पर हरिषेण कवि द्वारा रचित जो प्रशस्ति खुदवायी थी वह भी पद्य और गद्य-काव्य का उत्तम नमूना है। हरिषेण ने इसे सम्भवतः 530 ई. मे लिखा होगा। अब तो सैकड़ों ललित काव्य और कवियों का पता इन शिला-लिपियो से चला है। इन काव्यात्मक प्रशस्तियों के अनेक संग्रह भी प्रकाशित हुए है।

इस प्रसंग मे राजा भोज के अपने प्रासाद भोजशाला से उद्धार की गयी एक नाटिका और एक प्राकृत काव्य की चर्चा मनोरंजक होगी। इस भोजशाला की 'सरस्वती-कण्ठाभरण' नामक पाठशाला आजकल धार की कमालमौला मस्जिद के नाम से वर्तमान है। सन् 1905 ई. मे एजुकेशनल सुपरिण्टेण्डेण्ट मिस्टर लेले ने प्रो. हुच को खबर दी कि धार की कमालमौला मस्जिद का मिहराव टूट गया है और उसमें से कई पत्थर खिसककर निकल आये है, जिन पर नागरी अक्षरों में कुछ लिखा हुआ है। इन पत्थरो को उलटकर इस प्रकार जड़ दिया गया था कि लिखा हुआ अंश पढ़ा न जा सके। जब पत्थर खिसककर टूट गिरे तो उनका पढ़ना सम्भव हुआ। परीक्षा से मालूम हुआ कि दो पत्थरों पर महाराज भोज के वंशज अर्जुनदेव वर्मा के गुरु गौड पण्डित मदन कवि की लिखी हुई कोई 'पारिजात-मंजरी' नामक नाटिका थी। नाटिका मे चार अंक होते हैं। अनुमान किया गया है कि बाकी दो अंक भी निश्चय ही उसी इमारत में कहीं होंगे, यद्यपि मस्जिद के हित-चिन्तकों के आग्रह से उनका पता नही चल सका। फिर कुछ पत्थरों पर स्वयं महाराज भोज के लिखे हुए आर्या छन्द के दो काव्य खोदे गये थे, जिनकी भाषा कुछ अपभ्रंश से मिली हुई प्राकृत थी। इस शिलापट की प्रतिच्छवि 'एपिग्राफिका इण्डिका' की आठवी जिल्द में छपी है। चौहान राजा विग्रहराज का 'हरिकेल नाटक' और सोमेश्वर कवि का 'ललित-विग्रहराज' नामक नाटक भी शिलापट्टों पर खुदे पाये गये है।

एक सुन्दर काव्य एक पत्थर पर खुदा ऐसा भी पाया गया है, जो किसी शौकीन जमींदार की मोरियों की शोभा बढ़ा रहा था। यद्यपि अभी भी भारतवर्ष के अनेक शिला-लेख पढ़े नही जा सके हैं, तथापि नाना दृष्टियो से इन लेखों ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण सहायता पहुँचायी है।

सुवर्ण और रजतपत्र

इस बात का प्रमाण प्राप्त है कि बहुत-सी पुस्तकें सोने और चाँदी तथा अन्य धातु के पत्तरों पर लिखाकर दान कर दी गयी थीं। मेरे मित्र प्रो. प्रहलाद प्रधान ने लिखा है कि कालक्रम से बौद्ध भिक्षुकों में यह विश्वास जम गया था कि पुरानी पोथियों को गाड़ देने से बहुत पुण्य होता है। ऐसी बहुत-सी गाड़ी हुई पोथियों का उद्धार इन दिनों हो सका है। ह्वेन्त्सांग ने लिखा है कि महाराज कनिष्क ने *त्रिपिटक का नूतन संस्करण कराकर ताम्रपत्रों पर उन्हें खुदवाकर किसी स्तूप में* गड़वा दिया था। अभी तक पुरातत्त्व-वेत्ता लोग इन ताम्रपत्रों का उद्धार नहीं कर सके हैं। लंका मे कंडि जिले में हुंगुरनकेत विहार के चैत्य में हजारों रुपयों की बहुमूल्य पुस्तकें और अन्य वस्तुएँ गड़वा दी गयी थी। रौप्य पत्र पर 'विनय पिटक' के दो प्रकरण, 'अभिधम्म' के सात प्रकरण और 'दीर्घनिकाय' तथा कुछ अन्य ग्रन्थों को खुदवाकर गड़वाने मे एक लाख बानवे हजार रुपये लगे थे। सोने के पत्तरों पर लिखे गये स्तोत्र आदि की चर्चा भी आती है। तक्षशिला के गंगू नामक स्तूप से खरोष्ठी लिपि मे लिखा हुआ एक सोने का पत्तर प्रसिद्ध खोजी विद्वान जनरल कनिंघम को मिला था। बर्मा के द्रोम नामक स्थान से पाली मे खुदे हुए दो सोने के पत्तर ऐसे मिले हैं, जिनकी लिपि सन् ईसवी की चौथी या पांचवी शताब्दी की होगी। भट्टिप्रोलू के स्तूप से और तक्षशिला से भी चाँदी के पत्तर पाये गये है। सुना है, कुछ जैन-मन्दिरो में भी चांदी के पत्र पर खुदे हुए पवित्र लेख मिलते हैं; ताम्बे के पत्तरों पर तो बहुत लेख मिले हैं, परन्तु उन पर खुदी कोई बड़ी पोथी नही मिली है।

वधू का शान्त-शोभन रूप

कुमारियों के पत्र-लेखन और पुस्तक-लेखन के प्रसंग मे हम कुछ बहक गये थे। अब फिर मूल विषय पर लौटा जा सकता है। वधू के अनेक रूपों की चर्चा पहले ही आयी है (पृ. 426)। हम अन्यत्र यज्ञ और विवाह के अवसरों पर पौर वधुओं को देखने का अवसर पायेंगे। व्यसन अर्थात् विपत्ति के अवसर पर देखने का मौका भी हमें इस पुस्तक में नही मिलेगा, परन्तु प्राचीन भारत की अन्तःपुर-वधू को

यदि हम व्यसनावस्था में न देखें तो उसका ठीक-ठीक परिचय न पा सकेंगे। वधू के व्यसन (विपत्ति) कई थे—रोग, शोक, सपत्नी-निर्यातन, पति का औदासीन्य, पति के अन्यत्र प्रेमद्रवित होने की आशंका और सबसे बढ़कर पुत्र का न होना। इन अवसरों पर वह कठिन व्रतों का अनुष्ठान करती थी, ब्राह्मणों और देवताओं की पूजा करती थी, उपवास करके स्नानादि से पवित्र हो गुग्गुल धूप से धूपित चण्डी-मण्डप में कुशासन बिछाकर वास करती थी, गोशालाओं में आकर सौभाग्यवती धेनुओं—जिन्हें वृद्ध गोपिकाएँ सिन्दूर, चन्दन और माल्य से पूजन देती थीं—की छाया में स्नान करती थी, रत्नपूर्ण तिलपात्र ब्राह्मणों को दान करती थी, ओझों की शरण जाती थी और कृष्ण चतुर्दशी की रात को चतुष्पथ (चौराहे) पर दिक्पालों को बलि देती थी, ब्राह्मी आदि मातृकाओं की पूजा करती थी, अश्वत्थादि वृक्षों की परिक्रमा करती थी, स्नान के पश्चात् चाँदी के पात्र में अक्षत-दधिमिश्रित जल का उपहार गौवों को खिलाती थी, पुष्प-धूप आदि से दुर्गा देवी की पूजा करती थी, सत्यवादी क्षपणक साधुओं को अन्न का उपढौकन देकर भावी मंगल के विषय में प्रश्न करती थी, विप्रश्निका कही जानेवाली स्त्री-ज्योतिषियों से भाग्यगणना कराती थी, अङ्गों का फड़कना तथा अन्यान्य शुभाशुभ शकुनों का फल दैवज्ञ से पूछती थी, तान्त्रिक साधकों के बताये गुप्त मन्त्रों का जप करती थी, ब्राह्मणों से वेदपाठ कराती थी, ग्रहाचार्यों से स्वप्न का फल पुछवाती थी और चत्वर में शिवाबलि (शृगालियों को उपहार) देती थी। इस प्रकार यद्यपि वह अवरोध में रहती थी (कादम्बरी), तथापि पूजा-पाठ और अपने विश्वास के अनुसार अन्यान्य मांगल्य अनुष्ठानों के समय वह बाहर निकल सकती थी।

उत्सव में वेशभूषा

पुरुष और स्त्री, दोनों के लिए यह आवश्यक था कि उत्सवों में पूर्ण अलंकृत होके जायें। केवल स्त्रियाँ ही प्राचीन भारत में अलंकार नहीं धारण करती थीं, पुरुष भी नाना प्रकार के अलंकार धारण करता था। अयोध्या के नागरिकों की बात बताते समय आदिकवि ने लिखा है कि अयोध्या में कोई ऐसा पुरुष नहीं था जो कुण्डल न धारण किये हो, मुकुट न पहने हो, माला से विभूषित न हो, काम-भोग का अधिकारी न हो, साफ-सुथरा न रहता हो, अंगरागों का लेप न करता हो, सुगन्धि न धारण करता हो, अंगद (बाहु का आभूषण) निष्क (उरोभूषण) और हाथ के आभरणों को न धारण किये हो (वाल्मी., 7-10-12)। निष्क से ये

देश में सब समय भूषण धारण करती ही हैं। प्राचीन ग्रन्थों में पुरुषों के बाहुमूल कलाई और अंगुलियों के धार्य अलंकारों की खूब चर्चा है और कुण्डल-हार की भी चर्चा बराबर मिलती है। ये अलंकार सभी पुरुष धारण करते थे।

अलंकार तीन प्रकार के माने गये हैं : स्वाभाविक, अयत्नज और बाह्य। लीला, विकास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चत, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित और विहृत, ये स्त्रियों के स्वाभाविक अलंकार हैं। अलंकार के ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवरण मिलेगा। अयत्नज अलंकार पुरुषों के और स्त्रियों के अलग-अलग माने जाते थे। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता और औदार्य *स्त्रियों के अयत्न-साधित अलंकार हैं और शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य,* गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज पुरुषों के। शास्त्रों में इनके लक्षण बताये गये हैं ('नाट्यशास्त्र', 24-24-39)। वस्तुतः इन स्वाभाविक अलंकारों से ही पुरुष या स्त्री का सौन्दर्य खिलता है। बाह्य अलंकार तो स्वाभाविक सौन्दर्य को ही पुष्ट करते हैं। कालिदास ने ठीक ही कहा था कि कमल का पुष्प शैवालजाल से अनुविद्ध हो तो भी सुन्दर लगता है, चन्द्रमा का काला धब्बा मलिन होकर भी शोभा विस्तार करता है उसी प्रकार वल्कल धारण करने पर भी शकुन्तला का रूप अधिक मनोज्ञ हो गया है। मधुर आकृतियों के लिए कौन-सी वस्तु अलंकार नहीं हो जाती?

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणा मण्डनं न.कृतीनाम् ॥

परन्तु फिर भी यह आवश्यक माना जाता था कि नागरिक लोग देश-काल की परिपाटी समझें अलंकरणों का उचित सन्निवेश जानें और सामाजिक उत्सवों के अवसरों पर सुरुचि और सुसंस्कार का परिचय दें। उस युग के शास्त्रकारों ने इस बात पर जोर दिया है कि युवक-युवतियों को गुण, अलंकार, जीवित और परिकर का ज्ञान होना चाहिए; क्योंकि गुण शोभा का समुत्पादक है, अलंकार समुद्दीपक है, जीवित अनुप्राणक है, परिकर व्यंजक है। ये एक-दूसरे के उपकारक है, और इसीलिए परस्पर के अनुग्राहक भी है। गुण और अलंकार से ही शरीर में उत्कर्ष आता है। शोभा-विधायक धर्मों को गुण कहते है। वे ये हैं :

रूपं वर्णः प्रभा रागः आभिजात्य विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः॥

शरीर अवयवों की रेखा में स्पष्टता को रूप कहते हैं, गौरता-श्यामता आदि को वर्ण कहते हैं। सूर्य की भाँति चमक (काचकाच्य) वाली कान्ति को प्रभा कहते हैं, अधरों पर स्वाभाविक हँसी खेलते रहने के कारण सबकी दृष्टि आकर्षण करनेवाले धर्म को राग कहते हैं, फूल के समान मृदुता और पेशलता नामक वह गुण जो

लनालादि के रूप में एक विशेष प्रकार का स्पर्श या सहलाव होता है उसे आभिजात्य कहा गया है, अंगो और उपांगो से युवावस्था के कारण फूट पड़नेवाली विभ्रम विलास नामक चेष्टाएँ, जिनमे कटाक्ष, भ्रूक्षेप आदि का समुचित मात्रा में योग रहता है, विलासिता कहलाती है। चन्द्रमा की भाँति आह्लादकारक सौन्दर्य का उत्कर्ष-भूत स्निग्ध-मधुर वह धर्म जो अवयवो के उचित सन्निवेश से व्यजित होता रहता है लावण्य कहा जाता है। वह सूक्ष्म भंगिमा जो अग्राम्यता के कारण वक्रिमत्वख्यापिनी अर्थात् बाह्य शिष्टाचार और परिपाटी को प्रकट करनेवाली होती है, जिससे ताम्बूलसेवन, वस्त्र, परिधान, नृत्य-सुभाषित आदि के व्यवहार में वक्ता का उत्कर्ष प्रकट होता है, छाया कहलाती है; सुभग उस व्यक्ति को कहते हैं जिसके भीतर प्रकृत्या वह रंजक गुण होता है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते है जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर। उसी सुभग व्यक्ति के आन्तरिक वशीकरण धर्म-विशेष को सौभाग्य कहते है। सहृदय के अन्दर ये दस गुण विधाता की ओर से मिले होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इच्छा करने से ही इन्हे नही पा सकता। वे जन्मातर के पुण्यार्जन से प्राप्त होते है।

अलंकार

सहृदय के अलंकार सात ही हैं :

रत्नं हेमांशुके माल्यं मण्डनं द्रव्ययोजने।
प्रकीर्णं चेत्यलकारा स्वप्नैवेते मया मताः।

वज्र-मुक्ता-पद्मराग-मरकत-इन्द्रनील-वैदूर्य-पुष्पराग-कर्केतन-पुलक-रुधिराक्ष भीष्म-स्फटिक-प्रवाल, ये तेरह रत्न होते है। वराहमिहिराचार्य की 'बृहत्सहिता' (अध्याय 80) मे इनके लक्षण दिये हुए है। भीष्म के स्थान मे उसमे विषमक पाठ है। 'शब्दार्थ-चिन्तामणि' के अनुसार यह रत्न हिमालय के उत्तर प्रान्त मे पाया जानेवाला कोई सफेद पत्थर है। बाकी के बारे मे बृहत्सहिता मे देखना चाहिए। हेम सोने को कहते है। यह नौ प्रकार का बनाया गया है : जम्बूनद, शातकौम्भ, हाटक, वेणव, शृंगी, शुक्तिज, जातरूप, रसविद्ध और आकार (खनि)-उद्गत। इन तेरह प्रकार के रत्नो और नौ प्रकार के सोनो से नाना प्रकार के अलंकार बनते है। ये चार श्रेणियों के होते हैं : (1) आवेध्य, (2) निबन्धनीय, (3) प्रक्षेप्य, और (4) आरोप्य। ताडी, कुण्डल, कान के बाले आदि अलंकार अंग में छेद करके पहने जाते है, इसलिए आवेध्य कहलाते है। अंगद (बाहुमूल में पहना जाने-

वाला अलंकार—विजायठ जातीय) श्रोणीसूत्र (करधनी आदि), चूड़ामणि, शिखा-दृढिका आदि अलंकार बांधकर पहने जाते है, इसलिए इन्हें निबन्धनीय कहा जाता है। ऊर्मिका, कटक (पहुँची में पहना जानेवाला अलंकार), मंजीर आदि अंग में प्रक्षेपपूर्वक पहने जाते हैं, इसलिए प्रक्षेप्य कहलाते है। झूलती हुई माला, हार, नक्षत्र-मालिका आदि-आदि अलंकार आरोपित किये जाने के कारण आरोप्य कहलाते हैं।

अलंकार के एक और वर्गीकरण की चर्चा मल्लिनाथ ने 'मेघदूत' (2-11) की टीका मे की है। 'रसाकर' नामक ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत करके बताया है कि भूषण चार प्रकार के ही होते है : (1) कचधार्य अर्थात् केश में धारण करने योग्य, (2) देहधार्य अर्थात् देह में धारण करने योग्य, (3) परिधेय या पहनने के वस्त्रादि, (4) विलेपन अर्थात् चन्दन-अगुरु आदि से बने हुए अंगराग। ये सब स्त्रियों के अलंकार है। देश-विशेष मे ये भिन्न-भिन्न है :

> कचधार्यं देहधार्यं परिधेयं विलेपनम्।
> चतुर्धा भूषणं प्राहुः स्त्रीणामत्यर्थदैशिकम्॥

वस्त्र चार प्रकार के होते हैं, कुछ छाल से, कुछ फल से, कुछ कीड़ों से और कुछ रोओं से बनते है। क्रमशः क्षौम, कार्पास (रुई के), कौषेय (रेशमी), राङ्कव (ऊनी) कहते है। इन्हें भी निबन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य के वैचित्र्यवश तीन प्रकार से पहना जाता है। पगड़ी, साड़ी आदि निबन्धनीय हैं, चोली आदि प्रक्षेप्य हैं; उत्तरीय (चादर) आदि आरोप्य है। वर्ण और सजावट के भेद से ये नाना भाँति के होते है। सोने और रत्न से बने हुए अलकारों की भाँति माल्य के भी आवेध्य-निबन्धनीय-प्रक्षेप्य-आरोप्य, ये चार भेद होते हैं। प्रत्येक मे ग्रथित और अग्रथित दो प्रकार के माल्य हो सकते है। इस प्रकार कुल मिलाकर माल्य के आठ भेद होते है—वेष्टित अर्थात् जो समूचे अगों को घेर ले (उद्वर्तित)। एक पार्श्व में वितारित माल्य को वितत कहते है, अनेक पुष्पों के समूह से रचित माल्य को संघाट्य कहते है, बीच-बीच मे विषम गाँठवाले को ग्रन्थिमत् कहा जाता है, स्पष्ट झूलते रहनेवाले को अवलम्बित, केवल पुष्पवाले को मुक्तक, अनेक पुष्पमयी लता की मंजरी और पुष्पों के गुच्छे को स्तवक कहते हैं। कस्तूरी-कुंकुम-चन्दन-कर्पूर-अगुरु-कुलक-दन्तसम—पटवास-सहकार-तैल—ताम्बूल-अलक्तक-अञ्जन—गोरोचना प्रभृति मण्डन द्रव्यवाले अलंकार होते है। भ्रूघटना, केशरचना, जूड़ा बाँधना आदि योजनामय अलंकार है। प्रकीर्ण अलंकार दो प्रकार के होते है, जन्य और निवेश्य। श्रमजल, मदिरा का मद आदि जन्य है और दूर्वा, अशोकपल्लव, यवांकुर, रजत, त्रपु, शंख, तालदल, दन्तपत्रिका, मृणालवलय, करक्रीड़नादिक को निवेश्य कहते हैं, इन सबके समवाय को वेश कहते हैं। वह वेश देशकाल की प्रकृति और अवस्था के सामंजस्य को दृष्टि मे रखकर शोभनीय होता है। इनके सजावट से उचित मात्रा मे सन्निवेश मे रमणीयता की वृद्धि होती है।

यौवन नामक वस्तु ही शोभा का अनुप्राणक है। उसी को जीवित कहते हैं। इस अवस्था मे अंगों में विपुलता और सौष्ठव आते है, उनका पारस्परिक विभेद

स्पष्ट हो जाता है। वह पहले वय सन्धि के रूप मे आरम्भ होता है और प्रौढ़ के रूप मे मध्यावस्था को प्राप्त होता है। प्रथम अवस्था मे धम्मिल्ल (जूडा) रचना, केश-विन्यास, वस्त्र-निवन्धन, दन्तपरिकर्म, परिष्कारण, दर्पणेक्षण, पुष्पचयन, माल्य-धारण, जलक्रीड़ा, द्यूत, अकारण लज्जा, अनुभाव, शृगार आदि चेष्टाएँ वर्तमान होती है। दूसरी अवस्था मे शृगारानुभाव का तारतम्य ही श्रेष्ठ है। शोभा का निकट से उपकारक होने के कारण परिकर उसका व्यजक है।

ऊपर जिन वाह्य अलंकारों की चर्चा की है, उनका नाना भाव से साहित्य मे वर्णन आता है। प्राचीन मूर्तियों, चित्रो और काव्यो मे इनका बहुविध प्रयोग पाया जाता है। शास्त्रो मे उनके नाम भी पाये जाते है। (दे 'नाट्यशास्त्र', विस्तार से 23 अध्याय)।

वज्र या हीरा

अलकरण के लिए अकेला रत्न असहाय है। उसे सोने का सहारा चाहिए। इसीलिए गहनो की चर्चा करते समय सहृदयो ने दोनो को साथ-साथ रखना पसन्द किया है।

ऊपर राजानक रुय्यक के बताये तेरह रत्न गिनाये गये है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इनका विस्तृत विवरण है। वज्र हीरे को कहते है। इनके छः भेद बताये गये है जो तत्तत्प्रदेशो मे उत्पन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते थे। कौटिल्य के अनुसार सभाराष्ट्रक विदर्भ से, मध्यमराष्ट्रक कोसल से, कश्मीरराष्ट्रक कश्मीर से, श्रीकटनक इसी नाम के पर्वत से, मणिकान्त मणिमान पर्वत से, इन्द्रवानक कलिंग देश से प्राप्त होता था। कालिदास ने इनके भेदो की कोई चर्चा नहीं की है। वज्र के एक गुण की उन्होंने चर्चा की है, मणि को छेदने का सामर्थ्य, 'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे'। कौटिल्य ने अच्छे हीरे के गुणों मे स्थूलता, गुरुता, प्रहार सहने की क्षमता, समान कोणवाला होना, भाजन अर्थात् वर्तन पर लकीर खींच सकने की योग्यता, कुभ्रग्नि होना अर्थात् तकुए की तरह घूमकर छेद कर सकनेवाला और भ्राजिष्णु या चमकदार होना। मणि को समुत्कीर्ण करना वज्र या हीरे का गुण है। 'रघुवंश' (6-19) मे वज्र (हीरे) की जगमगाती किरणोवाले किरीट की चर्चा है। कौटिल्य द्वारा बताया गया भ्राजिष्णु गुण यही चमकता रूप है।

मोती या मुक्ता

मुक्ता कालिदास का अधिक प्रिय रत्न है। वस्तुतः सुन्दरियों के उभरे हुए वक्ष
स्थलों पर कम्पमान मुक्ता-दाम कवि को सौन्दर्य के मोहक लोक के निर्माण कर
में अधिक सहायक हुए हैं। कालिदास ने पाण्ड्यदेश की प्रसिद्ध नदी ताम्रपर्णी औ
समुद्र से प्राप्त मोतियों की चर्चा की है। मोतियों के अन्य उदयस्थान भी थे
कौटिल्य ने इस प्रकार के मोतियों की चर्चा की है, जो वस्तुतः उदयस्थान के कार
अलग-अलग नामों से पुकारे जाते थे।

(1) कुछ ताम्रपर्णी नदी से निकलते थे, (2) कुछ मलय कोटि के निकटस
सरोवरों से, (3) कुछ पटना के पास से बहनेवाली पाशिका नदी से, (4) कु
सिंहल की उला नदी से, (5) कुछ केरल की चूर्ण नदी से, (6) कुछ महेन्द्र पर्व
के निकट समुद्र से, (7) कुछ ईरान की कर्दमा नदी से, (8) कुछ वर्वर (वेबि
लोनिया या बावुल) की स्रोतसी नदी से, (9) कुछ बावुल की श्रीघण्ट नाम
झील से, और (10) कुछ हिमालय पर्वत से। कालिदास को इनमें किसी प्रका
के विशेष मोती पर झुकाव नहीं जान पड़ता। उन्हें कौटिल्य द्वारा बताये शुक्ति
शंख और प्रकीर्णक (गजमुक्ता आदि) की जानकारी अवश्य थी। वे प्रशस्त
मोतियों को ही उल्लेख के योग्य मानते थे। कौटिल्य के अनुसार स्थूल वृत्त
नि.स्तल भ्राजिष्णु, श्वेत, स्निग्ध और देश-विद्ध (ठीक स्थान पर छेद किये हुए)
मोती प्रशस्त होते है।

मोतियों की लड़ी को पुराने जमाने में यष्टि कहते थे। सही तो यह है कि
लड़ी या लर, यष्टि शब्द का ही रूपान्तर है। यष्टि-लट्ठि-लड़ी-लर। कौटिल्य ने
मोतियों की संख्या के अनुसार अनेक मौक्तिक-आभरणो की चर्चा की है। इन्द्रच्छद
मे 1008, विजयच्छद में 504, देवच्छद में 100, अर्द्धहार में 64, रश्मिकलाप में
54, गुच्छक मे 32, नक्षत्रमाल मे 27, अर्द्धगुच्छक में 24, माणवक में 20, अर्द्ध-
माणवक मे 10 मोती होते थे। कालिदास भारी गहनों को पसन्द नही करते थे।
जो केवल समृद्धि के विज्ञापन मात्र हों, उन पर उनकी सुरुचिपूर्ण दृष्टि टिकती
नहीं थी। वे सूत्र मे पिरोये हुए (कौटिल्य के अनुसार शुद्ध) हारों की चर्चा करते
हैं; या फिर मणि-मुक्ता की हार-यष्टि या चित्रहारों की शोभा पर प्रसन्न होते हैं,
या सोने के सूत्र में पिरोयी हुई मणि-मुक्ता की माला रत्नावली पर मुग्ध होते हैं।
कालिदास को पतली और हिलती रहनेवाली लडी (यष्टि) अधिक पसन्द है;
इतनी चंचल कि वक्षस्थल के चन्दन को पोंछ डालती हो—'विलोलयष्टिप्रविलुप्त-
चन्दनम्' (कुमार., 5-8)। अनुमान किया जा सकता है कि 'कलाप', 'नक्षत्र-
मालिका' और 'गुच्छकों' में उनकी रुचि रही होगी।

कालिदास ने मणियों में लाल-लाल पद्मराग, जिसे कौटिल्य पारसामुद्रिक
(समुद्रपार से प्राप्त) तृणाङ्कुर के समान वैदूर्य, नीलवर्ण इन्द्रनील, हरितवर्ण के

है ही। परन्तु जब कालिदास जैसे कवि सुवर्ण के अनेक नामों का प्रयोग करते है, तो प्रायः सामान्य सोने के अर्थ में करते हैं। परन्तु गहना बनाने के लिए चमक लाने और स्थिरता के लिए अनेक क्रियाओं का प्रयोग किया जाता था। चाँदी भी मिलायी जाती थी और ताँबा भी। कौटिल्य ने सोना चुरानेवालों की अनेक धूर्तताओं के प्रसंग में एक 'हेमापसारण' विधि की भी चर्चा की है (2. 14-14)। उससे पता चलता है कि सोने में कुछ ताँबा मिलाने से जो चमकदार सोना बनता था, उसे 'हेमन्' कहा जाता था। कालिदास जब 'हेमन्' शब्द का प्रयोग करते है, तो इस खादवाले सोने की ही शायद चर्चा करते है। उन्होंने 'रघुवंश' में कहा है कि आग में तपाने के बाद ही पता चलता है कि हेम में कितनी विशुद्धि है और कितनी श्यामिका (खाद) है। कालिदास 'स्वर्ण' या 'जातरूप' की अपेक्षा 'हेम' के अलंकारों की अधिक चर्चा करते हैं। 'काञ्चन' भी अनिश्चित मात्रा में खाद मिलाये हुए सोने को कहा जाता होगा; दीप्ति के कारण ही इसे काञ्चन कहते थे। इसकी व्युत्पत्ति 'काचि दीप्तौ' धातु से बतायी जाती है।

अक्षशालाओं में सोने के तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख मिलता है: क्षेपण अर्थात् मणियों या काँच आदि के जड़ने का काम, गुण-कर्म अर्थात् स्वर्ण की कड़ियों को जोड़कर या पीटकर सूत्र बनाना, और क्षुद्रक अर्थात् घन (ठोस) या छिद्र-युक्त (सुषिर) गुरियों का गढ़ना (कौटिल्य, 2-14)। गुण-कर्म से ही सोने का गुण या सूत्र बनता है, जिसका कालिदास ने बहुशः वर्णन किया है। गुण शब्द का अर्थ योजन या जोड़ना है। एक में एक कड़ियों को जोड़कर जो लर बनती होगी, वही प्रारम्भ मे गुण कहलाती होगी। बाद में सूत्र के अर्थ में सामान्य रूप से 'गुण' शब्द रूढ़ हो गया।

रत्न और हेम के योग से बने हुए चार श्रेणी के अलंकार

क्षेपण, गुण और क्षुद्रक विधियों के द्वारा हेम और रत्न के सैकड़ों आभूषण बनने लगे। इन गहनों की चार मोटी जातियाँ हैं। राजानक रुय्यक के अनुसार (1) आवेध्य, (2) निबन्धनीय, (3) प्रक्षेप्य, और (4) आरोप्य। ताटंक, कुण्डल आदि अलंकार शरीर के अंगों को वेधकर या छेदकर पहने जाते हैं, इसीलिए ये आवेध्य कहे जाते हैं। कालिदास ने कर्णभूषण, कुण्डल, कर्णपूर, मणिकुण्डल आदि आवेध्य

अलंकारों का वर्णन किया है। जब कानों में प्राकृतिक प्रसाधन का प्रसंग आता है तो कालिदास उसका उल्लेख प्रायः निवन्धीय के रूप मे करते है। शकुन्तला के चित्र में कुछ कमी महसूस करने के बाद दुष्यन्त ने आगण्डविलम्बित केसरवाले शिरीष पुष्प को 'कर्णार्पितबन्धन' बताया था, अर्थात् उसे कान में बाँधा हुआ कहा था, छेदकर पहना हुआ नही। 'ऋतुसंहार' मे जहाँ कानो मे पहने हुए पुष्पो की चर्चा आयी है, वहाँ 'दत्तम्' (दिया हुआ) कहा है (कर्णेपु दत्तं नव कर्णिकारम्)। जिससे अनुमान किया जा सकता है कि ये सूते मे गूँथकर ऊपर से डाल लिये जाते थे। तपोनिरता पार्वती के कपोल-स्थल को, जिस पर कान पर लटकनेवाले उत्पल-पत्र चिरकाल से नही दिखायी दे रहे थे और धान की पकी बालो के समान पिंगल-वर्ण की जटाएँ झूल रही थी, देखकर ब्रह्मचारीवेशधारी शिव को बड़ा कष्ट हुआ था। हाय, वह हृदयहीन प्रेमी कौन होगा जो मोहन रूप की इस दुर्गति को बर्दाश्त करके स्थिर बैठा हुआ है :

अहो स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते।
उपेक्षते यः श्लथलंबिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिंगलाः ॥

(कुमा.र., 5-47)

अंगद (बाहुमूल मे पहना जानेवाला अलकार), श्रोणी-सूत्र (करधनी), मणिमेखला, चूड़ामणि, शिखा-दृढ़िका आदि अलंकार बाँधकर पहने जाते हैं, इसलिए निवन्धनीय कहलाते है। कालिदास ने अंगद की चर्चा प्राय: वलय के साथ की है—'प्रयान्ति चाङ्गं वलयाङ्गदानि' (ऋतु., 4-3), 'भुजेपु चैव वलयाङ्गदानि' (ऋ., 6-7),। इससे जान पड़ता है कि अगद बाहुमूल मे उसी प्रकार पहना जाता था जिस प्रकार कलाई मे कंकण-वलय। यदि यह अनुमान ठीक हो तो अंगद निवन्धनीय न होकर प्रक्षेप्य अलंकार माना जायेगा। अंगद कुछ इस प्रकार के पेंच से कसा जाता था कि वह भुजमूल को कसके जकड लेता था। यह पुरुप और स्त्री दोनो का परिधेय था। कलिंगनाथ को 'अंगदाश्लिप्टभुज' कहा गया है। एक विलासी राजा का हार कन्धे से जो सरका तो कसे हुए अंगद के किनारे अटक गया—'रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम्' (रघु., 6-14)। इसमें मणि जड़ी होती थी। साधारणतः केयूर और अगद एक ही गहने माने जाते है। 'अमरकोष' में ऐसा ही बताया गया है। पर कालिदास ने केयूर को स्पष्ट रूप से निवन्धनीय अलंकार माना हैं—'केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद' (रघु. 6-68)। 'अंगद' शब्द मे ही अंग से अवपीडन या कसकर पकडने की ध्वनि है।

श्रोणी-सूत्र, श्रोणी-दाम या जघन-काञ्ची अर्थात् कटि में पहने जाने-वाली और पीछे की ओर झूलती हुई करधनी कालिदास का बहुत ही प्रिय अलं-कार है। 'ऋतुसंहार' मे इसे 'हेममेखला' (1-6), 'मेखला' (1-4), 'कांची' (2-20), 'रसना' (3-20), 'कनक-काची' (3-26), 'काची-गुण' (4-4), 'जघन-काची' (6-7), 'हेम-रसना' (6-24) आदि कहकर बार-बार स्मरण किया गया है। इसमें मणि भी जड़ी जाती थी, जिसके कारण 'मणि मेखला' (6-24)

और 'कांचन-रत्न-चित्र' (4-4) भी कहा गया है। उस काल के शिल्प में इस अलंकार का भूरिशः प्रयोग मिलता है।

'विक्रमोर्वशीय' में चूड़ामणि अर्थात् चूड़ा में धारण किये जानेवाले मणिमय अलंकार की चर्चा है। 'मेघदूत' में सिर में पहने जानेवाले रत्न-जाल (पूर्वमेघ, 66) और मुक्ता जाल (पूर्वमेघ, 9) का उल्लेख है जो निबन्धनीय अलंकार है। 'रघुवंश' मे तिलक की मजरी पर भौरों के बैठने और ओस की बूंद के पड़ने से जो शोभा उत्पन्न होती है, उसे सुन्दरियों के केश-पाश में बँधे हुए मौक्तिकजाल से तुलनीय बताया गया है (9-44)। पर कालिदास केश-रचना में पुष्पपल्लवों को अधिक महत्त्व देते है। नील अलकों मे शोभमान अशोकपुष्प (ऋतु 6), धम्मिल्ल या जूड़े को घेरकर शोभित होनेवाली मालती-माला, चम्पक-कुसुम, कदम्बपुष्प आदि को वे अधिक रुचि से चित्रित करते है।

उर्मिला, कटक, मंजीर (नूपुर) आदि अलंकार अंग मे प्रक्षिप्त होते है, इसलिए प्रक्षेप्य कहलाते है। इनमें मंजीर या नूपुर कालिदास का प्रिय गहना है। कलिदास ने प्रायः पैर में रुन-भुन करनेवाले नूपुरों का 'हंस-रुतानुकारी' अर्थात् हंस की ध्वनि का अनुकरण करनेवाला कहा है। इसकी मधुर ध्वनि के कारण इसे कलनूपुर (रघु., 16-12 ; ऋतु., 3-20) आदि कहा गया है। हाथ या पैर के कटक (कड़े) कालिदास को कम आकृष्ट कर सके हैं, पर वलय (कंकण) उन्हे अधिक प्रिय है। पुरुषों के कनक-वलय की चर्चा उन्होने की है। अंगुलीय, अंगुलीयक (अँगूठी) की भी बहुत चर्चा है। अँगूठी मे पहननेवाले के नामाक्षर भी अंकित रहते थे। दुष्यन्त की अँगूठी में उसका नाम खुदा हुआ था।

झूलती हुई हेम-माला, हेम-हार, रत्न-हार, नक्षत्र-मालिका आदि अलंकार आरोपित किये जाने के कारण 'आरोप्य' कहलाते हैं। हार कालिदास का सर्व-प्रिय अलंकार है। भारी हारों को वे बहुत पसन्द नही करते। हल्के, कान्तिमान और स्निग्ध हार उन्हें प्रिय हैं। हेम और मुक्ता हार के सर्वोत्तम उपादान है। स्त्री-सौन्दर्य को सर्वाधिक आकर्षक बनानेवाले अंग का अलंकार होने के कारण यह कालिदास को इतना प्रिय है कि हार की चर्चा आते ही वे उभरे हुए वक्ष.स्थलों की चर्चा करते है। हार-यष्टि और श्रोणी-सूत्र नव-यौवन के सर्वाधिक आकर्षक धर्म 'वपुर्विभिन्नं' के अलंकारकारक, उद्दीपक और मोहक बनाने के कारण कालिदास को बहुत प्रिय हैं।

अंशुक या वस्त्र

'अंशुक' शब्द का प्रयोग वस्त्र के सामान्य अर्थ में होता है। कभी-कभी कालिदास आँचल के अर्थ में भी इसका प्रयोग करते हैं। राजानक रुय्यक वस्त्रों के चार भेद बताते हैं: (1) कुछ छाल से बनते हैं, (2) कुछ कपास की रुई से, (3) कुछ कीड़ों से, (4) कुछ जीव-जन्तु के रोओं या ऊन से। इन्हें क्रमशः क्षौम, कार्पास, कौशेय, और राङ्कव कहते हैं। 'क्षौम' क्षुमा या तीसी के छाल से बनता था और चन्द्रमा के समान पाण्डुरवर्ण का होता था। अन्य वृक्षों की छाल से भी सुन्दर महीन वस्त्र बनते थे। नागवृक्ष (नागफनी), वकुच (बड़हर), वकुल (मौलसिरी) और वट (बरगद) की बनी हुई क्रमशः पीले, गेंहुए, सफेद और नवनीत (मक्खन) के रंग की पत्रोर्णाओं की चर्चा कौटिल्य ने की है। पत्रोर्णा (पत्ते का ऊन) निश्चय ही बहुमूल्य वस्त्र था। मालविका पटरानी होने योग्य थी, पर उससे दासी का काम लिया जाता था। राजा ने दुःख के साथ कहा था कि यह ऐसा ही है जैसे कोई पत्रोर्णा से देह पोंछने के गमछे का काम ले। कौशेय रेशम बनानेवाले कीड़ों के कोष (कोए) से बनता है। कालिदास को कौशेय वस्त्र भी प्रिय है। हेमन्त-काल में रंगीन कौशेय वस्त्र स्त्रियों की साड़ी के काम आते थे ('सरागकौशेयविभूषितो यः')। रांकव या ऊन के वस्त्र कालिदास की दृष्टि आकृष्ट कर सके हैं। कार्पास या रुई के कपड़े तो प्रसिद्ध ही हैं। कौटिल्य के समय में वंग-देश में वांगक दुकूल श्वेत स्निग्ध होते थे, पौण्ड्र (उत्तरी बंगाल) के श्याम और मणिपृष्ठ के समान चिकने होते थे, सौवर्ण-कुड्यक नाम के दुकूल लाल बनते थे। ये सभी ऊन के या रेशम के हुआ करते थे। काशिक या बनारसी रेशमी दुकूल भी बहुत प्रसिद्ध थे। काशिक और पौण्ड्रक क्षौम वस्त्र भी बहुत सुन्दर माने जाते थे। कालिदास चीन के बने रेशमी वस्त्र (चीनांशुक) की भी चर्चा करते हैं।

इन सभी वस्त्रों से परिधेय वस्त्र तीन प्रकार के बनते हैं। हेमालंकारों में कुछ अलंकार जैसे आवेध्य या अंग छेदकर पहनने योग्य होते हैं, वैसे वस्त्रों में नहीं होते। बाकी तीन प्रकार अर्थात् निबन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य जाति के पहनावे वस्त्रों के भी होते हैं।

पगड़ी, साड़ी आदि निबन्धनीय हैं। ये बाँधकर पहने जाते हैं। कालिदास में पुरुषों के वेश में वेष्टन या उष्णीष (पगड़ी) और दुकूल-युग्म (दो दुकूलों) का उल्लेख मिलता है। दिलीप जब वन को जा रहे थे तो उन्होंने सिर पर वेष्टन या पगड़ी बाँध ली थी। और उनके पुत्र रघु जब अपने पुत्र को राज्य देकर जाने लगे तो वेष्टन-शोभी सिर से पुत्र (अज) ने झुककर प्रणाम किया था। दो दुकूल पुरुष के पहनावे में होते थे। इनमें से एक तो उत्तरीय या चादर था जो कभी-कभी रत्न-ग्रथित भी होता था (रघु., 16।43)। दूसरा अधोवस्त्र या पोत-वस्त्र

(धोती)। परन्तु कालिदास ने स्पष्ट रूप से इसका कोई नाम नही लिया है। उस काल के चित्रों में राजा के अंग पर केवल ये ही दो वस्त्र दिखायी देते हैं। स्त्रियों के पहनावे में दुकूल की बहुत भाँतियाँ कालिदास ने बतायी हैं। कालिदास को झीने-महीन दुकूल अधिक रुचिकर लगते हैं। उभरे पीन वक्षःस्थल; सलीके के साथ, सुकुमार भाव से ओढ़े हुए तन्वंशुक अर्थात् महीन वस्त्र का आँचल (ऋतु., 1।7); श्रोणीबिम्ब पर अलस-विलसित दुकूलप्रान्त उनकी दृष्टि अधिक आकर्षित कर सके है। ये सित या श्वेत भी हो सकते है, कुंकुम के समान पीली गोराई लिये भी हो सकते है। 'तन्वंशुकैः कुंकुमरागगौरैः' (6-5)', कुसुम्भी रंग के भी हो सकते हैं, लाख के रंग के रँगे हुए लाल-लाल और चित्र-विचित्र भी हो सकते हैं। पर कालिदास उनका बहुत भारी-भरकम होना पसन्द नही करते। जाड़े के दिनों में 'गुरूणिवासांसि' आवश्यक थे, पर कालिदास प्रायः उनकी चर्चा तभी करते हैं जब वे शरीर पर से उतारकर फेंक दिये जाते हैं (ऋतु., 6।7)। हेमन्त-वर्णन के प्रसंग में एक बार उन्होने खिड़की दरवाजा बन्द करके मोटे-मोटे कपड़े पहननेवालों की चर्चा कर अवश्य दी है, पर ये पुरुष हैं। उनके शरीर पर मोटा कपडा कालिदास बर्दाश्त कर सकते है। सुकुमार शरीर पर तो वे कालिदास के बर्दाश्त के बाहर है। यहाँ भी उन्होने स्त्रियों को मोटे लबादे में नही देखा।

अधोंशुक या परिधान, साडी का पूर्वरूप है। यह निबन्धीय वस्त्र नीचे की ओर पहना जाता था। उत्तरीय या ऊपर के दुकूल की अपेक्षा यह कदाचित् छोटा होता था। इसलिए इसे उपसंव्यान (अमर., 6-117) और उत्तरीय दुकूल को संव्यान कहते थे। 'संव्यान' अर्थात् आवरण और उपसंव्यान अर्थात् छोटा आवरण। उत्तरीयदुकूल को 'बृहतिका' (बडा आवरण) कहना भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है (अमर., 6-117)। इस अधोवस्त्र या परिधान को सूत्र से बाँधते थे। शिवजी जब वर-वेश में नगर में पहुँचे तो स्त्रियों मे देखने की उत्सुकता बढ गयी थी। उतावली में एक के परिधान का सूत्र टूट गया, पर वह नीवी बाँधे बिना ही दौड़ पड़ी ('प्रस्थानभिन्ना न बन्ध नीवीम्')। ठीक यही बात इसी प्रकार के प्रसंग में 'रघुवंश' में भी आयी है (रघु., 7।9)। नीवीबन्ध की चर्चा कालिदास आदि कवियों ने कई स्थलो पर की है। इससे स्पष्ट है कि अधोंशुक या परिधान बाँधकर पहना जाता था।

एक और वस्त्र बाँधकर पहना जाता था। कालिदास ने इसे कूर्पासक (चोली) कहा है (ऋतु., 4।13)। 'हारावली कोष' में कूर्पासक को अर्द्धचोली कहा है; पर 'अमरकोष' में यह चोली का ही पर्याय बन गया है। वधू के लिए अवगुण्ठन या घूँघट का होना आवश्यक है। ऐसे समय मे एक प्रकार का प्रावरण (बडी चादर) का व्यवहार होता था जिससे सारा शरीर ढक जाय। 'शकुन्तला' में इसी प्रकार की ढकी वधू शकुन्तला का वर्णन है (5।13)। राजानक रुय्यक चोली को प्रक्षेप्य कहते है।

जिस प्रकार हेमरत्नालंकारों के चार भेद है, उसी प्रकार माल्यो के भी चार ही भेद है। पर माल्य ग्रथित और अग्रथित भेद से दो प्रकार होते है; इसलिए ये वस्तुतः आठ प्रकार के हो जाते है। राजानक रुय्यक ने पुष्पप्रसाधन के विविध रूपो के नाम इस प्रकार गिनाये हैं : (1) वेष्टित, जो *अंगविशेष* को घेर ले; (2) वितत, जो एक पार्श्व मे ही विस्तारित हो; (3) संघाट्य, जो अनेक पुष्पों के समूह से खचित हो; (4) ग्रथमित, जो बीच-बीच में विषम गाँठवाला हो; (5) अवलम्बित, जो विशेष भाव से स्पष्ट रूप मे उम्भित अर्थात् एक साथ जुडा होकर झूल रहा हो; (6) मुक्तक, जो केवल एक पुष्प से बना हो; (7) मंजरी अर्थात् अनेक छोटे पुष्पो की लता; (8) स्तवक (पुष्पगुच्छ)। कालिदास पुष्प-माल्य के आभरणो का जमके वर्णन करते है। पार्वती पर्याप्त पुष्पस्तवक के भार से झुकी हुई संचारिणी लता के समान शिव के पास गयी थी। कवि ने वसन्त-पुष्पों के आभरण—जिसमें पद्मराग को निर्मद करनेवाला लाल-लाल अशोक-पुष्प, हेम की द्युति को आहरण करनेवाला पीला-पीला कर्णिकार और मोतियों की शोभा को उत्पन्न करनेवाला सिन्दुवार पुष्प भी था—की पृष्ठभूमि के लिए उदन्त सूर्य की आभावाले लाल-लाल अंशुक का सन्निवेश किया है :

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्त-पुष्पाभरणं वहन्तीम् ॥
आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥

(कुमार., 3-53, 54)

उन्होंने सुन्दरियों के सिर पर पहनी जानेवाली कदम्ब, नवकेसर और केतकी की (ऋतु., 2।9), तथा मालती पुष्प सहित मौलसिरी या खिले हुए अन्य नवीन पुष्पों के साथ जूही की कलियों की माला का मनोहर अलंकरण पसन्द किया था (ऋतु., 2।25) और केवल वेला के प्रफुल्लित पुष्पों के गजरे को देखकर आह्लाद अनुभव किया था (ऋतु., 6।6)। यद्यपि मृणालसूत्रों की माला कालिदास को बहुत प्रिय है; शकुन्तला का चित्र राजा दुष्यन्त को तब तक अपूर्ण लगा था जब तक उन्होंने उसके कानो मे गण्डस्थल तक झूलने योग्य केसरवाले शिरीष को नहीं पहनाया और वक्षःस्थल के ऊपर झूलनेवाले मृणालसूत्रों का हार नहीं रच दिया :

कृतं न कर्णार्पितमण्डनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥

तथापि राजानक रुय्यक इस मृणालसूत्र की गणना माल्य में नहीं करते। माला मे फूल अवश्य चाहिए !

मण्डन-द्रव्य

कस्तूरी, कुंकुम, चन्दन, कर्पूर, अगुरु, कुलक, दन्तसम, सहकार, तैल, ताम्बूल, अलक्तक, अंजन, गोरोचना, कुशीर, हरिताल प्रभृति उपकरण मण्डन हैं। ये कालिदास को प्रिय हैं। इनमें कुछ की प्रकृति शीत है, कुछ की उष्ण, कुछ की सम। कुछ गर्मियों में काम आते हैं, कुछ सर्दियों में और कुछ सब ऋतुओं में।

स्नान करने के बाद ही मण्डन द्रव्यों का उपयोग होता है। स्नान के पूर्व अभ्यंग अर्थात् औषधि मिला तैल या आँवलों का कल्क आदि से शरीर में मालिश की जाती थी। कालिदास ने अभ्यंग क्रिया का उल्लेख 'शाकुन्तल' में किया है। पार्वती के विवाह में पहले लोध्र-कल्क से उत्सादन या उद्वर्तन (उबटन) किया गया था। पुराने ग्रन्थों में तैलाभ्यंग और उत्सादन के लिए अनेक स्वास्थ्यकर औषधियों की चर्चा आती है। चरक, सुश्रुत, वृहत्संहिता आदि ग्रन्थों में स्वास्थ्य और सौन्दर्य बढ़ानेवाली औषधियों का भूरिशः उल्लेख है, किन्तु कालिदास ने केवल इंगितमात्र कर दिया है। स्नान के जल को प्रस्तुत करने की विधियाँ भी शास्त्र में दी हुई है। कालिदास को उसकी जानकारी अवश्य थी, पर बहुत विस्तार से उन्होंने उसका कोई उल्लेख नहीं किया है। नदी या सरोवर में स्नान उन्हें अधिक प्रिय जान पड़ता है। 'कृताभिषेक' पार्वती की कठिन तपस्या का हृदयग्राही चित्रण करते समय ब्रह्मचारीवेश में शिव आकर जो आवश्यक बातों की जानकारी प्राप्त करना चाहते है, उनमें एक यह भी है कि तुम्हारे स्नान के लिए पर्याप्त जल मिल जाता है कि नहीं—'जलान्यपि स्नान-विधिक्षमाणि ते।' विवाह के अवसर पर सोने के घड़े से मंगल-स्नान की चर्चा है। परन्तु 'ऋतुसंहार' में विलासियों के स्नान-कषाय-शिरोरुहों की चर्चा से अनुमान किया जा सकता है कि स्नान के जल में किसी प्रकार के सुगन्धित कषाय का प्रयोग होता था। एक और स्थान पर पाटलामोद-रम्य-सुख-सलिल-निषेक कहकर उन्होंने सुगन्धित जल से स्नान का उल्लेख किया है। जान पड़ता है कि माघ की भाँति 'स्वच्छाम्भःस्वपनविधौतमंगयष्टिः' होना, और श्रीहर्षदेव की भाँति 'प्रत्यग्रमज्जनविशेष-विविक्तकान्ति' का भाव ही कालिदास को भी रुचिकर था। स्नान के उपरान्त अंगराग (अरगजा), जिसमें कस्तूरी, चन्दन, आदि सुगन्धियों का समावेश है, कालिदास को अधिक आकर्षक जान पड़ते हैं। मतलब से मतलब है! कालिदास ग्रीष्मऋतु में चन्दन की खूब चर्चा करते हैं। घिसे हुए 'चन्दनपंक' की शीतलता भारतवर्ष में दीर्घकाल से समादृत है, उसे पयोधर-देश पर चर्चित करने की चर्चा भी बराबर मिलती है। कालिदास इसका कई प्रकार से उल्लेख करते हैं। 'पयोधराश्चदनपंकचर्चिता.' में ग्रीष्मऋतु का विलास है। चन्दन के पानी से भिगोये हुए ताल-व्यजन के वायु से भी ग्रीष्म-ताप निवारण की विधि है। किन्तु विरह की उष्णता के शामक रूप में भी उन्होंने इसका स्मरण किया है। वर्षाऋतु में कालागुरु अधिक मात्रा में मिला-

कर चन्दन के साथ लेप करने की बात कही गयी है।

जैसे-जैसे सर्दी बढ़ती जाती है और गर्मी कम होती जाती है, वैसे-वैसे कालागुरु और कस्तूरी का प्रयोग भी बढता जाता है। हेमन्त में शरीर कालीयक से अधिक चर्चित किया जाता था (ऋतु., 4.5)। कालागुरु धूप-धूम का मान बढ जाता था। कालीयक के अनुलेपन की धूम मच जाती थी। इस ऋतु में पयोधर कुंकुम-राग-पिंजर होने लगते है, अगुरु-सुरभि-धूम से केश-पाश आमोदित करने की प्रक्रिया बढ जाती है। और फिर जब वसन्तकाल में सर्दी और गर्मी का धूप-छाँही मौसम आ जाता है तो प्रियंगु-कालीयक-कुंकुम के पत्र-लेखों के साथ मृग-नाभि या कस्तूरी मिले हुए चन्दन और फिर केवल सित चन्दन से आर्द्र हार वक्ष-देश को मण्डित करने लगते है। इस प्रकार स्नानोपरान्त विविध सौगन्धिक मण्डनो का विधान कालिदास ने किया है। अंगराग और अनुलेपन का शब्दशः उल्लेख कई बार आया है। भारतवर्ष का सहृदय न जाने कब से गन्ध-माल्य का महत्त्व स्वीकार करता आया है। चरक ने कहा है (सु. अ., 5-96) कि गन्ध-माल्य का सेवन बल-वर्द्धक है, आयु बढानेवाला है, पुष्टि-बल-प्रद है, चित्तप्रसन्न रखनेवाला है, दारिद्र्य को नष्ट करनेवाला है और काम्य तो है ही :

वृष्यं सौभाग्यमायुष्यं काम्य पुष्टिबलप्रदम्।
सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम् ॥

गृहस्थ को और चाहिए क्या !

योजनामय अलंकार

भ्रू घटना, केशरचना, जूड़ा बाँधना, सीमन्त-रचना इत्यादि योजनामय अलंकार हैं। कालिदास के युग में पुरुषो के भी लम्बे-लम्बे केश रखे जाते थे। दिलीप जब वन गये थे तो उनके केश लताओं की छोटी-छोटी टहनियों से गुँथ गये थे। लोग—विशेषकर बच्चों के—बड़े-बड़े केशों का ऐसा सस्कार करते थे, जो कौए की पाँख की तरह मुड़े दिखते थे। उसे काक-पक्ष कहते थे। पुरुषों मे श्मश्रु (दाढ़ी) रखने की प्रथा केवल तपस्वियों मे थी, जो बिना संस्कार के कभी-कभी झाड़ू की तरह बड़ी और अस्त-व्यस्त हो जाती थी। परन्तु कालिदास ने अधिक रुचि के साथ सीमन्तिनियों के केशों की चर्चा की है। ये लम्बे केश धूप-धूम से सुगन्धित किये जाते थे। उज्जयिनी की सुन्दरियों के केशों को सुगन्धित करने में इतना धुआँ होता था कि विरही यक्ष ने मेघ को इस धुएँ से मोटे हो जाने का प्रलोभन दिया

था। कपड़े भी सुगन्धि के लिए कालागुरु के धुएँ से धूपित किये जाते थे। केशों का घन विकुञ्चित होना सौभाग्य का लक्षण माना जाता था। प्राचीन ग्रन्थो मे केशों को कुञ्चित करने की विधियाँ भी बतायी गयी है। कालिदास नितान्त घुंघराली लटों मे मालतीमाला की शोभा से नितान्त उल्लसित होते हैं। शिशिर और हेमन्त मे स्त्रियाँ कालागुरु के धूम से विशेष रूप से केशों को धूपित करती थी (ऋतु., 4।5)। शीतकाल मे फूल की माला केश-पाश से हट जाती थी, और उन्हे सुगन्धित और कुञ्चित करने की प्रक्रिया चल पड़ती थी (ऋतु., 2।15)। सुगन्धित केशो को सलीके से दो हिस्सो मे विभक्त करके सीमन्त-रचना की जाती थी। कालिदास तो सुन्दरियों को 'सीमन्तिनी' कहना अधिक पसन्द करते है। सीमन्त मे कुसुम-स्वच्छ सिन्दूर धारण करना तो सौभाग्य का लक्षण ही था, किन्तु सीमन्त पर कदम्ब-पुष्प को धारण करना सुरुचि का चिह्न समझा जाता था। सजाने के लिए अन्य पुष्प और आभरण भी काम मे लाये जाते थे।

सुसस्कृत केशो को अनेक प्रकार से बाँधकर धम्मिल्ल या जूडा बाँधा जाता था। कालिदास ने इसकी बहुत अधिक चर्चा नही की है। उन्हे लहराते हुए केश या गुँथी हुई चोटी अधिक आकर्षक लगे हैं। अलक-राजि को गूँथकर पीठ पर लहराना 'प्रसिद्धी' कहलाता है। पार्वती 'मंगल-स्नान-विशुद्धगात्री' हुई तो स्त्रियों ने पहले-पहल धूप-धूम से उनके केशों को सुखाया, फिर लहराते हुए केशों की फुगनी मे पुष्पों का ग्रथन किया, फिर पीले-पीले महुए की माला उसमे बाँध दी। इस प्रकार प्रसिद्ध अलकों की शोभा न तो भौरा-उलझे पत्र-पुष्प मे मिलती है, न समेघलेखा चन्द्र-कला में (कु., 7।16)। विरहावस्था में संस्कारों की उपेक्षा से केश एकवेणी हो जाते थे। यक्ष-प्रिया के इन उपेक्षित केशो को कालिदास ने बड़ी ही करुण भाषा में चित्रित किया है।

'भ्रूघटना' की प्रथा केवल नगर की विलासिनियों में प्रचलित थी। जानपद वधुएँ 'भ्रूविलासानभिज्ञ' हुआ करती थी। कालिदास सुभ्रुओं से बहुत अधिक परिचित जान पड़ते है। भ्रूभग का उन्होंने जमके वर्णन किया है, सुन्दर बने हुए भ्रुवों के क्षेप मे ही अपाग-वीक्षण की कुटिलता आती है (भ्रूक्षेपजिह्मानि च वीक्षितानि 6-13)। मेघदूत में कहा है कि गंगाजी पार्वती की भ्रुकुटि-रचना की, फेन रूपी हास से, उपेक्षा करती थी।

प्रकीर्ण-अलंकार

प्रकीर्ण अलंकार दो प्रकार के होते है : (1) जन्य, (2) निवेश्य। श्रम-जल, मदिरा-मद आदि जन्य है। दोनों का कालिदास ने जमकर प्रयोग किया है। ग्रीष्म-काल में भी 'प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु' को नही भूलते। वर्षा मे भी 'ससीधु' वदनों का स्मरण करते है। सर्दियो मे भी उसके आनन्द से अभिभूत होते है, और वसन्त का तो कहना ही क्या ? इसमे मदिरालस नेत्र (ऋ.,6-12), मदिरालस वाक्य (ऋ.,6-13), मधुसुरभि मुख (ऋ.,36), निशिसीधुपानं (ऋ.,6-35) इनके सधे हुए प्रयोग है। जिन चरित्रों को उन्होने आदर्श रूप मे चित्रित किया है, वहाँ इसे घुसने की आज्ञा नही है। वहाँ यौवन ही मद का साधन होता है, मदिरा नही—'अनासवाख्यं करणं मदस्य'। *और कम-से-कम एक जगह उन्हें स्पष्ट रूप से पण्यस्त्रियो और उद्दामयौवन नागरों का सेव्य कहकर इसके प्रति अनास्था भी प्रकट की है।*

निवेश्य अलंकार तो दूर्वा, अशोक, पल्लव, यवांकुर, तमाल-दल, मृणाल-वलय, करक्रीडनक आदि है। कालिदास के ग्रन्थों में इनका बहुत हृदयग्राही वर्णन है। सच पूछा जाय तो कालिदास को ये प्राकृतिक सुकुमार प्रसाधन जितने रुचिकर है उतने हेमालकार, रत्नाभरण भी नही। अलका मे कल्पवृक्ष जिन समस्त अवलावमडनो को अकेले ही उत्पन्न करता रहता है उनमे निम्नाकित वस्तुएँ है : अनेक रगो के वस्त्र (चित्र वस्त्र), मधु या मदिरा, पुष्प, किसलय, अनेक प्रकार के आभूषण, लाक्षारस या महावर। अलका की विलासिनियाँ हाथ मे नीला कमल, केश मे नये कुन्द के फूल, चूडा-पाश मे ताजे कुरबक के पुष्प, कपोलदेश पर लोध्र फूलो का पराग (पाउडर के स्थान पर), कानों मे शिरीष-पुष्प और सीमन्त मे कदम्बपुष्पों को धारण करती थी। सब प्रकार से सुन्दरियों का प्रेम जब अपनी चरम-सीमा पर होता था, उस अभिसार-रात्रि मे भी अलकों मे मन्दार-पुष्पो को पहनना नही भूलती थी, कान मे कनक-कमलो का पत्रच्छेद्य अवश्य धारण करती थी। विदिशा की फूल चुननेवाली पुष्पलावियाँ भी कान मे कमल का कर्णफूल धारण करती थी। भवानी कानो मे कुवलयदल धारण करने की ही अभ्यस्ता है,पर पुत्रप्रेम से वे कभी-कभी मयूर-पुच्छ भी धारण करती है। शकुन्तला के कानो मे आगण्ड-विलम्बि शिरीष-पुष्प लटक रहा था, और सदा वक्ष.स्थल पर मृणालवलय झूलता रहता था। पार्वती के जूड़े मे जो मधूक की माला पहनायी गयी थी उसमे दूर्वा भी थी—'दूर्वालतापाण्डुमधूकदामा' (कु., 7.-14), उनके कपोल लोध्रकषाय या लोध्र के पराग से रूक्ष बने हुए थे, जिस पर कानों मे पहना हुआ यवप्ररोह (यवाङ्कुर) शोभित हो रह था। स्वयं रति देवी के कानो मे भी नील कमल के गहने शोभा देते थे। ककुभ द्रुम की मंजरियाँ वर्षाकाल में कर्णावतंस का काम करती थीं। या फिर कदम्ब का पुष्प कर्णफूल के लिए उपयुक्त माना जाता था। केश-पाश में पुष्पों के अवतंस 'आभूषण' मनोहरता

चार-चाँद लगाया करते थे। शरत् काल में नितान्त घननील विकुंचिताग्र केशों में नव-मालती की माला धारण की जाती थी और कानों मे नीलोत्पल। वसन्तकाल में मनोहर कुसुम वक्ष:स्थल में हार की जगह विराजमान होते थे। कानों में नवीन कर्णिकार का पुष्प और चंचल नील अलकों मे अशोकपुष्प लटका करते थे। अशोक के नवीन पुष्प ही उन्हे प्रेमोद्दीपक नही जान पड़ते थे, प्रिया के कानों में अर्पित होने पर उसके किसलय भी मादक सिद्ध होते थे :

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितम् ॥

(रघु., 9-28)

और प्रभात-कालीन धूप के रंग को मात करनेवाली महीन साड़ी के साथ यवाङ्कुर कानों मे आभूषण का आसन ग्रहण करता था, और फिर कजरारे कोकिल भी कूक उठते थे। फिर तो संसार का निःशेष रस एकमात्र सुन्दरियों पर ही केन्द्रित हो उठता था :

अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवाङ्कुरैः।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृता ॥

(रघु., 9-43)

सही तो कालिदास के मत से, यह है कि दहकते हुए अंगार के समान वासन्ती पुष्पों को कनकाभरण का प्रतिनिधि ही समझना चाहिए। अगर युवतियाँ कनकाभरण को छोड़कर इन पुष्पों का प्रसाधन रूप मे उपयोग करती हैं तो यह उचित ही है। कालिदास ने इन प्रसाधनों को पवित्र और मंगलकारक माना है। 'विक्रमोर्वशीय' (3-12) में व्रत करनेवाली रानी के केशों में पवित्र दूर्वाङ्कुर शोभित हो रहा था। सफेद साड़ी और मंगलमात्र भूषण की पृष्ठभूमि मे दूर्वाङ्कुर की महनीयता कालिदास ही बता सकते थे !

सितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलक्षितालका।

कहाँ तक कहा जाय, कालिदास प्राकृतिक प्रसाधनों के बहुत बड़े धनी हैं। शकुन्तला प्रिय-मण्डना थीं, परन्तु आश्रमवृक्षों के प्रति स्नेहाधिक्य के कारण उनके पल्लवों को तोड़ने मे संकोच अनुभव करती थीं। मण्डन द्रव्यों से अनेक प्रकार के पत्रलेख बनाने की बात कालिदास में मिलती है। कोश मे कई प्रकार के पत्रलेखों की चर्चा है : पत्रलेख, पत्रागुली, तमालपत्र, तिलक, चित्रक, वैशिषिका। अन्यत्र मकरिका और नवमंजरी आदि की चर्चा मिलती है। जान पड़ता है, शुरू-शुरू मे पत्रों को काटकर अनेक प्रकार की चित्र-विचित्र आकृति बनती थी, जिससे बाद मे उन्हें मण्डन द्रव्यों मे गिना जाने लगा। कुरबक के पीले-पीले पुष्पों पर काली भ्रमर-राजि को देखकर कालिदास को पत्र-विशेषको का स्मरण हो आता है। जब पार्वतीजी के गोरे शरीर पर शुक्ल अगुरु का विलेपन करके गोरोचना से पत्रलेख लिखा गया, तो शोभा, गंगा के सैकत-पुलिन पर चक्रवाकों के बैठने से बनी कान्ति को भी मात दे गयी।

इन रूप और अलंकारों के समवाय का नाम वेश है। स्त्रियों के समूच वेश की सफलता इस बात मे है कि प्रिय उसे देखे और देखकर प्रसन्न हो जाय। इसीलिए कालिदास ने कहा, 'स्त्रीणा प्रियालोकफलो हि वेशः।'

कालिदास ने इन सुगन्धित द्रव्यों के उद्गम और आयात का स्थान भी कभी-कभी इशारे से बता दिया है। कस्तूरी या मृगनाभि हिमालय से, कुंकुम-केसर वाह्लीक (बलख) से, कालागुरु प्राग्ज्योतिष (असम) से, लोध्र हिमालय से, चन्दन मलयगिरि से, ताम्बूल-दल कलिंग से, सालद्रुम और देवदारद्रुम हिमालय से, एला कावेरीतट से, पुन्नाग केरल से प्राप्त होता था।

कालिदास ने ताम्बूल, विलेपन और माला धारण करने की बात लिखी अवश्य है; पर ताम्बूल पर उनका अधिक ध्यान नही है। लाक्षारस या अलक्तक को वे अधिक उत्तम अलकरण के रूप मे चित्रित करते हैं। सच पूछिए तो कालिदास ने लाक्षारस को प्रमुख प्रसाधनद्रव्य के रूप मे इतनी प्रकार से और इतनी बार चित्रित किया है कि सन्देह होता है कि कही अधर की रगाई के लिए भी वे इसी का उपयोग तो नही बताते। वस्त्रों को तो वे लाक्षा-रस-रजित कह ही चुके हैं (ऋतु., 6)। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' मे अधरो को रँगने के लिए अलक्तक और मोम (सिक्थ) का जो प्रयोग है, वह शायद उन्हे भी रुचता था। अस्तु, गन्ध-युक्ति की विद्या इस देश मे बहुत पुरानी है। कालिदास के पूर्व से ही इसका प्रयोग चला आता है। उत्सादन, अनुलेपन, अगराग, केश और वस्त्रो का सुगन्धीकरण और ताम्बूल मे अनेक प्रकार की सुगन्धित वस्तुओं के योग से निःश्वास को सुगन्धित बनाना कलाओं मे गिना जाता था। 'ललित-विस्तर' मे जिन कलाओं की चर्चा है, उनमे भी इनकी गणना है। भगवान् बुद्ध के युग में यह बात इतनी प्रचलित थी कि भिक्षु और भिक्षुणियो तक मे इनका बहुत प्रवेश था।

स्त्री ही ससार का श्रेष्ठ रत्न है

भूषणों का विधान नाना भाव से शास्त्रों मे दिया हुआ है। 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में माल्यभोग और भूषाभोग नामक अध्यायो में (प्र.3, अ.7-8) भाँति-भाँति के माल्यों और भूषणों का विधान किया गया है, परन्तु वराहमिहिर ने स्पष्ट रूप से

बयाया है कि वस्तुतः स्त्रियां भी भूपणों को भूषित करती हैं, भूषण उन्हें भूषित नही कर सकते·

रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनांगनांगसंगात्।।

(वृ. सं., 74 । 2)

वराहमिहिर ने दृढ़ता के साथ कहा है कि 'ब्रह्मा ने स्त्री के सिवा ऐसा दूसरा बहुमूल्य रत्न संसार में नही बनाया है जो श्रुत, दृप्ट, स्पृष्ट और स्मृत होते ही आह्लाद उत्पन्न कर सके। स्त्री के कारण ही घर में अर्थ है, धर्म है. पुत्रसुख है। इसलिए उन लोगों को सदैव स्त्री का सम्मान करना चाहिए जिनके लिए मान ही धन है। जो लोग वैराग्य का भान करके स्त्री की निन्दा कियाक रते हैं, इन गृहलक्ष्मियों के गुणों को भूल जाया करते है, मेरे मन का वितर्क यह है कि वे लोग दुर्जन है और उनकी वातें मुझे सद्भाव-प्रसूत नही जान पड़ती। सच बताइए, स्त्रियों में ऐसे कौन दोप हैं जो पुरुपो में नही है ? पुरुपों की यह ढिठाई है कि उन्होंने उनकी निन्दा की है। मनु ने भी कहा है कि वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक गुणवती है।···स्त्री के रूप में हो या माता के रूप में, स्त्रियां ही पुरुपो के सुख का कारण हैं। वे लोग कृतघ्न हैं जो उनकी निन्दा करते हैं। दाम्पत्यगत व्रत के अतिक्रमण करने में पुरुपों को भी दोप होता है और स्त्री को भी, परन्तु स्त्रियां उस व्रत का जिस संयम और निप्ठा के साथ पालन करती हैं, पुरुप वैसा नही करते ! आश्चर्य है इन असाधु पुरुषों का आचरण, जो सत्यव्रता स्त्रियो की निन्दा करते हुए 'उलटे चोर कोतवालें डांटे' की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हैं।"

अहो धाष्ट्यर्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः।
मुंचतामिव चौराणां तिप्ठ चौरेति जल्पताम् ।।

(वृ. सं., 74 । 15)

वराहमिहिर की इस महत्त्वपूर्ण घोपणा से प्राचीन भारत के सद्गृहस्यो का मनोभाव प्रकट होता है। इस देश में स्त्रियो का सम्मान वरावर बहुत उत्तम कोटि का रहा है; क्योकि जैसा कि शक्ति-संगम तन्त्र के 'ताराखण्ड' मे शिवजी ने कहा है कि नारी ही त्रैलोक्य की माता है, वही त्रैलोक्य का प्रत्यक्ष विग्रह है। नारी ही त्रिभुवन का आधार है और वही शक्ति की देह है :

नारी त्रैलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा नारी देहस्वरूपिणी।

(13-44)

शिवजी ने आगे चलकर बताया है कि नारी के समान न सुख है, न गति है, न भाग्य है, न राज्य है, न तीर्थ है, न योग है, न जप है, न मन्त्र और न धन है। वही इस संसार की सर्वाधिक पूजनीय देवता है; क्योंकि वह पार्वती का रूप है। उसके समान न कभी कुछ था, न ही है और न होगा :

न च नारीसमं सौख्यं न च नारीसमा गतिः।
न नारीसदृशं भाग्यं न भूतं न भविष्यति ॥
न नारीसदृशं राज्यं न नारी सदृशं तपः।
न नारीसदृशं तीर्थं न भूतं न भविष्यति ॥
न नारीसदृशो योगो न नारीसदृशो जपः ॥
न नारीसदृशो योगो न भूत न भविष्यति ॥
न नारीसदृशो मन्त्रः न नारीसदृश तपः।
न नारीसदृशं वित्त न भूतो न भविष्यति ॥

(13-46-48)

इसीलिए भारतवर्ष की सुकुमार साधना का सर्वोत्तम, अन्त.पुर को केन्द्र करके प्रकाशित हुआ था। वहीं से भारतवर्ष का समस्त माधुर्य और समस्त मृदुत्व उद्भासित हुआ है।

उत्सव और प्रेक्षागृह

प्राचीन भारतीय नागरिक नाच, गान और उत्सवों का आनन्द जमकर लिया करते थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन दिनों पेशेवर नर्त्तकों का अभिनयगृह किसी निश्चित स्थान पर होता था या नहीं, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। पर इतना निश्चित है कि राज्य की ओर से पहाड़ों की गुफाओं में दुमंजिले प्रेक्षागृह बनाये जाते थे और निश्चित तिथियों या अवसरों पर उनमें नाच, गान और नाटकाभिनय भी होते थे। छोटानागपुर के रामगढ की पहाड़ी पर एक ऐसे ही प्रेक्षागृह का भग्नावशेष आविष्कृत हुआ है। फिर खास-खास मन्दिरों में भी धार्मिक उत्सवों के अवसर पर नाच-गान की व्यवस्था रहा करती थी। शादी-ब्याह, पुत्र-जन्म या अन्य आनन्दव्यंजक अवसरों पर नागरिक लोग रंगशाला और नाचघर बनवा लेते थे। 'नाट्यशास्त्र' मे स्थायी रंगशालाओं की भी चर्चा है। राजभवन के भीतर तो निश्चित रूप से रंगशालाएँ हुआ करती थी। प्रायः ही संस्कृत नाटिकाओं में अन्त.पुर के भीतर अन्त.पुरिकाओं के विनोद के लिए नृत्य-गान-अभिनय आदि का उल्लेख पाया जाता है। 'नाट्यशास्त्र' मे ऐसे प्रेक्षागृहों का माप भी दिया हुआ है। साधारणतः ये तीन प्रकार के होते थे। जो बहुत बड़े होते थे, वे देवों के प्रेक्षागृह कहलाते थे और 108 हाथ लम्बे होते थे। दूसरे 64 हाथ लम्बे वर्गाकार होते थे और तीसरे त्रिभुजाकार होते थे, जिनकी

बयाया है कि वस्तुतः स्त्रियाँ भी भूषणों को भूषित करती हैं, भूषण उन्हें भूषित नही कर सकते :

रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनांगनांगसंगात्।।

(वृ. सं., 74 । 2)

वराहमिहिर ने दृढता के साथ कहा है कि 'ब्रह्मा ने स्त्री के सिवा ऐसा दूसरा बहुमूल्य रत्न ससार मे नही बनाया है जो श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट और स्मृत होते ही आह्लाद उत्पन्न कर सके। स्त्री के कारण ही घर में अर्थ है, धर्म है, पुत्रसुख है। इसलिए उन लोगो को सदैव स्त्री का सम्मान करना चाहिए जिनके लिए मान ही धन है। जो लोग वैराग्य का भान करके स्त्री की निन्दा कियाक रते हैं, इन गृहलक्ष्मियों के गुणों को भूल जाया करते है, मेरे मन का वितर्क यह है कि वे लोग दुर्जन हैं और उनकी बातें मुझे सद्भाव-प्रसूत नहीं जान पड़तीं। सच बताइए, स्त्रियों मे ऐसे कौन दोष हैं जो पुरुषों में नही हैं? पुरुषों की यह ढिठाई है कि उन्होने उनकी निन्दा की है। मनु ने भी कहा है कि वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक गुणवती हैं।···स्त्री के रूप मे हो या माता के रूप में, स्त्रियाँ ही पुरुषों के सुख का कारण है। वे लोग कृतघ्न हैं जो उनकी निन्दा करते हैं। दाम्पत्यगत व्रत के अतिक्रमण करने में पुरुषों को भी दोष होता है और स्त्री को भी, परन्तु स्त्रियाँ उस व्रत का जिस संयम और निष्ठा के साथ पालन करती हैं, पुरुष वैसा नहीं करते! आश्चर्य है इन असाधु पुरुषों का आचरण, जो सत्यव्रता स्त्रियो की निन्दा करते हुए 'उलटे चोर कोतवालें डाँटे' की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हैं।"

अहो धाष्ट्‌र्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः।
मुषतामिव चौराणां तिष्ठ चौरेति जल्पताम् ।।

(वृ. सं., 74 । 15)

वराहमिहिर की इस महत्त्वपूर्ण घोषणा से प्राचीन भारत के सद्गृहस्थों का मनोभाव प्रकट होता है। इस देश मे स्त्रियों का सम्मान बराबर बहुत उत्तम कोटि का रहा है; क्योकि जैसा कि शक्ति-संगम तन्त्र के 'ताराखण्ड' में शिवजी ने कहा है कि नारी ही त्रैलोक्य की माता है, वही त्रैलोक्य का प्रत्यक्ष विग्रह है। नारी ही त्रिभुवन का आधार है और वही शक्ति की देह है :

नारी त्रैलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा नारी देहस्वरूपिणी।

(13-44)

शिवजी ने आगे चलकर बताया है कि नारी के समान न सुख है, न गति है, न भाग्य है, न राज्य है, न तीर्थ है, न योग है, न जप है, न मन्त्र और न धन है। वही इस ससार की सर्वाधिक पूजनीय देवता है; क्योकि वह पार्वती का रूप है। उसके समान न कभी कुछ था, न ही है और न होगा :

न च नारीसमं सौख्यं न च नारीसमा गतिः।
न नारीसदृशं भाग्यं न भूतं न भविष्यति ॥
न नारीसदृशं राज्यं न नारी सदृशं तपः।
न नारीसदृशं तीर्थं न भूतं न भविष्यति ॥
न नारीसदृशो योगो न नारीसदृशो जपः॥
न नारीसदृशो योगो न भूत न भविष्यति॥
न नारीसदृशो मन्त्रः न नारीसदृश तपः।
न नारीसदृशं वित्त न भूतो न भविष्यति॥

(13-46-48)

इसीलिए भारतवर्ष की सुकुमार साधना का सर्वोत्तम, अन्तःपुर को केन्द्र करके प्रकाशित हुआ था। वही से भारतवर्ष का समस्त माधुर्य और समस्त मृदुत्व उद्भासित हुआ है।

उत्सव और प्रेक्षागृह

प्राचीन भारतीय नागरिक नाच, गान और उत्सवो का आनन्द जमकर लिया करते थे। यह तो नही कहा जा सकता कि उन दिनो पेशेवर नर्त्तकों का अभिनयगृह किसी निश्चित स्थान पर होता था या नही, क्योकि प्राचीन ग्रन्थों मे इसका कोई उल्लेख नही मिलता। पर इतना निश्चित है कि राज्य की ओर से पहाड़ो की गुफाओ मे दुमंजिले प्रेक्षागृह बनाये जाते थे और निश्चित तिथियो या अवसरों पर उनमें नाच, गान और नाटकाभिनय भी होते थे। छोटानागपुर के रामगढ की पहाड़ी पर एक ऐसे ही प्रेक्षागृह का भग्नावशेष आविष्कृत हुआ है। फिर खास-खास मन्दिरों में भी धार्मिक उत्सवों के अवसर पर नाच-गान की व्यवस्था रहा करती थी। शादी-ब्याह, पुत्र-जन्म या अन्य आनन्दव्यंजक अवसरो पर नागरिक लोग रंगशाला और नाचघर बनवा लेते थे। 'नाट्यशास्त्र' मे स्थायी रंगशालाओं की भी चर्चा है। राजभवन के भीतर तो निश्चित रूप से रंगशालाएँ हुआ करती थी। प्रायः ही संस्कृत नाटिकाओ में अन्त.पुर के भीतर अन्त.पुरिकाओं के विनोद के लिए नृत्य-गान-अभिनय आदि का उल्लेख पाया जाता है। 'नाट्यशास्त्र' मे ऐसे प्रेक्षागृहों का माप भी दिया हुआ है। साधारणत. ये तीन प्रकार के होते थे। जो बहुत बड़े होते थे, वे देवो के प्रेक्षागृह कहलाते थे और 108 हाथ लम्बे होते थे। दूसरे 64 हाथ लम्बे वर्गाकार होते थे और तीसरे त्रिभुजाकार होते थे, जिनकी

तीनों भुजाएँ बत्तीस-बत्तीस हाथों की होती थीं। दूसरे तरह के प्रेक्षागृह राजा के कहे जाते थे। ये ही साधारणतः अधिक प्रचलित थे। ऐसा जान पड़ता है कि राजा लोग और अत्यधिक समृद्धिशाली लोगों के गृहों में तो इस प्रकार की रंगशालाएँ स्थायी हुआ करती थी। 'प्रतिमा' नाटक के आरम्भ में ही नेपथ्यशाला की बात आयी है। राम के अन्तःपुर में एक नेपथ्यशाला थी, जहाँ रंगभूमि के लिए वल्कलादि सामग्री रखी जाती थी। पर साधारण नागरिक यथाअवसर तीसरे प्रकार की अस्थायी शालाएँ बनवा लेते थे। ऐसी शालाओं के बनवाने में बड़ी सावधानी बरती जाती थी। सम, स्थिर और कठिन भूमि, काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ समझी जाती थी। भूमि को पहले हल से जोतते थे। उसमें की अस्थि, कील, कपाल, तृण-गुल्म आदि को साफ करते थे और तब प्रेक्षाशाला के लिए भूमि मापी जाती थी। माप का कार्य काफी सावधानी का समझा जाता था, क्योंकि मापते समय सूत्र का टूट जाना बहुत बड़ा अमंगल का कारण माना जाता था। सूत्र कपास, बेर, वल्कल और मूंज में से किसी एक का होता था। यह विश्वास किया जाता था कि आधे में से सूत्र टूट जाय तो स्वामी की मृत्यु होती है, तिहाई में से टूट जाय तो राजकोप की आशंका होती है, चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है, हाथभर पर से टूट जाय तो कुछ घट जाता है। सो, रज्जुग्रहण का कार्य अत्यन्त सावधानी से किया जाता था। यह तो कहना ही बेकार है कि तिथी, नक्षत्र आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कापाय-वस्त्रधारी, हीनवपु और विकलांग लोग मण्डप-स्थापना के समय दिखकर अशुभ न उत्पन्न कर दें। खम्भों के स्थापन में भी इसी प्रकार की सावधानी बरती जाती थी। खम्भा हिल गया, खिसक गया, काँप गया तो नाना प्रकार का उपद्रव होना सम्भव माना जाता था। वस्तुतः रंगगृह के निर्माण की प्रत्येक क्रिया शुभाशुभ फलदायिनी मानी जाती थी। पद-पद पर पूजा, बलि, मन्त्रपाठ और ब्राह्मण-भोजन की आवश्यकता समझी जाती थी। भित्तिकर्म, चूना पोतना, चित्र बनाना, खम्भा गाड़ना, भूमि समान करना आदि क्रियाओं में भावाजोखी का डर रहता था ('नाट्यशास्त्र' 1)। इस प्रकार प्रेक्षाशालाओं का निर्माण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

राजाओं की विजय-यात्राओं के पड़ाव पर भी अस्थायी रंगशालाएँ बना ली जाती थी। इन शालाओं के दो हिस्से हुआ करते थे। एक तो जहाँ अभिनय हुआ करता था, वह स्थान और दूसरा दर्शकों का स्थान जिसमें भिन्न-भिन्न श्रेणी के लिए उनकी मर्यादा के अनुसार स्थान नियत हुआ करते थे। जहाँ अभिनय होता था, उसे रंगभूमि (या संक्षेप में 'रंग') कहा करते थे। इस रंगभूमि के पीछे तिरस्करणी या पर्दा लगा दिया जाता था। पर्दे के पीछे के स्थान को नेपथ्य कहा करते थे। यहीं से सजधजकर अभिनेतागण रंगभूमि में उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द (नि-पथ्-य) में 'नि' उपसर्ग को देखकर कुछ पण्डितों ने अनुमान किया है कि 'नेपथ्य' का धरातल रंगभूमि की अपेक्षा नीचा हुआ करता था, पर वस्तुतः यह उलटी

बात है। असल में नेपथ्य पर से अभिनेता रंगभूमि मे उतरा करते थे। सर्वत्र इस क्रिया के लिए 'रंगावतार' (रंगभूमि मे उतरना) शब्द ही व्यवहृत होता है।

गुफाएँ और मन्दिर

भारतीय तक्षण-शिल्प के चार प्रधान अंग हैं: गुफा, मन्दिर, स्तम्भ और प्रतिमा। प्रथम दो का सम्बन्ध नाटकीय अभिनयों के साथ भी पाया गया है। इस देश में पहाड़ों को काटकर गुफा-निर्माण की प्रथा बहुत पुरानी है। गुफाएँ दो जाति की हैं: चैत्य और विहार। चैत्य के भीतर एक स्तूप होता है और जनसमाज के सम्मलित होने के लिए लम्बा-चौड़ा हाल बनाया जाता है। इस प्रकार की गुफाओं मे कार्ली की गुफा श्रेष्ठ है। विहार बौद्ध-भिक्षुओं के मठ को कहते हैं। भारत में अजन्ता, एलोरा, कार्ली, भाजा, भिलसा, आदि के विहार संसार के शिल्प-प्रेमियों की प्रचुर प्रशंसा प्राप्त कर सके है। हमने पहले ही बताया है कि एक गुफा में एक प्रेक्षागृह या रंगशाला का भग्नावशेप पाया जा सका है। मन्दिरों में सम्बद्ध रंग-शालाएँ भी पायी गयी है। जिस देवता का मन्दिर हुआ करता था, उसकी लीलाओं का अभिनय हुआ करता था और भक्त लोग उन्हें देखकर परमानन्द में समय बिताया करते थे। उत्तर भारत में ब्राह्मण और जैन मन्दिर ही अधिक हैं। ब्राह्मण मन्दिर मे 'गर्भगृह' में मूर्त्ति स्थापित होती है और आगे मण्डप बना या जाता है। जैन मन्दिर मे कभी-कभी दो मण्डप होते हैं और एक वेदी भी। इन मन्दिरों के गर्भगृह में परमशिखर होता है। शिखर के ऊपर सबसे ऊँचे एक प्रकार का बड़ा आँवलानुमा चक्र या गोला होता है जिसे 'आमलक' (=आँवला) कहते हैं। उसी आमलक के ऊपर कलश होता है और उसके ऊपर ध्वजदण्ड। मन्दिरों में गर्भ-गृह के ऊपर द्रविड शैली के कई मंजिलों का [illegible] होता है जिसे शिखर कहा जाता है। यह ज्यों-ज्यों ऊँचा होता जाता है, त्यों-त्यों उसका [illegible] होता जाता है। जहाँ उत्तर भारत में शिखर होता है वहाँ दक्षिण [illegible] मे विमान होता है। गर्भगृह के [illegible] होता है और मन्दिर के [illegible] ऊँचा गोपुर होता है। [illegible] बतलाये हुए विविध [illegible] में भी नाना प्रकार के [illegible] चित्रों मे बहुत-सी [illegible]

इसी प्रकार गुफाओं में अंकित चित्रों ने नाना दृष्टि से भारतीय समाज को समझने मे सहायता पहुँचायी है। उनकी कला तो असाधारण है ही। एक प्रसिद्ध अंग्रेज शिल्प-शास्त्री ने आश्चर्य के साथ कहा था कि गुफाओं के काटने में कहीं भी एक भी छेनी व्यर्थ नहीं चलायी गयी है। भारतीय वास्तुकला की दृष्टि से इन गुफाओं और मन्दिरों की प्रशंसा संसार के सभी शिल्प-विशारदों ने की है। अद्भुत धैर्य, विशाल मनोबल और आश्चर्यजनक हस्त-कौशल का ऐसा सामंजस्य संसार मे बहुत कम मिलता है। आलोचकों ने इस सफलता का प्रधान कारण कलाकारों की भक्ति को ही बताया है।

दर्शक

इन प्रेक्षागृहों में—चाहे वे स्थायी हों या अस्थायी—अभिनय देखने के लिए जानेवाले दर्शकों में छोटे-बड़े, शिक्षित-अशिक्षित सभी हुआ करते थे, पर ऐसा जान पड़ता है कि अधिकांश दर्शक रस-शास्त्र के नियमों के ज्ञाता हुआ करते थे। कालिदास, श्रीहर्ष आदि के नाटकों में अभिरूप-भूयिष्ठा और गुणग्राहिणी परिषद् का उल्लेख है। भारतीय जीवन की यह विशेषता रही है कि ऊँची-से-ऊँची चिन्ता जनसाधारण में घुली पायी जाती है। यद्यपि शास्त्रीय विचार और तर्क-शैली सीमित क्षेत्र में ही परिचित होती थी; किन्तु सिद्धान्त सर्वसाधारण में ज्ञात होते थे। नृत्य और अभिनव-सम्बन्धी मूल सिद्धान्त भी उन दिनों सर्वसाधारण मे परिचित रहे होंगे। संस्कृत नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनय के द्रष्टा को कैसा होना चाहिए, इस विषय मे 'नाट्यशास्त्र' ने स्पष्ट रूप में कहा है (27-51 और आगे) कि उसके सभी इन्द्रिय दुरुस्त होने चाहिए, ऊहापोह में उसे पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आजकल 'क्रिटिकल ऑडिएंस' कहते हैं, ऐसा होना चाहिए), दोष का जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर आनन्दित न हो सके अर्थात् जो सवेदनशील न हो, उसे 'नाट्यशास्त्र' प्रेक्षक या दर्शको का पद नही देना चाहता (27-52)। यह जरूर है कि सभी की रुचि एक-सी नही हो सकती। वयस, अवस्था और शिक्षा के भेद से नाना भाँति की रुचि और अवस्था के अनुसार भिन्न विषय के नाटकों और अभिनयों का प्रेक्षकत्व निर्दिष्ट किया है। जवान आदमी शृंगाररस की बातें देखना चाहता है, सहृदय कालनियमो (समय) के अनुकूल अभिनय को पसन्द करता है, अर्थपरायण लोग अर्थ चाहते है, वैरागी लोग विरागोत्तेजक दृश्य देखना

चाहते है, शूर लोग वीर-रस, रौद्र आदि रस पसन्द करते है, वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराण के अभिनय देखने मे रस पाते है (27-57-58), फिर एक ही तमाशे के सभी तमाशबीन कैसे हो सकते है ! फिर भी जान पडता है कि व्यवहार मे इतना कठोर नियम नही पालन किया जाता होगा और उत्सवादि के अवसर पर जो कोई अभिनय को देखना पसन्द करता होगा, वही जाया करता होगा। परन्तु कालिदास आदि जब परिषद् की निपुणता और गुणग्राहकता की बात करते है, तो निश्चय ही कुछ चुने हुए सहृदयो की बात करते है।

लोक-जीवन ही प्रधान कसौटी है

जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, भरत का 'नाट्यशास्त्र' नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल संग्रह-ग्रन्थ है। परन्तु नाट्यशास्त्रकार ने कभी इस बात को नही भुलाया कि वास्तविक प्रेरणाभूमि लोक-जीवन है और वास्तविक कसौटी भी लोकचित्त है। बाद के अलंकारशास्त्रियों ने इस तथ्य पर उतना ध्यान नही दिया जितना भरत मुनि ने दिया था। 'नाट्यशास्त्र' के 26वें अध्याय मे उन्होने विस्तारपूर्वक अभिनय-विधियों का निर्देश किया है। बहुत विस्तारपूर्वक कहने के बाद उन्होने कहा है कि 'मैंने सब तो बता दिया पर दुनिया यही नही समाप्त हो जाती; इस स्थावर, जंगम, चराचर सृष्टि का कोई भी शास्त्र कहाँ तक हिसाब बता सकता हैं ! सैकड़ों प्रकार की भाव-चेष्टाओ का हिसाब बताना असम्भव कार्य है। लोक में न जाने कितने प्रकार की प्रकृतियाँ है; इसलिए नाट्यप्रयोग के लिए लोक ही प्रमाण है, क्योंकि साधारण जनता के आचरण मे ही नाटक की प्रतिष्ठा है !' (26-118-119)। वस्तुतः जो भी शास्त्र और धर्म और शिल्प और आचार लोक-धर्म-प्रवृत्त है वही नाट्य कहे जाते हैं :

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम् ॥

लोक के अतिरिक्त दो और बातों को शास्त्रकार ने प्रमाण माना है--वेद और अध्यात्म। वेद से उनका मतलब नाट्यवेद अर्थात् नाट्यशास्त्र से है और अध्यात्म से मतलब उस अन्तर्निहित तत्त्ववाद से है जो सदा कलाकार को सचेत करता रहता है कि वह जो कुछ कर रहा है वह खेल नही है बल्कि पूजा है, परम शिव को तृप्त करने की साधना है।

नाट्य की सफलता भी लोकरंजन मे ही है। नाट्यशास्त्रकार सिद्धि दो प्रकार

की मानते हैं, मानुपी और दैवी। दैवी बहुत-कुछ भाग्याश्रित है। भूकम्प न हो जाय, वर्षा न ढरक पडे, आँधी-तूफान न फट पड़ें, तो नाटक निर्विघ्न होता है। उस अवस्था में समझना चाहिए कि देवताओं ने सारी बातें स्वीकार कर ली है। कही कोई दोप नही हुआ है। पर मानुपी सिद्धि अभिनय की कुशलता से प्राप्त होती है। जब जनता हँसाने के अभिनय के समय हँस पड़े, रुलाने के समय रो पड़े, भावानुभूति के समय रोमाञ्चगद्‌गद हो पड़े तो समझना चाहिए कि नाटक सफल है। 'नाट्यशास्त्र' सहज ही नाटक की सफलता नही मानता। वह दर्शक के मुँह से 'अहो', 'साधु-साधु', 'हा कष्टम्' आदि निकलवा लेना चाहता है। वह सिर हिलवा देने मे, आँसू निकलवा लेने मे, लम्बी साँस खिचवा लेने में, रोमाञ्चगद्‌गद करा देने मे, झूम-झूमकर वाहवाही दिलवा लेने में नाटक की सिद्धि मानता है। वह लोक-जीवन को कभी नहीं भुलाता और न ऊपर के देवताओ की ही अवहेलना करता है। दोनों ही ओर उसकी दृष्टि है। देवता को असन्तुष्ट करना सम्भव भी तो नही है। उन दिनो के देवता अभिनय की त्रुटियो की ओर सदा आँख लगाये रहते थे। जरा-सी त्रुटि हुई नही कि आँधी भेज दी, आग लगा दी, पानी बरसा दिया, साँप निकाल दिया, वज्र गिरा दिया, कीड़ों की पल्टन दौड़ा दी, चींटियो की सेना चढ़ा दी, साँढ-भैंसा दौड़ा दिया! इनकी उपेक्षा करना क्या मुमकिन था?

वाताग्निवर्षकुंजर-भुजंग-संक्षोभ-वज्रपातानि।
कीटव्यालपिपीलिकपशुविशसनानि दैविका घाताः॥

पारिवारिक उत्सव

साधारणतः विवाह के अवसर पर या किसी राजकीय उत्सव के अवसर पर ऐसे आयोजनों का भूरिशः उल्लेख पाया जाता है। जब नगर मे वर-वधू प्रथम बार रथस्थ होकर निकलते थे, तो नगर में खरभर मच जाती थी। पुर-सुन्दरियाँ सब-कुछ भूलकर राजपथ के दोनों ओर गवाक्षो मे आँखें बिछा देती थी। केश बाँधती हुई वह हाथ में कबरीबन्ध के लिए सम्हाली हुई पुष्पस्रक् (माला) लिये ही दौड़ पडती थी, महावर देने मे दत्तचित्ता कुलरमणि एक पैर के महावर से घर को लाल बनाती हुई खिड़की पर दौड़ जाती थी; काजल बायीं आँख में पहले लगाने का नियम भूलकर कोई सुन्दरी दाहिनी आँख मे काजल देकर जल्दी-जल्दी में हाथ मे अञ्जन-शलाका लिये ही भाग पड़ती थी, रसना मे मणि गूँथती हुई विलासिनी आधे गुँथे सूत्र को अँगूठे में लिये हुए ही दौड़ पड़ती थी ('रघु.', 7-6-10 और 'कुमारसम्भव',

7-57-10) और इस प्रकार नगर-सौधों के गवाक्ष सुन्दरियों की वदन-दीप्ति से दमक उठते थे। जब कुमार चन्द्रापीड समस्त विद्याओं का अध्ययन समाप्त करके विद्या-गृह से निर्गत हुए थे और नगर में प्रविष्ट हुए थे, तो कुछ इसी प्रकार की खरभर मच गयी थी। प्रतिष्ठित परिवारों में, जिनका आपस में सम्बन्ध होता था, उनके घर उत्सव होने पर एक घर के लोग बड़े ठाट-बाट से दूसरे घर जाया करते थे। राजा, मन्त्री, श्रेष्ठी आदि समृद्ध नागरिकों में यह आना-जाना विशेष रूप से दर्शनीय हुआ करता था। मन्त्री शुकनास के घर पुत्र-जन्म होने पर राजा तारापीड़ उसका उत्सव मनाने के लिए गये थे। उनके साथ अन्त.पुर की देवियाँ भी थीं। बाणभट्ट की शक्तिशाली लेखनी ने इसका जो विवरण दिया है, उससे उस युग के ऐसे जुलूसों का बहुत मनोरंजक परिचय मिलता है। राजा तारापीड़ जब शुकनास के घर जाने लगे, तो उनके पीछे अन्त पुर की परिचारिका रमणियाँ भी थीं। उनके चरण-विघट्टन (पदक्षेप)-जनित नूपुरों के क्वणन से दिगन्त शब्दायमान हो उठा था, वेगपूर्वक भुज-लताओं के उत्तोलन के कारण मणि-जटित चूड़ियाँ चंचल हो उठी थीं, मानो आकाश गंगा में की कमलिनी वायु-विलुलित होकर नीचे चली आयी हो; भीड़ के संघर्ष में उनके कानों के पल्लव खिसक रहे थे, वे एक-दूसरे से टकरा जाती थीं और इस प्रकार एक का केयूर दूसरी की चादर में लगकर उसे खरोंच डालता था, पसीने से घुले हुए अंगराग उनके चीन-वसनों को रँग रहे थे, भीड़ के कारण शरीर का तिलक थोड़ा ही बच रहा था, साथ-साथ चलनेवाली विलासवती वारवनिताओं की हँसी से वे प्रस्फुटित कुमुदवन के समान सुशोभित हो रही थीं; चंचल हार-लताएँ ज़ोर-ज़ोर से हिलती हुई उनके वक्षोभाग से टकरा रही थीं, खुली केशराशि सिन्दूर-बिन्दु पर आकर पड़ रही थी, अबीर की निरन्तर झड़ी होते रहने के कारण उनके केश पिंगल वर्ण के हो उठे थे, उन दिनों के सम्भ्रान्त परिवारों के अन्तःपुर में सदा रहनेवाले गूँगे, कुबड़े, बौने और मूर्ख लोग उद्धत नृत्य से विह्वल होकर आगे-आगे चले जा रहे थे, कभी-कभी किसी वृद्ध कंचुकी के गले में किसी रमणी का उत्तरीय वस्त्र अटक जाता था और खींचतान में पड़ा हुआ वह बेचारा खासे मजाक का पात्र बन जाता था। साथ में वीणा, वंशी, मृदंग और काँस्यताल बजता चलता था, और अस्पष्ट किन्तु मधुर गान सुनायी दे रहा था। राजा के पीछे-पीछे उनके परिवार की सम्भ्रान्त महिलाएँ भी जा रही थीं, उनका मणिमय कुण्डल आन्दोलित होकर कपोल-तल पर निरन्तर आघात कर रहा था, कान के उत्पल-पत्र हिल रहे थे, शेखर-माला भूमि पर गिरती जा रही थी, वक्ष.स्थल-विराजित पुष्पमाला निरन्तर हिल रही थी; इनके साथ भेरी, मृदंग, मर्दल, पटह आदि बाजे बज रहे थे; और उनके पीछे-पीछे काहल और शंख के नाद हो रहे थे; और इन शब्दों के साथ राज-परिवार की देवियों के सनूपुर चरणों के आघात से इतना भारी शब्द हो रहा था कि धरती के फट जाने का अन्देशा होता था। इनके पीछे राजा के चारणगण नाचते चले जा रहे थे, नाना प्रकार के मुखवाद्य से कोलाहल करते जा रहे थे, कुछ लोग राजा की स्तुति

कर रहे थे, कुछ विरुद पढ़ रहे थे और कुछ यों ही उछलते-कूदते चले जा रहे थे।

जो उत्सव पारिवारिक नहीं होते थे, उनका ठाट-बाट कुछ और तरह का होता था। काव्य-ग्रन्थ में इनका भी उल्लेख पाया जाता है। साधारणतः राजा की सवारी, विजय-यात्रा, विजय के बाद का प्रवेश, बारात आदि के जुलूसों में हाथियों और घोड़ों की बहुतायत हुआ करती थी। स्थान-स्थान पर जुलूस रुक जाता था और घुड़सवार नौजवान घोड़ों को नचाने की कला का परिचय देते थे। नगर की देवियाँ गवाक्षों से धान की खीलों और पुष्पवर्षा से राजा, राजकुमार या वर की अभ्यर्थना करती थीं। जुलूस के पीछे बड़ी दूर तक साधारण नागरिक पीछे-पीछे चला करते थे। जान पड़ता है कि प्राचीन काल के ये जुलूस जन-साधारण के लिए एक विशेष आनन्ददायक उत्सव थे। राजा जब दीर्घ प्रवास के बाद अपनी राजधानी को लौटते थे, उत्सुक जनता प्रथम चन्द्र की भाँति अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक उनकी प्रतीक्षा करती रहती थी और राजा के नगरद्वार में पधारने पर तुमुल जयघोष से उनका स्वागत करती थी। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में राजा दिलीप के वन-प्रवास के अवसर पर भी यह दिखाया है कि किस प्रकार वन के वृक्ष और लताएँ नागरिकों की भाँति उनकी अभ्यर्थना कर रही थीं। बाल-लताएँ पुष्पवर्षा करके पौर-कन्याओं द्वारा अनुष्ठित खीलों की वर्षा की कमी पूरी कर रही थीं, वृक्षों के सिर पर बैठकर चहकती हुई चिड़ियाँ मधुर शब्द करके आलोक-शब्द या रोशनचौकी के अभाव को भलीभाँति दूर कर रही थीं, और इस प्रकार वन में भी राजा अपने राजकीय सम्मान को पा रहा था। जुलूस जब गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता था तो वहाँ के आनुष्ठानिक कृत्य के सम्पादन के बाद नाच, गान, अभिनय आदि द्वारा मनोरंजन की व्यवस्था हुआ करती थी। दर्शकों में स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बालक, ब्राह्मण-शूद्र सभी हुआ करते थे। सभी के लिए अलग-अलग बैठने की जगहें हुआ करती थीं।

विवाह के अवसर के विनोद

बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में विवाह के अवसर पर होनेवाले आमोद-उल्लासों का बड़ा मोहक वर्णन मिलता है। अन्तःपुर की महिलाएँ भी ऐसे अवसरों पर नृत्य-गान में हिस्सा लेती थीं। उनके सुन्दर अंगहारों से महोत्सव मंगल मसृणों से सुसज्जित-सा हो जाता था, कुट्टिम-भूमि पादालक्तकों से लाल हो जाती थी, चंचल चक्षुओं की किरण से सारा दिन कृष्णसार मृगों से परिपूर्ण की भाँति दिखने लगता था,

भुजलताओं के विक्षेप को देखकर ऐसा लगता था मानो भुवनमण्डल मृणालवलयों से परिवेष्टित हो जायेगा। शिरीष-कुसुम के स्तवकों से ऐसे अवसरों पर अन्त.पुर की धूप शुक (तोते) के पक्ष के रंग में रँगी हुई-सी जान पडने लगती थी, शिथिल धम्मिल्ल (जूडे) से खिमककर गिरे हुए तमाल-पत्रो से अगणभूमि कज्जलायमान हो उठती थी और आभरणों के रणत्कार से ऐसी मुखर ध्वनि दिशाओ मे परिव्याप्त हो जाती थी कि श्रोता को भ्रम होने लगता था कि कही दिशाओ के ही चरणों मे नूपुर तो नही बाँध दिये गये है !

समृद्ध परिवारों के बाहरी बैठकखाने से लेकर अन्तःपुर तक नाच-गान का जाल बिछ जाता था। स्थान-स्थान पर पण्य-विलासिनियों (वेश्याओ) के नृत्य का आयोजन होता था। उनके साथ मन्द-मन्द भाव से आस्फाल्यमान आलिंग्यक नामक वाद्य वजते रहते थे, मधुर शिंजनकारी मंजुल वेणु-निनाद मुखरित होता रहता था, झनझनाती हुई झल्लरी की ध्वनि के साथ कलकाँस्य और कोशी (काँसे के दण्ड और जोड़ी) का क्वणन अपूर्व ध्वनि-माधुरी की सृष्टि करते थे, साथ-साथ दिये जानेवाले उत्ताल ताल से दिङ्मण्डल कल्लोलित होता रहता था, निरन्तर ताड़न पाते हुए तन्त्रीपटह की गुञ्जार से और मृदु-मन्द झंकार के साथ झंकृत अलावुवीणा की मनोहर ध्वनि से वे नृत्य अत्यन्त आकर्षक हो जाते थे। युवतियो के कान मे ऋतु-विशेष के नवीन पुष्प झूलते होते थे—कभी वहाँ कर्णिकार, कभी अशोक, कभी शिरीष, कभी नीलोत्पल और कभी तमालपत्र की भी चर्चा आती है। कुकुम-गौरकान्ति से वे वलयित होती थी, मानो कश्मीर-किशोरियाँ हों। नृत्य के नाना करणो मे जब वे अपनी कोमल भुजलताओं को आकाश मे उत्क्षिप्त करती थी तो ऐसा लगता था कि उनके ककण सूर्य-मण्डल को बन्दी बना लेंगे। उनकी कनक-मेखला की किंकिणियों से कुरण्टकमाला उनके मध्यदेश को घेरती हुई ऐसी शोभित होती थी मानो रागाग्नि ही प्रदीप्त होकर उन्हे वलयित किये है। उनके मुखमण्डल से सिन्दूर और अबीर की छटा विच्छुरित हो जाती थी और उस लाल कान्ति से अरुणायित कुण्डल-पत्र इस प्रकार सुशोभित हुआ करते थे, मानो चन्दनद्रुम की सुकुमार लताओं के विलसित किसलय हो। उनके नीले वासन्ती, चित्रक और कौसुम्भ वस्त्रों के उत्तरीय जब नृत्यवेग के घूर्णन से तरंगायित हो उठते थे तो मालूम पड़ता था कि विक्षुब्ध शृगार-सागर की चटुल वीचियाँ तरगित हो उठी है। वे मद को भी मदमत्त बना देती थी, राग को भी रँग देती थी, आनन्द को भी आनन्दित कर देती थी, नृत्य को भी नचा देती थीं और उत्सव को भी उत्सुक कर देती थी। ('हर्षचरित', चतुर्थ उच्छ्वास)

एक इसी प्रकार के नृत्य-उत्सव का दृश्य पवाया (ग्वालियर राज्य) के तोरण पर अंकित पाया गया है। डॉ. वासुदेवशरणजी अग्रवाल इसे जन्मोत्सव-कालीन ('जातिमह') आनन्द-नृत्य मानते हैं। पर यह विवाहकालीन भी हो सकता है। 'हर्षचरित' के वर्णन से तो वह बहुत अधिक मिलता है। दुर्भाग्यवश इसका बायाँ हिस्सा खण्डित मिला है। पं. हरिहरनिवास द्विवेदी ने इस चित्र का विवरण इस

यहाँ यह कह रखना उचित है कि 'कामसूत्र' से हमें कई प्रकार की नाच, गान और रसालाप-सम्बन्धी सभाओं का पता मिलता है। एक तरह की सभा हुआ करती थी, जिसे 'समाज' कहा करते थे। यह सभा सरस्वती के मन्दिर में नियत तिथि को हर पखवारे हुआ करती थी। इसमें जो लोग आते थे, वे निश्चय ही अत्यन्त सुसंस्कृत नागरिक हुआ करते थे। इस सभा मे जो नाचने-गानेवाले, नागरिक का मनोविनोद किया करते थे, उनमें अधिकांश नियुक्त हुआ करते थे। किन्तु समय-समय पर अन्य स्थानों से आये हुए कुशीलव या नाच-गान के उस्ताद भी इसमें अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे। दूसरे दिन उन्हे पुरस्कार दिया जाता था। जब कभी कोई बड़ा उत्सव हुआ करता था, तो इन समाजो मे कई स्वतन्त्र और आगन्तुक नर्त्तक और गायक सम्मिलित भाव से अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। इनकी खातिरदारी करना समूचे गण अर्थात् नागरिक-समाज का धर्म हुआ करता था। केवल सरस्वती के मन्दिरों मे ही ऐसे उत्सव हुआ करते हो सो बात नहीं है, अन्यान्य देवताओं के मन्दिर मे भी यथा-नियम हुआ करते थे। ('काम-सूत्र', पृष्ठ 50-51)

रामायण (अयोध्याकाण्ड, 67 अ.) मे बताया गया है कि जिस देश मे राजा का शासन नहीं होता वहाँ अनेक प्रकार के उपद्रव होते है। इन उपद्रवों और अव्यवस्थाओं मे आदिकवि ने निम्नांकित बातों को भी गिनाया है: (1) अराजक देश में लोग सभा नही करा सकते (67-12); (2) न रम्य उद्यान बना सकते हैं (67-12); और (3) न नट और नर्त्तक प्रहृष्ट होकर भाग ले सके ऐसे 'उत्सव' और 'समाज' ही करा सकते है, 'ये समाज और उत्सव राष्ट्रवर्धक होते हैं'; (4) और ऐसे देश के जनपदो मे लोग ऐसे उद्यान नही बना सकते जहाँ सायं-काल स्वर्णलंकारों मे अलंकृत कुमारियाँ क्रीड़ा के लिए मिलित होती है (67-17); फिर (5) ऐसे देश मे विलासी नागरिक स्त्रियों के साथ शीघ्रवाही रथों पर चढ़-कर शहर के बाहर विनोद के लिए नही जा सकते (67-19)। यह भी बताया गया है कि (6) ऐसे देश मे शास्त्र-विचक्षण व्यक्ति वनों और उपवनों मे शास्त्र-विनोद नही कर पाते है। इस पर ध्यान दिया जाये तो स्पष्ट लगता है कि यहाँ सभा, समाज, उद्यान-यात्रा, उपवन-विनोद आदि बातें वही है, जिनका 'कामसूत्र' मे उल्लेख है। परवर्त्ती काल के टीकाकार रामभट्ट ने 'सभा' का अर्थ न्याय-विचार करनेवाली सभा किया है और 'समाज' का अर्थ विशेष राष्ट्र-प्रयोजनवाले समूह किया है। ऐसा जान पड़ता है कि वे पुरानी परम्परा की ठीक व्याख्या नही कर सके। यहाँ आदिकवि का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि जिस देश में अच्छा शासक नही होता वहाँ के नागरिक धर्म, अर्थ, काम का उपभोग स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं कर सकते। ऊपर जो बातें कही गयी है-वे कामोपभोग की हैं। 'कामसूत्र' से

इसकी ठीक-ठीक व्याख्या हो जाती है। 'समाज' बहुत पुरानी संस्था थी। अशोक ने अपने लेखों में कामशास्त्रीय समाजों को रोकने का आदेश दिया था। इन लेखों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जो 'समाज' भले कार्यों के लिए हों वे निषिद्ध नहीं है। 'कामसूत्र' से स्पष्ट है कि समाज मे शास्त्रालाप भी होते थे। सम्भवतः अशोक जिन समाजों को वर्जनीय नही समझते थे, वे ऐसे ही कामभोगी ढंग के समाज होते थे।

इसी प्रकार नागरिकों के मनोविनोद के लिए एक और तरह की सभा बैठा करती थी, जिसे गोष्ठी कहा करते थे। ये गोष्ठियाँ नागरक के घर पर या किसी गणिका के घर भी हुआ करती थी। इनमे निश्चय ही चुने हुए लोग निमन्त्रित होते थे। गणिकाएँ, जो उन दिनों अपनी विद्या, कला और रसिकता के कारण सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थी, नागरकों के घर पर होनेवाली गोष्ठियों मे निमन्त्रित होकर आती थी और सिर्फ नृत्य-गीत से ही नहीं, बहुविध काव्य-समस्याएँ, मानसी काव्यक्रिया, पुस्तक-वाचन, दुर्वाचक योग, देश-भाषाविज्ञान, छन्द, नाटक, आख्यान, आख्यायिका सम्बन्धी आलोचनाओ और रसालापों से भी नागरिकों का मनोविनोद किया करती थी। भास के नाटको तथा ललितविस्तर आदि बौद्ध काव्यो से पता चलता है कि ये गोष्ठियाँ उन दिनों बहुत प्रचलित थी और रईसी का आवश्यक अंग मानी जाती थी। यह जरूर है कि कभी-कभी लोगों मे इस प्रकार की गोष्ठियों के विषय मे निन्दा भी होती थी। वात्स्यायन ने भले आदमियो को निन्दित गोष्ठियो मे जाने का निषेध किया है (पृ. 58-59)। इन गोष्ठियो के समान ही एक और सभा नागरिकों की बैठा करती थी, जिसे वात्स्यायन ने आपानक कहा है। इसमें मद्य-पान की व्यवस्था होती थी, पर हमारे विषय से उसका दूर का ही सम्बन्ध है। दो और सभाएँ—उद्यान-यात्रा और समस्या-क्रीड़ा—'कामसूत्र' मे बतायी गयी है, जिनकी चर्चा यहाँ नही करेंगे। अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट है कि ऐसे 'समाज' भद्रसमाज मे बहुत हीन समझे जाते थे और राजा उनके आयोजकों को दण्ड दिया करता था। ये विकृत रुचि के प्रचारक थे।

स्थायी रंगशाला और सभा

बहुत पुराने जमाने मे ही संगीत, अभिनय और काव्यालाप के लिए स्थायी सभाओं की व्यवस्था हुआ करती थी। 'संगीत-रत्नाकर' एक बहुत परवर्ती ग्रन्थ है। यह

प्रधान रूप से संगीतशास्त्र की व्याख्या करने के उद्देश्य से लिखा गया था। यद्यपि यह ग्रन्थ बहुत बाद का है तथापि इसमे प्राचीन काल की परम्पराएँ भी सुरक्षित है। इस पुस्तक में संगीत के आयोजन के लिए स्थापित सभा का बड़ा भव्य वर्णन दिया हुआ है। इसे 'ग्रन्थकार' ने रंगशाला नाम दिया है।

इस 'संगीत-रत्नाकर' (1351-1360 ई.) मे रत्नस्तम्भ-विभूषित पुष्प-प्रकर-शोभित नाना वितान-सम्पन्न अत्यन्त समृद्धशाली रंगशाला का उल्लेख है। इसके बीच मे सिंहासन पर सभापति बैठा करते थे। इस सभापति मे सभी प्रकार की कला-मर्मज्ञता और विवेकशीलता का होना आवश्यक माना गया है। सभापति की बायीं ओर अन्त.पुर की देवियों के लिए और दाहिनी ओर प्रधान अमात्यादि के लिए स्थान नियत हुआ करते थे। इन प्रधानों के पीछे कोषाध्यक्ष और अन्यान्य करणाधिप या अफसर रहा करते और इनके निकट ही लोकवेद के विचक्षण विद्वान्, कवि और रसिकजन बैठा करते थे। बड़े-बड़े ज्योतिषी और वैद्यो का आसन विद्वानों में हुआ करता था। इसी ओर मन्त्रि-मण्डली बैठती थी। बायीं ओर अन्त.पुरकाओ की मण्डली बैठा करती थी। सभापति के पीछे रूप-यौवन-सम्भारशालिनी चारु-चामरधारिणी स्त्रियाँ धीरे-धीरे चँवर डुलाया करती थी, जो अपने कंकण-झंकार से दर्शकों का चित्त मोहती रहती थी। सामने की बायी ओर कथक, बन्दी और कलावन्त आदि रहा करते थे। सभा की शान्ति-रक्षा के लिए दक्ष वेत्रधर भी तैयार रहते थे।

राजशेखर ने 'काव्यमीमासा' में एक और प्रकार की सभा का विधान किया है, जो मनोरंजक है। इसके अनुसार राजा के *काव्य-साहित्यादि की चर्चा के लिए* जो सभामण्डप होगा, उसमें सोलह खम्भे, चार द्वार और आठ अटारियाँ होंगी। राजा का क्रीड़ा-गृह इसी से सटा हुआ होगा। इसके बीच मे चार खम्भों को छोड़-कर हाथभर ऊँचा एक चबूतरा होगा और उसके ऊपर एक मणिजटित वेदिका। इसी पर राजा का आसन होगा। इसके उत्तर की ओर संस्कृत भाषा के कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषाओ मे कवित्व करता हो, तो जिस भाषा मे अधिक प्रवीण हो वह उसी भाषा का कवि माना जायगा। जो कई भाषाओ मे बराबर प्रवीण हो, वह जहाँ चाहे उठकर बैठ सकता है। संस्कृत कवियो के पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृति-शास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदि का स्थान होगा। पूर्व की ओर प्राकृत भाषा के कवि और उनके पीछे नट, नर्तक, गायक, वादक, *वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर आदि रहेंगे। पश्चिम की ओर अपभ्रंश* भाषा के कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढई, लोहार आदि का स्थान होगा। दक्षिण की ओर पैशाची भाषा के कवि होंगे और उनके पीछे वेश्या, वेश्या-लम्पट, रस्सों पर नाचनेवाले नट, जादूगर, जम्भक, पहलवान, सिपाही आदि का स्थान निर्दिष्ट रहेगा। इस विवरण से ही प्रकट है कि राजशेखर की बनायी हुई यह सभा मुख्यतः कवि-सभा है, यद्यपि नाचने गाने वालो की उपस्थिति से अनुमान होता है कि इस प्रकार की सभा में अवसरविशेष

पर गान, वाद्य और नृत्य का भी आयोजन हो सकता था।

जो संगीत-भवन स्थायी हुआ करते थे, उनके स्थान पर मृदंग-स्थापन की जगहें बनी होती थीं। 'कादम्बरी' में एक जगह इस प्रकार की उपमा दी गयी है, जिससे इस व्यवस्था का पता चलता है : 'संगीतभवनमिवानेकस्थानस्थापितमृदगम्।' यह मृदंग उन दिनों की संगीत की मजलिस का अत्यन्त आवश्यक उपादान था। कालिदास ने संगीतप्रसंग उठते ही 'प्रसक्तसंगीतमृदगघोष' कहकर इस बात की ओर इंगित किया है।

गणिका

इन सभाओं में गणिका का आना एक विशेष आकर्षक व्यापार था। यहाँ यह स्पष्ट समझा जाना चाहिए कि गणिका यद्यपि वारांगना ही हुआ करती थी, तथापि 'कामसूत्र' से जान पड़ता है कि वह साधारण वेश्याओं से कहीं अधिक सम्मान का पात्र मानी जाती थी। वेश्याओं में जो सबमें सुन्दरी और गुणवती होती थी, उसे ही 'गणिका' की आख्या मिलती थी। राजा लोग उसका सम्मान करते थे :

आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या शीलरूपगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥
पूजिता च सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च संस्तुता।
प्रार्थनीयाभिगम्या च लक्ष्यभूता च ते जया ॥

('नाट्यशास्त्र' में गणिका के गुण, पृ. 367)

'ललितविस्तर' में राजकुमारी को गणिका के समान शास्त्रज्ञा बताया गया है ('शास्त्रे विधिज्ञकुशला गणिका यथैव')। ये गणिकाएँ शास्त्र की जानकार और कवित्व की रसिका हुआ करती थीं। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में इस बात को सिद्ध करना चाहा है कि पुरुष के समान स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं और प्रमाणस्वरूप वे कहते हैं कि सुना जाता है कि प्राचीन काल में बहुत-सी गणिकाएँ और राजदुहिताएँ बहुत उत्तम कवि हो गयी हैं। इन गणिकाओं की पुत्रियों को नागरकजन के पुत्रों के साथ पढ़ने का अधिकार था। गणिका वस्तुतः समस्त गण (या राष्ट्र) की सम्पत्ति मानी जाती थी और बौद्ध-साहित्य से इस बात का प्रमाण खोजा जा सकता है कि वह समस्त समाज के गर्व की वस्तु समझी जाती थी। संस्कृत के नाटक में उसे नगरश्री कहा गया है। 'मृच्छकटिक' नाटक में वसन्तसेना नामक एक ऐसी ही गणिका का प्रेम-वृत्तान्त चित्रित किया गया है।

सारे नाटक में एक जगह भी वसन्तसेना का नाम लघु भाव से नही लिया गया। अदालत के प्रधान अधिकरणिक से लेकर कायस्थ तक उसके प्रति अत्यन्त सम्मान का भाव प्रकट करते हैं। उसकी वृद्धा माता जब गवाही देने के लिए आती है, तो उसे अधिकरणिक भी 'आर्या' कहकर सम्बोधन करते है। इन सब बातों से जान पड़ता है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे गणिका यथेष्ट सम्माननीया मानी जाती थी। वैशाली की अम्बपालिका गणिका समस्त नगरी के अभिमान की वस्तु थी। गणिका के सम्मान का अन्दाजा 'मृच्छकटिक' की इस कथा से भी लग सकता है कि राज्य की ओर से जब सब गाड़ियों की तलाशी करने की कठोर आज्ञा थी, तब भी पुलिस के सिपाहियों में से किसी-किसी ने सिर्फ यह जानकर ही चारुदत्त की गाड़ी की तलाशी नही ली कि उसमे वसन्तसेना थी। आज के जमाने में और गाड़ियाँ चाहे छोड़ दी जाती, पर वारविलासिनी की गाड़ी की तलाशी जरूर ली जाती। पर बाद में गण-राज्य के उठ जाने के बाद से गणिका का सम्मान भी जाता रहा। परवर्ती काल मे ठीक इसी सम्मान और आदर की अधिकारिणी [illegible] का उल्लेख नहीं मिलता। गणराज्यो के साथ जो गणिका [illegible] मनु के उस एक साथ कहे हुए निषेधवाक्य से भी जाना जाता है, [illegible] है कि ब्राह्मण को गणान्न और गणिकान्न नहीं [illegible] (मनु, 4-209)।

परन्तु इस काव्य-नाटक के रोमांस-बहुल [illegible] प्रशंसा देखकर यह नही समझना चाहिए कि [illegible] अवमानना और गंजना एकदम नहीं थी। [illegible] क्रीडाशालाओं में बुलायी जाती थीं, [illegible] रही। कभी-कभी राजाओं और [illegible] है। अजन्ता की दूसरी गुहा में [illegible] क्रोध-कषायित नेत्रों से [illegible] सम्पूर्ण दीनता, [illegible] और है। [illegible] [illegible]

अभिनेताओं की सामाजिक मर्यादा

गणिका के अतिरिक्त जो स्त्री-पुरुष अभिनय आदि का पेशा करते थे, वे समाज में किस दृष्टि से देखे जाते थे, इस विषय में प्राचीन ग्रन्थों में दो तरह की बातें पायी जाती हैं। धर्म-ग्रन्थों के अनुसार तो निश्चित रूप से उन्हें बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया गया (मनु, 8-65) । और याज्ञवल्क्य (2-70) तो उनकी दी हुई गवाही को भी प्रामाणिक नहीं मानते। इसका कारण शायद यह है कि वे अत्यन्त झूठे और फ़रेबी माने जाते रहे होंगे। जायाजीव, रूपजीव आदि शब्दों से नटों को निर्देश करने से जान पड़ता है कि ये अपनी पत्नियों के रूप का व्यवसाय किया करते थे। इस बात का समर्थन इस प्रकार भी होता है कि मनु ने नटी के साथ बलात्कार करनेवाले व्यक्ति को कम दण्ड देने का विधान किया है (मनु., 8-362)। स्मृति-ग्रन्थों में यह भी कहा गया है कि इनके हाथ का अन्न अभोज्य है। इस प्रकार धर्मशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय, तो नाचने का पेशा निकृष्ट माना जाता था। जान पड़ता है कि शुरू में जब नाट्यकला उन्नत नहीं हुई थी और नट लोग पुतलियों को नचाकर या इसी तरह के अन्य व्यवसायों से जीविका उपार्जन करते थे, तब से ही समाज में उनके प्रति एक अवज्ञा का भाव रह गया था। पर जैसे-जैसे नाटकीय कला उत्कर्ष को प्राप्त करती गयी, वैसे-वैसे इनकी सामाजिक मर्यादा भी ऊँची उठती गयी। पर सब मिलकर समाज की दृष्टि में वे बहुत ऊँचे नहीं उठे।

'नाट्यशास्त्र' के युग में भी इनकी सामाजिक मर्यादा गिर चुकी थी। भरत 'नाट्यशास्त्र' में अभिनय को बहुत महिमापूर्ण बताया गया है और इस शास्त्र को 'नाट्यवेद' की महत्त्वपूर्ण आख्या दी गयी है। परन्तु फिर भी शास्त्रकार 'भरत-पुत्रों' की हीन सामाजिक मर्यादा के प्रति सचेत है। शास्त्र में इसका कारण भी बताया गया है (36-30-47) । एक बार भरतपुत्रों (नटों) ने ऋषियों के अंगहार के अभिनय में 'अग्राह्य, दुराचारपूर्ण, ग्राम्यधर्मप्रवर्तक, निष्ठुर और अप्रशस्त' काव्य की योजना की थी। इससे ऋषि लोग क्रुद्ध हो गये और उन्होंने इनको भयंकर अभिशाप दिया। उस समय तक ये लोग 'द्विज' थे। पर ऋषियों ने शाप दिया कि "चूँकि तुमने चरित्र का विडम्बन किया है जो एकदम अनुचित है, अत-एव तुम्हारे वंशधर शूद्र हो जायेंगे, अब्रह्मचारी होंगे, स्त्री-पुत्रसमेत नर्तक और 'उपाख्यानवान्' होंगे।" 'उपाख्यानवान्' शब्द का एक अर्थ है स्तुतिगायक, खुशामदी, चाटुकार और दूसरा अर्थ है काम-विलासी। इस प्रकार ऋषिशाप से अभिशप्त भरतपुत्र शूद्र और अब्रह्मचारी हुए। इस कथा को यदि ऐतिहासिकता की ओर घसीटा जाय तो इसका अर्थ यह हो सकता है कि पहले नटों की सामाजिक मर्यादा अच्छी थी, पर जब इन्होंने ऋषियों का भी 'कैरिकेचर' (विडम्बनम्) शुरू किया और कुछ उच्छृंखल आचरणों का परिचय दिया तो

समाज के नियामकों ने इनकी मर्यादा हीन बना दी। कथा में यह भी कहा गया है कि देवताओं ने बहुत प्रत्यन किया, पर ऋषि लोगों ने उनकी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया और इनकी मर्यादा हीन बनी रही। भरतमुनि ने आगे अपने 'पुत्रों' को अभिनय के पवित्र कार्य से इस पाप का प्रायश्चित करते रहने की सलाह दी है। स्पष्ट है कि शास्त्रकार को यह आशा नहीं थी कि अब इनकी मर्यादा ऊपर उठ सकती है। यद्यपि नाटकों, काव्यों और कामशास्त्रीय ग्रन्थों से इनकी उच्चतर सामाजिक मर्यादा के प्रमाण संग्रह किये जा सकते है, परन्तु समाज की मनोभावना को समझने के लिए इन ग्रन्थो की अपेक्षा स्मृति-ग्रन्थों की गवाही कहीं अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय है।

ताण्डव और लास्य

नाट्यशास्त्र में दो प्रकार के नाचो का विस्तृत उल्लेख है: ताण्डव और लास्य। ताण्डव के प्रसंग मे भरतमुनि से प्रश्न किया गया कि यह नृत्त (ताण्डव) किसलिए भगवान् शंकर ने प्रवृत्त किया, तो भरतमुनि ने उत्तर दिया था कि नृत्त किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं रखता। यह शोभा के लिए प्रयुक्त होता है। स्वभावतः ही प्रायः लोग इसे पसन्द करते हैं और यह मंगलजनक है, इसीलिए शिवजी ने इसे प्रवर्तित किया। विवाह, जन्म, प्रमोद, अभ्युदय आदि के उत्सवों के अवसर पर यह विनोदजनक है, इसलिए भी इसका प्रवर्तन हुआ है ('नाट्यशास्त्र', चौखम्बा, 4-260-3)। इस वक्तव्य से जान पड़ता है कि विवाह आदि के अवसरों पर नृत्त या ताण्डव का अभिनय होता था। 'नाट्यशास्त्र' में नृत्त के आविर्भाव की बड़ी मनोरंजक कहानी दी हुई है। ब्रह्मा के अनुरोध पर नाना भूतगण-समावृत हिमालय के पृष्ठ पर शिव ने सन्ध्याकाल में नाचना आरम्भ किया। ताण्डु नामक मुनि को शिव ने उसी नाच की विधि बतायी थी। किस प्रकार हाथ और पैर से 108 प्रकार के करण होते हैं, दो करण (अर्थात् हाथ और पैर की विशेष भंगियाँ) मिलकर किस प्रकार नृत्तमातृका बनती है, फिर तीन करणों से कलापक, चार से मण्डन और पाँच करणों से संघातक बनता है। इनसे अधिक नौ तक करणों के संयोग से किस प्रकार अंगहार बनते है, इन बातों को विशद रूप से समझाया। अंगहार नृत्त के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ये बत्तीस प्रकार के बताये गये हैं। इन विभिन्न अंगहारों के साथ चार रेचक है: पादरेचक, कटिरेचक और कण्ठरेचक। जब शिव इन रेचकों और अंगहारों के द्वारा अपना नृत्त दिखला रहे थे, उसी समय

पार्वती आनन्दोल्लास में सुकुमार भाव से नाच उठीं। पार्वती का वह नाच, नृत्त (या उद्धत नाच) नहीं था, बल्कि नृत्य (सुकुमार नाच) था। इसी को लास्य कहते हैं। एक और अवसर पर दक्ष-यज्ञ विध्वंस के समय सन्ध्या काल को जब शिव नृत्त कर रहे थे, उस समय शिव के गण मृदङ्ग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणव, दर्दुर आदि आतोद्य बाजे बजा रहे थे। शिव ने आनन्दोल्लास में समस्त अङ्गहारों के नाना भाँति के प्रयोग से लय और ताल के अनुकूल नृत्त किया। देव-देवियाँ और शिव के गण इस अवसर पर चूके नहीं। डमरू बजाकर प्रमत्त भाव से नर्तमान शंकर की विविध भंगियों को अर्थात् विविध अंगहारों के पिण्डीभूत बन्धविशेष को—पिण्डियों को—उन्होंने याद रखा। ये पिण्डियाँ उन-उन देवताओं के नाम पर प्रसिद्ध हुई, जिन्होंने उन्हें देखा था। तब से किसी उत्सव और आमोद के अवसर पर इस मांगल्यजनक नृत्त का प्रयोग होता आ रहा है। प्राचीन भारतीय रंगशाला में उन दिनों नृत्त या ताण्डव नृत का बड़ा प्रचलन था। अनेक प्राचीन मन्दिरों पर भिन्न-भिन्न करण और अंगहारों के चित्र उत्कीर्ण हैं। 'नाट्यशास्त्र' चतुर्थ अध्याय में विस्तृत रूप से इसके प्रयोग की बात बतायी गयी है।

अभिनय

सबसे पहले ब्राह्मण लोग कुतप नामक वाद्यविन्यास विधिपूर्वक कर लेते थे; फिर भाण्ड वाद्य के बजानेवालों के साथ नर्तकी प्रवेश करती थी, उसकी अंजलि में पुष्प होते थे। एक विशेष प्रकार की नृत्य-भंगी से वह रंग-स्थल पर पुष्पोपहार रखती थी। फिर देवताओं को विशेष भंगी से नमस्कार करके वह अभिनय आरम्भ करती थी। जब वह गाने के साथ अभिनय करती थी, तब बाजा बजना बन्द रहता था और जब वह अंगहार का प्रयोग करने लगती थी, तब वाद्य भी बजने लगते थे। इस प्रकार गीत और नृत्य के पश्चात् नर्तकी रंगशाला से बाहर निकलती थी और फिर इसी विधान से अन्यान्य नर्तकियाँ रंगभूमि में पदार्पण करती थीं और बारी-बारी से पिण्डीबन्धों का अभिनय करती थीं (ना. शा., 4, 269-77)।

प्राचीन साहित्य में इस मनोहर नृत्य-अभिनय के अनेक उल्लेख हैं। यहाँ पर एक का उल्लेख किया जा रहा है, जो कालिदास की सरस लेखनी से निकला है। यह चित्र इतना भावव्यंजक और सरस है कि उस पर विशेष टीका करना अनुचित

जान पड़ता है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में दो नृत्याचार्यों में अपनी कला-चातुरी के सम्बन्ध में तनातनी होती है। यह तय पाया है कि अपनी-अपनी शिष्याओं का अभिनय दोनों दिखाएँ और अपक्षपातिनी भगवती कौशिकी, दोनों में कौन श्रेष्ठ है, इस बात का निर्णय करें। दोनों आचार्य राजी हो गये। मृदंग बज उठा। प्रेक्षागार में दर्शकगण यथास्थान बैठ गये। भिक्षुणी की अनुमति से रानी की परिचारिका मालविका के शिक्षक आचार्य गणदास यवनिका के अन्तराल से सुसज्जिता शिष्या (मालविका) को रंगभूमि में ले आये। यह पहले ही स्थिर हो गया था कि चलित (छलित ?) नृत्य—जिसमें अभिनेता दूसरे की भूमिका में उतरकर अपने ही मनोभाव व्यक्त करता है—के साथ होनेवाले अभिनय को दिखाया जायेगा। मालविका ने गान शुरू किया। मर्म यह था कि दुर्लभ जन के प्रति प्रेमपरवशा प्रेमिका का चित्त एक बार पीड़ा से भर उठता है, और फिर आशा से उल्लसित हो उठता है, बहुत दिनों के बाद फिर उसी प्रियतम को देखकर उसी की ओर वह आँखें बिछाये है। भाव मालविका के सीधे हृदय से निकले थे, कण्ठ उसका करण था। उसके अतुलनीय सौन्दर्य, अभिनयव्यंजित अंगसौष्ठव, नृत्य की अभिराम भंगिमा और कण्ठ के मधुर संगीत से राजा और प्रेक्षकगण मन्त्र-मुग्ध-से हो रहे। अभिनय के बाद ही जब मालविका पर्दे की ओर जाने लगी, तो विदूषक ने किसी बहाने उसे रोका। वह ठिठककर खड़ी हो गयी—उसका बायाँ हाथ कटिदेश पर विन्यस्त था, उसका कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामालता के समान सीधा झूल पड़ा था, झुकी हुई दृष्टि पैरों पर अड़ी हुई थी, जहाँ पैर के अँगूठे फर्श पर बिछे हुए पुष्पों को धीरे-धीरे सरका रहे थे और कमनीय देहलता नृत्य-भंगी से ईषदुन्नीत थी। मालविका ठीक उसी प्रकार खड़ी हुई थी, जिस सौष्ठव के साथ देहविन्यास करके अभिनेत्री को रंगभूमि में खड़ा होना उचित था :

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्नस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायताक्षम्।

परिव्राजिका कौशिकी ने दाद दी—अभिनय बिल्कुल निर्दोष है। बिना बोले भी अभिनय का भाव स्पष्ट ही प्रकाशित हुआ है, अंगविक्षेप बहुत सुन्दर और चातुरीपूर्ण हुआ है। जिस-जिस रस का अभिनय हुआ है, उस-उस रस में तन्मयता स्पष्ट लक्षित हुई है। भावचेष्टा सजीव होकर स्पष्ट हुई है, मालविका ने बलपूर्वक अन्य विषयों से हमारे चित्त को अभिनय की ओर खींच लिया है :

अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः,
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ,
भावो भावंनुदति विषयाद्रागबंधः स एव।

इस श्लोक में कालिदास ने उस युग के अभिनय का सजीव आदर्श अंकित किया है।

अभिनय के चार अंग

यह समझना भूल है कि अभिनय में केवल अंगों की विशेष प्रकार की भंगिमाएँ ही प्रधान स्थान अधिकार करती थी। अभिनय के चारों अंगों अर्थात् आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक—पर समान भाव से जोर दिया जाता था। आंगिक अर्थात् देह-सम्बन्धी अभिनय उन दिनों चरम उत्कर्ष पर था। इसमें देह, मुख और चेष्टा के अभिनय शामिल थे। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर, इन अंगो के सैकडो प्रकार के अभिनय 'नाट्यशास्त्र' और 'अभिनयदर्पण' आदि ग्रन्थो मे गिनाये गये है। 'नाट्यशास्त्र' मे विस्तारपूर्वक बताया गया है कि किस अंग या उपांग के अभिनय का क्या विनियोग है, अर्थात् वह किस अवसर पर अभिनीत हो सकता है। फिर नाना प्रकार के घूमकर नाची जानेवाली भंगिमाओं का भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। फिर वाचिक अर्थात् वचनसम्बन्धी अभिनय को भी उपेक्षणीय नही समझा जाता था। 'नाट्यशास्त्र' (15-2) में कहा गया है कि वचन का अभिनय बहुत सावधानी से करना चाहिए; क्योंकि यह नाट्य का शरीर है, शरीर और पोशाक के अभिनय वाक्यार्थ को ही व्यंजित करते है। उपयुक्त स्थलों पर उपयुक्त यति और काकु देकर बोलना, नाम-आख्यात-निपात उपसर्ग-समास-तद्धित-विभक्ति सन्धि आदि को ठीक-ठीक प्रकट करना, छन्दों को उचित ढग से पढ़ सकना, शब्दो के प्रत्येक स्वर और व्यजन को उपयुक्त रीति से उच्चारण कर सकना, इत्यादि बातें अभिनय का प्रधान अंग मानी जाती थी। परन्तु यही सबकुछ नहीं था। केवल शारीरिक और वाचिक अभिनय भी अपूर्ण माने जाते थे। आहार्य या वस्त्रालकारों की उपयुक्त रचना भी अभिनय का ही अंग समझी जाती थी। यह चार प्रकार की होती थी—पुस्त, अलंकार, अंगरचना और संजीव। नाटक के स्टेज को आज के समान 'रियलिस्टिक' बनाने का ऐसा पागलपन तो नही था; परन्तु पहाड़, रथ, विमान आदि को कुछ यथार्थता का रूप देने के लिए तीन प्रकार के पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बाँस-सरकण्डे मे बने होते थे, जिन पर कपड़ा या चमड़ा चढ़ा दिया जाता था, या फिर यन्त्रादि की सहायता से फर्जी बना लिये जाते थे, या फिर अभिनेता इस बात की चेष्टा करता था, जिससे उन वस्तुओं का बोध प्रेक्षक को हो जाता था (23, 5-7)।

इन्हें क्रमशः सन्धिम, व्याजिम और चेष्टिम पुस्त कहते थे। अलंकार में विविध प्रकार के माल्य, आभरण, वस्त्र आदि की गणना होती थी। अंग-रचना मे पुरुषों और स्त्रियों के वहुविध वेप-विन्यास शामिल थे। प्राणियों के प्रवेश को संजीव कहते थे (23-152)। परन्तु इन तीनो प्रकार के अभिनयो से कही अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय सात्विक था। भिन्न-भिन्न रसों और भावों के अभिनय मे अभिनेता या अभिनेत्री की वास्तविक परीक्षा होती थी। 'नाट्यशास्त्र' ने जोर देकर कहा है कि सत्व मे ही नाट्य प्रतिष्ठित है (24-1)। सत्व की अधिकता, समानता और न्यूनता से नाटक श्रेष्ठ, मध्यम या निकृष्ट हो जाता है (24-2)। यह सत्व अव्यक्त रूप है, भाव और रस के आश्रय पर है, इसके अभिनय में रोमाच, अश्रु आदि का यथास्थान और यथारस प्रयोग अभीष्ट है।

नाटक के आरम्भ में

जब कोई नाटक खेला जानेवाला होता था तो उसके आरम्भ मे एक बहुत आडम्बरपूर्ण विधि का अनुष्ठान किया जाता था। इसे 'पूर्वरंग' या नाटक आरम्भ होने के पहले की क्रिया कहते थे। पहले नगाड़ा बजाकर नाटक आरम्भ होने की सूचना दी जाती थी, फिर गायक और वादक लोग रंगभूमि मे आकर यथास्थान बैठ जाते थे, कोरस आरम्भ होता था; मृदंग, वेणु, वीणा आदि वाद्य नर्त्तकों के नूपुर-झंकार के साथ बज उठते थे और इन कार्यो के बाद नाटक का उत्थापन होता था। पण्डितो मे यहाँ तक की क्रिया मे मतभेद है कि वे पर्दे के पीछे होती थी या बाहर। पर चूँकि शुरू मे ही अवतरण नामक क्रिया का उल्लेख है, इससे जान पडता है कि ये पर्दे के पीछे न हो वास्तव मे रंगभूमि मे होते थे। फिर सूत्र-धार का प्रवेश होता था, उसके एक पार्श्व मे भृङ्गार मे जल लिये हुए एक भृङ्गार-धर होता था और दूसरी ओर जर्जर (ध्वजा) लिये हुए दूसरा जर्जर-धर। इन दोनों पारिपार्श्विको के साथ सूत्रधार पाँच पग आगे बढ आता था। उद्देश्य ब्रह्मा की पूजा होती थी। यह पाँच पग बढना मामूली बढ़ना नही है, इसके लिए एक विशेष प्रकार की अभिनय-भंगी होती थी। फिर वह (सूत्रधार) भृङ्गार से जल लेकर आचमन प्रोक्षणादि मे पवित्र हो लेता था। वह एक विशेष आडम्बरपूर्ण अभिनय-भङ्गी से विघ्न को जर्जर करनेवाले जर्जर (ध्वज) को उत्तोलित करता था और भिन्न-भिन्न देवताओ को प्रणाम करता था। वह दाहिने पैर के अभिनय से शिव को और वाम पद के अभिनय से विष्णु को नमस्कार करता था। पहला

पुरुष का और दूसरा स्त्री का पद समझा जाता था। एक नपुंसक पद भी होता था, जबकि दाहिने पैर को नाभि तक उरिक्षप्त कर लिया जाता था। इस भङ्गी से वह ब्रह्मा को प्रणाम करता था। फिर विधिपूर्वक चार प्रकार के पुष्पों से वह जर्जर की पूजा करता। वह वाद्य-यन्त्रों की भी पूजा करता था और तब नान्दी-पाठ होता था। वह सर्वदेवता और ब्राह्मणों को नमस्कार करता था, देवताओं से कल्याण की प्रार्थना करता था, राजा की विजय-कामना प्रकट करता था, दर्शकों की धर्मवृद्धि होने की शुभाकांक्षा प्रकट करता था, कवि (नाटककार) को यश मिले और उसकी धर्मवृद्धि हो, ऐसी प्रार्थना करता था, और अन्त में अपनी यह शुभकामना भी प्रकट करता था कि इस पूजा से समस्त देवता प्रसन्न हों। प्रत्येक शुभाकांक्षा की समाप्ति पर पारिपार्श्विक लोग 'ऐसा ही हो' (एवमस्तु) कहकर प्रतिवचन देते थे और नान्दीपाठ समाप्त होता था। फिर शुष्कावकृष्टा विधि के बाद वह एक ऐसा श्लोक पाठ करता था, जिसमें अवसर के अनुकूल बातें होती थीं, अर्थात् वह या तो जिस देवता की विशेप पूजा के अवसर पर नाटक खेला जा रहा हो, उस देवता की स्तुति का श्लोक होता था, या फिर जिस राजा के उत्सव पर अभिनय हो रहा हो, उसकी स्तुति का। या फिर वह ब्रह्मा की स्तुति का पाठ करता था। फिर जर्जर के सम्मान के लिए भी वह एक श्लोक पढ़ता था और फिर चारी नृत्य शुरू होता था। इसकी विस्तृत व्याख्या और विधि 'नाट्यशास्त्र' के ग्यारहवें अध्याय मे दी हुई है। यह चारी का प्रयोग पार्वती की प्रीति के उद्देश्य से किया जाता था; क्योंकि पूर्वकाल में कभी शिव ने इस विशेप भंगी से ही पार्वती के साथ क्रीड़ा की थी। इस सविलास अंगविचेष्टित रूप चारी के बाद महाचारी का विधान भी 'नाट्यशास्त्र' मे दिया हुआ है। इस समय सूत्रधार जर्जर या ध्वजा को पारिपार्श्विको के हाथ में दे देता था। फिर भूतगण की प्रीति के लिए ताण्डव का भी विधान है। फिर विदूपक आकर कुछ ऐसी ऊलजलूल बातें करता था, जिससे सूत्रधार के चेहरे पर स्मित-हास्य छा जाता था और फिर प्ररोचना होती थी, जिसमें नाटक के विपय-वस्तु अर्थात् किसकी कौन-सी जीत या हार की कहानी अभिनीत होनेवाली है, ये सब बातें बता दी जाती थी, और अब वास्तविक नाटक शुरू होता था। शास्त्र में ऊपर की कही बातें विस्तारपूर्वक कही गयी हैं। परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि इस क्रिया को संक्षेप मे भी किया जा सकता है। और यदि इच्छा हो तो और भी विस्तारपूर्वक करने का निर्देश देने मे शास्त्र चूकता नही। ऊपर बतायी हुई क्रियाओ के प्रयोग से यह विश्वास किया जाता था कि अप्सराएँ, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, यक्ष तथा अन्यान्य देवगण और रुद्रगण प्रसन्न होते हैं और नाटक निर्विघ्न समाप्त होता है। 'नाट्यशास्त्र' के बाद के इसी विपय के लक्षणग्रन्थों में यह विधि इतनी विस्तारपूर्वक नहीं कही गयी है। 'दशरूपक', 'साहित्यदर्पण' आदि में तो बहुत संक्षेप मे इसकी चर्चा-भर कर दी गयी है। इस बात से यह अनुमान होता है कि बाद को इतने विस्तार और आडम्बर के साथ यह क्रिया नही होती होगी। विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' से तो

इतना स्पष्ट ही हो जाता है कि उनके जमाने मे इतनी विस्तृत क्रिया नही होती थी। जो हो, सन् ईसवी के पहले और बहुत बाद में भी इस प्रकार की विधि रही जरूर है।

अभिनेताओं के विवाद

कभी-कभी अभिनेताओं मे अपने-अपने अभिनय-कौशल की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में कलह उपस्थित हो जाता था। साधारणतः यह विवाद दो श्रेणी के होते थे, शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय विवाद का एक सरस उदाहरण कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में है। इसकी चर्चा हम अन्यत्र कर आये हैं। इसमें रस, भाव, अभिनयभंगिमा, मुद्राएँ, चारियाँ आदि विचारणीय होती थीं। कुछ दूसरे विवाद ऐसे होते थे जिनमें लोकजीवन की चेष्टाओ के उपस्थापन पर मतभेद हुआ करता था। उस समय राजा प्राश्निक नियुक्त करता था। प्राश्निक के लक्षण 'नाट्यशास्त्र' में दिये हुए हैं। यदि वैदिक क्रिया-कलाप-विषयक कोई विवाद होता था तो यज्ञविद् कर्मकाण्डी निर्णायक (प्राश्निक) नियुक्त होता था। यदि नाच की भंगी मे विवाद हुआ तो नर्त्तक निर्णायक होता था। इसी प्रकार छन्द के मामले में छन्दोविद्, पाठ-विस्तार के मामले मे वैयाकरण, राजकीय विभव या राजकीय अन्तःपुर का आचरण या राजकीय आचरण का विषय हो तो राजा स्वयं निर्णायक होता था। नाटकीय सौष्ठव का मामला होता था तो राजकीय दरबार के अच्छे वक्ता बुलाये जाते थे। प्रणाम की भंगिमा, आकृति और उसकी चेष्टाएँ, वस्त्र और आभरण की योजना और नेपथ्यरचना के प्रसंग में चित्रकारों को निर्णायक बनाया जाता था और स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षणवाले मामलों में गणिकाएँ उत्तम निर्णायक समझी जाती थीं। भृत्य के आचरण के विषय मे विवाद उपस्थित हुआ तो राजा के भृत्य प्राश्निक होते थे (27-63-67)। अवश्य ही जब शास्त्रीय विवाद उपस्थित हो जाता था तो शास्त्र के जानकारों की नियुक्ति होती थी।

नाटकों के भेद

अभिनीयमान नाटको में सब प्रकार के मनोरंजक और रसोद्दीपक रूपक होते थे। शृंगार, वीर या करुणरसप्रधान ऐतिहासिक 'नाटक', नागरिक रईसी की कविकल्पित प्रेम-कथाओं के 'प्रकरण', धूर्तों और दुष्टों का हास्योत्तेजक उपस्थापन-मूलक 'भाण'; स्त्रीहीन, वीररसप्रधान एकांकी 'व्यायोग'; और तीन अंक का 'समवकार'; भयानक दृश्यों को दिखानेवाला भूत-प्रेत पिशाचों का उपस्थापक 'डिम', स्वर्गीय प्रेमिका के लिए जूझ पड़नेवाले प्रेमियो की सनसनी फैलानेवाली प्रतिस्पर्द्धितावाला 'ईहामृग'; स्त्री-शोक की करुण-कथा-समन्वित एकांकी 'अंक'; एक ही पात्र द्वारा अभिनीयमान विनोद और शृंगारप्रधान 'वीथी', हँसानेवाला 'प्रहसन' आदि रूपक बहुत लोकप्रिय थे। फिर बहुत तरह के उपरूपक भी थे, जिनमे नाटिका का प्रचलन सबसे अधिक था। यह स्त्रीप्रधान चार अंक का नाटक होता था और इसका कार्यक्षेत्र साधारणतः राजकीय अन्तःपुर तक ही सीमित था। प्रकरणिका, सट्टक और त्रोटक इसी श्रेणी के है। गोष्ठी मे नौ-दस पुरुष और पाँच या छः स्त्रियाँ अभिनय करती थी, हल्लीश मे एक पुरुष कई स्त्रियों के साथ नृत्य करता था। इसी प्रकार के और भी बहुत-से छोटे-मोटे रूपकों का अभिनय होता था। परवर्त्ती ग्रन्थों में अठारह प्रकार के उपरूपक गिनाये गये है। उपर्युक्त उपरूपकों के सिवा नाट्यरास है, प्रख्यान है, उल्लास्य है, काव्य है, प्रेंखण है, रासक है, संलापक है, श्रीगदित है, शिल्पक है, विलासिका है, दुर्मल्लिका है, भाणिका है। अचरज की बात यह है कि इतने विशाल सस्कृत-साहित्य मे इन उपरूपकों में से अधिकांश को उदाहरणस्वरूप समझने के लिए भी मुश्किल से एकाध पुस्तक मिल पाती है। कभी-कभी तो एक भी नही मिलती। सम्भवतः ये लोक-नाट्यरूप में ही जीते हों। उदाहरण के लिए समवकार नामक रूपक—जिसमें देवासुर-संघर्ष ही बीज होता है; नायक प्रख्यात और उदात्त चरित का (असुर ?) होता है और जिसमें तीन प्रकार के प्रेम, तीन प्रकार के कपट तथा तीन प्रकार के विद्रव या उत्तेजनामूलक घटनाएँ हुआ करती है; जिसमें बारह या अधिक अभिनेता हो सकते थे तथा जो लगभग सात-सवा सात घण्टे मे खेला जाता था—इसका पुराना नमूना नही मिलता। वत्सराज का 'समुद्रमन्थन' (12वीं शताब्दी) बहुत बाद की रचना है और भास के 'पंचविंश' नाटक के समवकार होने मे सन्देह प्रकट किया गया है। सात-सात घण्टे तक चलनेवाले ऐसे पौराणिक नाटक को लोक-नाट्य समझना ही उचित जान पड़ता है। परवर्त्ती काल मे जब रंगमंच बहुत उन्नत हो गया होगा और कालिदास जैसे कल्पकवि के नाटक उपलब्ध होने लगे होंगे तो ये लम्बे नाटक उपरले स्तर के समाज मे उपेक्षित हो गये होंगे। साधारण जनता मे ये फिर भी प्रचलित रहे होंगे और आजकल की रामलीला मे पुराने लौकिक रूप का थोड़ा अन्दाजा लगाया जा सकता है। इसी प्रकार ईहामृग,

डिम आदि के भी पुराने नमूने नही प्राप्त होते। बारहवीं शताब्दी के कवि वत्सराज ने नाट्य-लक्षणों का अध्ययन करके इनके नमूने बनाये थे। उनके समवकार की चर्चा ऊपर हो चुकी है। उनका 'रुक्मिणीहरण' ईहामृग का उदाहरण है। परन्तु पुराना उदाहरण नही मिलता। स्पष्ट है कि शास्त्रकार ने केवल पुस्तकी विद्या का ही विश्लेषण नही किया है, बल्कि उन दिनों जितने प्रकार के नाटक और अभिनय प्रचलित थे सबका विश्लेषण किया है। परवर्ती शास्त्रकारो की दृष्टि इतनी उदार और व्यापक नही थी।

ऋतु-सम्बन्धी उत्सव

प्राचीन काव्यों, नाटकों, आख्यायिकाओ और कथाओं से जान पड़ता है कि भारतवर्ष ऋतु-सम्बन्धी उत्सवो को भलीभाँति मनाया करता था। इन उत्सवो में दो बहुत प्रसिद्ध हैं—वसन्तोत्सव और कौमुदीमहोत्सव। पहला वसन्त ऋतु का उत्सव है और दूसरा शरद् ऋतु का। सस्कृत का शायद ही कोई उल्लेखयोग्य कवि हो जिसने किसी-न-किसी बहाने इन दो उत्सवों की चर्चा न की हो। वसन्तोत्सव के विषय मे यह बात तो अधिक निश्चय के साथ कही जा सकती है। कालिदास-जैसे कवि ने अपने किसी ग्रन्थ मे वसन्त का और उसके उत्सव का वर्णन करने का मामूली मौका भी नही छोडा। 'मेघदूत' वर्षा का काव्य है, पर यक्षप्रिया के उद्यान का वर्णन करते समय प्रिया के चरणों के आघात मे फूट उठनेवाले अशोक और मुख की मदिरा से सिंचकर खिल उठनेवाले बकुल के बहाने कवि ने वहाँ भी वसन्तोत्सव को याद किया है। आगे चलकर हम देखेंगे कि अशोक और बकुल का दोहद उत्पन्न करना वसन्तोत्सव का एक प्रधान अंग था।

वसन्त के कई उत्सव है। इसमे सुवसन्तक और मदनोत्सव का वर्णन सबमे ज्यादा आता है। किसी-किसी पण्डित ने दोनो को एक उत्सव मानकर गलती की है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में यक्षरात्रि, कौमुदीजागर और सुवसन्तक—ये तीनों उत्सव समस्याक्रीड़ा के प्रसंग में दिये हुए है, अर्थात् इन उत्सवो को नागरिक लोग एकत्र होकर मनाते थे। एक बहुत बाद के आचार्य यशोधर ने सुवसन्तक का अर्थ मदनोत्सव बताया है। उसी पर से यह भ्रम पण्डितों में फैल गया है। हम आगे चलकर देखेंगे कि सुवसन्तक वस्तुतः अलग उत्सव था और उसके मनाने की विधि भी दूसरे प्रकार की थी। 'कामसूत्र' में होलिका नामक एक अन्य उत्सव का उल्लेख है जो आधुनिक होली के रूप मे अब भी जीवित है। प्राचीन ग्रन्थों से जान

पड़ता है कि मदनोत्सव फागुन से लेकर चैत्र के महीने तक मनाया जाता था। इसके दो रूप होते थे, एक सार्वजनिक धूमधाम का और दूसरा अन्तःपुरिकाओं के परस्पर-विनोद और कामदेव के पूजने का। इसके प्रथम रूप का वर्णन सुप्रसिद्ध सम्राट् श्रीहर्षदेव की 'रत्नावली' में इतने मनोहर और सजीव ढंग से अंकित है कि उस उत्सव का अन्दाजा लगाने के लिए उससे अधिक उपयोगी और कोई वर्णन नहीं हो सकता। इस सार्वजनिक धूमधाम के अतिरिक्त इसका एक शान्त सहज रूप और भी था। उसका थोड़ा-सा आभास पाठकों को भवभूति-जैसे कवि की शक्तिशाली लेखनी की सहायता से दिया जायेगा।

संगीत

संगीत का प्रचार इस देश मे बहुत पुराने जमाने से है। वैदिक काल में ही सात स्वरों का विभाजन किया गया था, यद्यपि उनके नाम ठीक वही नहीं थे जो परवर्ती काल में प्रचलित हो गये। वैदिक साहित्य मे दुन्दुभि, भूमिदुन्दुभि, आघाति आदि आतोद्य बाजे बन चुके थे और वीणा, काण्डवीणा आदि वीणाजातीय तन्त्री यन्त्र भी बन गये थे। रामायण और महाभारत मे अनेक वाद्यन्त्रों के नाम आते है और सप्तस्वरों और बाईस श्रुतियों की चर्चा आती है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में इसकी शास्त्रीय विवेचना मिलती है जो बहुत सक्षिप्त भी है और अस्पष्ट भी। इस ग्रन्थ मे स्वर, श्रुति, मूर्छना आदि की व्याख्या है। राग का उल्लेख इस ग्रन्थ मे नहीं पाया जाता, पर इसके ही समान अर्थो में 'जाति' का व्यवहार किया गया है। संगीत की जातियाँ अठारह बतायी गयी है। मतंग नामक आचार्य का बृहद्देशी ग्रन्थ प्रथम बार राग का उल्लेख करता है। ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है कि मतग के सामने देशी 'राग' पर्याप्त थे और वे सम्भवतः 'शास्त्रीय' संगीत 'जाति' से अलग ढंग के थे। मतंग सम्भवतः सन् ईसवी की चौथी-पाँचवी शताब्दी मे हुए थे। उन्होने देशी सगीत की परिभाषा इस प्रकार की है—स्त्रियाँ, बालक, गोपाल और क्षितिपाल अपनी इच्छा से जिन गानों का गायन करते हैं, अर्थात् किसी प्रकार की शास्त्रीय शिक्षा के बिना ही आनन्दोल्लासवश गाते है, वे 'देशी' कहलाते हैं :

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते॥

'राग' का परिचय कालिदास को भी था, क्योंकि 'तवास्मि गीत-रागेण' मे राग शब्द का व्यवहार लगभग आधुनिक अर्थ मे ही है। कुछ लोग तो इस श्लोक के

'सारंगेण' पद का श्लिष्ट अर्थ करके यह भी बताना चाहते है कि सारंग राग का भी उन्हे परिचय था। यदि यह व्याख्या ठीक हो तो कालिदास के युग मे उन प्रमुख रागों का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है जो बाद मे बहुत प्रमुख होकर आये हैं। पर इस व्याख्या के मानने मे कुछ ऐतिहासिक अडचनें बतायी जाती है। 13वीं शताब्दी के शार्ङ्गदेव ने इन्हे 'अधुना प्रसिद्ध' कहा है।

मदनोत्सव

सम्राट् श्रीहर्षदेव के विवरण से जान पडता है कि दोपहर के बाद सारा नगर मदनोत्सव के दिन पुरवासियों की करतल-ध्वनि, मधुर संगीत और मृदग के मधुर घोप से मुखरित हो उठता है, नगर के लोग (पौर जन) मदमत्त हो जाते थे। राजा अपने ऊँचे प्रासाद की सबसे ऊपरवाली चन्द्रशाला मे बैठकर नगरवासियो के आमोद-प्रमोद को देखा करते थे। नगर की कामिनियाँ मधुपान करके ऐसी मतवाली हो जाती थी कि सामने जो कोई पुरुप पड़ जाता, उस पर पिचकारी (शृङ्गक) के जल की बौछार करने लगती थी। बड़े-बड़े रास्तों के चौराहे मर्दल नामक बाजे के गम्भीर घोप और चर्चरी की ध्वनि से शब्दायमान हो उठते थे। ढेर-का-ढेर सुगन्धित अबीर दसों दिशाओं मे इतना उड़ता रहता था कि दिशाएँ रंगीन हो उठती थी। जब नगरवासियो का आमोद पूरे गढाव पर आ जाता तो नगरी के सारे राजपथ केशरमिश्रित अबीर मे इस प्रकार भर उठते थे मानो उसकी छाया पड रही हो। लोगो के शरीर पर शोभायमान अलंकार और सिर पर पहने हुए अशोक के लाल फूल, इस लाल-पीले सौन्दर्य को और भी अधिक बढा देते थे। ऐसा जान पड़ता था कि नगरी के सभी लोग सुनहरे रंग मे डूबो दिये गये हैं।

> कीर्णै:पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुङ्कुमक्षोदगौरैः
> हेमालङ्कारभाभिर्भरनमितशिखैः शेखरैः कैङ्किरातैः।
> ऐषा वेषाभिलक्ष्यस्वभवनविजिताशेषवित्तेशकोषा
> कौशाम्बी शातकुंभद्रवखचितजनेवैकपीता विभाति।
>
> (रत्नावली, 1-11)

राजकीय प्रासाद तथा अन्य समृद्धिशाली भवनों के सामनेवाले आँगन मे निरन्तर फव्वारा छूटा करता था, जिससे अपनी-अपनी पिचकारी में जल भरने की होड़-सी मची रहती थी। इस स्थान पर पौरयुवतियों के बराबर आने रहने से उनकी माँग के सिन्दूर और गाल के अबीर झरते रहते थे, सारा आँगन लाल

कीचड से भर जाता था और फर्श सिन्दूरमय हो उठता था :

धारायंत्रविमुक्तसन्ततपयःपूरप्लुते सर्वतः
सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीड़े क्षणं प्रांगणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणान्यासैः पुरः कुट्टिमम्॥

('रत्नावली', 1-12)

उस दिन वेश्याओं के मुहल्ले में सबसे अधिक हुड़दंग दिखायी देता था। रसिक नागरिक पिचकारियों में सुगन्धित जल भरकर वेश्याओं के कोमल शरीर पर फेंका करते थे और वे सीत्कार करके सिहर उठती थीं। वहाँ इतना अबीर उड़ता था कि सारा मुहल्ला अन्धकारमय हो जाया करता था।

अन्तःपुर की रसिका परिचारिकाएँ हाथ में आम्र-मंजरी लिये हुए द्विपदी-खण्ड का गान करती, नृत्य करने लगती थीं। इस दिन इनका आमोद मर्यादा की सीमा पार कर जाता था। वे मदपान से मत्त हो उठती थीं। नाचते-नाचते उनके केशपाश शिथिल हो जाते थे, कबरी (जूड़ा) को बाँधनेवाली मालतीमाला खिसककर न जाने कहाँ गायब हो जाती थी, पैर के नूपुर झटकन-मटकन के वेग को न सँभाल सकने के कारण दुगुने जोर से झनझनाते रहते थे—नगरी के भीतर और बाहर सर्वत्र आमोद और उल्लास की प्रचण्ड आँधी बह जाती थी :

स्रस्तः स्रग्दामशोभा त्यजति विरचितान्याकुल. केशपाशः।
क्षीवाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ।
व्यस्तः कम्पानुबंधादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः।
क्रीडन्त्याः पीड़येव स्तनभरविनमन्मध्यभंगानपेक्षम्॥

मदनोत्सव के सार्वजनिक उत्सव का एक अपेक्षाकृत अधिक शान्त-स्निग्ध चित्र भवभूति के 'मालती-माधव' नामक प्रकरण में पाया जाता है। उत्सव के दिन मदनोद्यान में, जो विशेष रूप से इसी उत्सव का उद्यान होता था और जिसमें कामदेव का मन्दिर हुआ करता था, नगर के स्त्री-पुरुष एकत्र होते थे और भगवान् कन्दर्प की पूजा करते थे। वहाँ सब लोग अपनी इच्छा के अनुसार फूल चुनते, माला बनाते, अबीर-कुकुम से क्रीड़ा करते और नृत्य-गीत आदि से मनोविनोद किया करते थे। इस मन्दिर में प्रतिष्ठित परिवार की कन्याएँ भी आती और मदन देवता की पूजा करके मनोभिलषित वर की प्रार्थना किया करती थीं। लोगों की भीड़ प्रात.काल से ही शुरू हो जाती और सायंकाल तक अबाध चलती रहती थी। 'मालती-माधव' में वर्णित मदनोद्यान में अमात्य भूरिवसु की कन्या मालती भी पूजन के लिए और उत्सव मनाने के लिए गयी थी। सशस्त्र पुरुषों से सुरक्षित एक विशाल हाथी की पीठ पर बैठकर वह आयी थी और उसी पर बैठकर लौट गयी थी। मालती सखियोंसमेत मदनोद्यान में सैर करने भी गयी थी। इससे जान पड़ता है कि इस मेले में केवल साधारण नागरिक ही नहीं आते थे, सम्भ्रान्तवंशीया कन्याएँ भी घूम-फिर सकती थीं।

मदनोत्सव के इन दो वर्णनो के पढने से पाठकों के मन मे इनके परस्पर विरोधी होने की शंका हो सकती है। पहले वर्णन मे नगर के लोग नगर मे ही सायंकाल मदमत्त हो उठते थे, पर दूसरे वर्णन से जान पड़ता है कि वे सवेरे से लेकर शाम तक मदनोद्यान के मेले में जाया करते थे। परन्तु असल मे यह विरोध नही है। वस्तुतः मदनोत्सव कई दिन तक मनाया जाता था। समूचा वसन्त ऋतु ही उत्सवो से भरा होता था। पुराण-ग्रन्थों के देखने से जान पड़ता है कि मदनोत्सव चैत्र शुक्ल द्वादशी को शुरू होता था। उस दिन लोग व्रत रखते थे। अशोकवृक्ष के नीचे मिट्टी का कलश स्थापन किया जाता था। उसमे सफेद चावल भर दिये जाते थे। नाना प्रकार के फल और ईख विशेष रूप से पूजोपहार का काम करती थी। कलश को सफेद वस्त्र से ढक दिया जाता था और श्वेत चन्दन छिडका जाता था। कलश के ऊपर एक ताम्रपत्र रखा जाता या उसके ऊपर कदलीदल बिछाकर कामदेव और रति की प्रतिमा बनायी जाती थी। नाना भाँति के गन्ध-धूप से और नृत्य-वाद्य से कामदेव को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाता था ('मत्स्यपुराण' 7वाँ अध्याय)। इसके दूसरे दिन अर्थात् चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को भी मदन की पूजा होती थी और सम्मिलित भाव से स्तुति की जाती थी। चैत्र शुक्ल चतुर्दशी की रात को केवल पूजा ही नही होती थी, नाना प्रकार के अश्लील गान भी गाये जाते थे और पूर्णिमा के दिन छककर उत्सव मनाया जाता था। सम्भवत त्रयोदशी-वाला उत्सव ही मदनोद्यान का उत्सव है और पूर्णिमावाला 'रत्नावली' मे वर्णित मदनोत्सव।

अशोक में दोहद

इस उत्सव का सबसे अधिक आकर्षक और सरस रूप अन्त पुर के अशोक वृक्षतले होनेवाली मदन-पूजा है। महाराज भोजदेव के 'सरस्वती कण्ठाभरण' में स्पष्ट ही लिखा है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था, उस दिन कुसुम्भी रग की कंचुकीमात्र धारण करनेवाली तरुणियाँ छककर उत्सव मनाया करती थीं। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' से और श्रीहर्षदेव की 'रत्नावली' से इस उत्सव की एक झलक मिल जाती है। 'मालविकाग्निमित्र' से जान पड़ता है कि उस दिन मदनदेव की पूजा के पश्चात् अशोक मे दोहद उत्पन्न किया जाता था। यह दोहद क्रिया इस प्रकार होती थी—कोई सुन्दरी सब प्रकार के आभरण पहनकर पैरो मे महावर लगाकर और नूपुर धारणकर बायें चरण मे अशोक वृक्ष

पर आघात करती थी। इस चरणाघात की विलक्षण महिमा थी। अशोक वृक्ष नीचे से ऊपर तक पुष्प-स्तवकों (गुच्छों) से भर जाता था। साधारणतः रानी ही यह कार्य करती थी, परन्तु 'मालविकाग्निमित्र' में वर्णित घटना के दिन उनके पैर में चोट आ गयी थी इसलिए अपनी परिचारिकाओं में सबसे अधिक सुन्दरी 'मालविका' को ही उन्होंने इस कार्य के लिए नियुक्त किया था। मालविका की एक सखी बकुलावलिका ने उसे महावर और नूपुर पहना दिये। मालविका अशोकवृक्ष के पास गयी, उसके पल्लवों के एक गुच्छे को हाथ से पकड़ा, फिर दाहिनी ओर जरा झुकी और बायें पैर को धीरे से उठाकर अशोकवृक्ष पर एक मृदु आघात किया। नूपुर जरा-सा झुनझुना गया और यह आश्चर्यजनक सरस कृत्य समाप्त हुआ। राजा इस उत्सव में सम्मिलित नहीं हुए थे, बाद में संयोगवश आ उपस्थित हुए थे। रानी की अनुपस्थिति ही शायद उनकी अनुपस्थिति का कारण थी। पर 'रत्नावली' वाले वर्णन में रानी ने ही प्रधान हिस्सा लिया था, वहाँ राजा और विदूषक उपस्थित थे और अन्तःपुर की अन्य परिचारिकाएँ भी मौजूद थीं। अपनी सबसे सुन्दर परिचारिका सागरिका को रानी ने जान-बूझकर वहाँ से हटा दिया था। अशोकवृक्ष के नीचे सुन्दर स्फटिक-विनिर्मित आसन पर रानी ने राजा को बैठाया, पास ही दूसरे आसन पर वसन्तक नामक विदूषक भी बैठ गया। कांचनमाला नामक प्रधान परिचारिका ने रानी के सुन्दर कोमल हाथों में अबीर-कुंकुम-चन्दन और पुष्प-सम्भार दिये। रानी ने पहले मदनदेव की पूजा की और फिर पुष्पांजलि पति के चरणों पर बिखेर दी। ब्राह्मण वसन्तक को यथारीति दक्षिणा दी गयी। यह सब कार्य सायंकाल के आसपास हुए, क्योंकि पूजाविधि के समाप्त होते ही बैतालिकों ने सन्ध्याकालीन स्तुति पाठ किया और राजा ने पूर्व की ओर देखा कि कुंकुम और अबीर में लिपटे हुए चन्द्रदेव प्राची दिशा को लाल बनाकर उदय-मंच पर आसीन हुए। इस दिन पूर्णिमा थी।

श्री भोजदेव के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से यह जान पड़ता है कि यह किसी निश्चित तिथि का उत्सव नहीं था। जिस किसी दिन इसका अनुष्ठान हो सकता था। इस उत्सव का विशेष नाम 'अशोकोत्तंसिका' (पृ. 574) था।

शारदातनय के 'भावप्रकाश' में वसन्त के निम्नांकित उत्सवों का उल्लेख (पृ. 137) है—अष्टमी-चन्द्र, शक्रार्चा या इन्द्रपूजन, वसन्त या सुवसन्तक, मदनोत्सव, बकुल और अशोक के वृक्षों के पास विहार और शाल्मली मूल-खेलन या एकशाल्मली-विनोद। इसके अतिरिक्त निदाघकाल के कई विनोद भी वसन्त में मनाये जा सकते होंगे; क्योंकि शारदातनय ने निदाघ (ग्रीष्म) उत्सवों के पहले यह लिख दिया है कि ये प्रायः ग्रीष्मऋतु के हैं, अर्थात् अन्य ऋतु में भी इनका निषेध नहीं है। 'कामसूत्र' की जयमंगला टीका से कई विनोदों का वसन्त में मनाया जाना निश्चित है। निदाघ में प्रायः मनाये जानेवाले उत्सवों के नाम ये हैं—उद्यानयात्रा, सलिल-क्रीडा (जल-क्रीड़ा), पुष्पावचयिका (फूल चुनना), नवाम्रखादनिका (नये आम का खाना) और आम और माधवीलता का विवाह।

इनमे प्राय: सभी वसन्त के वर्णन के सिलसिले मे प्राचीन ग्रन्थों मे वर्णित है। जलक्रीड़ा और नये आम का खाना भी वसन्त के अन्तिम दिन मे असम्भव नही है।

सुवसन्तक

'सरस्वतीकण्ठाभरण' के अनुसार सुवसन्तक वसन्तावतार के दिन को कहते है। अर्थात् जिस दिन प्रथम बार वसन्त पृथ्वी पर उतरता है। इस तरह आजकल के हिसाब से यह दिन वसन्तपंचमी को पड़ना चाहिए। 'मात्स्यसूक्त' और 'हरि-भक्तिविलास' आदि ग्रन्थो के अनुसार इसी दिन वसन्त का प्रथम प्रार्दुभाव होता है। इसी दिन मदन की पहली पूजा विहित है। इसी दिन उस युग की विला-सिनियाँ कण्ठ मे दुष्प्राप्य नव आम्रमजरी धारण करके ग्राम को जगमग कर देती थी :

छणपिट्ठधूसरत्थणि महुमअतम्बच्छि कुवलआहरणे।
कंठकअचूअमंजरि पुत्ति तुए मडियो गामो॥
—'सरस्वतीकण्ठाभरण', पृ 575

और कालिदास के 'ऋतुसंहार' से स्पष्ट है कि पुराने गर्म कपडो को फेंककर कोई लाक्षारस से या कुकुम के रंग से रंजित और सुगन्धित कालागुरु से सुवासित हल्की लाल साडियाँ पहनती थी, कोई कुसुम्भी दुकूल धारण करती थी और कोई-कोई कानों मे नवीन कर्णिकार के फूल, नील अलको (केशो) मे लाल अशोक के फूल और वक्ष स्थल पर उत्फुल्ल नव-मल्लिका की माला धारण करती थी :

गुरूणि वासासि विहाय तूर्ण तनूनि लाक्षारसरंजितानि।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्तेऽङ्गना काममदालसाङ्गी॥13॥
कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिंबानि विलासिनीनाम्।
रक्तांशुकै: कुकुमरागगौरैरलक्रियन्ते स्तनमण्डलानि॥14॥
कर्णेपु योग्यं नवकर्णिकार चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोक.।
पुष्प च फुल्लं नवमल्लिकाया. प्रयाति कान्ति प्रमदाजनस्य॥16॥

उद्यानयात्रा

उन दिनो वसन्त ऋतु की उद्यानयात्रा और वन-यात्राएँ काफी मजेदार होती थी। 'कामसूत्र' (पृ. 53) से स्पष्ट है कि निश्चित दिन को दोपहर के पूर्व ही नागरिक-गण सजधज कर तैयार हो जाते थे। घोड़ों पर चढ करके किसी दूर स्थित उद्यान या वन की ओर – जो एक दिन मे ही लौट आने योग्य दूरी पर होता था—जाया करते थे। कभी-कभी इनके साथ गणिकाएँ भी होती थी और कभी-कभी अन्तः-पुर की गृहदेवियाँ होती थीं। इन उद्यान-यात्राओं मे कुक्कुट (मुर्गे), लाव, बटेरो आदि और मेष अर्थात् भेड़ों की लड़ाइयाँ हुआ करती थी। ये युद्ध काफी उत्तेजक होते थे और लड़नेवाले पशु-पक्षी लहूलुहान हो जाते थे। इनकी नृशंसता देखकर ही शायद सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में इनकी मनाही का फर्मान जारी किया था। तो, इन उद्यानयात्राओं या पिकनिक-पार्टियों में हिन्दोल-लीला, समस्या-पूर्त्ति, आख्यायिका, विन्दुमती, आदि प्रहेलिकाओ के खेल होते थे। वसन्तकालीन वनविहार मे कई उल्लेखयोग्य खेल यहाँ दिये जा रहे हैं। क्रीड़ैकशाल्मली या शाल्मली-मूल-खेलन नाम का विनोद 'कामसूत्र', 'भावप्रकाश' और 'सरस्वती-कण्ठाभरण' आदि ग्रन्थो में दिया हुआ है। ठीक यह किस तरह का होता था, कुछ समझ मे नही आता। पर फलो से लदे किसी एक ही सेमर के पेड़तले आँख-मिचौनी खेलने के रूप में यह रहा होगा। सेमर का पेड़ ही क्यों चुना जाता था, यह समझ में नही आता। शायद उन दिनों वसन्त मे लाल कपड़े पहने जाते थे और यह कुसुम-निर्भर (लाल फूलों से लदा) पेड़ लूका-चोरी खेलने का सर्वोत्तम साधन रहा हो। आजकल यह किसी प्रदेश मे किसी रूप में जी रहा है कि नही, नही मालूम। यहाँ यह कह रखना उचित है कि 'कामसूत्र' की जयमंगला टीका के अनुसार इस विनोद का प्रचलन विदर्भ या बरार प्रान्त मे अधिक था।

वसन्त के अन्य उत्सव

उदकक्ष्वेडिका भी पुराना विनोद है। यह होली के दिन अब भी निस्सन्देह जी रहा है और ऊपर श्रीहर्षदेव की गवाही से हमने मदनोत्सव का जो वर्णन पढा है, उस पर से निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि आज वह अपने मूल रूप मे ही जीता है। बाँस की पिचकारियों मे सुगन्धित जल भरकर युवकगण अपने

प्रियजनों को सराबोर कर देते थे। यही उदकक्ष्वेडिका कहा जाता था। इसका उल्लेख 'कामसूत्र' मे भी है, और जयमंगला टीका के अनुसार इस विनोद का प्रचलन मध्यदेश में ही अधिक था। नागरिकाएँ जब अनंगदेव (कामदेव) की पूजा के लिए आम्र-मजरी चुनकर कानों मे पहनकर निकलती थी तो उनके परस्पर हास-विलास से यह कार्य अत्यन्त सरस हो उठता था। पुरुष कभी अलग और कभी स्त्रियों के साथ इस चयन-कार्य को करते थे। इसे चूत-भंजिका कहते थे। वसन्त काल मे फूल चुनना उन दिनों की नागरिकाओं के लिए एक खासा मनोविनोद था। इसे पुष्पावचायिका कहते थे। भोजदेव तो कहते है कि सुन्दरियों की मुख-मदिरा से सिंचने पर जब बकुल फूलता था, तब उसी के फूल चुनकर यह उत्सव मनाया जाता था ('सरस्वतीकण्ठाभरण', पृ. 576)। सखियो के उपालम्भ-वाक्यो और प्रिय-हृदयों के उल्लसित विलास से कुसुमावचय का वह उत्सव बहुत स्फूर्तिप्रद होता था; क्योंकि कवियों ने जी खोलकर इसका वर्णन किया है। वसन्तकाल मे जिस प्रकार प्रकृति अपने-आपको नि.शेष भाव से उद्‌बुद्ध कर देती है, उसी प्रकार जब मनुष्य भी कर सके तो उत्सव सम्भव है। प्रकृति ने अगर उल्लास प्रकट ही किया किन्तु मनुष्य जड़ीभूत बना रहा तो उत्सव कहाँ हुआ ? दूसरी ओर यदि मनुष्य ने अपना हृदय खोलकर फूले हुए वृक्षों और मदिरायित मलय-पवन का आनन्द उपभोग किया तो प्रकृति की जो भी अवस्था क्यो न हो, वह आनन्ददायक ही होगी। मनुष्य ही प्रधान है, प्रकृति का उत्सव उसी की अपेक्षा मे होता है। सस्कृत कवि ने इस महासत्य का अनुभव किया था। भारतवर्ष का चित्त जब स्वतन्त्र था, जब वह उल्लास और विलास का सामंजस्य कर सकता था, उन दिनो मनुष्य की इस प्रधानता का ठीक-ठीक अनुभव कर सका था। फूल तो बहुत खिलते है, परन्तु पुष्प-पल्लवों से भरी हुई धरती असल मे वह है जहाँ मनुष्य के सुन्दर चरणो का संसर्ग है, जहाँ उसका मनोभ्रमर दिनरात मँडराया करता है :

> सन्तु द्रुमाः किसलयोत्तरपत्रभाराः प्राप्ते वसन्तसमये कथमित्यमेव
> न्यासैर्नवद्युतिमतो' पदयोस्तवेयं भू.पुष्पिता सुतनु पल्लवितेव भाति ॥
>
> —'सूक्तिसहस्र'

एक और उत्सव है, अभ्यूषखादनिका। गेहूँ, जौ आदि शूक धान्य, तथा चना, मटर आदि शमी धान्य के कच्चे पौधे में लगी फलियो को भूनकर अभ्यूष और होलाका नामक खाद्य बनाये जाते थे। नागर लोग इन वस्तुओं को खाने के लिए नगर के बाहर धूमधाम के साथ जाया करते थे। आजकल यह उत्सव वसन्त-पन्मी के दिन मनाया जाता है।

इस प्रकार वसन्त की हवा कुसुमित आम की शाखाओं को कँपाती हुई आती थी, कोकिला की हूकभरी कूक दसों दिशाओ में फैला देती थी और शीतकालीन जडिमा मे मुक्त मानव-चित्त को जबर्दस्ती हरण कर ले जाती थी :

> आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखाः
> विस्तारयन् परभृतस्य वचांसिदिक्षु ।

वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणा
नीहारपातविगमात् सुभगो वसन्ते ॥

—'ऋतुसंहार', 6-22

उस समय पर्वतमाला के अनुपम सौन्दर्य से लोगों का चित्त विमोहित हो गया होता था, उसके सानुदेश मे उन्मत्त कोकिल कूक उठते थे, प्रान्तभाग विविध कुसुम-समूह से लहक उठता था, शिलापट्ट सुगन्धित शिलाजतु की सुगन्धि से महक उठता था और राजा लोग सब देखकर आमोद-विह्वल हो उठते थे :

नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्तान्
हृष्टान्यपुष्टनिनदाकुलसानुदेशान् ।
शैलेयजालपरिणद्धशिलातलौघान्
दृष्ट्वा जनः क्षितिभृतो मुदमेति सर्वः ।

—ऋ. सं., 6-25

दरबारी लोगों के मनोविनोद

जो लोग राजसभाओ में बैठते थे वे भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के होते थे। जब तक राजा सिंहासन पर बैठ रहते थे तब तक तो सारी सभा शान्त और सयत बनी रहती थी। दरबारी लोग अपनी-अपनी स्थिति और पदवी के अनुसार यथास्थान बैठे रहते थे, परन्तु राजा के आने के पहले और बीच मे उनके उठ जाने पर सब लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मनोविनोद मे लग जाते थे। 'कादम्बरी' मे इस मनोविनोद का अच्छा-सा चित्र दिया हुआ है। जब राजा सभा मे उपस्थित नही थे, उस समय कोई-कोई सामन्त पाशा खेलने के लिए कोठे खीच रहे थे, कोई पाशा फेंक रहे थे, कोई वीणा बजा रहे थे, कोई चित्रफलक पर राजा की प्रति-मूर्त्ति अंकित कर रहे थे, कोई-कोई काव्यालाप में व्यस्त थे, कोई-कोई आपस मे हँसी-दिल्लगी मे मशगूल थे, कुछ लोग बिन्दुमती नामक काव्यात्मक खेल में उलझे हुए थे अर्थात् बहुत-से बिन्दुओं में अकार, उकार आदि मात्राएँ लगा दी गयी थी और उन पर से पूरे श्लोक का वे उद्धार कर रहे थे, कुछ लोग प्रहेलिका (पहेली) नामक काव्यभेद का रस ले रहे थे, कोई-कोई राजा के बनाये हुए श्लोकों की चर्चा कर रहे थे, कोई-कोई विदग्ध रसिक ऐसे भी थे जो भरी सभा मे वार-विलासि-नियों के कण्ठ और कपोल आदि मे तिलकरचना कर रहे थे, कुछ लोग उन रमणियों के साथ ठिठोली कर रहे थे, कुछ लोग बन्दीजनों से पुराने प्रतापी राजाओं

का गुणगान सुन रहे थे और इस प्रकार अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार कालयापन कर रहे थे। राजसभा के बाहर राजा के विशाल प्रासाद के एक पार्श्व में कही कुत्ते बँधे थे; कही कस्तूरी मृग विचरण कर रहे थे; कही कुबड़े, बौने, नपुसक, गूँगे, बहरे आदमी घूम रहे थे; कही किन्नरयुगल और वनमानुप विहार कर रहे थे; कही सिंह-व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओ के पिंजड़े वर्त्तमान थे। ये सभी वस्तुएँ दरबारियो के मनोविनोद का साधन थी। स्पष्ट ही मालूम होता है कि राजदरबार के मुख्य विनाद में काव्यकला सबसे प्रमुख थी। वस्तुतः राजसभा में सात अंगों का होना परम आवश्यक माना जाता था। ये सात अंग है: (1) विद्वान्, (2) कवि, (3) भाट, (4) गायक, (5) मसखरे, (6) इतिहासज्ञ, और (7) पुराणज्ञ।

विद्वासः कवयो भट्टा गायकाः परिहासकाः।
इतिहासपुराणज्ञाः सभा सप्तांग-संयुता ॥

काव्यशास्त्र विनोद

पुराना भारत विश्वास करता था कि बुद्धिमानों का काल काव्य-शास्त्र-विनोद मे कटता है—'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'। हमने देखा ही है कि सभा, समाज, उद्यानयात्रा, पुत्रजन्म, मेला, यात्रा, कोई भी ऐसा अवसर नही आता था जिसमे वह काव्यालाप से विनोद न पाता हो। राजा कवि-सभाओ का नियमित आयोजन करते थे। हमने इस प्रकार की राजसभाओ को पहले ही लक्ष्य किया है। इन सभाओं में कवियों की परीक्षा हुआ करती थी। वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसांक आदि राजाओ ने इस विशाल परम्परा को चलाया था और बहुत हाल तक सभी यशोऽभिलाषी भारतीय नरेश इस परम्परा का पोषण करते आये है। 'काव्य-मीमांसा' में राजशेखर ने लिखा है कि राजा लोग स्वयं भी किस प्रकार भाषा और काव्य की मर्यादा पर ध्यान देते थे—अपने परिवार मे कई राजाओं ने कड़े नियम बनाये थे ताकि भाषागत माधुर्य ह्रास न होने पाये। जैसे; सुना जाता है मगध में राजा शिशुनाग ने यह नियम कर दिया था कि उनके अन्तःपुर मे ट, ठ, ड, ढ, ऋ, प, स, ह, इन आठ वर्णों का उच्चारण कोई न करे। शूरसेन के राजा कुबिन्द ने भी कटु संयुक्त अक्षरों के उच्चारण का प्रतिषेध कर दिया था। कुन्तलदेश मे राजा सातवाहन की आज्ञा थी कि उनके अन्तःपुर में केवल प्राकृत भाषा बोली जाय। उज्जयिनी मे राजा साहसांक की आज्ञा थी कि उनके

अन्तःपुर मे केवल संस्कृत बोली जाय।

कवियों का नाना भाव से सम्मान होता था। समस्याएँ दी जाती थीं, और प्रहेलिका, बिन्दुमती आदि से परीक्षा ली जाती थी। कवि लोग भी काफी सावधान हुआ करते थे। कोई उनकी रचना चुरा न ले, सुनकर याद करके अपने नाम से चला न दे, इस बात का ध्यान रखते थे। राजशेखर ने बताया है कि जब तक काव्य पूरा नही हुआ हो तब तक दूसरों के सामने उसे नही पढ़ना चाहिए। इसमें यह डर रहता है कि वह आदमी उस काव्य को अपना कहकर ख्यात कर देगा—फिर कौन साक्षी दे सकेगा कि किसकी रचना है? सम्मानेच्छु कवियों में परस्पर-प्रतिस्पर्द्धा भी खूब हुआ करती थी। नाना भाव से एक-दूसरे को परास्त करने का जो प्रयत्न होता था उसकी कई मनोरंजक कहानियाँ पुराने ग्रन्थों में मिल जाती हैं। इस राजसभा में काव्यपाठ करना सामान्य बात नही थी। चिन्तासक्त मन्त्रियों की गम्भीर मूर्त्ति, सबकुछ करने के लिए प्रतिक्षण तत्पर दूतों की कठोर मुखमुद्रा, प्रान्तभाग मे खुफिया विभाग के धूर्त्त मनुष्य, बहुतर ऐश्वर्यशालियों के हाथी-घोड़े-लाव-लश्कर की अभिभूत कर देनेवाली उपस्थिति, कायस्थों की कुटिल भृकुटियाँ और नयी-नयी कूटनीतिक चिन्ताओं का सर्वत्र विस्तार मामूली साहसवाले कवि को त्रस्त-शंकित बना देता था। एक कवि ने तो राजा के सामने ही इस राजसभा को हिंस्र-जन्तुओ से भरे समुद्र के समान कहकर अपना चित्त-विक्षोभ हल्का किया था :

चिन्तासक्तनिमग्नमंत्रि-सलिलं दूतोर्मिशाखाकुलम्,
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नानावाशककंकपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदम्,
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥

नया कवि इस राजसभा में बड़ी कठिनाई मे पड जाता था। एक कवि ने राजसभा में प्रथम बार आये हुए सम्भ्रम से कवि की वाणी को नवविवाहिता वधू से उपमा दी है। बिना बुलाये भी वह आना चाहती है, गले से उलझकर रह जाती है, पूछने पर भी बोलती नही, काँपती है, स्तम्भित हो रहती है, अचानक फीकी पड़ जाती है। गला रुँध जाता है, आँख और मुँह की रोशनी धीमी पड़ जाती है। कवि बड़े अफसोस के साथ अनुभव करता है कि वाणी है या नवोढा वहू है—दोनो मे इतनी समानता है!

नाहूतापि पुरः पद रचयति प्राप्तोपकंठं हठात्
पृष्टा न प्रविवक्ति कम्पमयते स्तंभं समालम्बते।
वैवर्ण्यं स्वरभङ्गमञ्चति बलान्मन्दाक्षमन्दानना
कष्टं भोः प्रतिभावतोऽप्यभिसभ वाणी नवोढायते॥

न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सर्दाशतं पश्यति नार्कमन्धः॥

—'कविकण्ठाभरण', 1-22-23

यह और बात है कि पूर्व जन्म के पुण्य से मन्त्रसिद्ध कवित्व हो जाय या फिर इसी जन्म में सरस्वती की साधना से देवी प्रसन्न होकर कवित्वशक्ति का वरदान दे दें ('कविकण्ठाभरण', 1-24), परन्तु प्रतिभा थोड़ी-बहुत आवश्यक तो है ही। कवित्व सिखलानेवाले ग्रन्थों का यह दावा तो नहीं है कि वे गधे को गाना सिखा देंगे, परन्तु इतना दावा वे अवश्य करते हैं कि जिस व्यक्ति में थोड़ी-सी भी शक्ति हो उसे इस योग्य बना देंगे कि वह सभाओं और समाजों में कीर्ति पा ले।

उक्ति-वैचित्र्य

यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो सहज ही समझ आ जाता है कि उक्ति-वैचित्र्य को इन अलंकारिकों ने इतना महत्त्व क्यों दिया है। उक्ति-वैचित्र्य वाद-विजय और मनोविनोद की कला है। भामह ने बताया है कि वक्रोक्ति ही समस्त अलंकारों का मूल है और वक्रोक्ति न हो तो काव्य ही नहीं हो सकता। भामह की पुस्तक पढ़ने से यही धारणा होती है कि वक्रोक्ति का अर्थ उन्होंने कहने के विशेष प्रकार के ढंग को ही समझा था। वे स्पष्ट रूप से ही कह गये हैं कि सूर्य-अस्त हुआ, चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है, पक्षी अपने-अपने घोंसलों में जा रहे हैं, इत्यादि वाक्य काव्य नहीं हो सकते; क्योंकि इन कथनों में कहीं वक्रभङ्गिमा नहीं है। दोष उनके मत से उस जगह होता है जहाँ वाक्य की वक्रता अर्थप्रकाश में बाधक होती है। भामह के बाद के आलंकारिकों ने वक्रोक्ति को एक अलंकार मात्र माना है। किन्तु भामह ने वक्रोक्ति को काव्य का मूल समझा है। दण्डी भी भामह के मत का समर्थन कर गये हैं; यद्यपि वे वक्रोक्ति का अर्थ अतिशयोक्ति या बढ़ा-चढ़ाकर कहना बता गये हैं। वक्रोक्ति को निश्चय ही बहुत दिनों तक काव्य का एकमात्र मूल माना जाता रहा, पर व्यावहारिक रूप में कभी भी काव्य केवल वक्रोक्ति मूलक—अर्थात् निर्दोष वक्र-भंगिमा के रूप कहे हुए वाक्य के रूप में उसका प्रयोग नहीं होता था। उन दिनों भी रसमय काव्य लिखे जाते थे और सच पूछा जाय तो सरस काव्य जितने उन दिनों लिखे गये उतने और कभी लिखे ही नहीं गये। वस्तुतः आलंकारिक लोग तब भी ठीक-ठीक काव्यस्वरूप को समझ नहीं सके थे। कुन्तक या कुन्तल नाम के एक आचार्य सम्भवतः नवीं या दसवीं

शताब्दी में हुए। उन्होने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर 'वक्रोक्ति' शब्द की एक ऐसी व्यापक व्याख्या की जिससे वह शब्द काव्य का वास्तविक स्वरूप समझाने मे बहुत दूर तक सफल हो गया। कुन्तक के मत का सार मर्म इस प्रकार है—केवल शब्दो मे भी कवित्व नही होता और केवल अर्थ मे भी नही। शब्द और अर्थ दोनो के साहित्य मे अर्थात् एक साथ मिलकर भाव प्रकाश करने के सामंजस्य मे काव्यत्व होता है।

वैसे तो ऐसा कभी नही होगा कि शब्द और अर्थ परस्पर-विच्छिन्न होकर श्रोता के समक्ष उपस्थित हो। शब्द और अर्थ तो जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी कह गये है—'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'। वे एक-दूसरे को छोडकर रह नही सकते, फिर शब्द और अर्थ के साहित्य मे काव्य होता है ऐसा कहना क्या बेकार का प्रलापमात्र नही है? कुन्तक जवाब देते है कि यही तो वक्रोक्ति का चमत्कार है। काव्य मे शब्द और अर्थ के साहित्य मे एक विशिष्टता होनी चाहिए। जब कवि-प्रतिभा के बल पर एक वाक्य अन्य वाक्य के साथ एक विचित्र विन्यास मे विन्यस्त होता है तब एक-दूसरे शब्द से मिलकर जिस प्रकार स्वर और ध्वनि लहरी के आतान-वितान से रमणीय माधुर्य का सर्जन करेंगे, उसी प्रकार दूसरी ओर तद्गर्भित अर्थ भी उसके साथ तुल्ययोगिता करके परस्पर को एक नवीन चमत्कार से चमत्कृत करेंगे। इसी प्रकार ध्वनि के साथ ध्वनि के मिलने से और अर्थ के साथ अर्थ के मिलने से जो दो परस्पर से स्पर्द्धा करनेवाली चारुताएँ (सुन्दरताएँ) उत्पन्न होंगी, उनका पारस्परिक सामंजस्य ही यहाँ साहित्य शब्द का अर्थ है। उदाहरण के लिए दो रचनाएँ ली जा सकती है। दोनो मे भाव एक ही है।

चन्द्रमा धीरे-धीरे उदय होकर डरता-डरता आसमान में चल रहा है, क्योकि मानिनियो के गरम-गरम आँसुओ से कलुषित कटाक्षो की चोट उसे बार-बार खानी पड़ रही है। एक कवि ने इसे इस प्रकार कहा :

> मानिनीजनविलोचनपातानुष्णवाष्पकलुषानभिगृह्णन्।
> मन्दमन्दमुदित.प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः॥

दूसरे ने जरा जमके इस प्रकार कहा:

> क्रमादेकद्वित्रिप्रभृतिपरिपाटीः प्रकटयन्,
> कला स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दांकुररुच।
> पुरन्ध्रीणा प्रेयोविरहदनोद्दीपितदृशां,
> कटाक्षेभ्यो बिभ्यन् निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते॥

यहाँ दोनों कविताओं का अर्थ एक ही है, पर दूसरी कविता मे शब्द और अर्थ की मिलित चारुता-सम्पत्ति ने सहृदय के हृदय मे विशेष भाव से चमत्कार पैदा किया है।

अस्तु, हमें यहाँ आलंकारिकों के बाल के खाल निकालनेवाले तर्कों को दुहराने की इच्छा बिल्कुल नहीं है। हम केवल काव्य के उस मनोविनोदात्मक पहलू का

स्मरण कराना चाहते है जो राज-सभाओं, सहृदय-गोष्ठियों, अन्तःपुर के समाजों और सरस्वती-भवनों मे नित्य मुखरित हुआ करती थी। आगे हम इस विषय में कुछ विस्तार से कहने का अवसर खोजेंगे। यहाँ इतना ही स्मरणीय है कि प्राचीन भारतीय काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंश कवि के रचना-कौशल और सहृदय के मनोविनोद के लिए लिखा गया था। इन रचना-कौशल का जब कभी प्रदर्शन होता था तो दर्शकों की भीड़ लग जाया करती थी, इसमें विजयी होनेवाले का गौरव इतना अधिक था कि कभी-कभी बड़े-बड़े सम्राट् विजयी कवि की पालकी में कन्धा लगा देते थे!

-

कवियों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा

कभी-कभी परस्पर की प्रतिस्पर्द्धा से कवियों की असाधारण मेधाशक्ति, हाजिर-जवाबी और औदार्य का पता चलता है। कहानी प्रसिद्ध है कि नैषधकार श्रीहर्षकवि के वंशधर हरिहर नामक कवि गुजरात के राजा वीरधवल के दरबार में आये। सभा में स्वयं उपस्थित न होकर उन्होंने अपने एक विद्यार्थी को भेजा और राजा वीरधवल, मन्त्री वस्तुपाल तथा राजकवि सोमेश्वर के नाम अलग-अलग आशीर्वाद भेजे। राजा और मन्त्री ने प्रीतिपूर्वक आशीर्वाद स्वीकार किया, पर कवि सोमेश्वर ईर्ष्या से मन-ही-मन ऐसा जले कि उस विद्यार्थी से बात तक नहीं की। हरिहर कवि ने यह बात गाँठ बाँध ली। दूसरे दिन कवि के सम्मान के लिए राजसभा की आयोजना हुई, सब आये, सोमेश्वर नहीं आये। उन्होंने कोई बहाना बना लिया। कुछ दिन इसी प्रकार बीत गये। हरिहर पण्डित का सम्मान बढ़ता गया। एक दूसरे अवसर पर राजा ने हरिहर पण्डित से कहा कि 'पण्डित, मैंने इस नगर में वीरनारायण नामक प्रासाद बनवाया है, उस पर प्रशस्ति खुदवाने के लिए मैंने सोमेश्वर पण्डित से 108 श्लोक बनवाये हैं, तुम भी देख लो कैसे हैं।' पण्डित ने कहा, 'सुनवाइए।' राजाज्ञा से सोमेश्वर पण्डित श्लोक सुनाने लगे। हरिहर पण्डित ने सुनने के बाद काव्य की बड़ी प्रशंसा की और बोले, 'महाराज, काव्य हो तो ऐसा ही हो। महाराज भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक प्रासाद के गर्भ-गृह में ये श्लोक खुदे हुए हैं। मुझे भी याद हैं। सुनिए।' इतना कहकर पण्डित ने सभी श्लोक पढ़कर सुना दिये। सोमेश्वर का मुँह पीला पड़ गया। राजा और मन्त्री सभी ने उन्हें चोर-कवि समझा। ऊपर से किसी ने कुछ कहा नहीं, परन्तु उनका सम्मान जाता रहा। सोमेश्वर हैरान थे; क्योंकि श्लोक वस्तुतः उनके ही बनाये हुए थे। मन्त्री वस्तु-

पाल—जो उन दिनों लघु भोजराज नाम से ख्यात थे—के पास जाकर गिड़-गिड़ाकर बोले कि 'श्लोक मेरे ही है।' मन्त्री ने कहा कि 'हरिहर पण्डित की शरण जाओ तभी तुम्हारी मान-रक्षा हो सकती है।' अन्त मे सोमेश्वर ने वही किया। शरणागत की मान-रक्षा का भार कवि हरिहर ने अपने ऊपर ले लिया। दूसरे दिन राज सभा मे हरिहर कवि ने बताया कि सरस्वती ने उन्हे वर दिया है कि एक सौ आठ श्लोक तक वे एक बार सुनकर ही याद कर ले सकते है और सोमेश्वर को अपदस्थ करने के लिए ही उस दिन उन्होने एक सौ आठ श्लोक सुना दिये थे। वस्तुतः वे सोमेश्वर के ही श्लोक थे। राजा को असली वृत्तान्त मालूम हुआ तो आश्चर्यचकित रह गये और दोनो कवियो को गले मिलवाकर दोनों मे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कराया ('प्रबन्ध-कोश', 12)।

मन्त्री वस्तुपाल की सभा मे इन हरिहर पण्डित का बड़ा सम्मान था। वहाँ मदन नाम के एक दूसरे कवि भी थे। हरिहर और मदन मे बड़ी लाग-डाँट थी। सभा मे यदि दोनों कवि जुट गये तो कलह निश्चित था। इसीलिए मन्त्री ने द्वार-पाल से हिदायत कर दी थी कि एक के रहते दूसरा सभा मे न आने पाये। एक दिन द्वारपाल की असावधानी से यह दुर्घटना हो ही गयी। हरिहर कवि अपना काव्य सुना रहे थे कि मदन पहुँचे। आते ही डाँटा, 'ऐ हरिहर, घमण्ड छोड़ो, बढकर बातें मत करो। कविराजरूपी मत्त गजराजों का अंकुश मैं मदन आ गया हूँ!'

'हरिहर परिहर गर्वं कविराजगजाकुशो मदनः।'

हरिहर ने तड़ाक से जवाब दिया, 'मदन, मुँह बन्द करो। हरिहर का चरित मदन की पहुँच के बाहर है!'

'मदन विमुद्रय वदनं हरिहरचरित स्मरातीतं।'

मन्त्री ने देखा बात बढ़ रही है। बीच मे टोक करके बोले, 'भई, झगड़ा बन्द करो। इस नारिकेल को लक्ष्य करके सौ-सौ श्लोक बनाओ। जो आगे बना देगा उसकी जीत होगी।' मदन और हरिहर दोनों ही काव्य बनाने मे उलझ गये। मदन ने जब तक सौ पूरे किये तब तक हरिहर साठ ही में रहे। मन्त्री ने कहा, 'हरिहर पण्डित, तुम हारे।' हरिहर ने तपाक से कहा, 'हारे कैसे!' और खट से एक कविता पढकर सुनायी—'अरे गँवार जुलाहे, क्यो गँवार औरतों के पहनने के लिए सैकड़ों घटिया किस्म के कपडे बुनकर अपने को परेशान कर रहा है? भले आदमी, कोई एक ही ऐसी साड़ी क्यों नही बनाता जिसे क्षण-भर के लिए भी राजमहिषियाँ अपने वक्षःस्थल से हटाना गवारा न करें:

रे रे ग्रामकुविंद कन्दलतया वस्त्राणयमूनि त्वया
गोणीविभ्रमभाजनानि बहुशः स्वात्मा किमायास्यते।
अप्येक रुचिरं चिरादभिनवं वासस्तदासूत्र्यता
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृतां वल्लभाः॥

मन्त्री ने प्रसन्न होकर दोनों कवियो का पर्याप्त सम्मान किया।

राजसभा में शास्त्र-चर्चा भी होती थी। नाना शास्त्रों के जानकार पण्डित तर्कयुद्ध मे उतरते थे। जीतनेवाले का सम्मान यहाँ तक होता था कि कभी-कभी राजा पालकी में अपना कन्धा लगा देते थे। प्राचीन ग्रन्थों मे ब्रह्मरथयान और पट्टबन्ध नामक सम्मानों के उल्लेख हैं। जो पण्डित सभा मे विजयी होता था उसके रथ को जब राजा स्वयं खींचते थे तो उसे 'ब्रह्मरथयान' कहते थे और जब राजा स्वयं सुवर्णपट्ट पण्डित के मस्तकपर बाँध देते थे तो उसे 'पट्टबन्ध' कहा जाता था। पाटलिपुत्र मे उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलि का ऐसा ही सम्मान हुआ था और उज्जयिनी में कालिदास, मेंठ, अमर, सूर, भारवि, हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्त का ऐसा सम्मान हुआ था।

राजसभाओं मे विजयी होना जितने गौरव की बात थी, पराजित होना उतने ही अगौरव और निन्दा की। अनुश्रुतियों मे पराजित पण्डितों के आत्मघात तक कर लेने की बातें सुनी जाती हैं। जयन्तचन्द्र राजा के राजपण्डित हरिकवि राजसभा मे हारकर मरे थे, ऐसा प्रसिद्ध है। इसी पण्डित के पुत्र प्रसिद्ध श्रीहर्षकवि हुए जिन्होंने पिता के अपमान का बदला चुकाया था। बहुत थोड़ी उमर मे ही वे विद्या पढ़कर राजसभा मे उपस्थित हुए थे। जब राजा की स्तुति उन्होने उत्तम काव्यों से की तो उनके पिता को पराजित करनेवाले पण्डित ने उन्हे 'कोमल बुद्धि का कवि' कहकर तिरस्कार किया। श्रीहर्ष की भवें तन गयी, कड़ककर उन्होने जवाब दिया—'चाहे साहित्य-जैसी सुकुमार वस्तु हो या न्याय-शास्त्र की गाँठ-वाला तर्कशास्त्र, दोनो ही क्षेत्रों मे वाणी मेरे साथ समान रूप से विहार करती है। यदि पति हृदयगम हो तो चाहे मुलायम गद्दा हो चाहे कुशों और काँटों से आकीर्ण वनभूमि, स्त्री की समान प्रीति ही प्राप्त होती है':

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढ़न्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरावृता
भूमिर्वा हृदयंगमोयदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

और उक्त पण्डित को किसी भी शास्त्र के तर्क-युद्ध मे उतरने के लिए ललकारा। उस पण्डित को पराजित करके कवि ने अशेष कीर्ति प्राप्त की।

विद्वत्सभा में परिहास

पण्डितों की सभा में किसी सीधे-सादे व्यक्ति को बैठाकर उसे मूर्ख बनाकर रस लेने की जो मनोवृत्ति सर्वत्र पायी जाती है, उसका भी परिचय प्राचीन ग्रन्थों मे मिल

जाता है। प्रसिद्ध बौद्ध साधक भुसुकपाद को इसी प्रकार मूर्ख बनाने का प्रयत्न किया गया था। वह मनोरंजक कहानी इस प्रकार है :

नालन्दा के विश्वविद्यालय में एक गावदी-जैसा आदमी आया और नालन्दा के एक प्रान्त में उसने एक झोंपड़ी बनायी और वहीं वास करने लगा। वह त्रिपिटक की व्याख्या सुनता और साधना करता। वह हमेशा शान्त भाव से रहता था, इसलिए लोग उसे शान्तिदेव कहने लगे। नालन्दा के संघ में एक और नाम भुसुकु से वह विख्यात हुआ। इसका कारण यह था कि 'भुञ्जानोऽपि प्रभास्वरः सुप्तोऽपि कुटीम् गतोऽपि तदेवेति भुसुकुमाधिममापन्नात्वात् भुसुकु नामऽस्याति संघेऽपि' अर्थात् भोजन के समय उसकी मूर्ति उज्ज्वल रहती, सोने के समय उज्ज्वल रहती और कुटी में बैठे रहने पर भी उज्ज्वल रहती।

इस प्रकार से बहुत दिन बीत गये। शान्तिदेव किसी के साथ बहुत बात नहीं करते, अपने मन में अपना काम करते जाते। लेकिन लड़कों ने उनके साथ दुष्टता करना शुरू कर दिया। बहुत से लोगों के मन में हुआ कि वे कुछ जानते नहीं, अतएव किसी दिन उन्हें अप्रतिभ करने की बात उन लोगों ने सोची। नालन्दा में नियम था कि ज्येष्ठ मास की शुक्लाष्टमी को पाठ और व्याख्या होती थी। नालन्दा के बड़े विहार के उत्तरपूर्व के कोने में एक बहुत बड़ी धर्मशाला थी। पाठ और व्याख्या के लिए उसी धर्मशाला को सजाया जाता था। सभी पण्डित वहीं जुटते और अनेकों श्रोता सुनने के लिए आते। जब सभा जुड़ गयी, पण्डित लोग आ गये और सबकुछ तैयार हो गया तब लड़कों ने जिद्द पकड़ी कि 'शान्तिदेव आज तुम्हें ही पाठ और व्याख्या करनी होगी।' शान्तिदेव जितना ही इन्कार करते उतना ही लड़के जिद्द पकड़ते और अन्त में उन्हें पकड़कर उन लोगों ने वेदी पर बैठा ही दिया। उन लोगों ने सोचा कि ये एक भी बात नहीं बोल सकेंगे, तब हम लोग हँसेंगे और ताली बजायेंगे। शान्तिदेव गम्भीर भाव से बैठकर बोले, "किम् आर्षं पठामि अर्थार्षं वा।" सुनकर पण्डित लोग स्तब्ध रह गये। वे लोग आर्ष सुन चुके थे, अर्थार्ष नहीं। उन लोगों ने कहा कि इन दोनों में भेद क्या है। शान्तिदेव बोले, "परमार्थ ज्ञानी को ऋषि कहते हैं। वे ही बुद्ध और जिन हैं। ये लोग जब कुछ कहते हैं वही आर्ष वचन है। प्रश्न हो सकता है कि सुभूति आदि आचार्यों ने अपने शिष्यों को उपदेश देने के लिए जो ग्रन्थ लिखे हैं उन्हें आर्ष कैसे कहा जा सकता है? इसके उत्तर में युवराज आर्य मैत्रेय का वह वचन उद्धृत किया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि आर्ष वचन वस्तुतः उसे ही कहा जायेगा जो सुन्दर अर्थ से युक्त हो, धर्म-भाव से अनुप्राणित हो, त्रिधातु-सक्लेश का उपशमन करनेवाला हो, तृष्णा का उच्छेद करनेवाला हो और प्राणीमात्र की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हो। ऐसे ही वचन को आर्ष कहा जायेगा और इसके विपरीत जो है वही अनार्ष है। आर्ष और अनार्ष की यही व्याख्या पारमार्थिक है, अन्य व्याख्याएँ ठीक नहीं हैं। आर्य मैत्रेय का वचन है :

यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेश-निवर्हणं वचः।
भवे भवेच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तद्वत्कमार्षं विपरीतमन्यथा ॥

"ऐसे ही आर्ष ग्रन्थों से अर्थ लेकर अन्य पण्डितों ने जो ग्रन्थ लिखे है वे अर्थार्ष कहलाते है। अर्थार्ष ग्रन्थो के मूल आर्ष ग्रन्थ है। अतएव आर्ष ग्रन्थ से पण्डित लोगो ने जो कुछ खीचकर संग्रह किया है वही अर्थार्ष है और सुभूति आदि आचार्यों के जो उपदेश हैं वे आर्ष हैं क्योंकि उसके अधिष्ठाता भगवान् है।" पण्डित लोगों ने कहा, "हम लोगों ने आर्ष बहुत सुना है तुमसे कुछ अर्थार्ष सुनेंगे।

इसके पूर्व ही शान्तिदेव 'बोधिचर्यावतार', 'शिक्षा-समुच्चय' और 'सूत्र-समुच्चय' नामक तीन अर्थार्ष ग्रन्थ लिख चुके थे। कुछ देर तक ध्यान करने के बाद वे 'बोधिचर्यावतार' का पाठ करने लगे। शुरू से ही पाठ आरम्भ हुआ। बोधिचर्या की भाषा बड़ी ललित है, मानो वीणा के स्वर मे बँधी हो; भाव अत्यन्त गम्भीर, संक्षिप्त और मधुर है। पण्डित लोग स्तब्ध होकर सुनने लगे। लड़को ने सोचा था कि इस आदमी को हँसी में उड़ा देंगे, लेकिन वे भक्ति से आप्लुत हो उठे। क्रम से जब पाठ जमने लगा, महायान के गूढतत्त्वों की व्याख्या होने लगी और जब शान्तिदेव मधुर स्वर से—

"यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बः प्रशाम्यति ॥"

इस श्लोक की व्याख्या कर रहे थे, हठात् स्वर्ग का द्वार खुल गया और श्वेत वर्ण के विमान पर चढकर, शरीर की कान्ति से दिगन्त को आलोकित करते हुए मञ्जुश्री उतरने लगे। व्याख्या खत्म होने पर वे शान्तिदेव को गाढ आलिंगन मे बाँधकर विमान पर चढ़ाकर स्वर्ग ले गये। दूसरे दिन पण्डित लोग उनकी कुटी मे गये वहाँ 'बोधिचर्यावतार', 'शिक्षा-समुच्चय' और 'सूत्र-समुच्चय' ये तीन पोथियाँ उन्हें मिली और उन लोगो ने इनका प्रचार कर दिया। इन तीनो मे दो ही प्राप्य है, केवल 'मूल-समुच्चय' का पता नही लग रहा है। जो दो पोथियाँ मिली है, ये छापी भी गयी है (हरप्रसाद शास्त्री : बौ. गा. दो)।

कथा आख्यायिका

राजसभा मे कथा-आख्यायिका का कहनेवाला काफी सम्मान पाता था। संस्कृत मे कथा का साहित्य बहुत विशाल है। विद्वानों का अनुमान है कि संसार-भर मे भारतीय कथाएँ फैली हुई हैं। जो कथा सम्मान दिलाती थी वह जैसे-तैसे नही

सुनायी जाती थी। केवल घटनाओं को प्राचीन भारतीय बहुत महत्त्व नही देते थे। घटनाओं को उपलक्ष्य करके कवि श्लेषो की झड़ी बाँध देगा, विरोधाभासो का ठाठ खड़ा कर देगा, श्लेष-परिपुष्ट उपमाओ का जंगल लगा देगा, तब जाकर कहेगा कि यह अमुक घटना है। वह किसी भी ऐसे अवसर की उपेक्षा नही करेगा जहाँ उसे एक उत्प्रेक्षा या दीपक या रूपक या विरोधाभास या श्लेष करने का अवसर मिल जाय। प्रसिद्ध कथाकार सुबन्धु ने तो ग्रन्थ के आरम्भ मे प्रतिज्ञा ही कर ली थी कि आदि से अन्त तक श्लेष का निर्वाह करेंगे। पुराने कथाकारो मे सबमे श्रेष्ठ बाणभट्ट है। इन्होने कथा की प्रशंसा करते हुए मानो अपनी ही रचना के लिए कहा था कि सुस्पष्ट मधुरालाप से और हावभाव से नितान्त मनोहरा तथा अनुरागवश स्वयमेव शय्या पर उपस्थित अभिनवा वधू के समान सुगम कला-विद्या सम्बन्धी वाक्यविन्यास के कारण सुश्राव्य और रस के अनुकरण के कारण विना प्रयास शब्दगुम्फ को प्राप्त करनेवाली कथा किसके हृदय मे कौतुकयुक्त प्रेम नही उत्पन्न करती? सहजबोध्य दीपक और उपमा अलंकार से सम्पन्न अपूर्व पदार्थ के समावेश से विरचित और अनवरत श्लेषालकार से किञ्चित् दुर्बोध्य कथाकाव्य, उज्ज्वल प्रदीप के समान उपादेय चम्पक-पुष्प की कली से गुँथे हुए और बीच-बीच मे चमेली के पुष्पों से अलकृत धन-सन्निविष्ट मोहनमाला की भाँति किसे आकृष्ट नही करता?

सच पूछा जाय तो बाणभट्ट ने इन पंक्तियो मे कथा-काव्य का ठीक-ठीक लक्षण दिया है। कथा कलालाप-विलास से कोमल होगी, कृत्रिम पद-संघट्टना ओर अलंकारप्रियता के कारण नही बल्कि बिना प्रयास के रस के अनुकूल गुम्फवाली होगी, उज्ज्वल दीपक और उपमाओं से सुसज्जित रहेगी और निरन्तर श्लेष अलंकार के आते रहने के कारण जरा दुर्बोध्य भी होगी—परन्तु सारी बातें रस की अनुवर्त्तिनी होंगी। अर्थात् संस्कृत के आलकारिक जिस रस को काव्य की आत्मा कहते है, जो अंगी है, वही कथा और आख्यायिका का भी प्राण है। काव्य मे कहानी गौण है, पदसघट्टना भी गौण है, मुख्य है केवल रस। यह रस अभिव्यक्त नही किया जा सकता, शब्द से वह अप्रकाश्य है। उसे केवल व्यंग्य या ध्वनित किया जा सकता है। इस बात मे काव्य और कथा-आख्यायिका मे इस रस के अनुकूल कहानी, अलंकार-योजना और पद सघट्टना सभी महत्त्वपूर्ण है, किसी की उपेक्षा नही की जा सकती। एक पद्य के बन्धन मे मुक्त होने के कारण ही गद्य-कवि की जवाबदेही बढ़ जाती है। वह अलंकार की और पद-संघट्टना की उपेक्षा नही कर सकता। कहानी तो उसका प्रधान वक्तव्य ही है। कहानी के रस को अनुकूल रख कर इन शर्तों का पालन करना सचमुच कठिन है और इसलिए संस्कृत के आलोचकों ने गद्य को कविता की कसौटी कहा है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'।

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि रस सचमुच ही इन कथा-आख्यायिकाओं की आत्मा है तो अलंकारों की इतनी योजना क्यो जरूरी समझी गयी। आज के युग में वह बात समझ मे नही आ सकती। जिन दिनों ये काव्य लिखे गये थे उन दिनो

भारतवर्ष की समृद्धि अतुलनीय थी। उन दिनों के समाज की अवस्था और सहृदय की मनोवृत्ति जाने बिना इनको ठीक-ठीक समझना असम्भव है। उन दिनों के सहृदयों की शिक्षा-दीक्षा आज से बहुत भिन्न थी। उनके मनोविनोद में काव्य-चर्चा का महत्त्वपूर्ण-स्थान था।

वृहत्कथा

कथा-साहित्य की चर्चा करते समय 'वृहत्कथा' को नहीं भूला जा सकता। 'रामायण', 'महाभारत' और वृहत्कथा' ये तीन ग्रन्थ समस्त संस्कृत काव्य, नाटक कथा-आख्यायिका और चम्पू के मूल उत्स हैं। भारतवर्ष के तीनों बड़े-बड़े गद्य-काव्यकार दण्डी, सुबन्धु और बाणभट्ट 'वृहत्कथा' के ऋणी हैं। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि यह अमूल्य निधि आज अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं है। सन् ईसवी की आठवीं-नवीं शताब्दी तक के भारतीय साहित्य में 'वृहत्कथा' और उसके लेखक गुणाढ्य पण्डित की चर्चा प्रायः ही आती रहती है। यहाँ तक कि लगभग 875 ई. में कम्बोडिया की एक संस्कृत प्रशस्ति में गुणाढ्य और उनकी 'वृहत्कथा' की चर्चा आती है। परन्तु आज वह नहीं मिलती। यह ग्रन्थ संस्कृत में नहीं बल्कि प्राकृत में लिखा गया था और प्राकृत भी पैशाची प्राकृत। इसके निर्माण की कहानी बड़ी ही मनोरंजक है।

गुणाढ्य पण्डित महाराज सातवाहन के सभापण्डित थे। एक बार राजा सातवाहन अपनी प्रियाओं के साथ जलक्रीडा करते समय संस्कृत की कम जानकारी के कारण लज्जित हुए और यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि जब तक संस्कृत धारावाहिक रूप में लिखने-बोलने नहीं लगेंगे तब तक बाहर मुँह नहीं दिखायेंगे। राज-काज बन्द हो गया। गुणाढ्य पण्डित बुलाये गये। उन्होंने एक वर्ष में संस्कृत सिखा देने की प्रतिज्ञा की, पर एक अन्य पण्डित ने छः महीने में ही इस असाध्य-साधन का संकल्प किया। गुणाढ्य ने इस पर प्रतिज्ञा की कि यदि कोई छ. महीने में संस्कृत सिखा देगा तो वे संस्कृत में लिखना-बोलना ही बन्द कर देंगे। छ महीने बाद राजा तो सचमुच ही धारावाहिक रूप में संस्कृत बोलने लगे, पर गुणाढ्य को मौन होकर नगर से बाहर चला जाना पड़ा। उनके दो शिष्य उनके साथ हो लिये। वहीं किसी शापग्रस्त पिशाचयोनि-प्राप्त गन्धर्व से कहानी सुनकर गुणाढ्य पण्डित ने इस विशाल ग्रन्थ को पैशाची भाषा में लिखा। कागज का काम सूखे चमड़े से और स्याही का काम रक्त से लिया गया। पिशाचों की बस्ती में और मिल ही क्या

सकता था ! कथा सम्पूर्ण करके गुणाढ्य अपने शिष्यों सहित राजधानी को लौट आये। स्वयं नगर के उपान्त भाग मे ठहरे और ग्रन्थ शिष्यों से राजा के पास स्वीकारार्थ भिजवा दिया। राजा ने अवहेलनापूर्वक इस मौनोन्मत्त लेखक द्वारा चमड़े पर रक्त से लिखे हुए पैशाची ग्रन्थ का तिरस्कार किया। राजा ने कहा कि भला ऐसे ग्रन्थ के वक्तव्य-वस्तु में विचारयोग्य हो ही क्या सकता है !

पैशाची वाग् मसी रक्त मौनोन्मत्तश्च लेखक ।
इति राजाऽब्रवीत् का वा वस्तुसारविचारणा ।।
—'बृहत्कथामजरी', 1.87

शिष्यों से यह समाचार सुनकर गुणाढ्य बड़े व्यथित हुए। चिता मे ग्रन्थ को फेंकने ही जा रहे थे कि शिष्यों ने फिर एक बार सुनने का आग्रह किया। आग जला दी गयी, पण्डित आसन बांधकर बैठ गये। एक-एक पन्ना पढ़कर सुनाया जाने लगा और समाप्त होते ही आग मे डाल दिया जाने लगा। कथा इतनी मधुर और इतनी मनोरंजक थी कि पशु-पक्षी-मृग-व्याघ्र आदि सभी खाना-पीना छोड़कर तन्मय भाव से सुनने लगे। उनके मास सूख गये। जब राजा की रन्धनशाला मे ऐसे ही पशुओं का मास पहुँचा तो शुष्क मास के भक्षण से राजा के पेट मे दर्द हुआ। वैद्य ने नाड़ी देखकर रोग का निदान किया। कसाइयो से कैफियत तलब की गयी और इस प्रकार अज्ञात पण्डित के कथावाचन की मनोहारिता राजा के कानो तक पहुँची। राजा आश्चर्यचकित होकर स्वय उपस्थित हुए, लेकिन तब तक ग्रन्थ के सात भागों मे से छः जल चुके थे। राजा पण्डित के पैरो पर गिरकर सिर्फ एक ही भाग बचा सके। उस भाग की कथा हमारे पास मूल रूप मे तो नही, पर सस्कृत अनुवाद के रूप में अब भी उपलब्ध है।

बुद्धस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेव के 'कथासरित्सागर' मे 'बृहत्कथा' (या वस्तुतः 'बड्डकहा', क्योकि यही उसका मूल नाम था) के उस अवशिष्ट अंश की कहानियाँ सगृहीत हैं। इनमे पहला ग्रन्थ नेपाल के और बाकी कश्मीर के पण्डितो की रचना है। पण्डितों मे गुणाढ्य के विषय में कई प्रश्नों को लेकर काफी मतभेद रहा है। पहली बात है कि गुणाढ्य कहाँ के रहनेवाले थे। कश्मीरी कथाओ के अनुसार वे प्रतिष्ठान मे उत्पन्न हुए थे और नेपाल कथा के अनुसार कौशाम्बी में। फिर काल को लेकर भी मतभेद है। कुछ लोग सातवाहन को और उनके साथ ही गुणाढ्य को सन् ईसवी के पूर्व की पहली शताब्दी में रखते है और कुछ बहुत बाद मे। दुर्भाग्यवश यह काल-सम्बन्धी झगड़ा भारतवर्ष के सभी प्राचीन आचार्यों के साथ अविच्छेद रूप से सम्बद्ध है। हमारे साहित्यालोचकों का अधिकांश श्रम इन कालनिर्णय-सम्बन्धी कसरतों मे ही चला जाता है। ग्रन्थ के मूल वक्तव्य तक पहुँचने के पहले सर्वत्र एक तर्क का दुस्तर फेनिल समुद्र पार करना पड़ता है। एक तीसरा प्रश्न भी 'बृहत्कथा' के सम्बन्ध मे उठता है। वह यह कि पैशाची किस प्रदेश की भाषा है। इधर ग्रियर्सन-जैसे भाषा-विशेषज्ञ ने अपना यह फैसला सुना दिया है कि पैशाची भारतवर्ष के

उत्तर-पश्चिम सीमान्त की बर्बर जातियों की भाषा थी। ये कच्चा मांस खाते थे, इसीलिए इन्हें पिशास या पिशाच कहा जाता था। गुणाढ्य की पुस्तकों के सभी संस्कृत संस्करण कश्मीर में (सिर्फ एक नेपाल में) पाये जाते हैं, इस पर से ग्रियर्सन का तर्क प्रबल ही होता है।

प्राकृत काव्य के पृष्ठपोषक सातवाहन

हमने पहले ही देखा है कि सातवाहन राजा के विषय में यह प्रसिद्धि चली आती है कि उन्होंने अपने अन्तःपुर में यह नियम ही बना दिया था कि केवल प्राकृत भाषा का ही व्यवहार हो। उनके सभापण्डित गुणाढ्य का प्राकृत ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण है, यह भी हमने देख लिया है। स्वयं सातवाहन बहुत अच्छे कवियों में गिने गये हैं। सातवाहन के सम्बन्ध में भारतीय साहित्य में बहुत अधिक लोककथाएँ प्रचलित हैं। सातवाहनवंशी राजा दक्षिण में बहुत दिनों तक राज्य करते रहे। संस्कृत में सातवाहन शब्द कई प्रकार से लिखा मिलता है, सातवाहन, सालवाहन, शालिवाहन आदि। शिलालेखों में 'साड' भी मिलता है। संक्षेप में सात या साल कहने की भी प्रथा थी। इसीलिए यह इशारा किया जाता है कि 'हाल' नाम वस्तुतः साल या साड का रूपान्तर है। यह अनुमान बहुत गलत नहीं लगता। हेमचन्द्राचार्य की 'देशी नाममाला' से भी इसका समर्थन होता है। जो भी हो, सालवाहन में कोई 'हाल' नाम के बड़े ही प्रबल पराक्रमी राजा हुए हैं। 'मोदकैः मा ताडय' वाली कहानी में उनके संस्कृत के अज्ञान का जो उपहास किया गया है, उसका कारण उनका प्राकृत-प्रेम ही है। उन्होंने कोई प्राकृत गाथा-कोश का संपादन किया था जो 'हाल की सत्तसई' के नाम से बाद में प्रसिद्ध हुआ। यह प्राकृत सतसई शृंगाररस की बहुत सुन्दर रचना है। इसमें ग्राम-जीवन का बहुत ही सरस चित्रण है। कभी-कभी तो इसकी गाथाओं में शृंगार रस बिल्कुल नहीं है, पर टीकाकारों ने रगड के उसमें से शृंगाररस निकाल लिया है। 'हाल की सत्तसई' प्राकृत काव्य के उत्कर्ष का निदर्शन है। यह ग्रन्थ जैसा कि 'गाथा कोश' नाम से प्रकट है, हाल द्वारा संगृहीत कोई संग्रह-ग्रन्थ रहा होगा, परन्तु उनकी अपनी कविताएँ भी इसमें अवश्य हैं। 'प्रबन्धकोश' में इस संग्रह की एक मनोरंजक कहानी दी हुई है। इस कहानी में भी राजा का जलविहार और 'मोदकैः मां ताडय' की कहानी पहले जैसी ही है। बाद में राजा अपमानित होकर सरस्वती की आराधना करता है, और उनकी कृपा से सारे नगर को आधे पहर के लिए कवि बनने का गौरव प्राप्त होता

है। फलतः राजा ने उस आधे पहर की लिखी हुई नगरवासियों की दस करोड़ गाथाएँ संग्रह की। यही संगृहीत गाथाएँ 'सातवाहनशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध हुईं (प्रबन्धकोश, पृ. 72)। 'सप्तशती' उसका बहुत संक्षिप्त रूप है। प्राकृत के काव्यों, कथाओं और आख्यायिकाओं के ये सबसे बड़े पृष्ठपोषक हुए। ऐसे राजा के लिए प्राकृत कवि कौतूहल ने अपनी प्रिया से ठीक कहा था कि 'हे प्रिये, यह वह राजा था जिसके बिना सुकवियों की काव्यरचना सुचिर परिचिन्तित होनेपर भी दरिद्रों के मनोरथ की तरह जहाँ से उठती थी वहीं विलीन हो जाती थी :

> हियएच्चेय विसयंति सुइर परिचिंतियावि सुकईणं,
> जेण विणा दुहियाणं व मणोरहा कव्वविनिवेसा।
>
> —लीला., पृ. 18

कथाकाव्य का मनोहर वायुमण्डल

कथाकाव्य का वायुमण्डल अत्यन्त मनोहर है। वह अद्भुत मोहक लोक है, इस दुनिया में वह दुर्लभ है। वहाँ प्रभात होते ही पद्म-मधु से रँगे हुए वृद्ध कलहंस की भाँति चन्द्रमा आकाश गंगा के पुलिन से उदास-सा होकर पश्चिम जलधि के तट पर उतर आता था, दिङ्मण्डल वृद्ध रंकु मृग की रोमराजि के समान पाण्डुर हो उठता था, हाथी के रक्त से रञ्जित सिंह के सटाभार के समान या लोहितवर्ण लाक्षारस के सूत्र के समान सूर्य की किरणें, आकाशरूपी वनभूमि से नक्षत्रों के फूलों को इस प्रकार झाड़ देती थीं मानो वे पद्मरागमणि की शलाकाओं की बनी हुई झाड़ू हों, उत्तर ओर अवस्थित सप्तर्षिमण्डल सन्ध्योपासन के लिए मानसरोवर के तट पर उतर आता था, पश्चिम समुद्र के तीर पर सीपियों के उन्मुक्त मुख से बिखरे हुए मुक्तापटल चमकने लगते थे, मोर जाग पड़ते थे, सिंह जमुहाई लेने लगते थे, करेणुबालाएँ मदस्रावी प्रियतम गजों को जगाने लगती थीं, वृक्षगण पल्लवाजलि से भगवान् सूर्य को शिशिर-सिक्त कुसुमाजलि समर्पण करने लगते थे, वनदेवताओं की अट्टालिकाओं के समान उन्नत वृक्षों की चोटी पर गर्दभ-रोम-सा धूसर अग्निहोत्र का धूम इस प्रकार सट जाता था मानो कबूतरों के कपोतों की पंक्ति हो; शिशिर-बिन्दु को वहन करके, पद्मवन को प्रकम्पित करके, परिश्रान्त शबर-रमणियों के घर्मबिन्दु को विलुप्त करके, वन्य महिष के फेनबिन्दु से सिक्त, कम्पित पल्लव और लतासमूह को नृत्य की शिक्षा दे करके, प्रस्फुटित पद्मों का मधु बरसा के, पुष्पसौरभ से भ्रमरों को सन्तुष्ट करके, मन्द-मन्द-संचारी प्रभातवायु

वहने लगती थी; कमलवन में मत्त गज के गण्डस्थलीय मद के लोभ से स्तुतिपाठक भ्रमररूपी वैतालिक गुञ्जार करने लगते थे, ऊपर मे शयन करने के कारण वन्य मृगों के निचले रोम धूसरवर्ण हो उठते थे और जब प्राभातिक वायु उनका शरीर-स्पर्श करती थी तो उनकी उनींदी आँखों की ताराएँ ढुलमुला जाती थी और बरौनियाँ इस प्रकार सटी होती थी मानो उत्तप्त जतुरस से सटा दी गयी हों, वनचर पशु इतस्ततः विचरण करने लगते थे, सरोवर में कलहंसों का श्रुति-मधुर कोलाहल सुनायी देने लगता था, मयूरगण नाच उठते थे और सारी मरुस्थली एक अपूर्व महिमा से उद्भासित हो उठती थी। ('कादम्बरी' के प्रभात-वर्णन से)। उस जादूभरे रसलोक में प्रिया के पदाघात से अशोक पुष्पित हो जाता है; क्रीड़ा-पर्वत पर की चूड़ियों की झनकार से मयूर नाच उठता है, प्रथम आषाढ के मेघगर्जन से हंस उत्कण्ठित हो जाता है, कज्जलभरे नयनों के कटाक्षपात से नीलकमल की पाँत बिछ जाती है, कपोल-देश की पत्राली आँकते समय प्रियतम के हाथ काँप जाते हैं, आम्र-मंजरी के स्वाद से कषायित-कण्ठ कोकिल अकारण ही हृदय कुरेद देते हैं, क्रौञ्च-निनाद से वनस्थली की शस्यराशि अचानक कम्पमान हो उठती है और मलयानिल के झोंके मे विरहविधुर प्रेमिक सोच्छ्वास जाग पडते हैं। भारतीय कथा-साहित्य वह मोहक अलबम है जिसमें एक-से-एक कमनीय चित्र भरे पडे हैं; वह ऐसा उद्यान है, जहाँ रंग-बिरंगे फूलों से लदी क्यारियाँ हर दृष्टि में पाठक को आकृष्ट करती है।

पद्यबद्ध कथा

नवी शताब्दी के प्रसिद्ध आलंकारिक रुद्रट ने लिखा है कि संस्कृत में तो कथा गद्य मे लिखी जानी चाहिए, पर प्राकृत आदि अन्य भाषाओं की कथा गाथाबद्ध हो सकती है। वस्तुत: उन दिनों प्राकृत में गाथाबद्ध कथाएँ बनी थी। कथा का वह मनोहर वायुमण्डल, जिसकी चर्चा ऊपर हुई है, इन गाथाबद्ध काव्यों में भी मिलता है। आठवी शताब्दी के कौतूहल नामक कवि की लिखी एक कथा 'लीलावती' मिली है जिसमे रुद्रट के बताये सब लक्षण मिलते हैं। भाषा का चटुल-चपल प्रवाह यहाँ भी है, वर्णन की रंगीनी इसमे भी है, सरस करने की प्रवृत्ति इसमें भी है, स्थान-स्थान पर गद्य भी है। पढते-पढते ऐसा लगता है कि 'कादम्बरी' आदि कथाओं का जो वातावरण है वह बहुत-कुछ ऐसा ही है। कवि को कहना है कि प्रतिष्ठानपुर नगर या जहाँ बहुत शोभा थी। वह शुरू करेगा—जहाँ सुन्दरियों के

चरण-नूपुर के शब्दों का अनुसरण करनेवाले राजहंस अपनी चोंचों से किसलय त्याग करके प्रतिराव मुखर हो उठते हैं, जहाँ के यज्ञाग्नि से निकले धुएँ से आकाश ऐसा काला हो उठता है कि उन्हें देखकर क्रीड़ामयूर चन्द्रकान्त मणियों के शिलातल पर नाच उठते है, जहाँ के घरों में लगी मणियों से ज्योति निकल-निकलकर अन्धकार को इस प्रकार दूर कर देती है कि अभिसारिकाओं की प्रेमयात्रा कठिन हो जाती है, जहाँ के मन्दिरों और स्तूपिकाओं की पताकाएँ सूर्यकिरणों को आच्छादित कर देती हैं जिनमें संगीत वनिताएँ बिना छाते के ही आराम से चला करती हैं, जहाँ कलकण्ठा कोकिलाएँ अपनी कूक से मानिनियो के हृदय कुरेदकर प्रियजनों का दौत्य सम्पादन करती हैं···इत्यादि-इत्यादि। और फिर बहुत बाद मे आकर कवि कहेगा कि यह प्रतिष्ठानपुर है। इन पद्यबद्ध गाथाओं की परम्परा बहुत दिनों तक इस देश मे चलती रही है।

इन्द्रजाल

इन्द्रजाल का अर्थ है इन्द्रियों का जाल या आवरण, अर्थात् वह विद्या जिससे इन्द्रियाँ जाल से ढँकी-सी आच्छादित हो जायँ। भारतवर्ष की इन्द्रजाल की अद्‌भुत आश्चर्यजनक लीला सारे संसार में प्रसिद्ध थी। राजसभा मे ऐन्द्रजालिकों के लिए विशिष्ट स्थान दिया जाता था। तन्त्रग्रन्थों में इन्द्रजाल की अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। 'दत्तात्रेय तन्त्र' के ग्यारहवें पटल मे दर्जनों ऐसी विधियाँ दी हुई है जिससे आदमी कबूतर, मोर आदि पक्षी बनकर उड़ने लग सकता है; मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि में बिना अभ्यास के सिद्धि प्राप्त कर सकता है, पति पत्नी को और पत्नी पति को वश में कर सकती है। प्रयोग करनेवाला ऐसा अंजन लगा सकता है जिससे वह स्वयं अदृश्य होकर औरों को देख सके और इसी प्रकार के सैकड़ों कर्म कर सकता है। 'इन्द्रजाल तन्त्र-संग्रह' नामक ग्रन्थ मे हिंस्र जन्तुओं को निवारण करने का, स्तम्भित करने का और निश्चेष्ट कर देने का उपाय बताया गया है, आग बाँधना, आग लगी होने का भ्रम पैदा करना—दूसरों की बुद्धि बाँध देना आदि अद्‌भुत फलों की व्यवस्था है। इन कार्यों के लिए मन्त्र की सिद्धि के साथ ही द्रव्य-सिद्धि का भी विधान है। उदाहरण के लिए चलती हुई नाव को रोक देने के लिए यह उपाय बताया गया है कि भरणी नक्षत्र में क्षीर-काष्ठ की पाँच अंगुल की कील नौका में ठोक देने से निश्चित रूप से नौका स्तम्भन हो जायगा, परन्तु इसके लिए जप आदि की भी व्यवस्था दी गयी है। इस प्रकार

के सैकड़ों नुस्खे बताये गये हैं। और इस प्रकार के नुस्खे बतानेवाले तन्त्र-ग्रन्थों की सख्या भी बहुत अधिक है। इन पुस्तकों के पाठमात्र से कोई सिद्धि प्राप्त नही होती, क्योंकि तन्त्रों मे बार-बार याद दिला दिया गया है कि इन क्रियाओं के लिए गुरु की उपस्थिति आवश्यक है।

'रत्नावली' से जाना जाता है कि इन्द्र और सम्बर इस विद्या के आचार्य माने जाते थे। ये इन्द्रजालिक पृथ्वी पर चाँद, आकाश मे पर्वत, जल मे अग्नि, मध्याह्न काल में सन्ध्या दिखा सकते थे; गुरु के मन्त्र की दुहाई देकर घोषणा कर सकते थे कि जिसको जो देखने की इच्छा हो उसे वही दिखा सकेंगे। राजसभा में राजा की आज्ञा पाकर वे शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवताओं को प्रत्यक्ष दिखा सकते थे। 'रत्नावली' मे राजा की आज्ञा पाकर एक ऐन्द्रजालिक ने कमल-पुष्प में उपविष्ट ब्रह्मा को, मस्तक में चन्द्रकलाधारी शिव को, शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी दैत्यनिषूदन विष्णु को, ऐरावत पर समासीन इन्द्र को तथा नृत्यपरायण दिव्य नारियों को दिखाया था :

> एष ब्रह्मा सरोजे रजनिकरकलाशेखरः शंकरोऽयं
> दोर्भिर्दैत्यान्तकोऽसौ सधनुरसिगदाचक्रचिह्नैश्चतुर्भिः,
> एषोऽप्यैरावतस्थस्त्रिदशपतिरमी देवि देवास्तथान्ये
> नृत्यन्ति व्योम्नि चैताश्चलचरणरणन्नूपुरा दिव्यनार्यः ॥
>
> —रत्ना., 4-74

इतना ही नही, उसने अन्तःपुर में आग लगाने का भ्रम भी पैदा कर दिया था। आग की लपटों से बड़े-बड़े मकानों के ऊपर सुनहरा कंगूरा-सा दीखने लगा था। असह्य तेज से उद्यान के वृक्षों के पत्ते तक झुलसते हुए जान पड़ने लगे थे और क्रीड़ापर्वत पर धुआँ का ऐसा अम्बार लग गया था कि वह एक सजल मेघ की भाँति दीखने लगा था (4175)।

इस विद्या के आचार्य सम्बर या शबर नामक असुर हैं। 'कालिकापुराण' से जान पड़ता है (उत्तरतन्त्र 60वाँ अध्याय) कि वेश्याओं, नर्तकों और रागवती औरतों का एक उत्सव हुआ करता था जिसे शाबरोत्सव कहते थे। इस उत्सव की विशेषता यह थी कि इस दिन (श्रावण कृष्ण दशमी) को अश्लील शब्दों का उच्चारण किया जाता था और नागरिकों में एक दूसरे को गाली देने की प्रथा थी। विश्वास किया जाता था कि जो दूसरों को अश्लील गाली नही देता और स्वयं दूसरों की अश्लील गाली नही सुनता, उस पर देवी अप्रसन्न होती है। शावर तन्त्र या इन्द्रजाल विद्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा वशीकरण विद्या है, शायद इसीलिए शाबरोत्सव में वेश्याओं का ही प्राधान्य होता था।

मृगया–विनोद

नागरिको के लिए मृगया भी एक अच्छा-सा विनोद था। अजन्ता मे जातक की कहानी को आश्रय करके (17 वी गुहा मे) मृगया-विहार का एक सुन्दर चित्र दिया है। राजा घोड़े पर सवार है। यद्यपि दौड़ते हुए घोड़े के साथ-साथ छत्रधर का छत्र लेकर चलना कुछ समझ मे नही आता, पर यहाँ छत्र है। सम्भवत: राजकीय चिह्न होने के कारण यह प्रतीक का ही कार्य कर रहा है। आगे कुछ वन्य-जन हैं जो सम्भवत: आजकल के 'हाँका' देनेवालों के पूर्वाधिकारी है। स्त्रियो की सख्या काफी है, कुछ तो घोड़ो पर भी है। कुत्ते भी है जो आगे दौड रहे हैं। मृगों की भयत्रस्त व्याकुलता बहुत सुन्दर अंकित है। 'कादम्बरी' मे वन्य लोगों की मृगया का बड़ा ही मनोहर वर्णन है, पर वह उनका विनोद नही था, पेट भरने का साधन था। उसमें भी कुत्ते प्रमुख रूप से थे। 'शकुन्तला' नाटक में भी दुष्यन्त के शिकार का वर्णन मिलता है। वह आखेटक कई दिनों तक चलता रहा और ऊबड़-खाबड़ और भयंकर स्थान मे घूमते-घूमते बिचारे माढव्य को बडा कष्ट हो रहा था। राजा धनुष लेकर शिकार खेलता था और निरन्तर धनुष की ज्या के स्फालन से उसके शरीर का पूर्वभाग कर्कश हो आया था। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास के युग मे मृगया को बहुत अच्छा विनोद नही माना जाता था। वन के निरीह प्राणियों को अकारण कष्ट पहुँचाना उचित भी नही है। इसीलिए सेनापति के मुख से कवि ने कहलवाया है कि लोग झूठ-मूठ ही इस विनोद को व्यसन बताया करते है। इससे अच्छा विनोद और क्या हो सकता है ? राजा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक विनोद है, क्योकि इससे शरीर की चर्बी कम हो जाती है; तोद घट जाती है, शरीर उठने-बैठने मे तत्पर हो जाता है। पशुओ के मुख पर भय और क्रोध के भाव दिखायी देते है और भागते हुए लक्ष्य-पर निशाना मारने का अभ्यास होता है—इससे सुन्दर विनोद और क्या हो सकता है ?

> मेदच्छेदकृशोदर लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
> सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयो.।
> उत्कर्षः स च धन्विना यदिषव. सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले,
> मिथ्यैव व्यसन वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः ?

राजा 'वाणहस्ता यवनियों' द्वारा परिवृत था और ये यवनियाँ मृगावेशी होने पर भी पुष्पधारिणी थी। वे राजा के अस्त्र-शस्त्र की रखवाली करती थी। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त को इस प्रकार की दासियो से घिरा देखा था। एक अज्ञातनामा ग्रीक लेखक ने बताया है कि ये सुन्दरियाँ जहाजों मे भरकर भृगुकच्छ नामक भारतीय बन्दरगाह पर उतारी जाती थी और वहाँ से इनका व्यवसाय होता था। भारतीय नागरको की विलास-लीला के अन्तराल मे करुण कहानियों की परम्परा कम नही है !

का कुछ आवश्यक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

"अक्षक्रीड़ा और प्राणिद्यूत दोनो ही व्यसन है। मनु (7।47-48) ने अट्ठारह प्रकार के व्यसनों का उल्लेख किया है, जिनमे दस कामज है और आठ क्रोधज हैं। काम शब्द का अर्थ इच्छा है और कामज व्यसन का मूल लोभ है, अर्थात् पण और प्रतिपण रूप से लभ्य धन के उपभोग की इच्छा ही इसका कारण है। इसी-लिए इसकी गणना कामज व्यसनों में है। यह व्यसन दुरन्त है अर्थात् इसके अन्त में दुःख होता है और जीतनेवाले और हारनेवाले के बीच वैर उत्पन्न करता है। अक्षक्रीड़ा का इतिहास वेदों में भी पाया जाता है। ऋग्वेद के दसवे मण्डल के 34वें सूक्त में 10 ऋचाएँ हैं जिनका विषय अक्षक्रीडा है। वैदिक-युग मे वहेरे का फल अक्ष-रूप मे व्यवहृत होता था, इसका शारि-फलक (dice board) 'इरिण' कहलाता था। सायण-भाष्य मे इसके अर्थ के लिए 'आस्फार' शब्द का प्रयोग किया गया है। उक्त सूक्त की आठवी ऋचा मे 'त्रिपंचाशः क्रीड़तिव्रातः' कहा गया है, जिसका अर्थ है कि अक्ष के 53 व्रात (सघ) शारि-फलक पर क्रीड़ा करते हैं। इसका मतलव यह हुआ कि द्यूत की 53 सभाएँ थीं। जान पड़ता है कि वैदिक युग में अक्षक्रीड़ा का विशेप रूप से प्रचार था। किन्तु सारे ऋग्वेद मे ऐसी एक भी ऋचा नही है जिसमे द्यूत की प्रशंसा की गयी हो वल्कि ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि द्यूतकार समस्त धन हारकर ऋणमुक्ति के लिए चोरी किया करते थे। इसीलिए अक्ष और अक्ष-कितव (जुआड़ी) की निन्दा की ऋचाएँ पायी जाती हैं।

"महाभारत, पौराणिक कथाओ का महासमुद्र है। इसके सभा-पर्व मे जो द्यूत-पर्व और अनुद्यूत-पर्व है, उसमे पाश-क्रीड़ा का दुष्परिणाम विस्तारपूर्वक दिखाया गया है। शकुनि के कपटद्यूत से पराजित होकर राज्य-भ्रष्ट पाण्डवगण वनवासी हुए थे। कुरुक्षेत्र के भीपण नर-संहार के रूप में यही व्यसन कारण बना था। निपध-राज नल अक्ष-क्रीड़ा में ही पराजित होकर पत्नीसमेत वन गये थे और नाना दुःख, क्लेश सहने के वाद अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के साथी वने थे।"

'याज्ञवल्क्य-संहिता' के व्यवहाराध्याय में द्यूत-समाह्वय नाम का एक प्रकरण है। इसका विषय है द्यूत और समाह्वय। निर्जीव पाशादि से खेलनेवाली क्रीड़ा को द्यूत कहते हैं। इसमे जिस द्यूत का वर्णन है उससे जाना जाता है कि द्यूत मे जीते हुए पण मे राजा का हिस्सा होता था और सभिक अर्थात् जुआ खेलानेवाला धूर्त कितवों से रक्षा करने के लिए प्राप्य पण दिया करता था। जो लोग कपटपूर्वक या धोखा देने के लिए मन्त्र या ओपधि की सहायता से जुआ खेला करते थे, उन्हे राजा श्वपद आदि चिह्नों से चिह्नित करके राज्य मे निर्वासित कर दिया करते थे। द्यूतसभा मे चोरी न हो, इसके लिए राजा की ओर से एक अध्यक्ष नियुक्त हुआ करता था। मेप, महिप, कुक्कुट आदि द्वारा प्रवर्तित पण या शर्त बदकर जो क्रीड़ा हुआ करती थी, उसे समाह्वय या समाह्वय नामक प्राणिद्यूत कहा करते थे (याज्ञवल्क्य, 2,199-200)। दो मल्लों या पहलवानो की कुश्ती को भी समाह्वय

कहते थे। नल राजा ने अपने भाई पुष्कर को राज्य का पण या दाव रखकर जो द्यूत युद्ध के लिए आह्वान किया था, उसे भी समाह्वय के अन्तर्गत माना गया है (मनु, 9, 22-224)।

आजकल जिसे शतरंज कहते हैं, वह भी भारतीय मनोविनोद ही है। इसे प्राचीनकाल में 'चतुरंग' कहते थे। हाल ही में शूलपाणि आचार्य की लिखी हुई 'चतुरंग-दीपिका' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें चतुरंग-क्रीड़ा का विस्तार-पूर्वक विवेचन है।

मनु ने द्यूत और प्राणि-समाह्वय, दोनों ही को राजा के द्वारा निषिद्ध करने की व्यवस्था दी है। अशोक ने अपने राज्य में प्राणि-समाह्वय का निषेध कर दिया था। फिर भी प्राणि-समाह्वय प्राचीन भारतीय नागरिकों के मनोविनोद का साधन बना ही रहा। मेष, तित्तिर, लाव आदि प्राणियों की लड़ाई पर बाजी लगायी जाती थी। इन लड़ाइयों को देखने के लिए नागरिकों की भीड़ उमड़ पड़ती थी, फिर भी यह विनोद उस उन्माद की सीमा तक इस देश में कभी नहीं पहुँचा जिसका परिचय रोम आदि प्राचीन देशों के इतिहास में मिलता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि द्यूत का कुछ अधिक रसमय और निर्दोष पहलू था ही नहीं। भारतीय साहित्य का एक अच्छा भाग प्रेमियों की द्यूतलीला का वर्णन है। उसमें भारतीय मनीषा का स्वाभाविक सरस प्रवाह सुन्दर रूप में सुरक्षित है। विवाह के अवसर पर दुलहिन की सखियाँ वर को द्यूत में ललकारती थीं और नाना प्रकार के पण रखकर उसे छकाने का उपाय करती थीं। विवाह के बाद वर-वधू आपस में नाना भाव के रसमय पण रखकर द्यूत में एक-दूसरे को ललकारते थे और यद्यपि इन प्रेमद्यूतों में हारना भी जीत भी और जीतना भी, तथापि प्रत्येक पक्ष में जीतने का ही उत्साह प्रधान रहता था :

भोगः स यद्यपि जये च पराजये च
यूनोर्मनस्तदपि वाञ्छति जेतुमेव।

मल्लविद्या

मल्लविद्या भारतवर्ष की अति प्राचीन विद्या है। आज भी उसका कुछ-न-कुछ गौरव अवशिष्ट रह ही गया है। प्राचीन भारत में मल्लों का बड़ा सम्मान था। प्रतिस्पर्द्धी मल्लों की कुश्ती नागरिकों के मनोरंजन के प्रधान साधनों में थी। महाभारत के विराटपर्व (12वें अध्याय) में भीम और जीमूत नामक मल्ल की

कुश्ती का बहुत ही हृदयग्राही चित्र दिया हुआ है। दर्शकों से भरी हुई मल्ल-रंगशाला मे भीम बलशाली शार्दूल की भाँति शिथिल गति से उपस्थित हुए। उन्हें अपने पहचाने जाने की शंका थी, इसीलिए संकुचित थे। रंगशाला में प्रवेश करके उन्होंने पहले मत्स्यराज को अभिवादन किया, फिर कक्षा (काछा) बाँधने लगे। उनके काछा बाँधते समय जनमण्डली मे अपार हर्ष का संचार हुआ। इस वर्णन से प्राचीन भारत की मल्ल-मर्यादा का अच्छा परिचय मिलता है। लँगोट अखाड़े मे बाँधने की प्रथा थी। प्रतिद्वन्द्वी एक-दूसरे को ललकारकर पहले बाहुयुद्ध में भिड जाते थे और फिर एक-दूसरे के नीचे घुसकर उलट देने का प्रयत्न करते थे। इसके बाद नाना कौशलों से एक-दूसरे को पछाड़ देने का प्रयत्न करते थे। मल्लों के हाथों में कक्कट अर्थात् घट्ठे पड़े होते थे। इस प्रसंग में महाभारत में नाना प्रकार के मल्लविद्या के पारिभाषिक शब्द भी आये हैं। अर्जुन मिश्र ने अपनी 'भारत-दीपिका' मे अन्य शास्त्रों से वचन उद्धृत करके इन शब्दों की व्याख्या की है। 'कृतदाव' मारने को और 'प्रतिकृत' उसे काट देने को कहते थे। चित्र मे नाना प्रकार के मल्लबन्ध के दाँव चलाये जाते थे। परस्पर के संघात को 'सन्निपात', मुक्का मारने को 'अवधूत', गिराकर पीस देने को 'प्रमाथ', ऊपर अन्तरिक्ष मे बाहुओं से प्रतिद्वन्द्वी को रगेदने को 'उन्मथन' और स्थानच्युत करने को 'प्रच्यावन' कहते थे। नीचे मुखवाले प्रतिद्वन्द्वी को अपने कन्धे पर से घुमाकर पटक देने से जो शब्द होता था, उसे 'वराहोद्धूतनिस्वन' कहते थे। फैली हुई भुजाओं से तर्जनी और अंगुष्ठ के मध्यभाग से प्रहार करने को तलाख्य और अर्द्धचन्द्र के समान मल्ल की मुट्ठी को 'वज्र' कहा जाता था। फैली अंगुलियोंवाले हाथ से प्रहार करने को 'प्रहृति' कहते थे। इसी प्रकार पैर से मारने को 'पादोद्धत', जंघाओं से रगेदने को 'शवघट्टन', जोर से प्रतिद्वन्द्वी को अपनी ओर खींच लाने को 'प्रकर्षण', घुमाकर खींचने को 'अभ्याकर्ष', खींचकर पीछे ले जाने को 'विकर्षण' कहते थे।

इसी प्रकार भागवत (10 42-44) मे कंस की मल्लशाला का बड़ा सुन्दर चित्र दिया हुआ है। पहलवानों ने उस रंगशाला की पूजा की थी, तूर्यभेरी आदि बाजे बजाये गये थे। नागरिकों के बैठने के लिए बने हुए मंचों को माला और पताकाओं से सजाया गया था। नगरवासी (पौर) और देहात के रहनेवाले (जानपद) ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नागरिक तथा राजकर्मचारी अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानो पर बैठे थे। कंस का आसन बीच में था और वह अनेक मण्डलेश्वरो से घिरा हुआ था। सब लोगों के आसन ग्रहण कर लेने के बाद मल्ल ताल का तूर्य बजा और सुसज्जित मल्ल लोग अपने-अपने उस्तादों के साथ रंगशाला में पधारे। नन्द गोपों को भी बुलाया गया, उन्होंने अपने उपहार राजा को भेंट किये और यथास्थान बैठ गये। इस पुराण में मल्ल-विद्या के अनेक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है। परिभ्रामण-विक्षेप-परिरम्भ-अवपातन-उत्सर्पण-अपसर्पण-अन्योन्यप्रति-रोध-उत्थापन-उन्नयन-स्थापन-चालन आदि (भागवत, 10-44-8-52) पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। दुर्भाग्यवश इस विद्या के विवरण-ग्रन्थ अब प्राप्त

नही हैं। पुराणों में और टीकाओं में ही थोड़ा-बहुत साहित्य बच रहा है।

वैनोदिक शास्त्र

राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' के आरम्भ में ही काव्य-विद्या के अट्ठारह अंगो के नाम गिनाये है, जिनमे एक वैनोदिक भी है। अलंकारशास्त्र मे इस प्रकार का अग-विभाग साधारणत: नही पाया जाता और इसलिए राजशेखर की 'काव्य-मीमासा' के एक अंश का उद्धार होने पर अब पण्डितों को यह नयी बात मालूम हुई तो इन अंगो और इनके प्रवर्त्तक आचार्यों के सम्बन्ध मे नाना भाँति की जल्पना-कल्पना चलने लगी। इन अंगो मे से कई तो निश्चित रूप से ऐसे हैं जिनका परिचय अलंकारशास्त्र के भिन्न-भिन्न ग्रन्थो से मिल जाता है, पर कुछ ऐसे भी हैं जो नये-से लगते हैं। 'वैनोदिक' एक ऐसा ही अंग है।

'वैनोदिक' नाम ही विनोद से सम्बन्ध रखता है। कामशास्त्रीय ग्रन्थों मे ('कामसूत्र', 1-4) मदपान की विधियाँ, उद्यान और जलाशय आदि की क्रीड़ाएँ, मुर्गे और बटेरो आदि की लड़ाइयाँ, द्यूत-क्रीड़ाएँ, यक्ष या सुख-रात्रियाँ, कौमुदी जागरण अर्थात् चाँदनी रात मे जागकर क्रीड़ा करना इत्यादि बातों को 'वैनोदिक' कहा गया है। राजशेखर ने इस अंग के प्रवर्त्तक का नाम 'कामदेव' दिया है, इस पर से पण्डितों ने अनुमान भिड़ाया है कि कामशास्त्रीय विनोद और काव्यशास्त्रीय विनोद एक ही वस्तु होंगे। परन्तु कामदेव नामक पौराणिक देवता और वैनोदिक शास्त्र-प्रवर्त्तक कामदेव नामक आचार्य एक ही होंगे, ऐसा अनुमान करना ठीक नही भी हो सकता है। राजा भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से यह अनुमान और भी पुष्ट होता है कि कामोद्दीपक क्रिया-कलाप ही वस्तुतः वैनोदिक समझे जाते होगे। शारदा-तनय के 'भावप्रकाश' मे नाना ऋतुओं के लिए विलास-सामग्री बतायी गयी है। वह परम्परा बहुत दूर तक, ग्वाल और पद्माकर तक आकर अपने चरम विकास पर पहुँचकर समाप्त हो गयी है। अतः इन वैनोदिक सामग्रियों का कामशास्त्रवर्णित सामग्रियो से मिलना न तो आश्चर्य का कारण हो सकता है और न यही सिद्ध करता है कि 'कामसूत्र' मे जो कुछ वैनोदिक के नाम से दिया गया है वही काव्यशास्त्रीय वैनोदिक का भी प्रतिपाद्य है।

'कादम्बरी' में बाणभट्ट ने राजा शूद्रक की वर्णना के प्रसंग मे कुछ ऐसे काव्य-विनोदों की चर्चा की है जिनके अभ्यास से राजा कामशास्त्रीय विनोदो के प्रति वितृष्ण हो गया था। हमारा अनुमान है कि ऐसे ही विनोद काव्यशास्त्रीय विनोद

कहे जाते होंगे। वे इस प्रकार हैं—वीणा, मृदंग आदि का बजाना, मृगया, विद्वत्सेवा, विदग्धों यानी रसिकों की मण्डली में काव्यप्रबन्धादि की रचना करना, आख्यायिका आदि का सुनना, आलेख्य कर्म, अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिन्दुमती, गूढ चतुर्थपाद, प्रहेलिका आदि। शूद्रक इन्हीं विनोदों से काल-यापन करता हुआ 'वनिता-सम्भोग-पराङ्मुख' हो सका था। यहाँ स्पष्ट ही कामशास्त्रीय विनोदों के साथ इन विनोदों का विरोध बताया गया है, क्योंकि कामशास्त्रीय विनोदों का फल और चाहे जो कुछ भी हो, 'वनिता-सम्भोग-पराङ्मुखता' नहीं है। उन दिनों सभाओं और गोष्ठियों में इन विनोदों की जानकारी का बड़ा महत्त्व था। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि दण्डी ने 'काव्यादर्श' (1-105) में कीर्ति प्राप्त करने की इच्छावाले कवियों को श्रमपूर्वक सरस्वती की उपासना की व्यवस्था दी है, क्योंकि कवित्वशक्ति के दुर्बल होने पर भी परिश्रमी मनुष्य विदग्ध गोष्ठियों में इन उपायों को जानकर विहार कर सकता था .

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा.
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

यह स्पष्ट कर देना उचित है कि यहाँ यह नहीं कहा जा रहा कि 'कामशास्त्र' में जो कुछ कहा गया है, वह निश्चित रूप से काव्यशास्त्रीय विनोदों में नहीं आ सकता। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के वैनोदिक अंग के नाम से जो बातें मिलती हैं वही हू-ब-हू कामशास्त्रीय वैनोदिक नहीं हो सकतीं और कहीं-कहीं निश्चित रूप से उल्लेख मिलता है कि काव्यशास्त्रीय विनोदों के अभ्यास से राजकुमारगण कामशास्त्रीय विनोदों से बच जाया करते थे। स्वयं वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में इस प्रकार की काव्य-कलाओं की सूची है जो यद्यपि कामशास्त्रीय विनोदों की सिद्धि के लिए गिनाये गये हैं, तथापि उन्हें 'वनिता-सम्भोग-पराङ्मुखता' के उद्देश्य से कोई व्यवहार करना चाहे तो शूद्रक की भाँति निःसंशय उसका उपयोग कर सकता है।

वात्स्यायन की 64 कलाओं की लम्बी सूची में कुछ का सम्बन्ध विशुद्ध मनोविनोद से है जो चीनी-तुर्किस्तान की चंगबाजी या रोमन पशु-युद्ध से मिलती-जुलती है। इनमें भेड़ों, मुर्गों और तित्तिरों की लड़ाई, तोतों और मैनों को पढ़ाना है और ऐसी ही और-और बातें हैं। कुछ प्रेम के घात-प्रतिघात में सहायक हैं, जैसे प्रिया के कपोलों पर पत्रावली लिखना, दाँत और वस्त्रों का रँगना, फूलों और रँगे हुए चावलों से नाना प्रकार के नयनाभिराम चित्र बनाना, इत्यादि। और बाकी विशुद्ध साहित्यिक हैं जिनके लक्षण यद्यपि काव्य-ग्रन्थों में मिल जा सकते हैं, पर प्रयोग की भंगिमा और योजना अपूर्व और विलक्षण है।

उन दिनों बड़ी-बड़ी गोष्ठियों, समाजों और उद्यान-यात्राओं का आयोजन होता था, उनमें नाना-नाना प्रकार के साहित्यिक मनोविनोदों की धूम मच जाती

थी। कुछ मनोविनोदों की चर्चा की जा रही है।

1. प्रतिमाला या अन्त्याक्षरी मे एक आदमी एक श्लोक पढ़ता था और उसका प्रतिपक्षी पण्डित श्लोक के अन्तिम अक्षर से शुरू करके दूसरा अन्य श्लोक पढता। यह परम्परा लगातार चलती जाती थी।

2. दुर्वाचक योग के लिए ऐसे कठोर उच्चारणवाले शब्दों का श्लोक सामने रखा जाता था कि जिसे पढ सकना बड़ा मुश्किल होता। उदाहरण के लिए जयमंगलाकार ने यह श्लोक बताया है :

दंष्ट्राग्रदर्धा प्रग्योद्राक् क्षमामम्वन्त: स्यामुन्चिक्षप।
दवघ्नु ट्क्षिद्धचृत्विक् स्तुत्यो युष्मानसोऽव्यात् सर्पात्कितु.।

3 मानसीकला एक अच्छा साहित्यिक मनोविनोद थी। कमल के या अन्य किसी वृक्ष के पुष्प अक्षरों की जगह पर रख दिये जाते थे। इसे पढना पड़ता था। पढनेवाले की चातुरी इस बात पर निर्भर करती थी कि वह इनका इकार, उकार आदि की सहायता से एक ऐसा छन्द बना ले जो सार्थक भी हो और छन्द के नियमों के विरुद्ध भी न हो। यह विन्दुमती से कुछ मिलता-जुलता है। लेकिन इस कला का और भी कठिन रूप यह होता था कि पढ़नेवाले के सामने फूल आदि कुछ भी न रखकर केवल उसे एक वार सुना दिया जाता था कि यहाँ कौन-सी मात्रा है और कहाँ अनुस्वार-विसर्ग है।

4. अक्षरमुष्टि दो तरह की होती थी : साभासा और निरवभासा। साभासा संक्षिप्त करके वोलने की कला है, जैसे 'फाल्गुण-चैत्र-वैशाख' को 'फा चै वै' कहना। इस प्रकार के संक्षिप्तीकृत श्लोकों का अर्थ निकालना सचमुच टेढी खीर है। निरवभासा या निराभासा अक्षरमुष्टि गुप्त भाव से वातचीत करने की कला है। इसके लिए उन दिनो नाना भाँति के संकेत प्रचलित थे। हथेली और मुट्ठी को भिन्न-भिन्न आकार में दिखाने से भिन्न-भिन्न वर्ग सूचित होते हैं। जैसे कवर्ग के लिए मुट्ठी वाँधना, चवर्ग के लिए हथेली को किसलय के समान बनाना, इत्यादि। वर्ग वताने के बाद उसके अक्षर बताये जाते थे और इसके लिए अंगुलियों को उठा-कर काम चलाया जाता था। जैसे ग कहना है तो पहले मुट्ठी वाँधी गयी और फिर तीसरी अगुली उठायी गयी। इस प्रकार अक्षर तय हो जाने पर पोरों से या चुटकी वजाकर मात्रा की संख्या वतायी जाती थी। पुराने संकेतो का एक श्लोक इस प्रकार है :

मुष्टि: किसलयं चैवं घटा च त्रिपताकिका।
पताका कुशमुद्राद्यमुद्रा वर्गेषु मप्तमु ॥

ऐमे ही नाना प्रकार के साहित्यिक मनोविनोद उन दिनों काफी प्रचलित थे।

अव यदि इस प्रकार के समाज मे कवि को कीर्ति प्राप्त करना है तो उसे इन विषयों का अभ्यास करना ही होगा। यही कारण है कि भारतीय साहित्य मे यद्यपि 'रस' को काव्य का श्रेष्ठ उपादान स्वीकार किया गया है, तथापि नाना

प्रकार की शब्दचातुरी और अर्थचातुरी को भी स्थान दिया गया है।

प्रकृति की सहायता

भारतवर्ष का नक्षत्र-तारा-खचित नील आकाश, नद-नदी, पर्वतों से शोभायमान विशाल मैदान और तृण-शाद्वलों से परिवेष्ठित हरित वनभूमि ने इस देश को उत्सवों का देश बना दिया है। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि वसन्तागम के साथ-ही-साथ किस प्रकार भारतीय चित्त आह्लाद और उल्लास से नाच उठता था। मदनपूजा, कुसुम-चयन, हिन्दोल-लीला, उदकक्ष्वेडिका आदि उल्लासपूर्ण विनोदों मे समग्र जनचित्त आन्दोलित हो उठता था। राज-अन्तःपुर से लेकर गरीब किसान की झोंपड़ी तक नृत्य-गीत की मादकता बह जाती थी और जन-चित्त के इस उल्लास को प्रकृति अपने असीम ऐश्वर्य से सौगुना बढा देती थी। और भला जब दिगन्त सहकार (आम)-मंजरी के केसर से मूर्च्छमान हो, और मधुपान से मत्त होकर भौरे गली-गली घूम रहे हो तो ऐसे भरे वसन्त मे किसका चित्त किसी अज्ञात उत्कण्ठा से कातर नही हो जायगा?

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते।
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत् कस्य नोत्कंठा?

वसन्त फूलों की ऋतु है। लाल-लाल पलाश, गुलाबी काञ्चनार, सुवर्णाभ आरग्वध, मुक्ताफल के समान सिन्दुवार, कोमल शिरीष और दूध के समान श्वेत मल्लिका आदि पुष्पों मे वनभूमि चित्र की भाँति मनोहर हो उठती है, पुष्पपल्लवो के भार से वृक्ष लद जाते हैं, कुसुम-स्तवको मे फूली हुई मञ्जुललताएँ मलया-निल के झोंकों से लहराने लगती है, मदमत्त कोकिल और भ्रमर अकारण औत्सुक्य से लोकमानस को हिल्लोलित कर देते हैं, ऐसे समय मे उत्कण्ठा न होना ही अस्वा-भाविक है। वनभूमि तक जब नृत्य और वाद्य से मदिर हो उठी तब मनुष्य तो मनुष्य ही है। कौन है जो मल्लिका का रस पीकर मतवाली बनी हुई भ्रमरियों के कलगान को और दक्षिणी पवनरूपी उस्तादजी से शिक्षा पायी हुई वञ्जुल (वेत) लता की मंजरियो का नर्त्तन देखकर उत्सुक न हो उठे? पुराना भारतवासी जीवन्त था, वह इस मनोहारी शोभा को देखकर मुग्ध हो उठता था:

इह मधुपवधूनां पीतमल्लीमधूना
विलसति कमनीयः काकलीसम्प्रदायः।
इह नटति सलीलं मञ्जरी वञ्जुलस्य
प्रतिपदमुपदिष्टा दक्षिणेनानिलेन॥

सो, वसन्त के समागम के साथ-ही-साथ प्राचीन भारत का चित्त जाग उठता था, वह नाच-गान खेल-तमाशों में मत्त हो उठता था।

वसन्त के बाद ग्रीष्म। पश्चिमी रेगिस्तानी हवा आग बरसाती हुई त्रिलोक की समूची आर्द्रता को सोख लेती, दावाग्नि की भाँति नील वनराजि को भस्म-सात कर देती, विकराल बवण्डरों से उड़ायी हुई तृणधूलि आदि से आसमान भर जाता और बड़े-बड़े तालाबों में भी पानी सूख जाने से मछलियाँ लोटने लगतीं—सारा वातावरण भयंकर अग्निज्वाला से धधक उठता—फिर भी उस युग का नागरिक इस विकट काल में भी अपने विलास का साधन संग्रह कर लेता था। कवि ने सन्तोष के साथ नागरक के इस विलास का औचित्य बताया है। भला यदि ग्रीष्म न होता तो ये सफेद महीन वस्त्र, सुगन्धित कर्पूर का चूर्ण, चन्दन का लेप, पाटलपुष्पों से सुसज्जित धारागृह (फव्वारेवाले घर), चमेली की माला; चन्द्रमा की किरणें क्या विधाता की सृष्टि की व्यर्थ चीजें न हो जातीं ?

अत्यच्छं सितमंशुकं शुचि मधु स्वामोदमच्छं रजः
कार्पूरं विधृतार्द्रचन्दनकुचद्वन्द्वाः कुरंगीदृशः।
धारावेश्म सपाटलं विचकिलस्रग्दाम चन्द्रत्विषा
धातः सृष्टिरियं वृथैव तव नो ग्रीष्मोऽभविष्यद्यदि ।।

इस ग्रीष्मकाल का सर्वोत्तम विनोद जलक्रीडा था, जिसका काव्यों में अत्यधिक वर्णन पाया जाता है। जलाशयों में विलासिनियों के कान में धारण किये हुए शिरीषपुष्प छा जाते थे, पानी चन्दन और कस्तूरिका के आमोद से तथा नाना रंग के अंगरागों से और शृङ्गार-साधनों से रंगीन हो जाता था, जल-स्फालन से उठे हुए जल-बिन्दुओं से आकाश में मोतियों की लड़ी बिछ जाती थी, जलाशय के भीतर से गूँजते हुए मृदंगघोष को मेघ की आवाज समझकर बेचारे मयूर उत्सुक हो उठते थे, केशों से खिसकते हुए अशोक-पल्लवों से कमल-दल चित्रित हो उठते थे और आनन्द-कल्लोल से दिङमण्डल मुखरित हो उठता था। प्राचीन चित्रों में भी यह जलकेलि मनोरम भाव से अंकित है। इस प्रकार प्रकृति के ताप की तीव्र पृष्ठभूमि में मनुष्यचित्त का अपना शीतल विनोद विजयी बनकर निकलता था। वसन्त में प्रकृति मानवचित्त के अनुकूल होती है और इसलिए वहाँ आनुकूल्य ही विनोद का हेतु है, पर ग्रीष्म के विनोद के मूल में है विरोध। प्रकृति और मनुष्य की विरुद्ध मनोदशाओं से यह विनोद अधिक उज्ज्वल हो उठता था। एक तरफ प्रकृति का प्रकुपित निःश्वास बड़े-बड़े जलाशयों को इस प्रकार सुखा देता था कि मछलियाँ कीचड़ में लोटने लगती थीं और दूसरी तरफ मनुष्य के बनाये क्रीड़ा-सरोवरों में वारविलासिनियों के कानों से खिसके हुए शिरीषपुष्प—जो इस ग्रीष्मकाल में उत्तम और उचित कानों के गहने हुआ करते थे—मुग्ध मछलियों के चित्त में शैवाल-जाल का भ्रम उत्पन्न करके उन्हें चचल बना देते थे !

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः
प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम्।

पारिप्लवाः केलिसरोवरेषु
शैवाललोलांश्च्छलयन्ति मीनान् ।।

ग्रीष्म बीतते ही वर्षा। आसमान मेघों से, पृथ्वी नवीन जल की धारा से, दिशाएँ बिजली की चञ्चल लताओं से, वायुमण्डल वारिधारा से, वनभूमि कुटज-पुष्पों से और नदियाँ बाढ़ से भर गयी :

मेघैर्व्योम नवाम्बुभिर्वसुमती विद्युल्लताभिर्दिशो ।
धाराभिर्गगनं वनानि कुटजैः पूरैर्वृता निम्नगा ।

मालती और कदम्ब, नीलोत्पल और कुमुद, मयूर और चातक, मेघ और विद्युत् वर्षाकाल को अभिराम सौन्दर्य से भर देते हैं। प्राचीन भारत वर्षा का उपभोग नाना भाव से करता था। सबसे सुन्दर और मोहक विनोद झूला-झूलना था, जो आज भी किसी-न-किसी रूप में बचा हुआ है। मेघ-निःस्वन और धारा की रिमझिम के साथ झूले की अद्भुत तुक मिलती है (दे.अ. 22)। जिस जाति ने इस विनोद का इस ऋतु के साथ सामजस्य ढूंढ निकाला है, उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। वर्षाकाल कितने आनन्द और औत्सुक्य का काल है, इसे भारतीय साहित्य के विद्यार्थी मात्र जानते हैं। 'मेघदूत' का अमर संगीत इसी काल में सम्भव था। कोई आश्चर्य नहीं यदि केका (मोर की वाणी) की आवाज से, मेघों के गर्जन से, मालती-लता के पुष्प-विकास से, कदम्ब की भीनी-भीनी सुगन्ध से और चातक की रट से मनुष्य का चित्त उत्क्षिप्त हो जाय—वह किसी अहैतुक औत्सुक्य से चञ्चल हो उठे। वर्षा का काल ऐसा ही है। यह वह काल है जब हंस आदि जलचर पक्षी भी अज्ञात औत्सुक्य से चंचल होकर मानसरोवर की ओर दौड़ पड़ते हैं। राजहंस के विषय में काव्य-ग्रन्थ में कहा गया है कि वर्षाकाल में वह उडकर मानसरोवर की ओर जाने लगता है। बल्कि यह कविप्रसिद्ध हो गयी है कि वर्षा ऋतु का वर्णन करते समय यह जरूर कहा जाय कि ये उड़कर मानसरोवर की ओर जाते हैं ('साहित्यदर्पण', 7,23)। कालिदास के यक्ष ने अपने सन्देशवाही मेघ को आश्वस्त कराते हुए कहा था कि 'हे मेघ, तुम्हारे श्रवण-सुभग मनोहर गर्जन को सुनकर मानसरोवर के लिए उत्कण्ठित होकर राजहंस मुँह में मृणाल-तन्तु का पाथेय लेकर उड़ पड़ेंगे और कैलास पर्वत तक तुम्हारा साथ देंगे'।

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवंध्याम् ।
तच्छ्रुत्वाते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्का ।।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः ।
सपत्स्यंते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ।।

—'मेघदूत',1-11

परन्तु प्राचीन भारत का सहृदय अपने इस प्रिय पक्षी के उत्सुक हृदय को ही पहचानता था, उसने अपने क्रीड़ा-सरोवर में ऐसी व्यवस्था कर रखी थी कि हंस उस वियोग पथिक की भाँति दिङ् मूढ़ न होने पाये जो अभागा वर्षाकाल में घर से बाहर निकल पड़ा था और ऊपर घनपटल मेघ को, अगल-बगल में मोर से नाचते हुए

पहाड़ों को, तथा नीचे तृणांकुरो से धवल पृथ्वी को देखकर ऐसा विरह-विधुर हुआ था कि सोच ही नही पा रहा था कि किधर दृष्टि दे—सब तरफ तो दिल मे हूक पैदा करने वाली सामग्री थी :

उपरि घन घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूराः ।
क्षितिरपि कन्दलधवला दृष्टिं पथिकः क्व पातयतु ?

काव्य-ग्रन्थ मे यह वर्णन भी मिलता है कि राजाओं और रईसो की भवन-दीर्घिका (घर का भीतरी तालाब) और क्रीड़ा-सरोवरों मे सदा पालतू हंस रहा करते थे। 'कादम्बरी' मे कहा गया है कि जब राजा शूद्रक सभा-भवन से उठे तो उनको लेकर चलने वाली वारविलासिनियों के नूपुर-रव से आकृष्ट होकर भवनदीर्घिका के कलहंस सभागृह की सोपान-श्रेणियों को धवलित करके कोलाहल करने लगे थे और स्वभावतः ही ऊँची आवाजवाले गृह-सारस मेखला-ध्वनि से उत्कण्ठित होकर इस प्रकार कें कार करने लगे मानो काँसे के बर्तन पर रगड़ पड़ने से कर्णकटु आवाज निकल रही हो। कालिदास ने गृह-दीर्घिकाओं के जिन उदक-लोल विहगमों का वर्णन किया है वे मल्लिनाथ के मत से हंस ही थे। यद्यपि, संस्कृत का कवि राजहंस और कलहंस को सम्बोधन करके कह सकता है कि हे हंसो, कमल धूलि से धूसरांग होकर इस भ्रमर-गुंजित पद्मवन मे हंसिनियो के साथ तभी तक क्रीड़ा कर लो जब तक कि हर-गरल और कालव्याल-जालावली के समान निविड़ नील मेघ से सारे दिङ्मण्डल को काला कर देनेवाला (वर्षा) काल नही आ जाता।' परन्तु भवन-दीर्घिका के हंस फिर भी निश्चिंत रहेंगे। उन्हें किस बात की कमी है कि वे मेघ के साथ मानसरोवर की ओर दौड़ पड़ें। यही कारण है कि यक्ष के बगीचे में जो मरकत मणियों के घाटवाली बापी थी, जिसमे स्निग्ध वैदूर्य-नालवाले स्वर्णमय कमल खिले हुए थे, उसमे डेरा डाले हुए हंस, मानसरोवर के निकटवर्ती होने पर भी मेघ को देखकर वहाँ जाने के लिए उत्कण्ठित होने वाले नही थे। उनको वहाँ किस बात की चिन्ता थी, वे तो 'व्यपगत-शुच्' थे। यह व्याख्या गलत है कि यक्ष का गृह ऐसे स्थान पर था जहाँ वस्तुतः हंस रुक जाते हैं। सही व्याख्या यह है, जैसा कि मल्लिनाथ ने कहा है, कि वर्षाकाल मे भी उस वापी का जल कलुष नही होता था इसलिए वहाँ के हंस निश्चिन्त थे।.

वर्षा बीती और लो, नववधू की भाँति शरद ऋतु आ गयी। प्रसन्न है उसका चन्द्रमुख, निर्मल है उसका अम्बर, उत्फुल्ल हैं उसके कमल-नयन, लक्ष्मी की भाँति विभूषित है वह लीला-कमल मे तथा उपशोभित है हंस-रूपी बाल-व्यजन (नन्हें मे पंखे) में। आज जगत् का अशेष तारुण्य प्रसन्न है।

अद्य प्रसन्नेन्दुमुखी सिताम्बरा, समाययावुत्पलपत्रनेत्रा।
सपंकजा श्रीरिव गां निषेवितुं, सहंस-बाल-व्यजना शरद्वधूः ॥

शरद्वधू आयी और साथ में लेती आयी कादम्ब और कारण्डव को, चक्रवाक और सारस को, क्रौंच और कलहंस को। आदिकवि ने लक्ष्य किया था (किष्किन्धा, 30) कि शरदागमन के साथ-ही-साथ पद्म-धूलि-धूसर सुन्दर और

विशाल पक्षवाले कामुक चक्रवाकों के साथ कलहंसों के झुण्ड महानदियों के पुलिनों पर खेलने लगे थे। प्रसन्नतोया नदियों के सारस-निनादत स्रोत में—जिनमे कीचड़ तो नहीं था, पर बालू का अभाव भी नही था--हंसो का झुण्ड झम्प देने लगा था। एक हंस कुमुद-पुष्पों से घिरा हुआ सो रहा था और प्रशान्त निर्मल ह्रद मे वह ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो मेघमुक्त आकाश मे तारागणों से वेष्टित पूर्णचन्द्र हो। संस्कृत के कवि ने शरदृतु मे होनेवाले अद्भुत परिवर्तन को अपनी और भी अद्भुत भगी से इस प्रकार लक्ष्य किया था कि आकाश अपनी स्वच्छता से निर्मल नीर-सा बना हुआ है, कान्ता अपनी कमनीय गति से हंस-सी बनी जा रही है और हंस अपनी शुक्लता से चन्द्रमा-सा बना जा रहा है। सबकुछ विचित्र, सबकुछ नवीन, सबकुछ स्फूर्तिदायक।

शरदृतु उत्सवो की ऋतु है। कौमुदी-महोत्सव, रात्रि-जागरण, द्यूतविनोद और सुख-रात्रियो के लिए इतना उत्तम समय कहाँ मिलेगा? शरदृतु के बाद शीतकाल आता था, परन्तु यह शीत इस में इतना कठोर नही होता कि कोई उत्सव मनाया ही न जा सके। हेमन्तकाल युवक-युवतियों की कन्दुक क्रीड़ा का काल था। यह कन्दुक-क्रीड़ा प्राचीन भारत का अत्यन्त सरस विनोद था और अवसर पाते ही कवियो ने दिल खोलकर इसका वर्णन किया है। सुन्दर मणिनूपुरों के क्वणन, मेखला की चंचल लरों का झणझणायित और बारबार टकरानेवाली चंचल चूड़ियों की रनझुन के साथ की कन्दुक-क्रीड़ा मे अपना एक स्वतन्त्र छन्द है जो बरबस मन हरण करता होगा।

अमन्द मणिनूपुरक्वणनचारुचारिक्रमं, झणज्झणितमेखलातरलतारहारच्छटम्।
इदं तरलकंणावलिविशेषवाचलितं, मनोहरति सुभ्रुवः किमपि कन्दुकक्रीड़ितम्।

सो, भारतवर्ष की प्रकृति अनुकूल होकर भी और प्रतिकूल होकर भी सरस विनोद की सहायता करती थी। उस दिन इस देश का चित्त जागरूक था, आज वह वैसा नही है। हम उस कल्पलोक को आश्चर्य और सम्भ्रम के साथ देखते रह जाते है।

सामाजिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि

समूचे प्राचीन भारतीय साहित्य में जो बात विदेशी पाठको को सबसे अधिक आश्चर्य में डाल देती है, वह यह है कि इस साहित्य में कही भी असन्तोष या विद्रोह का भाव नहीं है। पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेने

परन्तु ये निषेध ही इस बात के सबूत हैं कि स्त्रियाँ इन उत्सवों में जाती जरूर थी। परन्तु जो लोग नाच-गान का पेशा करते थे, वे बहुत ऊँची निगाह से नही देखे जाते थे, यह सत्य है। क्यों ऐसा हुआ, और ऊपर बताये हुए महान् आदर्श से इसका क्या सामंजस्य है ? वस्तुतः नाच-गान-नाट्य-रंग के प्रयोगकर्त्ता स्त्री-पुरुष शिथिल चरित्र के हुआ करते थे, परन्तु उनके प्रयोजित नाट्यादि प्रयोग फिर भी महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। पेशा करनेवालों की स्वतन्त्र जाति थी और जातिप्रथा के विचित्र तत्त्ववाद के अनुसार उनका शिथिल चरित्र भी उस जाति का एक कर्म मान लिया गया था। जब किसी जाति के कर्म का विधान स्वयं विधाता ने कर दिया हो तो उसके बारे मे चिन्ता करने की कोई बात रह ही कहाँ जाती है ? इस प्रकार भारतवर्ष अम्लान चित्त से इन परस्पर-विरोधी बातों मे भी एक सामंजस्य ढूँढ़ चुका था !

गृहस्थ के अपने घर में भी नृत्य-गान का मान था। इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि अन्तःपुर की वधुएँ नाटको का अभिनय करती थीं। यहाँ नाट्य और नाट्य के प्रयोक्ता, दोनों ही पवित्र और मोहनीय होते थे। यही वस्तुतः भारतीय कला अपने पवित्रतम रूप में पालित होती थी। गृहस्थ का मर्मस्थान उसका अन्तःपुर है और वह अन्तःपुर जिन दिनों स्वस्थ था उन दिनों वहाँ सुकुमार कला की स्रोत-स्विनी बहती रहती थी। अन्तःपुर की देवियों का उच्छृंखल उत्सवों और यात्राओं में जाना निश्चय ही अच्छा नहीं समझा जा सकता था। परन्तु इसका मतलब यह कदापि नही समझना चाहिए कि स्त्रियाँ हर प्रकार के नाट्यरंग से दूर रखी जाती थी। एक प्रकार का हुजूम हर युग मे और हर देश में ऐसा होता है जिसमें किसी भले घर की बहू-बेटी का जाना अशोभन होता है। प्राचीन भारत के अन्तःपुरों में नाट्य-नृत्य का जो बहुल प्रचार था, उसके प्रमाण बहुत पाये जा सकते है। हमने ऊपर कुछ की चर्चा भी की है। ●

परिशिष्ट

[श्री ए. वेंकट सुब्बैया ने नाना ग्रन्थों से कलाओं की सूची तैयार की है। वह पुस्तक अडयार (मद्रास) से 1911 ई. में छपी थी। पाठकों को कलाओं के विषय में विस्तृत रूप से जानने के लिए इस पुस्तक को देखना चाहिए। यहाँ विभिन्न ग्रन्थों से चार कला-सूचियाँ संग्रह की जा रही हैं। तीन सूचियाँ श्री वेंकट सुब्बैया की पुस्तक में प्राप्य हैं। चौथी अन्यत्र से ली गयी है। कई स्थानों पर प्रस्तुत लेखक ने श्री वेंकट सुब्बैया की व्याख्याओं से भिन्न व्याख्या दी है, परन्तु इन कलाओं का मुख्य अर्थ समझने में उनकी व्याख्याओं से उसे सहायता बहुत मिली है।]

'ललितविस्तर' की कलासूची

1 लङ्घितम्—कूदना।

2 प्राक्चलितम्—उछलना।

3 लिपिमुद्रागणनासंख्यासालम्भधनुर्वदाः —

लिपि—लेखनकला।

मुद्रा—एक हाथ या कभी-कभी दोनों हाथों के द्वारा अथवा हाथ की उँगलियों से भिन्न-भिन्न आकृतियों का बनाना।

गणना—गिनना, हिसाब।

संख्या—संख्याओं की गिनती।

सालम्भ —कुश्ती लड़ना ।
धनुर्वेद—धनुष-विद्या ।
4 जवितम्—दौड़ना ।
5 प्लवितम् – पानी में डुबकी लगाना ।
6 तरणम्—तैरना ।
7 इष्वस्त्रम्—तीर चलाना ।
8 हस्तिग्रीवा—हाथी की सवारी करना ।
9 रथ —रथ-सम्बन्धी बातें ।
10 धनुष्कलापः—धनुष-सम्बन्धी सारी बातें ।
11 अश्वपृष्ठम्—घोड़े की सवारी ।
12 स्थैर्यम्—स्थिरता ।
13 स्याम—वल ।
14 सुशौर्यम्—साहस ।
15 वाहुव्यायाम—बाहु का व्यायाम ।
16 अङ्कुशग्रहपाशग्रहा—अंकुश और पाश, इन दोनों हथियारो का ग्रहण करना ।
17 उद्यानिर्माणम्—ऊँची वस्तु को फाँदकर और दो ऊंची वस्तु के बीच से कूदकर पार जाना ।
18 अपयानम्—पीछे की ओर से निकलना ।
19 मुष्टिवन्धः—मुट्ठी और घूंसे की कला ।
20 शिखावन्ध—शिखा बाँधना ।
21 छेद्यम्—भिन्न-भिन्न सुन्दर आकृतियों को काटकर बनाना ।
22 भेद्यम्—छेदना ।
23 तरणम्—नाव खेना या जहाज चलाना या तैरना ।
24 स्फालनम्—(कन्दुक आदि को) उछालने का कौशल ।
25 अक्षुण्णवेधित्वम्—भाले से लक्ष्यवेध करना ।
26 मर्मवेधित्वम्—मर्मस्थल का वेधना ।
27 शब्दवेधित्वम्—शब्दवेधी बाण चलाना ।
28 दृढ़प्रहारित्वम्—मुष्टिप्रहार करना ।
29 अक्षक्रीड़ा—पाशा फेंकना ।
30 काव्यव्याकरणम्—काव्य की व्याख्या करना ।
31 ग्रन्थरचितम्—ग्रन्थ-रचना ।
32 रूपम्—रूप-निर्माण-कला (लकड़ी- सोना इत्यादि मे आकृति बनाना)
33 रूपकर्म—चित्रकारी ।
34 अधीतम्—अध्ययन करना ।
35 अग्निकर्म—आग पैदा करना ।

36 वीणा—वीणा बजाना।
37 वाद्यनृत्यम्—नाचना और बाजा बजाना।
38 गीतपठितम् – गाना और कविता-पाठ करना।
39 आख्यातम्—कहानी सुनाना।
40 हास्यम् – मजाक करना।
41 लास्यम्—सुकुमार नृत्य।
42 नाट्यम्—नाटक, अनुकरण-नृत्य।
43 विडिम्बितम्—दूसरे का व्यंगात्मक अनुकरण, कैरिकेचर।
44 माल्यग्रन्थनम्—माला गूँथना।
45 सवाहितम्—शरीर की मालिश।
46 मणिराग—बहुमूल्य पत्थरों का रँगना।
47 वस्त्रराग:—कपड़ा रँगना।
48 मायाकृतम्—इन्द्रजाल।
49 स्वप्नाध्याय.—सपनों का अर्थ लगाना।
50 शकुनिरुतम्—पक्षी की बोली समझना।
51 स्त्रीलक्षणम्—स्त्री का लक्षण जानना।
52 पुरुषलक्षणम्—पुरुष का लक्षण जानना।
53 अश्वलक्षणम्—घोड़े का लक्षण जानना।
54 हस्तिलक्षणम्—हाथी का लक्षण जानना।
55 गोलक्षणम्—गाय, बैल का लक्षण जानना।
56 अजलक्षणम्—बकरा, बकरी का लक्षण जानना।
57 मिश्रितलक्षणम्—मिलावट पहचानने की या भिन्न-भिन्न जन्तुओं के पहचानने की कला।
58 कैटभेश्वर लक्षणम्—लिपि-विशेष।
59 निर्घण्टु:—कोष।
60 निगमः—श्रुति।
61 पुराणम्—पुराण।
62 इतिहास.—इतिहास।
63 वेद:—वेद।
64 व्याकरणम्—व्याकरण।
65 निरुक्तम्—निरुक्त।
66 शिक्षा—उच्चारणविज्ञान।
67 छन्द—छन्द।
68 यज्ञकल्प:—यज्ञ-विधि।
69 ज्योति:—ज्योतिष।
70 साख्यम्—सांख्यदर्शन।

71 योगः—योगदर्शन।
72 क्रियाकल्पः—काव्य और अलंकार।
73 वैशेषिकम्—वैशेषिक दर्शन।
74 वेशिकम्—'कामसूत्र' के अनुसार वैशिक विज्ञान का प्रणयन (दत्तक नामक आचार्य ने पाटलिपुत्र की वेश्याओं के अनुरोध से किया था)।
75 अर्थविद्या—राजनीति और अर्थशास्त्र।
76 वार्हस्पत्यम्—लोकायत मत।
77 आश्चर्यन्—?
78 आसुरम्—असुरों-सम्बन्धी विद्या।
79 मृगपक्षिरुतम्—पशु-पक्षी की वोली समझना।
80 हेतुविद्या—न्याय-दर्शन।
81 जतुयन्त्रम्—लाख के यन्त्र बनाना।
82 मधूच्छिष्टकृतम्—मोम का काम।
83 सूचीकर्म—सुई के काम।
84 विदलकर्म—दलों या हिस्सों को अलग कर देने का कौशल।
85 पत्रच्छेद्यम्—पत्तियों को काट-छाँटकर विभिन्न आकृतियाँ बनाना।
86 गन्धयुक्ति—कई द्रव्यों के मिश्रण से सुगन्धि तैयार करना।

वात्स्यायन

1 गीतम्—गाना।
2 वाद्यम्—बाजा बजाना।
3 नृत्यम्—नाचना।
4 आलेख्यम्—चित्रकारी।
5 विशेषकच्छेद्यम्—(दे. ल. वि. की कलासूची, 85)
6 तण्डुलकुसुमबलिविकाराः—पूजा के लिए अक्षत और रंग-बिरंगे फूलों का सजाना।
7 पुष्पास्तरणम्—घर या कमरे को फूलों से सजाना।
8 दशनवसनाङ्गरागः—शरीर, कपड़े और दाँतों पर रंग चढ़ाना।
9 मणिभूमिका कर्म—गच मे मणि बैठाना।
10 [illegible]

11 उदकवाद्यम्—पानी को इस प्रकार बजाना कि उससे मुरज नामक बाजे की आवाज निकले।
12 उदकघातः—जल-क्रीड़ा में सखियों या प्रेमियों का आपस में जल के छींटे की मार देना।
13 चित्रयोगाः—विचित्र औषधियों का प्रयोग जानना।
14 माल्यग्रथनविकल्पाः—विभिन्न प्रकार से फूल गूँथना।
15 शेखरकापीडयोजनम्—शेखरक और अपीडक—सिर पर पहने जाने वाले दो माल्य-अलंकारों का उचित स्थान पर धारण करना।
16 नेपथ्यप्रयोगाः—अपने को या दूसरे को वस्त्रालंकार आदि से सजाना।
17 कर्णपत्रभङ्गः—हाथी दाँत के पत्तरों आदि से कान के गहने बनाना।
18 गन्धयुक्तिः— (ल. वि. की कलासूची, 86)
19 भूषणयोजनम्—गहना पहनना।
20 ऐन्द्रजालायोगाः—इन्द्रजाल करना।
21 कौचुमारयोगाः—शरीरावयवों को मजबूत और विलासयोग्य बनाने की कला।
22 हस्तलाघवम्—हाथ की सफाई।
23 विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया—साग-भाजी बनाने का कौशल।
24 पानकरसरागासवयोजनम्—भिन्न-भिन्न प्रकार का पेय (शर्बत, मद्य वगैरह) तैयार करना।
25 सूचीवानकर्माणि—सीना, पिरोना, जाली बुनना इत्यादि।
26 सूत्रक्रीड़ा—घर, मन्दिर आदि विशेष आकृतियाँ हाथों में के सूत से बना लेना।
27 वीणाडमरुकवाद्यानि—वीणा, डमरु तथा अन्य बाजे बजाना।
28 प्रहेलिका—पहेली
29 प्रतिमाला—
30 दुर्वाचक योगाः—
31 पुस्तकवाचनम्—पुस्तक पढ़ना।
(दे., कामशास्त्र-विनोद, अध्याय-83, काव्य-कल्प, अध्याय—84
32 नाटकाख्यायिकादर्शनम्—नाटक, कहानियों का ज्ञान।
33 काव्यसमस्यापूरणम्—समस्यापूर्ति।
34 पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः—बेंत और बाँस से नाना प्रकार की वस्तुओं का निर्माण।
35 तक्षकर्माणि—सोने चाँदी के गहनों और बर्तनों पर काम करना।
36 तक्षणम्—बढ़ईगिरी।
37 वास्तुविद्या—गृह-निर्माण कला, इंजीनियरिंग।
38 रूप्यरत्नपरीक्षा—मणियों और रत्नों की परीक्षा।
39 धातुवादः—धातुओं को मिलाना, शोधना।

40 मणिरागाकरज्ञानम्—रत्नों का रँगना और उनकी खनियों का जानना।
41 वृक्षायुर्वेदयोगा:—वृक्षों की चिकित्सा और उन्हें इच्छानुसार बड़ा-छोटा बना लेने की विद्या।
42 मेषकुक्कुटलावक-युद्धविधि:—मेंढा, मुर्गा और लावकों का लड़ाना।
43 शुकसारिकाप्रलापनम्—सुग्गा-मैनों का पढ़ाना।
44 उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्—शरीर और सिर में मालिश करना।
45 अक्षरमुष्टिकाकथनम्—संक्षिप्त अक्षरों में पूरा अर्थ जान लेना; जैसे मे. वृ. मि.—मेष, वृष, मिथुन।
46 म्लेच्छितविकल्पा:—गुप्त भाषा-विज्ञान।
47 देशभाषाविज्ञानम्—विभिन्न देश की भाषाओं का ज्ञान।
48 पुष्पशकटिका—फूलों से गाड़ी घोड़ा आदि बनाना।
49 निमित्तज्ञानम्—शकुनज्ञान।
50 यन्त्रमातृका—स्वयंवह यन्त्रों का बनाना।
51 धारणमातृका—स्मरण रखने का विज्ञान।
52 सम्पाठ्यम्—किसी के पढ़े श्लोक को ज्यों-का-त्यों दुहरा देना।
53 मानसी—(दे. काव्यशास्त्र-विनोद, अध्याय-83)
54 काव्यक्रिया—काव्य बनाना।
55 अभिधानकोश छन्दोविज्ञानम्—कोश, छन्द आदि का ज्ञान।
56 क्रियाकल्प.—(ल. वि. की कलासूची, 72)।
57 छलितयोगा:—वेश वाणी आदि के परिवर्तन से दूसरों को छलना—बहुरूपीपन।
58 वस्त्रगोपनानि—छोटे कपड़े को इस प्रकार पहनना कि वह बड़ा दीखे और बड़ा, छोटा दीखे।
59 द्यूतविशेषा:—जुआ।
60 आकर्ष क्रीड़ा—पासा खेलना।
61 बालक्रीड़नकानि—लड़कों के खेल, गुड़िया आदि।
62 वैनयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—विनय सिखानेवाली विद्या।
63 वैजयिकीना विद्याना ज्ञानम्—विजय दिलानेवाली विद्याएँ।
64 व्यायामिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—व्यायाम-विद्या।

1 हावभावादिसंयुक्तंनर्तनम्—हावभाव के साथ नाचना।

2 अनेकवाद्यविकृतौ तद्वादने ज्ञानम्—आरकेस्ट्रा में अनेक प्रकार के बाजे बजा लेना।

3 स्त्रीपुंसो वस्त्रालंकारसन्धानम्—स्त्री और पुरुषों को वस्त्र-अलंकार पहना सकना।

4 अनेकरूपाविर्भावकृतिज्ञानम्—पत्थर,काठ आदि पर भिन्न-भिन्न आकृतियों का निर्माण।

5 शय्यास्तरणसंयोगपुष्पादिग्रथनम्—फूल का हार गूँथना और शय्या सजाना।

6 द्यूताद्यनेकक्रीडाभीरञ्जनम्—जुआ इत्यादि से मनोरंजन करना।

7 अनेकासनसन्धानै रतेर्ज्ञानम्—कामशास्त्रीय आसनों आदि का ज्ञान।

8 मकरन्दासवादीनां मद्यादीनां कृतिः—भिन्न-भिन्न भाँति के शराब बना सकना।

9 शल्यगूढाहृतौ सिराघ्रणव्यधे ज्ञानम्—शरीर में घुसे हुए शल्य आदि शस्त्रों की सहायता से निकालना, जर्राही।

10 हीनादिरससंयोगान्नादिसम्पाचनम्—नाना रसों का भोजन बनाना।

11 वृक्षादिप्रसवारोपपालनादिकृतिः—पेड़-पौधों की देखभाल, रोपाई, सिंचाई का ज्ञान।

12 पाषाणधात्वादिदृतिभस्मकरणम्—पत्थर और धातुओं का गलाना तथा भस्म बनाना :

13 यावदिक्षुविकाराणां कृतिज्ञानम्—ऊख के रस से मिश्री, चीनी आदि भिन्न-भिन्न चीजें बनाना।

14 धात्वोषधीनां संयोगक्रियाज्ञानम्—धातु और औषधों के संयोग से रसायनों का बनाना।

15 धातुसाङ्कर्यपार्थक्यकरणम्—धातुओं के मिलाने और अलग करने की विद्या।

16 धात्वादीनां संयोगापूर्वविज्ञानम्—धातुओं के नये संयोग बनाना।

17 क्षारनिष्कासनज्ञानम्—खार बनाना।

18 पदादिन्यासतः शास्त्रसन्धाननिक्षेपः—पैर ठीक करके धनुष चढाना और बाण फेंकना।

19 सन्ध्याघाताकृष्टिभेदैः मल्लयुद्धम्—तरह-तरह के दाँव-पेंच के साथ कुश्ती लड़ना।

20 अभिलक्षिते देशे यन्त्राद्यस्त्रनिपातनम्—शस्त्रों को निशाने पर फेंकना।

21 वाद्यसंकेततो व्यूहरचनादि—बाजे के संकेत से सेना-व्यूह की रचना।
22 गजाश्वरथगत्या तु युद्धसंयोजनम्—हाथी, घोड़े या रथ से युद्ध करना।
23 विविधासनमुद्राभिः देवतातोषणम्—विभिन्न आसनों तथा मुद्राओं के द्वारा देवता को प्रसन्न करना।
24 सारथ्यम्—रथ हाँकना।
25 गजाश्वादेःगतिशिक्षा—हाथी-घोड़ों को चाल सिखाना।
26 मृत्तिकाकाष्ठपाषाणधातुभाण्डादिसत्क्रिया—मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और धातु के बर्त्तन बनाना।
27 चित्राद्यालेखनम्—चित्र बनाना।
28 तटाकवापीप्रसादसमभूमिक्रिया—कुँआ, पोखरे खोदना तथा जमीन बराबर करना।
29 घट्याद्यनेकयन्त्राणा वाद्यानां कृतिः—वाद्य-यन्त्र तथा पनचक्की जैसी मशीनों का बनाना।
30 हीनमध्यादिसंयोगवर्णाद्यैः रञ्जनम्—रंगो के भिन्न-भिन्न मिश्रणों से चित्र रँगना।
31 जलवाय्वग्निसंयोगनिरोधैः क्रिया—जल, वायु, अग्नि को साथ मिलाकर और अलग-अलग रखकर कार्य करना, इन्हें बाँधना।
32 नौकारथादियानानां कृतिज्ञानम्—नौका, रथ आदि सवारियों का बनाना।
33 सूत्रादिरज्जुकरणविज्ञानम्—सूत और रस्सी बनाने का ज्ञान।
34 अनेकतन्तुसंयोगैः पटबन्धः—सूत से कपड़ा बुनना।
35 रत्नानां वेधादिसदसज्ज्ञानम्—रत्नों की परीक्षा, उन्हे काटना-छेदना आदि।
36 स्वर्णादीनान्तु याथार्थ्यविज्ञानम्—सोने के जाँचने का ज्ञान।
37 कृत्रिमस्वर्णरत्नादिक्रियाज्ञानम्—बनावटी सोना, रत्न आदि बनाना।
38 स्वर्णाद्यलंकारकृतिः—सोने आदि का गहना बनाना।
39 लेपादिसत्कृतिः—मुलम्मा देना, पानी चढ़ाना।
40 चर्मणा मार्दवादिक्रियाज्ञानम्—चमड़े को नर्म बनाना।
41 पशुचर्माङ्गनिर्हारज्ञानम्—पशु के शरीर से चमड़ा, मांस आदि को अलग कर सकना।
42 दुग्धदोहादिघृतान्तं विज्ञानम्—दूध दुहना और उससे घी निकालना।
43 कञ्चुकादीना सीवने विज्ञानम्—चोली आदि का सीना।
44 जले बाह्वादिभिस्तरणम्—हाथ की सहायता से तैरना।
45 गृहभाण्डादेर्मार्जने विज्ञानम्—घर तथा घर के बर्त्तनों को साफ करने मे निपुणता।
46 वस्त्रसंमार्जनम्—कपड़ा साफ करना।

47 क्षुरकर्म —हजामत बनाना।

48 तिलमांसादिस्नेहाना निष्कासने कृतिः—तिल और मांस आदि से तेल निकालना।

49 सीराद्याकर्षणे ज्ञानम्—खेत जोतना, निराना आदि।

50 वृक्षाद्यारोहणे ज्ञानम्—वृक्ष पर चढ़ना।

51 मनोनुकूलसेवायाः कृतिज्ञानम्—अनुकूल सेवा द्वारा दूसरों को प्रसन्न करना।

52 वेणुतृणादिपात्राणां कृतिज्ञानम्—बाँस, नरकट आदि से बर्तन आदि का बना लेना।

53 काचपात्रादिकरणविज्ञानम्—शीशे का बर्त्तन बनाना।

54 जलानां संसेचनं संहरणम्—जल लाना और सींचना।

55 लोहाभिसारशस्त्रास्त्रकृतिज्ञानम्—धातुओं से हथियार बनाना।

56 गजाश्ववृषभोष्ट्राणां पल्याणादिक्रिया—हाथी, घोड़ा, बैल, ऊँट आदि का जीन, चारजामाओं का हौदा बनाना।

57 शिशोस्संरक्षणे धारणे क्रीडने ज्ञानम्—बच्चों को पालना और खेलाना।

58 अपराधिजनेषु युक्तताडनज्ञानम्—अपराधियों को ढंग से मरम्मत करना।

59 नानादेशीयवर्णानां सुसम्यग्लेखने ज्ञानम्—भिन्न-भिन्न देशीय लिपियों का लिखना।

60 ताम्बूलरक्षादिकृतिविज्ञानम्—पान के बीड़े बनाने की विधि।

61 आदानम्—कलामर्मज्ञता।

62 आशुकारित्वम्—शीघ्र काम कर सकना।

63 प्रतिदानम्—कलाओं को सिखा सकना।

64 चिरक्रिया—देर-देर से काम करना।

प्रबन्धकोश

[इनका अर्थ स्पष्ट है। जो विशेष हैं, उनकी व्याख्या पिछली सूचियों में है।]

1 लिखितम्
2 गणितम्
3 गीतम्
4 नृत्यम्
5 पठितम्
6 वाद्यम्
7 व्याकरणम्
8 छन्दः

9 ज्योतिषम्
10 शिक्षा
11 निरुक्तम्
12 कात्यायनम्
13 निघण्टुः
14 पत्रच्छेद्यम्
15 नखच्छेद्यम्
16 रत्नपरीक्षा
17 आयुधाभ्यास.
18 गजारोहणम्
19 तुरगारोहणम्
20 तप.शिक्षा
21 मन्त्रवाद
22 यन्त्रवादः
33 रसवादः
24 खन्यवाद
25 रसायनम्
26 विज्ञानम्
27 तर्कवादः
28 सिद्धान्त·
29 विषवादः
30 गारुडम्
31 शाकुनम्
32 वैद्यकम्
33 आचार्य विद्या
34 आगमः
35 प्रासादलक्षणम्
36 सामुद्रिकम्
37 स्मृतिः
38 पुराणम्
39 इतिहास.
40 वेदः
41 विधिः
42 विद्यानुवाद.
43 दर्शनसंस्कारः
44 खेचरीकला
45 भ्रामरीकला
46 इन्द्रजालम्
47 पातालसिद्धिः
48 धूर्त्तशम्बलम्
49 गन्धवादः
50 वृक्षचिकित्सा
51 कृत्रिम मणिकर्म
52 सर्वकरणी
53 वश्यकर्म
54 पणकर्म
55 सूचित्रकर्म
56 काष्ठघटनकर्मः
57 पाषाणकर्म
58 लेपकर्म
59 चर्मकर्म
60 यन्त्रकरसवती
61 काव्यम्
62 अलङ्कारः
63 हसितम्
64 संस्कृतम्
65 प्राकृतम्
66 पैशाचिकम्
67 अपभ्रंशम्
68 कपटम्
69 देशभाषा
70 धातुकर्म
71 प्रयोगोपाय
72 केवलिविधिः